श्रीमदानन्दवर्धनाचार्यप्रणीतः

ध्वन्यालोकः

(सुविस्तृत समालोचनादि सहितः, हिन्दी व्याख्योपेतश्च
उद्योतद्वय मात्रम्)

आलोचक एवं व्याख्याकार
आचार्य श्रीधर प्रसाद पन्त 'सुधांशु'
एम० ए० (हिन्दी तथा संस्कृत), साहित्याचार्य, साहित्य-रत्न

प्रकाशक
स्टूडेन्ट स्टोर, रामपुर बाग कालोनी, बरेली।

अर्पण

पूज्यपिता
श्री पण्डित श्यामदत्त जी पन्त
साहित्यशास्त्राचार्य
के
पुनीत कर-कमलों
में
सादर
भेंट

—श्रीधर प्रसाद पन्त 'सुधांशु'

दो शब्द

आचार्य आनन्दवर्धन ध्वनि सिद्धान्त के प्रतिष्ठापको में अग्रणी माने जाते है। उनकी विश्व-विश्रुत कृति 'ध्वन्यालोक' इस सम्बन्ध मे अद्वितीय है।

यो तो स्वय आलोककार ने 'सूरिभिः कथितः' कहकर इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि उनसे पूर्व भी आचार्यों ने ध्वनि सिद्धान्त को बीज रूप में स्वीकार कर लिया था तथापि ध्वनि सिद्धान्त को विशद रूप मे उपस्थित करने का श्रेय वस्तुत: आचार्य आनन्दवर्धन को ही है। उन्होंने ध्वनि विषयक बारीकियों का विशद विवेचन करने मे अद्भुत सफलता प्राप्त की। यही कारण है कि इन्हें ही साहित्यिक जगत मे ध्वनि सिद्धान्त का प्रतिष्ठापक माना जाने लगा।

ध्वन्यालोक के वैशिष्ठ्य की प्रशंसा करना सूर्य को दीपक दिखाने के समान होगा। इसके वैशिष्ठ्य का ज्ञान तो गुरु चरणों के समक्ष बैठ कर अध्ययन करने तथा गम्भीरता के साथ मनन करने के उपरान्त ही हो सकता है। प्रसन्नता की बात है कि विभिन्न विश्वविद्यालयों ने 'ध्वन्यालोक' को संस्कृत एम० ए० के पाठ्यक्रम मे निर्धारित किया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ को मैंने एम० ए० तथा आचार्य के विद्यार्थियों की सुविधा को दृष्टिपथ मे रखकर लिखा है। प्रारम्भ में ध्वनि विषयक समालोचना को विभिन्न प्रकरणो मे समझाने का प्रयास किया गया है। व्याख्या भाग को भी सरल एवं विशद किया गया है। प्रत्येक शब्द को सरल हिन्दी मे समझाया गया है।

मुझे विश्वास है कि एम० ए० तथा आचार्य के छात्र निश्चय ही इस पुस्तक का अध्ययन करने से ध्वनि सिद्धान्त का सुगमता से बोध कर सकेंगे। यदि विद्यार्थी वर्ग इससे लाभान्वित हुआ तो निश्चय ही मेरा श्रम सार्थक होगा। आशा है कि विद्यार्थी बन्धु मेरी अन्य कृतियों की तरह इसको भी अपनाकर मुझे और सक्रिय रूप में सुरभारती की सेवा करने के लिये प्रेरित करेंगे।

इस पुस्तक को लिखने में मैं अपने पूज्य गुरुजनो एवं विद्वानों का ऋणी हूँ जिनके श्री चरणो के समक्ष बैठकर मैंने ध्वन्यालोक का अध्ययन किया और जिन विद्वानो की कृतियो से मैंने इसे लिखने मे सहायता ली।

अन्त में मैं अपने उन सभी बन्धुओं का भी आभारी हूँ जिन्होंने इसे लिखने में किसी न किसी रूप मे सहायता प्रदान की, बस।

विनीत

श्रीधर प्रसाद पन्त 'सुधांशु'

विषय-क्रम

(आलोचना भाग)

१– 'ध्वनि' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ करते हुए उसकी व्यंग्य अर्थ, वाचक शब्द, वाच्य अर्थ, व्यञ्जना व्यापार एवं समुदाय रूप काव्य में योजना कीजिये।

२—शब्द शक्तियों का उल्लेख करते हुए वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का अन्तर स्पष्ट कीजिये।

३—'ध्वनि सिद्धान्त का मूलस्रोत व्याकरण है' इस कथन की पुष्टि करते हुए ध्वनि सिद्धान्त के विकास मे व्याकरण शास्त्र के योगदान पर प्रकाश डालिये।

४—ध्वनि सिद्धान्त वैज्ञानिक होते हुए भी क्या सर्वसम्मत सिद्धान्त था? यदि नहीं तो विरोधी लोगों की इस सम्बन्ध में क्या विप्रतिपत्तियां थीं?

५—प्रस्थान घटक और ध्वनि का वैशिष्ट्य सिद्ध कीजिये।

६—ध्वनिकार आनन्दवर्धन के व्यक्तित्व और कृतित्व के बारे में प्रकाश डालिये।

७—आचार्य आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक की प्रसिद्धि की चरमसीमा में पहुँचाने का श्रेय आचार्य अभिनव गुप्त को है, उनके "लोचन" के बिना ध्वन्यालोक न तो स्पष्ट ही होता है और न बुद्धिगम्य ही।' इस कथन के पक्ष या विपक्ष में अपना मत व्यक्त करते हुए अभिनव गुप्त के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर प्रकाश डालिये।

८—क्या ध्वन्यालोक में कारिकाकार और वृत्तिकार अलग है? या दोनों को एक ही व्यक्ति माना जा सकता है? तर्कपूर्ण उत्तर दीजिये।

९—साहित्य की बुद्धिसम्मत परिभाषा करते हुए काव्य की आत्मा आप किसे समझते हैं—शब्द को या अर्थ को या शब्दार्थ दोनों को? अथवा गुण, रीति या अलंकारों को? स्पष्ट कीजिये।

१०—साहित्य शास्त्र के क्षेत्र में ध्वन्यालोक के महत्व एवं योगदान पर विस्तार के साथ प्रकाश डालिये।

११—'स्फोटवाद' से आप क्या समझते हैं ? इसकी उत्पत्ति एवं विकास के बारे में प्रकाश डालिये ।

१२—ध्वन्यालोक के स्वरूप एव विषय निर्देश पर ध्वन्यालोक के अनुसार प्रकाश डालिये ।

१३—क्या रसादि अर्थ सर्वथा ही ध्वनि का प्रकार होता है ? आलोककार के मतानुसार उत्तर दीजिये ।

१४—'काव्य मे रसादि रूप ध्वन्यर्थ अङ्गी है, गुण और अलंकार उसके अङ्ग ।' इस कथन को आचार्य आनन्दवर्धन के मतानुसार सिद्ध कीजिये ।

१५—रसध्वनि के सम्बन्ध मे भट्टनायक आदि आलोचकों के मतों का निराकरण करते हुए आचार्य आनन्दवर्धन का मत सिद्धान्त रूप में प्रदर्शित कीजिये ।

१६—लक्षणा व्यापार और ध्वनन व्यापार का भिन्न विषयकत्व का प्रतिपादन करते हुए रस प्रतीति के अलौकिकत्व का उपपादन कीजिये ।

१७—रूपकादि अलकारों के शृङ्गार व्यञ्जकत्व का उपपादन करते हुए रूपकादि अलंकार वर्ग के विनिवेशन मे समीक्षा कीजिये ।

१८—'प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति काव्यार्थतत्वज्ञों को ही होती है ।' इस कथन को ध्वनिकार के अनुसार सिद्ध कीजिये ।

१६—सङ्घटना के स्वरूप का उपपादन करते हुए गद्यबन्ध में भी रसबन्धोक्त औचित्य के आश्रित सघटना को ध्वनिकार के अनुसार सिद्ध कीजिये ।

२०—भक्ति और ध्वनि के एकत्व का निषेध करते हुए रूढ शब्द भी ध्वनि के विषय नही होते, इस बात को सिद्ध कीजिये ।

२१—वाच्यार्थ से प्रतीयमान अर्थ सर्वथा भिन्न होता है, इस बात को सिद्ध करते हुए रसादि का वाच्य सामर्थ्य से आक्षिप्तत्व का प्रतिपादन कीजिये ।

२२—त्रिविध गुणीभूत व्यंग्य को बतलाते हुए गुणीभूत व्यंग्य के कारण अलकारों की रमणीयता को सिद्ध कीजिये ।

२३—वाच्य और वाचक की औचित्य के साथ योजना महाकवि के लिये आवश्यक है, इस बात को ध्वनिकार के मत से सिद्ध कीजिये ।

२४—काव्य के तृतीय भेद चित्र काव्य के भेद-प्रभेदों को विस्तार के साथ स्पष्ट कीजिये ।

२५—प्रतीयमान कुन छाया और स्त्रियों की लज्जा में साम्य स्थापित करते हुए काकु से अर्थान्तर प्रतीति के स्थल में गुणीभूत व्यंग्यत्व सिद्ध कीजिये तथा गुणीभूत व्यंग्य के विषय मे ध्वनि की योजना नहीं करनी चाहिए इस बात को स्पष्ट करते हुए रसादि तात्पर्य की पर्यालोचना मे गुणीभूत व्यंग्य का भी ध्वनि रूपत्व सिद्ध कीजिये ।

२६—रस विरोधी तत्वों का निरूपण करते हुए एक रस की अङ्गीकारिता को स्पष्ट कीजिये ।

२७—रसादि के तात्पर्य से सन्निवेशित वृत्तियों में ही शोभावहत्व होता है, इस बात को ध्वनिकार के अनुसार सिद्ध कीजिये ।

२८—संकर और संसृष्टि से ध्वनि की अनन्त प्रकारता सिद्ध करते हुए ध्वनि के प्रभेद और प्रभेद भेदों की अनन्तता स्पष्ट कीजिये ।

२६—'मुख्य रूप से ध्वनि दो प्रकार की होती है फिर उसके अर्थान्तर संक्रमित, अत्यन्त तिरस्कृत एव विवक्षितान्य परवाच्य आदि कई भेद हो जाते हैं।' इस कथन को सोदाहरण स्पष्ट कीजिये ।

३०—शब्दतत्वाश्रय और अर्थतत्वाश्रय वृत्तियों का ध्वनिकार के अनुसार निरूपण कीजिये ।

३१—ध्वनि के अन्यतम प्रकारों से भी वाणी का नवत्व परिलक्षित होता है सोदाहरण स्पष्ट कीजिये ।

(व्याख्या भाग)

ध्वन्यालोक

प्रश्न—१. ध्वनि का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ करते हुए उसकी व्यंग्य अर्थ, वाचक शब्द, वाच्य अर्थ, व्यञ्जना व्यापार एवं समुदाय रूप काव्य में योजना कीजिये।

उत्तर—जो अर्थ सहृदय जनों के द्वारा प्रशंसित होते हुए काव्य की आत्मा के रूप में व्यवस्थित हो, उसे ध्वनि कहते हैं। उसके वाच्य और प्रतीयमान नाम के दो भेद होते हैं। महाकवियों के वचनों में प्रतीयमान कुछ और ही वस्तु हुआ करती है, जिस प्रकार प्रसिद्ध अवयवों के अतिरिक्त स्त्रियों में लावण्य की प्रतीति हुआ करती है। कहा है—

योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ॥
प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु॥

(ध्वन्यालोक)

अतः यह ध्वनि—ध्वनतीति ध्वनिः, ध्वन्यत इति ध्वनिः, ध्वननं ध्वनिः, इन व्युत्पत्ति से उपर्युक्त पाँचों अर्थों में सन्निविष्ट होगी क्योंकि "ध्वनतीति ध्वनिः" इस व्युत्पत्ति में वाच्य अर्थ और वाचक शब्द दोनों ही ध्वनि शब्द से अभिहित होते हैं। "ध्वन्यत इति ध्वनिः" इस दूसरी व्युत्पत्ति में केवल व्यङ्ग्य रूप अर्थ ध्वनि की प्रतीति होती है। "ध्वननं ध्वनिः" इस तीसरी व्युत्पत्ति से व्यञ्जना व्यापार ध्वनि है, इस बात का बोध होता है। ध्वनि शब्द का पाँचवाँ विषय समुदाय रूप काव्य होता है क्योंकि ये चारों ही उसमें सन्निविष्ट रहा करते है। यही कारण है कि ग्रन्थकार ने समुदाय रूप में ध्वनि शब्द के व्यवहार को बतलाने के लिये ही अन्त में—"स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः" ऐसा कहा है। इसके अतिरिक्त ग्रन्थारम्भ में ग्रन्थकार का यह कथन—

"काव्यस्यात्माध्वनिरितिबुधैर्यः समाम्नातपूर्व-
स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्वमूचुस्तदीयं,
तेन ब्रूमः सहृदयमनः प्रीतये तत्स्वरूपम्॥"

व्यङ्ग्यार्थ को प्रतिपादित करने की दृष्टि से युक्तियुक्त ही है क्योंकि अन्य प्रायः सभी अर्थों में व्युत्पत्ति से किंवा व्यवहार से ध्वनि शब्द का प्रयोग होने पर भी

मुख्यत व्यङ्ग्य अर्थ ही ध्वनि शब्द से अभिहित हुआ करता है, किन्तु शर्त यह है कि वह व्यङ्ग्यार्थ शब्द और अर्थ को अतिशयित करके चारुत्वातिशयिता के कारण मुख्य रूप से प्रतीयमान हो। तभी वह ध्वनि कहलाने का अधिकारी होगा, अन्यथा नही। व्यङ्ग्य अर्थ की स्थिति में ही वाच्यादि भी ध्वनि शब्द से वाच्य हो सकते हैं।

वस्तुत ध्वनि को काव्य की आत्मा स्वीकार करते हुए भी ध्वनिकार आचार्य आनन्दवर्धन ने काव्य मे अभिव्यञ्जनीय रस के औचित्य के आधार पर शब्द और अर्थ में अलङ्कार तथा गुणो का समावेश अनिवार्य माना है। यही कारण है कि उन्होंने "विविधवाच्यवाचक रचनाप्रपञ्चचारुण: काव्यस्य" कहकर अपने मन्तव्य को स्पष्ट किया है अर्थात् काव्य को विविध वाच्य, वाचक और रचना प्रपञ्च से सुन्दर होना ही चाहिये, तभी वह काव्य कहलाये जाने का अधिकारी हो सकता है। साथ ही ललित और उचित सन्निवेश के कारण ही काव्य मे चारुत्व आ सकता है और चारु काव्य ही सहृदय हृदयो के द्वारा श्लाघ्य हुआ करता है। ध्वनिकार ने स्पष्ट शब्दों मे कहा है—

"काव्यस्य हि ललितोचित सन्निवेशचारुण: शरीरस्येवात्मा साररूपतया स्थित: सहृदयश्लाघ्यो योऽर्थ.।"

(ध्वन्यालोक)

लोचनकार अभिनव गुप्त ने "ललितोचितसन्निवेशचारुण." की व्याख्या इस प्रकार की है —

ललित शब्देन गुणालङ्कारानुग्रहमाह। उचित शब्देन रसविषयमेवौचित्य भवतीति दर्शयन् रसध्वनेर्जीवितत्वं सूचयति। उक्तं च—चारुत्व हेतुत्वाद् गुणालङ्कार व्यतिरिक्तो न ध्वनि.।

(लोचन)

इस प्रकार हम देखते है कि आचार्य आनन्दवर्धन के ध्वनि सिद्धान्त की व्यङ्ग्यार्थ, वाचक शब्द, वाच्य अर्थ, व्यञ्जना व्यापार एवं समुदाय रूप काव्य में सम्यक्तया योजना हो जाती है। आचार्य ने ध्वनि को ही काव्य की आत्मा माना है, किन्तु अपने इस मत की प्रतिष्ठा करते हुए उन्होंने प्राचीन आचार्यों के मतों को भी उचित सम्मान दिया है।

प्रश्न – २. शब्द शक्तियों का उल्लेख करते हुए वाच्यार्थ और व्यंग्याथ का अन्तर स्पष्ट कीजिये।

उत्तर - शब्द की निम्नलिखित तीन शक्तियां होती है :—

(१) अभिधा।
(२) लक्षणा।
(३) व्यञ्जना।

जो सीधे-सादे ढंग से कह दिया जाय और श्रोता को तदनुरूप ही उसकी प्रतीति हो जाय, उसे अभिधा कहते हैं। अभिधा शक्ति के द्वारा जिस अर्थ की प्रतीति श्रोता को न हो या जिस अर्थ की प्रतीति अभिधा शक्ति न करा सके, जो अर्थ अभिधेय अर्थ से भिन्न प्रतीत होता हो और जिसे लक्षणा से हृदयङ्गम किया जाय, उसे लक्षणा कहते है। जो अभिधा और लक्षणा से भिन्न हो साथ ही चमत्कारकारी हो उसे व्यञ्जना कहते हैं। शब्द की अभिधा शक्ति से जिस अर्थ की आसानी से प्रतीति हो जाती है, उसे वाच्यार्थ और जिस चमत्कारकारी अर्थ की प्रतीति वाच्यार्थ एव लक्ष्यार्थ से न होती हो, उसे व्यङ्ग्यार्थ कहते है। ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ मे निम्नाङ्कित भेदो से भिन्नता बताई है :—

(१) स्वरूप भेद।
(२) विषय भेद।
(३) निमित्त भेद।
(४) संख्या भेद।
(५) काल भेद।
(६) आश्रय भेद।
(७) वर्ण भेद।

आइये प्रत्येक का विवेचन करते हुए चलें जिससे विषय अधिक स्पष्ट और सुबोध हो जाय। स्वरूप भेद के कारण वाच्य और व्यङ्ग्य मे यह भेद हो जाता है कि कही पर तो वाच्य विधि रूप होता है तो व्यङ्ग्य निषेध रूप और कही वाच्य प्रतिषेध रूप होता है तो व्यंग्य विधि रूप। विधि रूप वाच्य का एक उदाहरण देखिये जो निषेधकर भी हो गया –

भ्रम धार्मिक विश्रब्धः स शुनकोऽद्यमारितस्तेन।
गोदावरी नदीकूल लतागहन वासिना दृप्तसिहेन॥

अर्थात्—हे धार्मिक ! तुम अब आराम से घूमो। वह कुत्ता गोदावरी नदी के लतागहन कुञ्ज मे रहने वाले शेर ने आज मार डाला।

ज्ञातव्य है कि यहाँ पर इस बात को कहने वाली नायिका पुश्चली और प्रगल्भा है। उसके प्रिय संकेतित स्थान पर कोई धार्मिक सज्जन समय कुसमय आकर उसके प्रिय समागम मे विघ्न तो डालने ही लगे साथ ही वहा की फूल पत्तियो को तोड़कर वहा की रमणीयता को नष्ट करने लगे। यह सब देखकर उस नायिका से नही रहा गया। उसने बड़ी चालाकी से महात्मा जी से कहा कि अब वे उस उद्यान मे नि.शंक होकर घूमे क्योकि गोदावरी के किनारे रहने वाले शेर ने कुत्ते को आज मार दिया है। सन्यासी जी तो कुत्ते से ही परेशान थे। अब शेर आ गया।

यहा पर पुन्चली नायिका धार्मिक के भ्रमण का विधान प्रनिषेधक तत्व जो कुत्ते का भय था, उसके अभाव द्वारा करती है। अतः यहां विधि प्रतिषेधाभाव रूप है। यहा पर 'घूमो' इस विधि रूप अर्थ के बाद 'मत घूमो' क्योंकि अब यहां मतवाला शेर आ गया है, इस प्रकार के अर्थ की प्रतीति हो रही है यह एक साथ नहीं हो रही है क्योंकि अभिधा जब एक विधि रूप अर्थ को बता चुकी तो अब निषेध रूप अर्थ को नहीं बता सकती। कहा है—"विशेष्यं नाभिधागच्छेत् क्षीण शक्तिर्विशेषणे"। अतः निषेध रूप अर्थ की प्रतीति के लिये जिस अतिरिक्त शक्ति की आवश्यकता है, उसी शक्ति का नाम व्यञ्जना शक्ति है। अब प्रतिषेध रूप वाच्य का उदाहरण देखिये जो विधि रूप भी हो गया—

श्वश्रूरत्रशेते अत्राहं दिवसकं प्रलोकय।
मा पथिक राज्यन्धक शय्यायामावयो शयिष्ठाः॥

अर्थात्—सास यहां पर गहरी नींद मे सोती है और यहां पर मैं सोती हूं, दिन मे ही देख लो, रतोंधी के रोगी हे पथिक, कही हमारी खाट पर न गिर पड़ना।

यहां पर किसी प्रोषित पतिका अर्थात् जिसका पति परदेश चला गया, को देखकर कोई पथिक कामासक्त हो गया। तब इस निषेध के ढंग से उस तरुणी ने उसे शयन के लिये वचन दिया। अत. यहां पर निषेधाभाव रूप विधि है। तात्पर्य यह है कि तरुणी युवक से बाह्य रूप निषेध करती हुई भी उसे रात मे उचित अवसर पर इच्छापूर्ति का आश्वासन देती है। कही सास तुम्हारे मनोविकारों को ताड न ले, तुम अपने विकारों पर नियन्त्रण रखो, इस बात को प्रकट करने के लिये उसने 'राज्यन्धक' कहकर उसे सचेत किया है क्योंकि सास को पता हो जाने पर तो सारा गुड गोबर हो जायेगा।

विषय भेद में—वाच्य अर्थ का विषय एक व्यक्ति होता है और व्यंग्य अर्थ का विषय उससे भिन्न व्यक्ति। इसका एक उदाहरण देखिये—

कस्य वान भवति रोषो दृष्ट्वा प्रियाया सव्रणमधरम्।
सभ्रमर पद्माघ्राण शीले वारित वामे सहस्वेदानीम्।

अर्थात्—प्रियतमा के व्रणयुक्त अधर को देखकर किसे क्रोध नहीं होता? मना करने पर भी भौरे सहित कमल को सूंघने वाली, अब तू उसका परिणाम भुगत। यह तो हुआ इसका वाच्य अर्थ का विषय। अब इससे भिन्न व्यग्य अर्थ के विषय को देखिये—

कोई नायिका किसी जार से अपना अधर खण्डित कराकर पहुंची है। स्वाभाविक है कि उसका अपराध प्रकट हो जायेगा और उसका पति उस पर बहुत क्रुद्ध होगा। अत उसकी चतुर सखी ने उसे निरपराध सिद्ध करने के लिये प्रस्तुत बात कही जिसका व्यग्य उसके पति, सुनने वाले, आस-पास के लोग, सौत, नायिका,

चौर्यकामुक जार और तटस्थ-विदग्ध जनो पर विभिन्न स्वरूपों में प्रकट होता है। जैसे-नायिका की सखी उसके पति से यह कहना चाहती है कि इसका कोई अपराध नही है, गलत धारणा बनाकर तुम इस पर कही क्रोध मत कर बैठना, पास-पडोस के लोगो पर उसके इस कथन का यह तात्पर्य प्रतीत होता है कि यदि इसका पति इसको उलाहना भी दे तो भी इसका दोष नही समझना चाहिये, सौतों के प्रति जो नायिका के अविनय और उपालम्भ से प्रसन्न हैं, "प्रियाया" इस शब्द के बल से नायिका का सौभाग्यातिशय व्यञ्जित होता है। नायिका के प्रति यह व्यंग्य है कि यह मत समझना कि तुम्हे सौतों के बीच इस तरह अपमानित कर दिया है प्रत्युत उनके बीच तुम शोभा को प्राप्त करो, चौर्यकामुक के प्रति यह व्यंग्य है कि आज तो किसी तरह प्रच्छन्नानुरागिणी तेरी इस प्रियतमा की मैंने रक्षा कर दी है, किन्तु अब फिर कही स्पष्ट रूप मे इसका अधर मत काट देना। तटस्थ सहृदय व्यक्तियों के प्रति व्यंग्य है कि देखिये – मैंने झूठ बोल कर भी किस तरह से प्रकट हुई बात को भी छिपा दिया।

निमित्त भेद यह है कि वाच्य अर्थ को शब्दार्थ के ज्ञान मात्र से, कोश-व्याकरण आदि की जानकारी मे प्रत्येक व्यक्ति जान सकता है किन्तु इसके विपरीत व्यंग्यार्थ को काव्यार्थ के तत्वज्ञ सहृदय लोग ही जान सकते हैं।

संख्या भेद का तात्पर्य यह है कि वाच्य सभी लोगो के प्रति प्रकट रूप होने मे नियत है, परन्तु व्यंग्यार्थ अनेक प्रकार का होता है, इसलिये वह अनियत है।

काल भेद के अनुसार वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का अन्तर यह है कि पहले वाच्य अर्थ प्रतीत होता है इसके बाद व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। आश्रय भेद से भी दोनों मे पर्याप्त अन्तर है क्योंकि वाच्य जहाँ शब्द पर आश्रित होता है, वहाँ व्यंग्य शब्द के साथ-साथ शब्द के एकदेश, उसके अर्थ, वर्ण और संघटना पर आश्रित होता है।

कार्य भेद से वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का अन्तर यह है कि वाच्य का कार्य प्रतीयमान होता है किन्तु व्यंग्य का कार्य चमत्कृति होती है। इसी बात को दर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने संक्षेप मे इस प्रकार व्यक्त किया है:—

बोद्धस्वरूप संख्यानिमित्त कार्यप्रतीति कालानाम्।
आश्रयविषयादीना भेदाद् भिन्नोऽभिधीयते व्यंग्यः॥

(साहित्यदर्पण)

अतः स्पष्ट है कि वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ एक नही है। उनमे न केवल स्वरूपतः अपितु विषयतः, निमित्ततः, सख्यातः, कालतः, आश्रयतः, कार्यतः भी पार्थक्य है। इसी पार्थक्य को स्पष्ट करने के लिये आलोककार ने व्यंग्यार्थ को चतुर्थकक्ष्या मे रहने वाला माना है। शब्द का यह चतुर्थकक्ष्या सन्निविष्ट अर्थ ही चमत्काराधायक और सहृदय-श्लाघ्य हुआ करता है।

———

प्रश्न – ३. "ध्वनि सिद्धान्त का मूलस्रोत व्याकरण है" इस कथन की पुष्टि करते हुए ध्वनि सिद्धान्त के विकास में व्याकरण शास्त्र के योगदान पर प्रकाश डालिये।

उत्तर—ध्वनिकार आचार्य आनन्दवर्धन को ध्वनि की मूल प्रेरणा निश्चय ही व्याकरण शास्त्र से ही मिली क्योंकि व्याकरण शास्त्र सभी विद्याओं का मूल है और सर्वप्रथम वैयाकरणो ने ही श्रूयमाण वर्णों को ध्वनि कहा है। ये श्रूयमाण वर्ण ही व्यञ्जक होते हैं, इसी आधार पर काव्य तत्वदर्शी मनीषियों ने वाच्य वाचक सम्मिश्र शब्द रूप काव्य को भी ध्वनि नाम से संकेतित किया है। इसमे सन्देह नहीं कि ध्वनिकार को वैयाकरणो के इस ध्वनिवाद से ही ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना की प्रेरणा मिली। अपने ध्वन्यालोक मे उन्होंने अपने को ध्वनि सिद्धान्त के प्रतिष्ठाता के रूप मे स्वीकार न कर इन्ही वैयाकरणो के प्रति संकेत किया है। ध्वनि का लक्षण करते हुए उन्होंने कहा है—

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्य विशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥

उपर्युक्त कारिका मे आया हुआ 'सूरिभि' शब्द स्पष्टतः वैयाकरणो के प्रति संकेत करता है। महावैयाकरण भर्तृहरि ने भी व्याकरण शास्त्र की महत्ता प्रतिपादित करते हुए उसे प्रदीपतुल्य माना है —

उपासनीय यत्नेन शास्त्र व्याकरणं महत्।
प्रक्षेपभूत सर्वासा विद्याना यदवस्थितम्॥

वस्तुतः वैयाकरणो का स्फोटवाद ही ध्वनि सिद्धान्त का जनक है। स्फोटवाद के बारे मे पाणिनि की अष्टाध्यायी मे एक सूत्र मिलता है– "अवङ् स्फोटायनस्य" इसमे किन्ही स्फोटायन नामक आचार्य का निर्देश है। इनके नाम मे स्फोट शब्द है और स्फोटवाद के प्रथम उल्लेख के रूप मे यही मिलता है। अत अनुमान है कि स्फोटवाद के प्रतिपादक ये स्फोटायन ही थे। स्फोटायन इनका नाम स्फोटवाद के प्रवर्तक होने के कारण पड़ा। इसी बात को काशिका के टीकाकार श्री हरदत्त ने अपनी पदमञ्जरी मे इस प्रकार कहा है:—

"स्फोटोऽयनं परायणं यस्य स स्फोटायन -
स्फोटप्रतिपादनपरो वैयाकरणाचार्यः।"

यह स्फोटवाद शब्द की नित्यता को स्वीकार करता है। यास्क एव पाणिनि प्रभृति मनीषियो ने इसी सिद्धान्त को स्वीकार किया है। वैयाकरण व्यक्ति ने भी शब्द के नित्यत्व के सम्बन्ध मे विचार किया था। कात्यायन और पतञ्जलि ने भी स्फोटवाद को स्वीकार किया है। स्फोटवाद के अनुसार वैयाकरणो ने शब्द को नित्य, एक तथा अखण्ड माना है। उनके अनुसार शब्द की अभिव्यक्ति ध्वनि से होती है जिसके दो भेद होते है—

(१) प्रकृति ।
(२) वैकृत ।

वे वर्ण और पदों को सार्थक न मानकर वाक्य को सार्थक मानते है । उनका मान्य मत है कि किसी भी अर्थ की प्रतीति वर्ण या पद से न होकर वाक्य से हुआ करती है । अतः वाक्य सार्थक होता है । इस सम्बन्ध में महाभाष्यकार पतञ्जलि ने अपना अभिमत इस प्रकार व्यक्त किया है –

"नित्याश्च शब्दा', नित्येषु च शब्देषु कूटस्थैरवि-
चालिभिर्वर्णैर्भवितव्यमनपायोपजन विकारिभिः ।"
(महाभाष्य)

शब्द का भी जो लक्षण पतञ्जलि ने किया है, वह स्फोट शब्द का ही है । जैसे –

"श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्य प्रयोगेणाभिज्वलित-
आकाशदेशः शब्दः, एकं च पुनराकाशम् ।"

तात्पर्य यह है कि शब्द की उपलब्धि हमे श्रोत्र के माध्यम से होती है अर्थात् हमारे कान मे जितना आकाश है, उसी मे शब्द की उपलब्धि होती है । क्योकि श्रोत्रेन्द्रिय एक आकाश ही है । अब यह प्रश्न उठ सकता है कि जब शब्द मे निहित वर्ण अपने उच्चारण के दूसरे क्षण ही नष्ट हो जाते है, तब शब्द का ग्रहण कैसे सम्भव है ? इसका उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है कि पूर्व-पूर्व ध्वनि से उत्पन्न संस्कार का परिपाक होने पर अन्त्य वर्ण के ज्ञान से शब्द का ग्रहण होता है । इसीलिये महाभाष्यकार ने 'बुद्धिनिर्ग्राह्य' शब्द का प्रयोग किया है क्योकि बुद्धि ही शब्दों को ग्रहण करती है । बुद्धि मे विभिन्न ध्वनिया अपना संस्कार छोड़ती जाती है और अन्तिम वर्ण से शब्द का ज्ञान होता है। यद्यपि शब्द सर्वदा और सर्वत्र उपलब्ध रहता है तथापि उसकी उपलब्धि किंवा प्रतीति उच्चारण से ही होती है । चूंकि आकाश एक है, अतः उसमें रहने वाला शब्द भी एक ही है । सच बात तो यह है कि शब्द मे कोई भेद नही होता अपितु उसको व्यक्त करने वाली ध्वनि एवं देश भेद के कारण शब्द मे भेद आरोपित कर लिये जाते है । उदाहरण के रूप मे कहा जा सकता है कि जैसे आकाश तो यद्यपि एक ही होता है किन्तु व्यावहारिक रूप मे पटाकाश, मठाकाश, घटाकाश आदि रूप मे उसके भेद मान लिये जाते है ।

महर्षि पतञ्जलि ने शब्द को स्फोट रूप माना है । ध्वनि स्फोट का गुण है । जैसे भेरी पर आघात करने पर एक प्रकार का अनुरणन होता है, यह अनुरणन ही ध्वनि है । स्फोट और ध्वनि मे व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव सम्बन्ध यदि मान लें तो अनुचित न होगा । दूसरे शब्दो मे कहे तो कह सकते है कि स्फोट ही व्यङ्ग्य है और ध्वनि उसकी व्यञ्जक क्योंकि ध्वनि से स्फोट रूप शब्द अभिव्यक्त होता है और अभिव्यक्त हुए स्फोट रूप शब्द से अर्थ की प्रतीति होती है ।

स्फोट शब्द का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ है कि जिससे अर्थ स्फुटित होता है, उसे स्फोट कहते है। श्रोता की बुद्धि मे स्थित क्रमरहित शब्द स्फोट किंवा ध्वनि शब्द के सुनते ही अभिव्यक्त होता है, वही उसे अर्थ का बोध कराता है। अतः कहा जा सकता है कि स्फोट व्यङ्ग्य है और ध्वनि व्यञ्जक।

वस्तुत स्फोट की स्थिति बुद्धि मे उसी प्रकार होती है जिस प्रकार लकड़ी मे अग्नि की, इस स्थिति मे वह अज्ञात रहता है, पर जब कण्ठ, तालु आदि के आश्रय से विवर्त की स्थिति मे आता है, तब वह ध्वनि रूप से प्रतीत होने लगता है। यद्यपि स्वत स्फोट मे कोई भेद नहीं होता, तथापि व्यञ्जक ध्वनि के भेद से उसमें भी भेद हो जाता है। जैसे आग स्वय प्रकाशित होती हुई अन्य समीपस्थ वस्तुओं को भी उद्भासित करती है, ठीक उसी तरह ध्वनि द्वारा व्यञ्जित स्फोट शब्द भी अपने को प्रकाशित करता हुआ अर्थ को भी प्रकाशित करता है। स्फोट और ध्वनि मे तादात्म्य है क्योंकि यदि ऐसा न होता तो निश्चय ही किसी भी ध्वनि से किसी अर्थ का ज्ञान हो जाता, पर ऐसा होता नहीं। स्फोट मे न तो कोई क्रम होता है और न कोई भेद ही होता है। उसमें क्रम और भेद की जो प्रतीति होती है, वह केवल ध्वनि की अभिव्यक्ति के क्रम से ही होती है। उदाहरण के लिये चन्द्रमा को ले लीजिये, चन्द्रमा में चञ्चलता नहीं है किन्तु जल में उसके प्रतिबिम्ब को देखकर हम उसमें चञ्चलता का आरोप करते हैं, उसी तरह स्फोट मे क्रम और भेद नहीं होता, आरोपित कर लिया जाता है।

मनुष्य की बुद्धि मे शब्द क्रमरहित एव भेदरहित रूप मे विद्यमान रहता है। मनुष्य की जब शब्द को उच्चारण करने की इच्छा होती है तब उसमें एक क्रिया रूप वृत्ति होती है फिर वह उस वृत्ति के कारण पद, वाक्य के रूप में प्रकट होता है। अखण्ड होते हुए भी शब्द में वृत्ति के कारण भागो की सत्ता उसी प्रकार रहती है जिस प्रकार पक्षी के अण्डे के अन्दर एक अरूप, अविभक्त तरल पदार्थ होता है जो बाद मे एक रूप में प्रकट होने लगता है।

वैयाकरण लोग दो प्रकार की ध्वनि मानते है—प्राकृत और वैकृत। प्राकृत ध्वनि से उनका तात्पर्य मौलिक ध्वनि से है और वैकृत ध्वनि से तात्पर्य प्राकृत ध्वनि के अनुरणन रूप से है। प्राकृत ध्वनि में स्वभाव भेद रहता है। उसी के कारण ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत होता है। स्फोट शब्द यद्यपि इस काल भेद से रहित है, तथापि इसे इसमें आरोपित करते हैं। प्राकृत ध्वनि में ह्रस्व, दीर्घ आदि गुण होते हैं तथा वैकृत ध्वनि में द्रुत, मध्य और विलम्बित वृत्तियाँ रहती हैं। प्राकृत ध्वनि के बाद वृत्ति भेद होने से यह ध्वनि उत्पन्न होती है। वस्तुत प्राकृत को स्फोट का प्रतिबिम्ब माना जा सकता है। यद्यपि उसमें ध्वनि की नित्यता नहीं होती तथापि स्फोट की नित्यता उसमें भी मान ली जाती है। प्राकृत ध्वनि के बाद उत्पन्न होने वाली ध्वनि को मूल का विकार माना जाता है और उसमें ही सब प्रकार की वृत्तियों का भेद होता है।

संक्षेप में कहें तो कह सकते हैं कि काव्य में ध्वनि शब्द से मुख्यतः व्यङ्ग्य, व्यञ्जक और व्यञ्जना व्यापार इन सबका ग्रहण किया जाता है। व्याकरण के उत्पत्तिवादियों के मतानुसार स्फोट वह शब्द है जो स्थान, प्रयत्न आदि के संयोग किंवा विभाग के कारण वायु में उत्पन्न होता है तथा उस शब्द से उत्पन्न होने वाले अनुरणन रूप शब्द ध्वनि कहे जाते हैं। ये लोग स्फोट को नित्य नहीं मानते प्रत्युत इनके मतानुसार स्फोट उत्पन्न होता है और अनित्य है। इसके विपरीत वैयाकरणों के अनुसार श्रूयमाण वर्ण स्फोट के अभिव्यञ्जक होते हैं और स्फोट अन्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्य होता है। इस तरह श्रूयमाण वर्ण या नाद जिन्हें ध्वनि कहा जाता है, क्रमशः बुद्धि में प्रकाशित या अभिव्यक्त करते हैं। भर्तृहरि ने अपने वाक्य पदीय में कहा है –

प्रत्ययैरनुपाख्येयैर्ग्रहणानुगुणैस्तथा।
ध्वनिप्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते॥

वर्णों के परिमित होने से अल्पतर यत्न से उच्चारित शब्द को जब बुद्धि ग्रहण नहीं कर पाती, तब वक्ता का जो प्रसिद्ध उच्चारण व्यापार से अधिक द्रुत, विलम्बित आदि वृत्तियों का भेद रूप व्यापार है, उसे भी ध्वनि कहते हैं। इसी आधार पर ध्वनिकार ने अभिधा, तात्पर्य, लक्षणा व्यापारों के अतिरिक्त व्यञ्जना व्यापार को भी ध्वनि कहा है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि आचार्य आनन्दवर्धन को ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना के लिये मूल प्रेरणा तो निश्चित रूप से व्याकरण के स्फोटवाद से मिली है, उसी की नींव पर उन्होंने ध्वनि सिद्धान्त का भव्य भवन अपनी पैनी सूझ से खड़ा कर दिया है। संक्षेप में कहें तो कह सकते हैं कि जो स्फोटवाद व्याकरण में अटपटा सा ही रह गया था, जिसकी विस्तृत व्याख्या वैयाकरण लोग भी न कर सके, उसकी विस्तृत विवेचना स्पष्ट शब्दों में ध्वनिकार ने अपने ग्रन्थ में कर दिखाई है। फिर भी इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि ध्वनि सिद्धान्त व्याकरण शास्त्र के स्फोटवाद का अत्यन्त ऋणी है। यदि "अवङ् स्फोटायनस्य" यह सूत्र व्याकरण में न होता तो शायद साहित्य शास्त्र ध्वनि सिद्धान्त की महानता से वंचित ही रह जाता। आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना और उसके भेद-प्रभेदों की गणना इसी सूत्र के आधार पर की है। यद्यपि इनका विवेचन विशद, विस्तृत और प्रौढ़ प्रतिभा तथा महिमामण्डित पाण्डित्य का परिचायक है, तो भी मूल प्रेरणा स्रोत, उसके मतमतान्तरों के योगदान को भुलाया नहीं जा सकता।

प्रश्न – ४. ध्वनि सिद्धान्त वैज्ञानिक होते हुए भी क्या सर्वसम्मत सिद्धान्त था? यदि नहीं तो विरोधी लोगों की इस सम्बन्ध में क्या विप्रपत्तियाँ थीं? स्पष्ट कीजिये।

उत्तर – कोई भी सिद्धान्त या वाद चाहे वह कितना ही वैज्ञानिक

युक्तियुक्त क्यो न हो, उसके समर्थक और विरोधी दोनों ही हुआ करते है। वस्तुतः विरोधी पक्ष के द्वारा ही सिद्धान्त या वाद का सही मूल्याङ्कन भी हुआ करता है।

ध्वनिकार को भी ध्वनि विरोधी आचार्यों का सामना करना पडा। उन्होंने ध्वन्यालोक की प्रथम कारिका में ध्वनि के विरोध में प्रचलित तीन मतों का उल्लेख किया है :—

काव्यस्यात्मा ध्वनिरिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व-
स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचिद्वाचा स्थितमविषये तत्वमूचुस्तदीयं,
तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम्॥

अर्थात् ध्वनि के सम्बन्ध में तीन विमतियां थीं :—

(अ) अभाववाद।
(आ) भाक्तवाद।
(इ) अनिर्वचनीयतावाद।

अभाववाद सर्वथा सम्भावना पर ही आधारित है, ध्वनिकार ने ध्वनि के बारे में अभाववादियों की सम्भावना करके इसका निर्देश किया है। जहाँ तक भाक्तवाद का प्रश्न है, वह प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। यद्यपि किसी आचार्य ने ध्वनि को मानकर भक्ति या लक्षणा का अवलम्बन नहीं लिया तथापि काव्य में अमुख्य वृत्ति से व्यवहार का निर्देश दिया है। अनिर्वचनीयतावाद तो एक प्रकार से ध्वनि की स्वीकृति ही है। अत इसे विरुद्धवाद नही कहा जा सकता।

आलोककार ने अभाववाद को अपने ग्रन्थ में तीन वर्गों में विभक्त किया है। प्रथम वर्ग का कथन है कि शब्दार्थ रूप काव्य के चारुत्वाधायक अनुप्रास-उपमा आदि अलंकार तथा माधुर्य आदि गुण और इन गुणों से युक्त वृत्तिया तथा रीतियां ही प्रसिद्ध है। इनके अतिरिक्त ध्वनि कुछ भी नही है। द्वितीय वर्ग का मत है कि यदि यह मान भी लें कि ध्वनि नामक कोई वस्तु है, तो भी वह उपर्युक्त प्रस्थानों में ही किसी न किसी रूप में निहित है। इनसे सर्वथा पृथक् रूप में ध्वनि की कोई सत्ता नहीं है। तृतीय वर्ग का मत है कि यदि मान लें कि ध्वनि किसी निर्दिष्ट गुण या अलङ्कार के अन्तर्गत नही है, तो क्यो न ऐसा समझ लिया जाय कि ध्वनि कोई ऐसा अलङ्कार आदि था, जिस पर अभी तक किसी का ध्यान नही गया। चूंकि वाग्विकल्प असंख्य हैं, अतः किसी तत्व का अनिर्दिष्ट रह जाना कोई आश्चर्य का विषय नहीं है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि अभाववादियो के अनुसार ध्वनि कोई भिन्न पदार्थ नही है।

अब आई बात भक्तिवादियों की। भक्तिवादी लोग भक्ति या लक्षणा को शब्द का अमुख्य व्यापार मानते है। इसी का दूसरा नाम गुणवृत्ति भी है। ये लोग ध्वनि को लक्षणा या भक्ति के ही अन्तर्गत मानते हैं। ध्वन्यर्थ को ये लोग लक्ष्यार्थ

की कोटि में लाते है। तात्पर्य यह है कि ये लोग ध्वनि को लक्षणा की कोटि में लाते हैं और लक्षणा से भिन्न ध्वनि का कोई अस्तित्व स्वीकार नही करते। वस्तुतः भक्तिवादी ध्वनि विरोधी न होकर ध्वनि लक्षण के विरोधी हैं। इनके मतानुसार ध्वनि का लक्षण भक्ति किंवा लक्षणा के लक्षण में ही अनुस्यूत है, लक्षणा के लक्षण मे भिन्न नही है।

अनिर्वचनीयतावादी लोग तो गूँगे के गुड़ के समान ध्वनि को अनिर्वचनीय किंवा विलक्षण तत्व मानते हैं। ध्वनिकार ने ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना करते हुए इन तीनो विरोधो का युक्तियुक्त तर्कों से खण्डन किया है। ध्वनिकार के प्रबल तर्कों का सार सक्षेप में इस प्रकार है :—

ध्वनि तत्व को अलङ्कार आदि में अन्तर्भूत मानने वाले अभाववादियों के तर्कों का खण्डन करते हुए ध्वनिकार ने कहा है कि अलङ्कार तो वाच्य-वाचक मात्र पर आश्रित हुआ करते है, इसके विपरीत ध्वनि व्यङ्ग्य-व्यञ्जकता पर। ऐसी स्थिति मे ध्वनि का अलङ्कारो में अन्तर्भाव हो कैसे सकता है ? इतना ही नही अलङ्कार आदि तो वाच्य और वाचक के चारुत्व हेतु होने के कारण उस ध्वनि के अङ्गभूत है, न कि अङ्गी। अङ्गी तो ध्वनि ही है।

लक्ष्यार्थ को ही ध्वन्यर्थ मानने वाले भाक्तवादियो के मत का खण्डन करते हुए ध्वनिकार ने कहा है कि वाच्यार्थ की तरह लक्ष्यार्थ की भी सीमा निश्चित होती है, जिससे वह आगे नही बढ़ पाता, किन्तु ध्वन्यर्थ के लिये कोई सीमा नही है। उदाहरण के लिये कहा जा सकता है कि लक्ष्यार्थ जब भी होता है, वह वाच्यार्थ स सम्बद्ध होता है। 'गंगाया घोष' उक्ति मे गङ्गा का लक्ष्यार्थ तट अवश्य ही प्रवाह रूप वाच्यार्थ मे सम्बद्ध होना चाहिये। अतः स्पष्ट है कि लक्ष्यार्थ अनेक न होकर एक हुआ करता है। इसके विपरीत व्यङ्ग्यार्थ एक के स्थान पर अनेक भी हो सकता है। जहा तक प्रयोजनवती लक्षणा का प्रश्न है, उसमे प्रयोजन का अश व्यंग्य ही होता है, यदि उसे भी लक्ष्य मान लिया जाय तो उसका प्रयोजन क्या होगा ? तीसरी बात यह है कि रस आदि किसी भी स्थिति मे लक्ष्य नही हो सकते क्योंकि मुख्यार्थ की बाधा होने पर ही लक्षणा हो सकती है। रस आदि वाच्यार्थ के ज्ञात होने के बाद मुख्यार्थ बाध के अभाव मे भी वाच्यार्थ से भिन्न रूप मे व्यञ्जित होने के कारण सर्वथा व्यंग्य ही होते है। अतः सर्वथा व्यंग्य अर्थ से काम नही चल सकता। व्यंग्य अर्थ और उसके लिये व्यञ्जना शक्ति को अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा। इस तरह तीन विप्रपत्तियो का खण्डन ध्वनिकार ने किया है। आगे चलकर भी ध्वनिकार के मत का कई आचार्यों ने खण्डन किया है, किन्तु फिर भी परवर्ती काव्य शास्त्रो में ध्वनिकार के सिद्धान्त का पूर्णत: प्रभाव परिलक्षित होता है। ध्वनि विरोधी आचार्यों मे प्रतीहारेन्दुराज, मुकुलभट्ट, भट्टनायक, कुन्तक और महिमाभट्ट है।

ध्वनि सिद्धान्त के प्रथम विरोधी आचार्य प्रतीहारेन्दुराज थे। उन्होंने ध्वनि सिद्धान्त को अलङ्कारान्तर्भूत करते हुए कहा है—

"स प्रतीयमान: कस्मादिह नोपदिष्ट:, उच्यते, एष्वेवालङ्कारेष्वन्तर्भावात् ।" इनके गुरु मुकुल भट्ट तो ध्वनि को लक्षणा के अन्तर्गत ही मानते थे। उन्हे ध्वनि की नवीन उद्भावना रुचिकर नही लगी। उद्भट के काव्यालंकार संग्रह की टीका मे मुकुल के शिष्य प्रतीहारेन्दुराज ने ध्वनि को अलंकार के अन्तर्गत माना और उसके तीनों भेदो—वस्तु, अलंकार और रस के ध्वन्यालोक में दिये उदाहरणो को इन्होंने अलकारो के उदाहरण सिद्ध किया है।

भट्टनायक ने हृदय दर्पण नामक ग्रन्थ लिखा था जो सम्प्रति उपलब्ध नही होता, केवल व्यक्ति विवेक व्याख्यान से स्पष्ट होता है कि हृदयदर्पण ध्वनिध्वंस के उद्देश्य से लिखा गया था क्योकि कहा है:—'दर्पणो हृदयदर्पणाख्यो ध्वनि ध्वंस ग्रन्थोऽपि.', भट्टनायक को व्यञ्जना वृत्ति मान्य न थी। वे अभिधा के अतिरिक्त भावना और भोजकत्व व्यापारो की कल्पना करते थे। ये रस सिद्धान्त के भुक्तिवादी व्याख्याता थे।

कुन्तक ने अपने 'वक्रोक्ति जीवित' नामक ग्रन्थ का निर्माण ध्वनि की स्थापना के विरोध में किया था किन्तु फिर भी इन्होने स्पष्ट रूप से ध्वनि का खण्डन न करके प्रकारान्तर से किया है। इनका उद्देश्य वक्रोक्ति का मण्डन करना था। इन्हें ध्वनि वक्रोक्ति के प्रकारान्तर रूप में ही मान्य है तथा रस की उपयोगिता काव्य में स्वीकार करते हुए भी इन्होने उसे स्वतन्त्र काव्यतत्व न मानकर वक्रोक्ति का भेदमात्र माना है। अब आते हैं महिमभट्ट, इन्होने व्यक्ति विवेक की रचना की। ये पूर्णत: अभिधावादी थे। इन्होंने सभी ध्वनि का अनुमान में ही अन्तर्भाव मान लिया। ये व्यंग्य को अनुमेय और व्यंजना को पूर्वसिद्ध अनुमान मानते है। व्यंग्य व्यजक भाव के स्थान पर ये महानुभाव लिङ्ग लिङ्गि भाव के समर्थक थे। इन्होंने ध्वनि के उदाहरणो को अनुमान द्वारा सिद्ध किया है। यद्यपि इनका पक्ष बहुत कुछ अंशों तक तर्कसंगत अवश्य है किन्तु फिर भी काव्योपयोगी भावना की अनुकूलता पर आधारित न होने से इनका सिद्धान्त इन्ही तक सीमित होकर रह गया। पल्लवित, पुष्पित एवं फलित न हो सका।

इस प्रकार कुछ आचार्यों ने ध्वनि के विरोध में अपने मत प्रस्तुत किये किन्तु ये सहृदय श्लाघ्य न होने के कारण साहित्यिक जगत में ग्राह्य न हो सके। ध्वनि सिद्धान्त के पूर्णत. वैज्ञानिक किंवा काव्योपयोगी होने से सर्वत्र उसका समादर और अनुकरण हुआ।

———

प्रश्न – ५. प्रस्थान षटक् और ध्वनि का वैशिष्ट्य सिद्ध कीजिये।

उत्तर - काव्य शास्त्रीय भाषा में रस, अलङ्कार, औचित्य, रीति, वृत्ति और वक्रोक्ति को प्रस्थान षटक् कहा जाता है। इस परिच्छेद में हम प्रत्येक से ध्वनि का वैशिष्ट्य सिद्ध करने का प्रयास करेंगे।

आलोककार आचार्य 'आनन्दवर्धन' ने ध्वनि के निम्नाङ्कित तीन भेद किये हैं :—

(१) वस्तु ध्वनि।
(२) अलङ्कार ध्वनि।
(३) रस ध्वनि।

ध्वनिकार ने जिस ध्वनि को काव्य की आत्मा माना है, वह मुख्यतया रस ही है। इस प्रकार ध्वनि सिद्धान्त के द्वारा रसतत्व की काव्य में सर्वोच्च स्थान पर प्रतिष्ठा की गई है। इसका कारण यह है कि वाच्य से रस का संस्पर्श नहीं बन सकता, वह केवल व्यंग्य ही होता है। यही कारण है कि रस को अलौकिक माना गया है। काव्य के अन्य सभी तत्व रसाभिव्यक्ति के साधन के रूप में ही आकर आदरणीय होते हैं। ध्वनि सम्प्रदाय में आकर रस को जो सम्मान और प्रतिष्ठा मिली, वह रस सम्प्रदाय में उसे न मिल सकी। अलङ्कारवादियों ने तो प्रतिष्ठा देने के स्थान पर इसे अलकारों के ही रूप में मानकर इसकी महनीय प्रतिष्ठा को गिराने का प्रयास किया, किन्तु ध्वनिकार ने रस को सर्वोच्च स्थान देते हुए इस प्रकार कहा है :—

"अयमेव हि महाकवेर्मुख्यो व्यापारो यद् रसादीनेव मुख्यतया काव्यार्थीकृत्य तद् व्यक्त्यनुगुणत्वेन शब्दानामर्थानाञ्चोप निबन्धनम्।"

(ध्वन्यालोक)

यह तो हुई प्रथम प्रस्थान की बात। अब आया द्वितीय प्रस्थान अर्थात् ध्वनि और अलंकार। ध्वनि सिद्धान्त का मूलाधार प्रतीयमान अर्थ अलकारवादी भामह, उद्भट् प्रभृति आचार्यों को विदित ही था, काव्य के प्राणभूत रस से भी वे लोग अपरिचित नहीं थे, किन्तु फिर भी उन्होंने उसे उचित स्थान न देकर अलङ्कार में ही अन्तर्भुक्त मान लिया। उन्होंने अप्रस्तुत प्रशंसा, समासोक्ति तथा आक्षेप प्रभृति अलंकारों में प्रतीयमान अर्थ के विभिन्न प्रकारों को अन्तर्निविष्ट कर दिया, किन्तु जब ध्वनिकार ने रस को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया, तब अलंकारों की स्थिति वास्तविक रूप में स्पष्ट हुई। ध्वनिकार का मत है कि अलंकारों की सार्थकता अलंकार्य की शोभा बढ़ाने में है, न कि स्वतन्त्र रूप में। जब उनका सन्निवेश काव्य में रसादि के तात्पर्य से होगा, तभी वे अलंकार होंगे, अन्यथा नहीं क्योंकि काव्य में उस अलंकार का कोई स्थान नहीं है जो रस की व्यंजना में सहयोग नहीं करता। कहा है :—

रसभावादि तात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम् ।
अलङ्कृतीनां सर्वासामलङ्कारत्व साधनम् ॥

इसके विपरीत जब अलङ्कार रस-भावादि के तात्पर्य से रहित होकर कवि द्वारा काव्य में निवद्ध किया जाता है, तब वह केवल चित्र काव्य का विषय होकर रह जाता है—

रसभावादि विषय विवक्षाविरहे सति ।
अलङ्कार निवन्धो य स चित्र विषयो मत ॥

क्षेमेन्द्र का औचित्य सम्प्रदाय तो ध्वनिकार के रस ध्वनि के साथ सम्बद्ध होकर विकसित ही हो गया। वस्तुत औचित्य सम्प्रदाय को प्रतिष्ठित करने में आचार्य आनन्दवर्धन का महत्वपूर्ण योग रहा है। उन्होंने अपने ध्वन्यालोक में गुणौचित्य, अलंकारौचित्य, सङ्घटनौचित्य एवं विषयौचित्य आदि पर विस्तार के साथ प्रकाश डाला है। ध्वनिकार ने निम्नांकित कारिकाओं के द्वारा औचित्य सम्प्रदाय को न केवल मान्यता ही दी है, अपितु उसे प्रतिष्ठा भी प्रदान की है—

अनौचित्याद् ऋते नान्यद् रसभंगस्य कारणम् ।
अनौचित्योपनिवन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा ॥

यथा वा—

वाच्याना वाचकाना च यदौचित्येन योजनम् ।
रसादि विषयेणैतत् कर्म मुख्यं महा कवेः ॥

(ध्वन्यालोक)

आचार्य वामन रीति को काव्य की आत्मा मानते हैं, उनका यह रीति सम्प्रदाय ध्वनि सिद्धान्त की प्रतिष्ठा के पूर्व ही प्रतिष्ठित हो चुका था, वामन के मतानुसार विशिष्ट पद रचना का ही दूसरा नाम रीति है और पद रचना में वैशिष्ट्य का सन्निवेश गुणो के द्वारा होता है, किन्तु ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने पद रचना रूप रीति को संघटना मात्र माना है। उचित पद संख्या से रसोन्मीलन में सहायता पहुचती है, इस दृष्टि से ध्वनिकार ने रीति और रस में उपकार्योपकारक भाव माना है।

वृत्तियों को ध्वनिकार ने गुणो से पृथक् स्वीकार नही किया है। वे वृत्तियो को गुणो से अभिन्न मानते हैं। उन्होंने केवल दो प्रकार की वृत्तियों का उल्लेख किया है—

(१) कैशिकी।
(२) उपनागरिका।

वाच्याश्रय मे रहने वाली नाटय वृत्तियो को कैशिकी वृत्ति कहते है और मात्र वाच्याश्रय मे रहने वाली वृत्ति को उपनागरिका कहते हैं। ध्वनिकार के अनुसार इन्हें भी रसानुकूल होना चाहिये। कहा है—

"वृत्तयो हि रसादि तात्पर्येण सन्निवेशिता: कामपि काव्यस्य नाट्यस्य च छायामावहन्ति ।

रसाद्यनुगुणत्वेन व्यवहारोऽर्थे शब्दयो: ।
औचित्यवान् यस्ता एव वृत्तयो द्विविधाः मता. ॥"

(ध्वन्यालोक)

साथ ही आलोककार ने यह भी माना है कि उपनागरिका आदि वृत्तियाँ शब्द तत्व पर आश्रित है और कैशिकी आदि वृत्तियाँ अर्थतत्व पर—

शब्दतत्वाश्रया: काश्चिद् अर्थतत्वयुजोऽपरा ।
वृत्तयोऽपि प्रकाशन्ते ज्ञाते ऽस्मिन् काव्य लक्षणे ॥

(ध्वन्यालोक)

जहाँ तक वक्रोक्ति और ध्वनि का प्रश्न है, वक्रोक्ति का प्रयोग पहले पहल भामह ने किया । वे वक्रोक्ति को ही काव्य का सर्वस्व मानते है । इसके महत्व का प्रतिपादन भामह ने इन शब्दों मे किया है:—

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते ।
यत्नोऽस्या कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना ॥

भामह ने अतिशयोक्ति को ही वक्रोक्ति माना है । उनके अनुसार अतिशयोक्ति ही सब अलङ्कारों का मूल है । ध्वनिकार आनन्दवर्धन भी उनके इस मत से सहमत है, क्योंकि आनन्दवर्धन के कहा है—

'अतिशयोक्ति गर्भिता सर्वालङ्कारेषु शक्य क्रिया । तत्रातिशयोक्तिर्यमलङ्कारमधितिष्ठति कविप्रतिभावशात्तस्यचारुत्वातिशय योगोऽन्यस्य त्वलङ्कारमात्रतैवेति सर्वालङ्कार शरीर स्वीकरण योग्यत्वेनाभेदोपचारात् सैव सर्वालङ्कार रूपेत्ययमेवार्थोऽवगन्तव्यः ।'

(ध्वन्यालोक)

आचार्य कुन्तक ने आनन्दवर्धन के बाद वक्रोक्ति सम्प्रदाय का विकास किया जिसे हम दूसरे शब्दों में ध्वनि सिद्धान्त की प्रतिक्रिया भी कह सकते है । वैसे कुन्तक ने वक्रोक्ति सम्प्रदाय को खड़ा करने मे कई मौलिक उद्भावनाएँ की हैं किन्तु उनका सम्प्रदाय फिर अधिक दिनों तक लोकप्रिय नहीं बन सका । इसके विपरीत ध्वनि सिद्धान्त आज भी मनीषियों के गहन चिन्तन एवं पठन-पाठन का विषय बना हुआ है ।

प्रश्न – ६. ध्वनिकार आनन्दवर्धन के व्यक्तित्व और कृतित्व के बारे में प्रकाश डालिये ।

उत्तर – यद्यपि ध्वनिकार आनन्दवर्धन के जीवनकाल का ठीक-ठीक संकेत ज्ञात नहीं होता तथापि कल्हण की राजतरंगिणी से ज्ञात होता है कि आनन्दवर्धन

अवन्तिवर्मा के राज्यकाल में पर्याप्त प्रसिद्धि को प्राप्त हो चुके थे। इस सम्बन्ध में कल्हण का निम्नांकित श्लोक द्रष्टव्य है--

मुक्ताकण शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथा रत्नाकरश्चागात् साम्राज्ये ऽवन्तिवर्मणः॥

डा० जैकोबी और बूलर ने अवन्तिवर्मा का राज्य-काल ८५५ से लेकर ८८३ ई० तक माना है। कुछ विद्वान् अवन्तिवर्मा के पुत्र शंकरवर्मा (जिसका समय ८८३ ई० से ९०२ ई० तक माना जाता है) के साथ आनन्दवर्धन की समसामयिकता को सिद्ध करने का प्रयास करते हैं, किन्तु इतना स्पष्ट है कि एक कवि के रूप में प्रसिद्धि आनन्दवर्धन को अवन्तिवर्मा के राज्यकाल में ही प्राप्त हो गई थी। यह भी निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जा सकता है कि जब उन्होंने ध्वन्यालोक जैसे प्रौढ़ ग्रन्थ की रचना की होगी, तब वे निश्चित ही प्रौढ़ एवं वयः प्राप्त हो चुके होंगे। अत उनका शंकरवर्मा के राज्यकाल में होना भी अयुक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता। आचार्य आनन्दवर्धन ने राजा यशोवर्मा रचित 'रामाभ्युदय' नाटक का अपने ग्रन्थ में उल्लेख किया है। विद्वान लोग यशोवर्मा और शंकरवर्मा को एक ही व्यक्ति मानते है। न्यायमञ्जरीकार भट्ट जयन्त शकरवर्मा के सम सामयिक थे, इन्होंने अपनी न्यायमञ्जरी में ध्वनिसिद्धान्त का खण्डन किया है। यह हो सकता है कि आनन्दवर्धन जयन्त भट्ट और शंकरवर्मा के समसामयिक रहे हों।

इसके अतिरिक्त ध्वन्यालोक में आनन्दवर्धन ने उद्भट का उल्लेख किया है। उद्भट का स्थितिकाल ८०० ई० माना जाता है। राजशेखर ने भी (जिसका समय लगभग ९०० से ९२५ ई० है,) आनन्दवर्धन का उल्लेख किया है। अत. आनन्दवर्धन का समय ८६० से ८९० के बीच होना चाहिए। महामहोपाध्याय डा० कोण का भी यही अभिमत है।

यद्यपि इनके वंश आदि के बारे में अभी तक कुछ भी ज्ञात नहीं हो सका है तथापि देवी शतक में उल्लिखित निम्नाङ्कित श्लोक के आधार पर इन्हें नोणपुत्र या नोणोपाध्याय पुत्र कहा जाता है। जैसा कि इस श्लोक से भी स्पष्ट है--

देव्यास्स्वप्नोद्‌गमादिष्ट देवीशतक सज्ञया।
देशितानुपमामाधादतो नोण सुतो नुतिम्॥

देवीशतक स्वयं आनन्दवर्धन की रचना थी। अतः इसमें उल्लिखित तथ्य मिथ्या नहीं होना चाहिये। इसी ग्रन्थ के आधार पर हेमचन्द्र ने अपने 'काव्यानुशासन' विवेक में आनन्दवर्धन को नोणपुत्र माना है। श्री विष्णुपद भट्टाचार्य के अनुसार भी ध्वन्यालोक की प्राचीन हस्तलिपियों में आनन्दवर्धन के पिता का नाम नाणोपाध्याय मिलता है, अतः स्पष्ट है कि ये नाणोपाध्याय के पुत्र थे।

आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक की रचना करके मा भारती के भण्डार में एक अनुपम ग्रन्थ रत्न तो भेंट किया ही, साथ ही अन्य अनेक ग्रन्थों से भी

सरस्वती के भण्डार की वृद्धि की है। ध्वन्यालोक के अतिरिक्त इन्होंने देवीशतक, विषम बाण लीला और अर्जुन चरित नामक तीन काव्य ग्रन्थों की रचना की।

निश्चय ही आचार्य आनन्दवर्धन साहित्य शास्त्र के महामनीषी तो थे ही साथ ही वे महान् दार्शनिक भी रहे होंगे, इस सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते। महान् दार्शनिक हुए बिना वे ध्वनि तत्व को अनिर्वचनीय मानने वाले विद्वानों को निरुत्तर कर ही नहीं पाते। लोचनकार आचार्य अभिनवगुप्त का कथन है कि आचार्य आनन्दवर्धन ने बौद्ध दार्शनिक आचार्य धर्मोत्तर की 'विनिश्चय टीका" पर वृत्ति लिखी थी। साथ ही 'तत्वालोक' शीर्षक अद्वैत सिद्धान्त सम्बन्धी गूढ दार्शनिक ग्रन्थ का भी प्रणयन किया था। सुप्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक आचार्य धर्मकीर्ति ने 'प्रमाण विनिश्चय' शीर्षक ग्रन्थ का प्रणयन किया था, जिस पर आचार्य धर्मोत्तर ने उस पर 'प्रमाण विनिश्चय' शीर्षक टीका लिखी थी। इसी टीका पर आचार्य आनन्दवर्धन ने वृत्ति लिखी थी। आचार्य धर्मोत्तर का उल्लेख ध्वनिकार ने अपने ग्रन्थ ध्वन्यालोक में किया है। आचार्य आनन्दवर्धन के दार्शनिक ज्ञान-गरिमा की परिपुष्टि उनके निम्नाङ्कित श्लोक से भी सम्यक्तया हो जाती है--

या व्यापारवती रसान् रसयितु काचित्कवीना नवा,
दृष्टिर्या परिनिष्ठितार्थ विषयोन्मेषा च वैपश्चिती।
ते द्वे अप्यवलम्ब्य विश्वमनिशं निर्वर्णयन्तो वयं,
श्रान्ता नैव च लब्धमब्धिशयन्, त्वद्भक्ति तुल्यं सुखम्॥
(ध्वन्यालोक)

यह भारतीय मनीषियों के उर्वर मस्तिष्क की महिमा है कि वे कवि और आलोचक होने के साथ-साथ उत्तम् कोटि के दार्शनिक भी हुआ करते हैं। यह भारत-जननी के पदरज की ही कृपा है कि समस्त सांसारिक भोग वृत्तियों का आस्वादन करने पर भी यहाँ के सिद्ध सारस्वत वैभव भारत के सुपुत्र हृदय से विरक्त होते है। सब कुछ जानते और समझते हुए भी वे उसमें कभी आसक्त नहीं होते। शब्द ब्रह्म की कल्पना करके उसे अक्षर समझ कर उसकी अहर्निश उपासना में लीन रहने वाले नर-रत्नों को उत्पन्न कर सकने की क्षमता वसुधा मे ही है।

आचार्य आनन्दवर्धन इसी प्रकार के नररत्नों में थे। दर्शन, काव्य और कसौटी इन तीनों की ही पावन त्रिवेणी निरन्तर अजस्र रूप में उनके मानस-धरा पर प्रवाहित हुई है, जिसके संस्पर्श मात्र से आज भी जड़मति सुधी विद्वान् हो जाता है।

आचार्य आनन्दवर्धन जैसे महामनीषी पर न केवल संस्कृत साहित्य को प्रत्युत विश्व वाङ्मय को गर्व है। जब तक संसार में कवि और काव्य रहेंगे, तब तक उनका 'ध्वन्यालोक' कवि और काव्य दोनों का ही पथ-प्रदर्शन करता रहेगा।

प्रश्न—७. "आनन्दवर्द्धन के ध्वन्यालोक को प्रसिद्धि की चरम सीमा में पहुँचाने का श्रेय आचार्य अभिनव गुप्त को है। उनके "लोचन" के बिना 'ध्वन्यालोक' न तो स्पष्ट ही होता है और न बुद्धिगम्य ही।" इस कथन के पक्ष या विपक्ष में अपने विचार व्यक्त करते हुए अभिनव गुप्त के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर प्रकाश डालिये।

(**उत्तर**— सूर्य स्वयं प्रकाशित हुआ करता है, उसे-दीपक दिखाकर प्रकाशित नही किया जा सकता। हां, दीपक दिखाकर हम उसके प्रति अपने हृदय की भक्ति, श्रद्धा एव निष्ठा को व्यक्त कर सकते है। इसी तरह जो स्वयं तेजोदीप्त होते हैं वे अपने तेज को प्रकाशित करने के लिये किसी दूसरे की अपेक्षा नही रखते। दूसरा व्यक्ति स्वय आकर सहयोगी बन जाय, यह बात दूसरी है। यही बात आचार्य आनन्दवर्धन के ग्रन्थ ध्वन्यालोक के बारे में भी कही जा सकती है। यह वही ग्रन्थ है जिसने अपने पूर्ववर्त्ती समग्र आचार्यों के वाग्विलास को कसौटी पर कसा। कितने ही आचार्यो के मत-मतान्तरो का तो इनके उदय होते ही सूर्योदय के समय नक्षत्र मण्डल के समान अस्त हो गया और बचे-खुचे आचार्यगण दिन में चन्द्रकला के सदृश श्रीविहीन हो गये। अत यह कहना कि आचार्य आनन्दवर्धन के ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' को अभिनव गुप्त के लोचन टीका ने ख्याति के चरम बिन्दु पर पहुंचाया, उपहासास्पद प्रतीत होता है। इसके स्थान पर यदि यह कहा जाय कि ध्वन्यालोक की सारवती टीका "लोचन" लिखने के कारण स्वयं अभिनव गुप्त अमर हो गये, अन्यथा अन्य आचार्यों की तरह ही अभिनव गुप्त भी केवल इतिहास तक सीमित होकर रह जाते, अधिक युक्तिसंगत और सार्थक होगा। हां, इतना फिर भी अवश्य मानना पडेगा कि आचार्य अभिनव गुप्त ने अपनी लोचन टीका के माध्यम से ध्वन्यालोक को सरल और बोधगम्य बनाने का स्तुत्य प्रयास किया है। अभिनव गुप्त की लोचन टीका से ध्वन्यालोक के कठिन स्थल अधिक स्पष्ट और सुबोध हो गये है जिसके लिये विद्वत्समाज अभिनवगुप्त का सदैव कृतज्ञ रहेगा।)

अभिनवगुप्त नामक दो व्यक्ति हुए है। एक ने तो माधवाचार्य के 'शकर दिग्विजय' शीर्षक ग्रन्थ मे भाष्य लिखा है। वे कामरूप के निवासी थे और वे आचार्य शंकर के साथ हुए शास्त्रार्थ मे पराजित भी हुए थे। ध्वन्यालोक पर लोचन नामक टीका के प्रणेता आचार्य अभिनवगुप्त इनसे सर्वथा भिन्न है। इन्होंने "अभिनव भारती" शीर्षक से सुप्रसिद्ध ग्रन्थ का भी प्रणयन किया था। ये काश्मीर के निवासी तो थे ही, साथ ही शैव मतानुयायी भी थे। इनके जीवन काल के सम्बन्ध मे विद्वानो में बड़ा मतभेद है किन्तु फिर भी अधिकांश विद्वान् ९५० ई० से लेकर १०२५ ई० के मध्य इनका समय निर्धारित करते है। ऐसी जनश्रुति है कि इनका वास्तविक नाम तो कुछ और ही था। अभिनवगुप्त यह नाम गुरुजनो का रखा हुआ है। आचार्य मम्मट ने भी अपने "काव्यप्रकाश" मे श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादाः कहकर

इनको सम्मानित किया है। स्वयं अभिनवगुप्त ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि उनका यह नाम गुरुजनों का दिया हुआ है। तन्त्रलोक मे उन्होंने लिखा है:—

अभिनवगुप्तस्य कृतिः सेयं यस्योदिता गुरुभिराख्या।

(तन्त्रालोक)

दक्षिण भारत के लोग गुप्तपाद के आधार पर इन्हे शेषावतार मानते हैं। इनके पूर्वज मूलत भू-स्वर्ग काश्मीर के निवासी न होते हुए भी अभिनव गुप्त के जन्म से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व कन्नौज से काश्मीर चले गये थे। राजतरंगिणी के अनुसार यशोवर्मा अष्टम् शताब्दी में कन्नौज का राजा था और ललितादित्य काश्मीर का। ये दोनो ही सम सामायिक शासक थे। इन दोनों मे युद्ध हुआ और इस युद्ध में यशोवर्मा पराजित हो गया। तत्कालीन कन्नौज के विद्वान् अत्रिगुप्त की असाधारण विद्वत्ता से प्रभावित होकर ललितादित्य ने उन्हे काश्मीर मे बसाया। अभिनवगुप्त के कुल मे अत्रिगुप्त के बाद कौन-२ विद्वान् हुए, इसका कुछ उल्लेख उपलब्ध नहीं होता। केवल इतना उल्लेख मिलता है कि अभिनवगुप्त के पिता का का नाम वराहगुप्त और इनके पिता का नाम नृसिंहगुप्त तथा चाचा का नाम वामनगुप्त था। इनके चार चचेरे भाई भी थे जिनका नाम क्षेमगुप्त, उत्पलगुप्त, चक्रगुप्त और पद्मगुप्त था। अभिनवगुप्त ने अपने कई गुरुजनों का नामोल्लेख बड़ी श्रद्धा के साथ किया है जिनमे नृसिंह गुप्त, वोमनाथ, भूतिराजतनय, लक्ष्मण गुप्त, भट्ट इन्दुराज, भूतिराज, भट्टतौत प्रमुख है। भट्ट इन्दुराज ही आचार्य के काव्य शास्त्रीय गुरु थे। आचार्य अभिनव गुप्त ने इनकी अनेक रचनाएँ उद्धृत तो की ही है, साथ ही लोचन के आरम्भ मे इनका सादर स्मरण भी किया है। अभिनवगुप्त ने इन्हें विद्वत्सहृदय चक्रवर्ती कहकर अपनी भाव-सुमनाञ्जलि अर्पित की है। "अस्मद्गुरुस्त्वाहुः" आदि निर्देशों से विद्वानो ने अनुमान लगाया है कि भट्ट इन्दुराज ने ही इन्हें ध्वन्यालोक पढ़ाया होगा। कुछ विद्वान् लोग प्रतीहारेन्दुराज एवं भट्टइन्दुराज को अलग-अलग व्यक्ति न मानकर एक ही व्यक्ति मानते हैं, किन्तु डा० काणे का अभिमत है कि यह मान्यता गलत है क्योंकि प्रतीहारेन्दुराज ध्वनि सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते, इसके विपरीत भट्ट इन्दुराज को ध्वनि सिद्धान्त के व्याख्याता के रूप मे लोचनकार ने स्मरण किया है। दूसरा कारण उन्होंने यह दिया कि अभिनवगुप्त ने अपने गुरु इन्दुराज के प्रति कही पर भी 'प्रतीहार' की उपाधि का प्रयोग नही किया है। प्रतीहारेन्दुराज के गुरु मुकुल थे। आचार्य ने अपने गुरु के गुरु उत्पलदेव की चर्चा तो की है किन्तु मुकुल की नही की। इसके साथ ही प्रतीहारेन्दुराज की टीका में उनका रचा हुआ एक भी श्लोक नही है, जबकि लोचन में इन्दुराज के अनेक श्लोक उद्धृत हैं। अभिनवगुप्त ने अपने गुरु भट्टइन्दुराज की गणना व्यास, कालिदास और वाल्मीकि के नामों के साथ की है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि प्रतीहारेन्दुराज भट्टइन्दुराज से सर्वथा भिन्न थे। इन्हे एक मानना युक्तिसंगत नहीं है।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि अभिनवगुप्त के एक गुरु भट्टतौत भी थे, जिनसे उन्होंने नाट्यशास्त्र का अध्ययन किया था। अभिनवगुप्त के अनुसार भट्टतौत ने काव्यकौतुक नामक ग्रन्थ लिखा था जिस पर इन्होंने विवरण नामक व्याख्यान लिखा था। अभिनवगुप्त के शब्दों में— "स चायमस्मदुपाध्याय भट्टतौतेन काव्य कौतुके, अस्माभिश्च तद्विवरणे बहुतरकृतनिर्णयपूर्वपक्षसिद्धान्त इत्यलं बहुना।"

(जहाँ तक इनके जीवन वृत्त के बारे में ज्ञात होता है, उससे स्पष्ट है कि इनके माता-पिता बाल्यकाल में ही इन्हें छोड़कर चल बसे थे। असमय में ही माता-पिता का स्नेह-सम्बल छिन जाने के कारण इनका जीवन शुष्क और नीरस तो हो ही गया, साथ ही इन्हें दार्शनिक भी बना गया। ये बहुत बड़े साधक थे। ऐसा कहा जाता है कि ये कश्मीर की भैरव गुफा में अपनी साधना किया करते थे। इन्होंने ध्वन्यालोक पर लोचन नामक टीका लिखकर अपने यश: सौरभ से आकल्पान्त वसुधा-तल को सुरभित कर दिया। अपने लोचन टीका की सार्थकता पर आचार्य ने इस प्रकार कहा है :—

किं लोचनं विनाऽऽलोको भातिचन्द्रिकयाऽपिहि ।
तेनाभिनवगुप्तोऽत्र लोचनोन्मीलनं व्याधात् ॥

वास्तव में अभिनवगुप्त की टीका लोचन, लोचन ही है जिसके पढ़ लेने से ध्वनि सिद्धान्त सम्बन्धी सारी शंकाएँ दूर तो हो ही जाती हैं, साथ ही प्रतिभा में एक अभिनवोन्मेष भी होता है।

अत: निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि जहाँ तक एक ओर अभिनवगुप्त ने ध्वनि सिद्धान्त का विशद विवेचन अपने लोचन में करके उसकी दुरूह गुत्थियों को सुलझा कर, उसे बोधगम्य बनाया है, वहाँ अपने नाम को भी ध्वनि सिद्धान्त के ही साथ जोडकर अक्षय बना दिया है। विद्वानों में आज भी यह धारणा है कि बिना लोचन का सम्यक्तया पर्यालोचन किये या बिना उसे हृदयङ्गम किये, ध्वनि सिद्धान्त समझ में नहीं आ सकता। विद्वद्वर्ग की यही धारणा आचार्य अभिनवगुप्त की कीर्ति कौमुदी के विस्तार एवं उनके प्रौढ़ पाण्डित्य के प्रचार-प्रसार के लिये पर्याप्त है।)

———

प्रश्न—८. क्या ध्वन्यालोक में कारिकाकार अलग और वृत्तिकार अलग हैं या दोनों को एक ही व्यक्ति माना जा सकता है? युक्तियुक्त तर्कों के आधार पर अपने मत की पुष्टि कीजिये।

उत्तर—पौर्वात्य विद्वानों में श्री दुर्गाप्रसाद, डा० पी० वी० काणे, प्रो० शिवप्रसाद भट्टाचार्य और के० गोडावर्मा आदि ने ध्वन्यालोक में कारिकाभाग वृत्तिभाग को भिन्न कर्तृक माना है। दोनों भागों को एक ही व्यक्ति की रचना मानने वालों का भी एक लम्बा दल है जिसमें प्रमुख हैं—महामहोपाध्याय श्री कुप्पुस्वामी

शास्त्री, डॉ० सातकरी मुकर्जी, डॉ० मकरन्द, डॉ० कान्तिप्रसाद पाण्डेय, डॉ० कृष्णमूर्ति, प्रो० मनरन्द आदि। इस समस्या का सूत्रपात किया था सुप्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् डॉ० बुलहर ने। उन्होंने अपनी कश्मीरी रिपोर्ट में लिखा है—

"From अभिनव गुप्त's tika it appears that verses are the composition of some older writer, whose name is not given. But it is remarkable that they contain no मङ्गलाचरण।"

ध्वन्यालोक को अभिन्न कर्तृक मानने वाले विद्वान् लोग कारिका भाग को ध्वनि और वृत्ति भाग को आलोक मानकर प्रस्तुत ग्रन्थ की सार्थकता को सिद्ध करते है। दोनों को एक ही के द्वारा प्रणीत मानते है।

ध्वन्यालोक की लोचन टीका में अभिनव गुप्त ने भी कई स्थलो पर ऐसा सकेत किया है जिससे कारिका भाग और वृत्ति भाग भिन्न कर्तृक प्रतीत होते हैं, किन्तु भिन्न कर्तृक किंवा अभिन्न कर्तृक मानने वाले विद्वानो ने उनका अर्थ अपने-अपने पक्ष के समर्थन में किया है। ध्वन्यालोक के भिन्न कर्तृत्ववादी विद्वानो एवं अभिन्न कर्तृत्ववादी विद्वानों में यदि हम भिन्न कर्तृत्ववादियों में डा० काणे और अभिन्न कर्तृत्ववादियों में डा० सातकरी मुकर्जी को मुख्य मान लें तो विचार करने में सुविधा रहेगी। आइये, इन्ही के तर्क वितर्कों का पर्यालोचन कर किसी एक निष्कर्ष पर पहुंचने का प्रयास करें।

यह बात यहां पर विशेष रूप से ध्यान देने योग्य यह है कि भिन्न कर्तृत्ववादियों के पक्ष के मूल मे लोचनकार के वे भेद निर्देश स्थल है, जिनमें उन्होंने स्पष्ट रूप मे ही कारिकाकार और वृत्तिकार को अलग-अलग होने का सकेत किया है। इसके विपरीत अभिन्न कर्तृत्ववादी विद्वानों के पक्ष में आनन्दवर्धन के परवर्ती आचार्यों के वे वक्तव्य है, जिनके अनुसार आनन्दवर्धन ही कारिकाकार एवं वृत्तिकार है। डा० काणे महोदय ने सर्वप्रथम लोचन के उन स्थलों की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया है जिनमे वृत्तिकार को ग्रन्थकृत् या ग्रन्थकार और कारिकाकार को मूल ग्रन्थकृत् कहा गया है। सम्पूर्ण ग्रन्थ को आनन्दवर्धनकृत विद्वान् लोगो का इस सम्बन्ध मे कथन है कि लोचनकार अभिनवगुप्त के भेद साधक उल्लेख केवल अपने व्याख्यानों को सुगम करने के लिये है।

डा० काणे महोदय ने लोचन के जिन अंशों को उद्धृत किया, उनमे दूसरे, छठे और सातवें अंश को वे अधिक महत्वपूर्ण मानते है। दूसरे अंश का अभिप्राय यह है कि प्रथम उद्योत के वृत्ति भाग मे ध्वनि के दो भेदो—अविवक्षित वाच्य तथा विवक्षितान्यपर वाच्य की चर्चा की गई है, किन्तु कारिका भाग मे इसका उल्लेख नहीं है। द्वितीय उद्योत के आरम्भ में प्रथम कारिका मे ही ध्वनि के प्रथम भेद को दो प्रभेदों मे विभक्त किया गया है।

डा० सातकरी मुकर्जी का इस सम्बन्ध मे मत है कि ग्रन्थकार वृत्ति और कारिका को एक दूसरे से पृथक नही करते । यही कारण है कि वे द्वितीय उद्योत की प्रथम कारिका मे ही एकाएक अविवक्षित वाच्य का भेद करने लगे । लोचनकार के 'मया वृत्तिकारेण सता' पर अधिक जोर देते हुए कहते हैं कि 'सता' के द्वारा आचार्य अभिनव गुप्त भिन्न कर्तृत्व के स्थान पर अभिन्न कर्तृत्व का ही सकेत करते है ।

इसके विपरीत डा० काणे का मत है कि यदि कारिकाकार और वृत्तिकार एक ही व्यक्ति हैं, तब – 'न चैतन्मयोक्तम् अपितु कारिकाकाराभिप्रायेणेत्याह-तत्रेति' यह कहने की क्या आवश्यकता थी ? एक दूसरे प्रसंग में, जहाँ यह शंका होती है कि यदि सघटना गुणो का आश्रय नही है, तो ये किस आधार पर रहते हैं ? इसका समाधान करते हुए गया गया है—'प्रतिपादितमेवैषामालम्बनम् ।' इस वृत्ति पर लोचनकार ने स्पष्ट करते हुए कहा है—'अस्मन्मूलग्रन्थकृतेत्यर्थ ।' अत. यदि वृत्तिकार कारिकाकार भी होते तो निश्चय ही वे 'मत्कृत कारिकायाम्' कहते ।

डा० मुकर्जी ने लोचन मे जो कारिकाकार और वृत्तिकार को पृथक् निर्दिष्ट किया गया है, उसे एक नियम विशेष का विषय माना है । डा० कृष्णमूर्ति भी मुकर्जी के विचारो से सहमत है, किन्तु डा० काणे बिना प्रमाण की इस बात से सन्तुष्ट नही हैं, वे 'अस्मन्मूलग्रन्थकृता' के निर्देश को एक महत्वपूर्ण निर्णायक अश मानते है । अपने पक्ष के प्रमाण के रूप मे डा० काणे ने ध्वन्यालोक के मगलाचरण श्लोक को प्रस्तुत करते हुए कहा है कि इसे लोचन मे वृत्तिकार कहा गया है और 'काव्यस्यात्मा-ध्वनि:०' को आदिवाक्य कहा गया है । यदि कारिका और वृत्ति ग्रन्थ का कर्ता एक ही है तो लोचन ने मगल श्लोक को कारिकाकार या ग्रन्थकार शब्द के साथ क्यो नहीं स्पष्ट किया । कई स्थलो से इस बात की पुष्टि हो चुकी है कि ग्रन्थकार शब्द से अभिनव गुप्त का अभिप्राय आनन्दवर्धन से ही है । उन्होंने स्वय इस बात को स्पष्ट किया है—"आनन्द इति च ग्रन्थकृतो नाम । तेन स आनन्दवर्धनाचार्य एतच्छास्त्र०" ।

सप्तम अंश में आनन्दवर्धन ने औचित्य के अ त्याग के सम्बन्ध मे विचार करते हुए कहा है कि—"दर्शितमेवाग्रे०" अर्थात् इसे पहले दिखा चुके है । इस पर अभिनवगुप्त ने लिखा है कि "कारिका कारेणेति भूत प्रत्यय:" अर्थात् कारिकाकार ने इसे दिखा दिया इसीलिये भूतकाल का प्रयोग किया है । इस पर डा० काणे का कथन है कि यदि कारिका और वृत्ति दोनो एक ही व्यक्ति की कृतिया होती तो 'दर्शितं' के स्थान पर वृत्तिकार को 'दर्शयिष्यते' लिखना चाहिए था क्योंकि आगे की कारिकाओ मे उपर्युक्त विषय की चर्चा मिलती है । अत: यहाँ पर भूतकाल के प्रयोग से प्रतीत होता है कि कारिकाएँ अन्य प्राचीन व्यक्ति की है, जो वृत्तिकार के पहले हुआ होगा ।

किन्तु डा० काणे महोदय के इन तर्कों को डा० मुकर्जी ने महत्वहीन माना है। उनका मत है कि काल के प्रयोग पर आधारित तर्क पूर्णतया अनिर्णायक है। डा० मुकर्जी का मत है कि आनन्दवर्धन ने अनेक स्थलों पर भविष्यत् काल का प्रयोग किया है, अतः यह कहना युक्तिसंगत नहीं है कि वह निर्देश वृत्तिग्रन्थ के लिये है, कारिका के लिये नहीं। डा० मुकर्जी ने वृत्तिग्रन्थ के भविष्यत्काल के अनेक प्रयोगों को उद्धृत किया है जैसे—

(१) स ह्यर्थो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्त वस्तुमात्रमलकार रसादयश्चेत्यनेक प्रभेद प्रभिन्नो दर्शयिष्यते। (ध्वन्या०)

(२) द्वितीयोऽपि प्रभेदो वाच्याद्विभिन्नः सप्रपञ्चमग्रे दर्शयिष्यते। (ध्वन्या०)

(३) वाच्येन त्वस्य सहैव प्रतीतिरित्यग्रे दर्शयिष्यते। (ध्वन्या०)

(४) ततोऽन्यच्चित्रभेदेत्यग्रे दर्शयिष्याम.। (ध्वन्या०)

यहाँ पर डा० मुकर्जी के पक्ष से डा० काणे का कथन अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है किन्तु यह भी सम्भव हो सकता है कि ध्वनिकार ने कारिकाओं का निर्माण करने के बाद वृत्ति लिखी और इसी आधार पर 'दर्शितमेवाग्रे' का भूतकालिक प्रयोग किया। डा० मुकर्जी के अनुसार वृत्ति का ढग यह है कि जो कुछ मूलग्रन्थ मे कहा गया है, उसका व्याख्यान करना। मूल के विरुद्ध वस्तु को सूचित करना भाष्य के नियमो में अपराध के अन्तर्गत आता है जो वृत्तिकार के लिये अक्षम्य माना जाता है। मूलकार या वृत्तिकार एक हो, या अलग-अलग, किन्तु सूत्र या कारिका के अनुसार ही वृत्तिग्रन्थ को होना चाहिए। महाभाष्यकार पतञ्जलि एव महावैयाकरण नागेशभट्ट ने इस बात को स्पष्ट शब्दों मे कहा है—

(१) 'यो हि उत्सूत्रं कथयेन्नादो गृह्येत' (महाभाष्य)

(२) सूत्रेष्वेव हि तत्सर्वं यद् वृत्तौ यच्च वार्तिके (नागेशभट्ट)

अतः स्पष्ट है कि भाष्यकार किंवा वृत्तिकार को यह अधिकार नहीं है कि वह उन सूत्रों का भी निरूपण करे, जो सूत्र या कारिका से सम्बन्ध नहीं रखते। यदि वृत्ति का कर्ता मूलग्रन्थ के कर्ता से अभिन्न होता है, तो वह स्वय को मूलकार से भिन्न व्यक्ति के रूप मे निश्चित रूप से प्रकट करता है। मूलकार को अन्य पुरुष के रूप मे व्यक्त करता है। इस प्रकार ध्वन्यालोक मे उत्सूत्र व्याख्यान से वचनों का निर्देश लोचन में अभिनव गुप्त ने वृत्तिकार के अभिप्राय से किया है। डा० मुकर्जी के अनुसार वे सभी अन्त.साक्ष्य जो मूल एव वृत्ति में व्यक्तिगत भेद के तत्व है, इनके विरुद्ध एक प्रकार के अपराध समझे जायेंगे।

किन्तु मुकर्जी के इस मत से डा० काणे सहमत नहीं है, किन्तु वे कहते है कि वृत्तिकार के लिये कोई ऐसा नियम नहीं है जिसमे प्राचीन नियमो का उल्लङ्घन अपराध समझा जा सके।

इस प्रकार डा० काणे के मत मे डा० मुकर्जी का उपर्युक्त कथन आधारहीन है। उनके अनुसार ऐसा कोई नियम नहीं है जिसके आधार पर भिन्न प्रतीत होने

हुए भी कारिका और वृत्ति के कर्ताओं को अभिन्न माना जाय। वामन, हेमचन्द्र और कौटलीय की सी स्थिति भी इसमें नही है क्योंकि उन्होने स्पष्ट किया है कि मूलकार और वृत्तिकार दोनो एक ही हैं। डा० के०सी० पाण्डेय का कथन है कि नवम शताब्दी मे काश्मीर मे ऐसी प्रथा चल पड़ी थी कि एक ही व्यक्ति पहले कारिका लिखकर बाद मे स्वय ही उस पर वृत्ति लिखा करता था। डाक्टर साहब के इस मत से भी काणे महोदय सहमत नही हैं क्योंकि यदि ऐसा होता तो निश्चय ही ध्वन्यालोक मे भी दोनों के अभिन्नकर्तृकत्व का निर्देश हुआ होता। दूसरी बात यह है कि लोचनकार ने आरम्भ मे ही स्पष्ट क्यो नही किया कि कारिकाकार और वृत्तिकार एक है, जबकि उन्होने अन्यत्र 'विमर्शिनी' में ऐसा किया है। अतः स्पष्ट है कि ध्वन्यालोक के अभिन्नकर्तृक होने पर वे पहले ही इस बात को अवश्य स्पष्ट कर देते। तीसरी बात यह भी है कि ध्वन्यालोक मे *यत्र-तत्र लोचनकार ने उपस्कार दिये हैं। यदि* वृत्तिकार और कारिकाकार अभिन्न होते तो उन्हे कारिकाकार के कथन का उपस्कार *देने की आवश्यकता क्या थी ?*

ध्वन्यालोक को एक ही व्यक्ति की रचना मानने वाले विद्वानो का मत है कि *ग्रन्थकार ने कारिकाओं के आरम्भ मे मङ्गलाचरण नही लिखा और वृत्ति का* आरम्भ करते हुए लिखा है। इससे यह प्रतीत होता है कि जब वृत्ति मे मङ्गलाचरण *हो गया, तब* कारिका मे उसकी आवश्यकता नही हुई। यदि वृत्तिकार से कारिकाकार भिन्न होता तो निश्चय ही वह कारिकाओं का आरम्भ करते समय मङ्गलाचरण लिखता।

डा० काणे इस तर्क को भी आधारहीन मानते हैं। उनके अनुसार मङ्गल श्लोक के होने या न होने से कारिकाकार या वृत्तिकार के भेदाभेद का निर्णय नही किया जा सकता क्योंकि प्राचीन आचार्यों मे भी मङ्गल श्लोक की प्रथा आवश्यक रूप मे मान्य नही थी। उदाहरण के लिये कहा जा सकता है कि जैमिनि सूत्रों पर शावर के भाष्य के आरम्भ मे, वेदान्त सूत्रों पर शङ्कराचार्य के भाष्य के आरम्भ में, नाट्य सूत्रों पर वात्स्यायन के भाष्य मे तथा उद्योतकर के न्यायवार्तिक मे मंगल श्लोक नही है।

ध्वन्यालोक की वृत्ति मे परिकर श्लोक, संग्रह श्लोक, संक्षेप श्लोक तथा तदिदमुक्तं, तदयमत्रपरमार्थः के साथ अनेक श्लोकों को प्रस्तुत किया गया है, जिनमें अधिकांश श्लोक कारिकाओं से भी अधिक सारगर्भित हैं। काणे महोदय *का कथन है कि यदि कारिकाकार और वृत्तिकार अभिन्न हैं, तो क्यो उस व्यक्ति* ने उन उत्तम कोटि के श्लोकों को कारिकाओं मे नही रखा ? आचार्य मम्मट ने जो अपने काव्यप्रकाश के कारिकाकार और वृत्तिकार दोनो ही हैं, इसी तरह वृत्ति मे परिकर श्लोक किंवा संग्रह श्लोक क्यो नही दिये ? डा० कृष्णमूर्ति के इस कथन मे कि आनन्दवर्धन ने पहले कारिकाएँ लिखी और उन्हे अपने शिष्यो को पढाया, तब कुछ समय बाद वृत्ति का निर्माण किया, डा० काणे सन्तुष्ट नही होते। काणे

का तर्क है कि ऐसी कौन सी बाधा था उपस्थित हुई कि कारिकाकार ने इन पद्यों को कारिकाओं के रूप में नहीं लिखा ?

साथ ही काणे महोदय का यह भी कथन है कि यदि कारिका और वृत्ति एक ही व्यक्ति की रचनाएँ है तो कारिकाओं के टुकड़े और उनमें वृत्तिभागों का छिटपुट नियोजन होना चाहिये था, परन्तु ऐसी समानता दृष्टिगत नहीं होती। यद्यपि काव्यप्रकाश में कारिकाएँ तोडकर बीच में वृत्ति के साथ दी गई हैं, तथापि उनमें ऐसी अव्यवस्था दृष्टिगोचर नहीं होती।

ध्वन्यालोक के अन्तिम पद्यों पर लिखी गई टिप्पणी के आधार पर डा० मुकर्जी का मत है कि इस टिप्पणी से अभिनवगुप्त ने सूचित किया है कि कारिका और वृत्ति दोनों ही एक व्यक्ति की रचनाएँ हैं। दूसरे अन्तिम श्लोक के आधार पर भी आचार्य आनन्दवर्धन ने ही सर्वप्रथम ध्वनिमार्ग का आलोकन कारिका और वृत्ति द्वारा किया था, यही बात ध्वनित होती है किन्तु काणे महोदय इस बात को स्वीकार नहीं करते। उनका मत है कि आचार्य आनन्दवर्धन ने प्राचीन कारिका ग्रन्थ का व्याख्यान किया जिसको 'व्याकरोत्' शब्द सूचित करता है।

जल्हण ने सूक्ति मुक्तावली में राजशेखर के नाम से निम्नाङ्कित श्लोक उद्धृत किया है—

ध्वनिनाऽतिगंभीरेण काव्यतत्व निवेशिना।
आनन्दवर्धनः कस्य नासीदानन्दवर्धनः॥

इससे स्पष्ट होता है कि आनन्दवर्धन ने ही ध्वनि की स्थापना की। कुन्तक ने अपने वक्रोक्तिजीवित में आनन्दवर्धन के 'ताला जाउन्ति गुणा०' इत्यादि श्लोक को उद्धृत किया है और कहा है—'ध्वनिकारेण व्यंग्य व्यञ्जक भावोऽत्र सुतरां समर्थितः किं पौनरुक्त्येन'। इस प्रकार वक्रोक्तिजीवितकार आचार्य कुन्तक भी आनन्दवर्धन को ध्वनिकार मानते हैं। क्षेमेन्द्र ने अपने औचित्य विचार चर्चा मे— 'विरोधी वाविरोधी वा०' इस कारिका को आनन्दवर्धन के नाम से उद्धृत किया है। हेमचन्द्र ने अपने काव्यानुशासन मे 'प्रतीयमानं-पुनरन्यदेव०' इत्यदि श्लोक को आनन्दवर्धन की रचना माना है। दर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने भी कारिका और वृत्ति दोनों को ही ध्वनिकार की रचना माना है।

ऐसी विषम स्थिति में जबकि ध्वन्यालोक को भिन्न कर्तृक किंवा अभिन्न कर्तृक मानने वाले विद्वानों के तर्क अपनी-अपनी जगह पर युक्तिसंगत है, मूल समस्या का समाधान नहीं हो पाता। मूल समस्या ज्यों की त्यों ही बनी रह जाती है। डा० मुकर्जी का तर्क है कि परम्परा सम्पूर्ण ध्वन्यालोक को एक कर्तृक मानती है, अतः परम्परा की उपेक्ष्या श्लाघ्य नहीं कही जा सकती। काणे महोदय का कथन यह है कि लोचनकार ने अपने व्याख्यान में कारिकाकार और वृत्तिकार दोनों को

अलग-अलग बताया। अपने-अपने पक्ष के समर्थन मे दोनो ही प्रकार के विद्वानों ने ध्वन्यालोक के अन्त· साक्ष्य और वहि· साक्ष्य से पर्याप्त प्रमाण जुटाये है।

फिर भी यह कहना असंगत न होगा कि आचार्य आनन्दवर्धन के परवर्ती आचार्यों ने, जिन्होंने सम्पूर्ण ध्वन्यालोक को आचार्य आनन्दवर्धन की कृति माना है, उन्होने उस पर लोचन टीका को भी अवश्य देखा होगा। यदि कारिकाकार और वृत्तिकार अलग-अलग होते, तो वे इस बात का संकेत किये बिना· कदापि न रहते, किन्तु उनके ग्रन्थो मे इस बात का कोई सकेत कही नही मिलता। अत· डा० मुकर्जी के कथन को अधिक उचित मान लेना ही बुद्धिसम्मत प्रतीत होता है। इसका यह तात्पर्य कदापि नही है कि डा० काणे महोदय के तर्कों मे कोई दम नही है। उनके तर्क भी विचारणीय है, और उनके कथन के आधारो पर इस सम्बन्ध में अन्वेषण किया जाना चाहिए ताकि सन्देह की स्थिति न रहे। जब तक उक्त तथ्य पर कोई ठोस शोध कार्य सामने न आ जाय तब तक परम्परा के अनुसार डा० मुकर्जी के ही मत को सही मानकर ध्वन्यालोक को अभिन्न कर्तृक ही मान लिया जाना चाहिए।

— — — —

प्रश्न—६. साहित्य की बुद्धिसम्मत परिभाषा करते हुए काव्य की आत्मा आप किसे समझते हैं शब्द को या अर्थ को या शब्दार्थ दोनों को अथवा गुण, रीति या अलंकारों को ? स्पष्ट कीजिये।

उत्तर—'सहितस्य भाव साहित्यम्' इस परिभाषा के अनुसार जिसमे हित की भावना निहित हो उसे साहित्य कहते है। जिसमे हित की भावना निहित न हो उसे साहित्य नही कहा जा सकता। शब्द और अर्थ के सद्भाव या साहचर्य को भी साहित्य कहा जाता है, किन्तु सहित का अर्थ सद्भाव किंवा साहचर्य करना उतना अच्छा नही लगता, जितना हित की भावना। काव्य के क्षेत्र मे साहित्य 'शब्द का भामह के 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' इस उक्ति के बाद प्रयोग हुआ। इससे पूर्व समग्र साहित्य शास्त्र को अलकार शास्त्र और साहित्यिक आचार्यों को आलंकारिक कहा जाता था। ज्यो ज्यो इसके स्वरूप, विकास आदि पर विचार विस्तृत रूप से होता गया, त्यों-त्यों साहित्य शास्त्र एक नये अर्थ मे उद्भासित होता गया।

जहां तक काव्य की आत्मा का प्रश्न है, इसके सम्बन्ध मे विद्वानो के भिन्न-भिन्न मत हैं और अपने-अपने मत की पुष्टि के लिये विद्वानो ने अलग-अलग ग्रन्थों का निर्माण कर डाला और अनेक सम्प्रदाय खड़े कर दिये। कोई रीति को काव्य की आत्मा मानने लगा तो कोई अलंकारो को, किन्तु ऐसा सर्वमान्य सिद्धान्त इस सम्बन्ध मे न निकल पाया, जो सर्वहृदय ग्राह्य होने के साथ-साथ सर्वमान्य भी हो। 'शब्दार्थौ-सहितौ काव्यम्' इस परिभाषा से शब्द और अर्थमय तो काव्य का शरीर हुआ न कि उसकी आत्मा। शरीर से आत्मा सर्वथा पृथक् वस्तु है। यदि

शरीर और आत्मा दोनो एक ही वस्तु होते तो निश्चय ही मृत्यु के उपरान्त भी शरीर मे आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करना चाहिये, किन्तु व्यावहारिक जगत मे ऐसा होता नही है ।

जहाँ तक अलकार एवं गुणो को काव्य की आत्मा मानने का प्रश्न है, वह भी निरर्थक है, क्योंकि अलंकार तो शरीर को सुशोभित करने वाले है, न कि मुख्य अङ्ग । कहा है—

तमर्थमवलम्बन्ते ये ऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृता. ।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्या कटकादिवत् ॥

ये तमर्थं रसादि लक्षणमङ्गिनं सन्तमवलम्बन्ते ते गुणा. शौर्यादिवत् । वाच्य वाचक लक्षणान्यङ्गानि ये पुनस्तदाश्रितास्ते ऽलङ्कारामन्तव्या कटकादिवत् ।

अर्थात् जो उस अङ्गी रूप अर्थ का अवलम्बन करते है, वे गुण कहलाते है, और कटक कुण्डलादि की तरह अंगों पर आश्रित रहने वालों को अलंकार मानना चाहिये । जो रसादि रूप उस अङ्गी अर्थ का अवलम्बन करते है, शौर्य आदि की तरह वे गुण है, तथा जो वाच्य-वाचक रूप अगों पर आश्रित होते है, वे कटक-कुण्डलादि की तरह अलंकार है ।

अतः स्पष्ट है कि न तो गुण काव्य की आत्मा है और न अलंकार । 'रीतिरात्मा काव्यस्य' कहकर रीति को काव्य की आत्मा मानने वालों का मत भी निरर्थक है क्योंकि वर्ण सङ्घटना को रीति कहते है । जब गुण और अलकार काव्य की आत्मा नही हो सकते तब संघटना काव्य की आत्मा कैसे हो सकती है । इससे स्पष्ट है कि गुण रीति, अलंकार आदि से भिन्न ही वह वस्तु है जिसे काव्य की आत्मा माना जा सकता है । जैसे प्रकृत शरीर मे शौर्यादि गुण, कटक केयूरादि आभूषण एव सुन्दर शारीरिक गठन आदि से भिन्न प्राणभूत आत्मा इनसे भिन्न होती है । जो मुख्य होता है, वह अंगी कहलाता है और जो अमुख्य होता है, उसे अंग कहते हैं । अंगी के बिना अगो का कोई स्वरूप नही होता । उनका मूल्य एव महत्व तभी तक होता है, जब तक अंगी विद्यमान रहता है ।

आलोककार आचार्य आनन्द वर्धन ने "काव्यस्यात्मा ध्वनि" कहकर ध्वनि को ही काव्य की आत्मा स्वीकार किया है । अब प्रश्न यह उठता है कि यह ध्वनि है क्या चीज ? इस ध्वनि का अर्थ बताते हुए ध्वनिकार ने इस प्रकार कहा है—

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृत स्वार्थौ ।
व्यङ्क्तः काव्य विशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥

अर्थात्—जहाँ अर्थ अपने आपको अथवा शब्द अपने अर्थ को गुणीभूत करके प्रतीयमान अर्थ को अभिव्यक्त करते है, वह काव्य विशेष विद्वानों के द्वारा ध्वनि कहा जाता है । तात्पर्य यह है कि वाच्यार्थ से ही व्यङ्ग्यार्थ का द्योतन होता है । जिस प्रकार दीपक अपने प्रकाश से घर को प्रकाशित करता हुआ स्वयं भी प्रर्

होता है, ठीक उसी प्रकार वाच्यार्थ के द्वारा व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। इसमें क्रम रहता हुआ भी सहृदयों को क्रम लक्षित नहीं होता। यही सहृदयों का वैशिष्ट्य है कि उन्हें व्यंग्यार्थ का ज्ञान होता है।

ध्वनि का अर्थ ही शब्द का चतुर्थ कक्ष्यानिविष्ट व्यंग्य अर्थ है। इस बात को प्राचीन आचार्य लोग स्पष्टतया समझ नहीं सके थे। यद्यपि उन्हें व्यंग्यार्थ की चारुता का आभास पर्यायोक्त प्रभृति अलंकारों में मिल चुका था, तथापि वे फिर भी वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ की चारुता में न तो विश्वास ही कर सके और न ही व्यंग्यार्थ को स्पष्टतः समझा ही सके थे। तभी तो आनन्दवर्धनाचार्य ने इन पंक्तियों में इसका संकेत दिया है—

"यद्यपि ध्वनि शब्द संकीर्तनेन काव्य लक्षण विधायिभिर्गुणवृत्तिरन्यो वा न कश्चित् प्रकारः प्रकाशितः, तथापि अमुख्य वृत्या काव्येषु व्यवहारं दर्शयता ध्वनिमार्गो मनाक्स्पृष्टोऽपि न लक्षितः।"

व्यंग्यार्थ की स्वीकृति प्राचीन आचार्यों ने अलंकार मुखेन अप्रत्यक्ष रूप में की थी, इस बात को पण्डितराज ने इस प्रकार स्वीकार किया है—

"ध्वनिकारात् प्राचीनैर्भामहोद्भट प्रभृतिभिः स्वग्रन्थेषु कुत्रापि ध्वनि गुणीभूत व्यङ्ग्यादि शब्दा न प्रयुक्ता इत्येतावतैव तैर्ध्वन्यादयो न स्वीक्रियन्त इत्याधुनिकाना वाचोयुक्तिरयुक्तैव, यतः समासोक्ति व्याजस्तुत्यप्रस्तुत प्रशंसाद्यलंकार निरूपणे कियन्तोऽपि गुणीभूत व्यङ्ग्यभेदास्तैरपि निरूपिताः। अपरञ्च सर्वोऽपि व्यङ्ग्य प्रपञ्चः पर्यायोक्त कुक्षौ निक्षिप्तः। न ह्यनुभव सिद्धोऽर्थो बालेनाप्यपह्नोतु शक्यते। ध्वन्यादि शब्दैः परं व्यवहारो न कृतः। न ह्येतावतानङ्गीकारो भवति। प्राधान्या-दलङ्कार्यो हि ध्वनिरलंकारस्य पर्यायोक्तस्य कुक्षौ कथङ्कार निविशतामिति तु विचारान्तरम्।"

(रसगंगाधर)

अतः स्पष्ट है कि काव्य की आत्मा न तो शब्द है, न अर्थ है और न शब्दार्थ दोनों है। न गुण है न अलंकार है और न रीति ही काव्य की आत्मा है। वस्तुतः काव्य की आत्मा तो शब्द की चतुर्थ कक्ष्या निविष्ट व्यङ्ग्य अर्थ है। उसी का दूसरा नाम ध्वनि है। उसी के प्राधान्यतः स्फुरण में ही कवि वाणी की समग्र सार्थकता निहित है। अन्यथा सारा शब्द प्रपञ्च प्राणविहीन काया की तरह वाग्जाल मात्र माना जायेगा।

प्रश्न—१०. साहित्य शास्त्र के क्षेत्र में ध्वन्यालोक के महत्व एवं योगदान पर विस्तार के साथ प्रकाश डालिये।

उत्तर—साहित्यिक क्षेत्र मे आचार्य आनन्दवर्धन से पूर्व भामह, उद्भट, दण्डी, वामन आदि आचार्यों ने काव्य का जो स्वरूप प्रतिष्ठित किया, उसमे शरीर

पक्ष को तो प्रधानता रही, किन्तु आत्मतत्व की उपेक्षा रही। भामह ने 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' कहकर शब्द-अर्थ को काव्य का शरीर माना। इस काव्य शरीर के शोभाधायक तत्वों मे गुण, अलकार, रीति और वृत्तिया स्वीकार की गई। इन सभी आचार्यों ने अलंकार को काव्य के सौन्दर्य के लिये आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी माना। आचार्य वामन ने तो यहाँ तक कह डाला—

'काव्यम् ग्राह्यमलंकारात्' या 'सौन्दर्यमलंकार.'। साहित्य मे अलकारो की प्रधानता हो जाने के कारण साहित्यिक लोगो को आलंकारिक कहने का रिवाज चल पड़ा। इस प्रकार ध्वन्यालोक से पूर्व जो भी निर्माण इस क्षेत्र मे हुआ, उससे शरीरवाद की ही पुष्टि हो पाई। शरीर मे प्राण प्रतिष्ठा करने की ओर इन आचार्यों का ध्यान नहीं जा सका या ये कर नही सके। वस्तुतः इस शरीरवाद के विरुद्ध आत्मवाद की प्रतिष्ठा के लिये ही ध्वन्यालोक का निर्माण हुआ जिसने साहित्य को सजीव, सुन्दर, स्फूर्तिवान् और प्राणवान बना दिया। ध्वनि सिद्धान्त की प्रतिष्ठा से पहले के आचार्य लोग वाच्यार्थ के ही महत्व का प्रतिपादन करते आये थे, व्यग्य किंवा ध्वनितत्व तक वे नही पहुंच पाये, अलंकारो मे ही उसकी कल्पना करते रहे, तभी तो लोचनकार अभिनवगुप्त ने इस प्रकार कहा है :—

"वाच्यसवलनाविमोहित हृदयैस्तु तत्पृथग्भावे विप्रतिपद्यते, चार्वाकैरिवात्म-पृथग्भावे।"

तात्पर्य यह है कि चार्वाक लोग जिस तरह आत्मा का शरीर से पृथग्भाव मानने मे विरुद्ध आपत्तियाँ उठाया करते है, उसी तरह जिन लोगों का हृदय वाच्य अर्थमात्र के सम्मिश्रण मे विमोहित हो चुका है, वे वाच्य के अतिरिक्त किसी अर्थ के पृथग्भाव में सन्देह करते है।

यद्यपि भामह, उद्भट आदि पूर्वाचार्यो ने व्यंग्यार्थ का आभास पर्यायोक्त आदि अलंकारों मे प्राप्त कर लिया था, तथापि वे वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ की चारुता मे विश्वास न कर पाये थे। यही कारण है कि वे व्यंग्य की स्थिति वाच्यानुगत ही मानते रहे। यहाँ तक कि वाच्यता के संस्पर्शरहित रस-भावादि तत्व भी प्राचीन आलंकारिको के मतानुसार रसवदादि अलकार के रूप मे वाच्य के शोभाधायक ही रहे। लोचनकार के अनुसार भट्ट उद्भट ने 'भामह विवरण' नामक अपने ग्रन्थ में कहा है कि शब्दों का अभिधान या अभिधा व्यापार मुख्य और गुणवृत्ति के भेद से दो प्रकार का होता है। वामन ने भी कहा है कि सादृश्यगर्भित होने से लक्षणा वक्रोक्ति कहलाती है। इस प्रकार अमुख्य व्यापार और सादृश्य की ओर प्रवृत्ति परिलक्षित होने से प्रतीत होता है कि प्राचीन आचार्य व्यंग्य अर्थ के प्रति उन्मुख हो चुके थे, उन्हें केवल वाच्य अर्थ की सीमा पसन्द न थी, किन्तु वे उस सीमा को तोड़ नही पाये।

प्राचीन आचार्यों ने वाच्य को केन्द्र विन्दु मानकर तथा उसी की सीमित सीमा के अन्दर काव्य के विविध तत्वों का परीक्षण किया है। वाच्य के चमत्कार

का उन्हें कुछ ऐसा व्यामोह सा था कि वे काव्य के बाह्य शरीर के अलङ्करण को ही वाच्य का सर्वस्व समझ बैठे। कवि वाणी के आन्तरिक चमत्कार किंवा सौन्दर्य पर उनका ध्यान नहीं जा सका। फलत. काव्य में आत्मतत्व की प्रतिष्ठा नहीं हो पाई।

अनन्तर आलोककार आचार्य आनन्दवर्धन का ध्यान जब कवि वाणी के आत्म तत्व पर गया, तब उनकी दृष्टि मे शब्द और अर्थ के बाह्य विधानों के सारे रूप एक साथ ही शिथिल हो गये। सर्वत्र ही एक अभिनव प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति होने लगी। उनको प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति अनुरणन किंवा अनुगुञ्जन सा प्रतीत हुआ। शब्द और अर्थ के बाह्य समग्र रूपों विच्छित्तियों को अतिशयित करके मुख्य रूप से स्फुरित होने वाला यह प्रतीयमान अर्थ उन्हें इतना हृदयहारी लगा कि उन्होंने उसकी तुलना अङ्गनाओं के लावण्य से कर डाली, वे मुक्तकण्ठ से इसकी प्रशंसा करते हुए कह उठे—

प्रतीयमान पुनरन्य देव,
वस्त्वस्ति वाणीपु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धा वयवातिरिक्तं,
विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु॥

लावण्य की परिभाषा करते हुए ध्वनिकार ने कहा है :—

मुक्ताफलेषुच्छायायास्तरलत्वमिवान्तरा।
प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्यमिहोच्यते॥

अर्थात्—मोतियो में आब के रूप में जो छाया की तरलता सी दिपती रहती है जो अङ्गों में प्रतीत होता है, उसको लावण्य कहते है। इतना ही नही, ध्वनिकार के मत में उस प्रतीयमान अर्थ की छाया, स्त्रियो की लज्जा की तरह महाकवियो की अलंकार सम्पन्न वाणियो की मुख्य आभूषण है। कहा है—

मुख्या महाकविगिरामलङ्कृति भृतामपि।
प्रतीयमानच्छायैषा भूषा लज्जेव योषिताम्॥

आचार्य कुन्तक ने लावण्य के स्थान पर सौभाग्य पद का प्रयोग किया है, किन्तु लावण्य का समीकरण सौभाग्य से नही हो सकता क्योंकि लावण्य में जो प्रसिद्धावयव व्यतिरेकिता के साथ प्रतीयमान की प्रसिद्धालङ्कृत किंवा प्रतीत अवयवो से व्यतिरेकित्व की बात प्रतीत होती है और जो आकर्षण और स्वारस्य प्रतीत होता है, वह सौभाग्य पद में नही।

तात्पर्य यह है कि कवि वाणी के आभ्यन्तर चमत्कार से चमत्कृत होकर, उसी को कवि वाणी का आत्मतत्व मानकर, काव्य-शरीर में आत्मतत्व की प्रतिष्ठापना के लिये आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक की सृष्टि की। काव्य की आत्मा के रूप में उन्होंने शब्द का चतुर्थकक्ष्यानिविष्ट व्यङ्ग्य अर्थ ही ध्वनि रूप में स्वीकार

किया। कवि-वाणी की समग्र सार्थकता को उसी को मुख्य रूप से स्फुरण करने में निहित माना।

वस्तुतः उस समय ऐसे महामेधावी विद्वान् की साहित्य-शास्त्र को आवश्यकता थी जो काव्य-शरीर के शोभाधायक तत्वों के निरूपण की बेजान और बोझिल प्राचीन परम्परा को धक्का देकर आत्मा के देदीप्यमान स्वरूप को उजागर करता तथा काव्य के प्रकीर्ण एवं व्याकीर्ण तत्वों को संगत करते हुए भारतीय काव्यालोचन को एक नयी वाणी, एक नया वेग, एक नूतन जीवन और अभिनव दिशा प्रदान करता, निश्चय ही इस महनीय कार्य को काव्य शास्त्र के सर्वाधिक महत्वशाली ध्वनि सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य आनन्दवर्धन ने अपने ध्वन्यालोक के द्वारा समग्रता के साथ पूर्ण तो किया ही, साथ ही भारतीय मनीषियों को नया आलोक और चिन्तन का नया क्षेत्र भी दिया। वस्तुत आचार्य आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक से न केवल भारतीय चिन्तन परम्परा को नवीन आलोक मिला प्रत्युत विश्व के समग्र साहित्य-सेवियों को एक नयी दिशा भी मिली।

प्रश्न – ११. 'स्फोटवाद' से आप क्या समझते हैं ? इसकी उत्पत्ति एवं विकास के बारे में प्रकाश डालिये।

उत्तर—स्फोटवाद वैयाकरणों की ध्वनि का आधारभूत तत्व है। इसी स्फोटवाद से प्रेरित होकर ध्वन्यालोककार ने भी ध्वनि तत्व का निरूपण किया है, स्फोटवाद के जनक कोई प्राचीन स्फोटायन नामक आचार्य माने जाते है जिनका उल्लेख पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में— 'अवङ् स्फोटायनस्य' इस सूत्र के रूप मे किया है। यद्यपि व्याकरण शास्त्र का इतिहास इस आचार्य के जीवन-वृत्त एव समय आदि के बारे में मौनावलम्बन के अतिरिक्त कुछ नही कर पाता। फिर भी पाणिनि के द्वारा अपने ग्रन्थ में उक्त आचार्य का उल्लेख करने से यह निर्विवाद रूप में स्वीकार किया जा सकता है कि स्फोटायन अपने समय के न केवल अद्वितीय विद्वान् रहे होंगे, अपितु महावैयाकरण भी होंगे। पाणिनि के समय तक उनका यश सौरभ अभितः व्याप्त हो चुका होगा। हो सकता है कि वे पाणिनि के सम सामयिक ही रहे हों। पर, ऐसी सम्भावना बहुत कम है क्योंकि यदि वे पाणिनि के समसामयिक होते तो पाणिनि उनका उल्लेख शायद न करते। पाणिनि के द्वारा उनका उल्लेख किया जाना इस बात का द्योतक है कि वे उनसे पहले हो चुके थे और पाणिनि के समय तक पर्याप्त ख्याति पा चुके थे। साथ ही पाणिनि भी उनसे या उनके सिद्धान्त से प्रभावित थे। तभी उन्होंने उनका उल्लेख करना उचित समझा। विद्वानों की मान्यता है कि इन्होंने ही स्फोटवाद की प्रतिष्ठा की थी। यही कारण था कि इनका नाम स्फोटवाद के ही आधार पर स्फोटायन पड़ गया। स्फोटायन शब्द की व्युत्पत्ति काशिका में इस प्रकार की गई है:—

'स्फोटोऽयन पारायण यस्य स स्फोटायनः स्फोट प्रतिपादन परो वैयाकरणाचार्यः।'

व्याकरण में स्फोटवाद शब्द की नित्यता को स्वीकार करता है। यास्क और पाणिनि ने भी शब्द की नित्यता को स्वीकार किया है। शब्द की नित्यता के सम्बन्ध में व्याडि ने भी विचार किया था। भाष्यकार पतञ्जलि और वार्तिककार कात्यायन भी स्फोटवाद के समर्थक तो थे ही, साथ ही शब्द को नित्य, एक और अखण्ड मानते थे। शब्द की अभिव्यक्ति ध्वनि से मानते हुए वे ध्वनि के प्राकृत और वैकृत के भेद से दो भेद करते थे। वे वर्ण और पदों को सार्थक न मानकर वाक्य को सार्थक मानते हैं। उनके अनुसार अर्थ की प्रतीति वर्ण या पदो से न होकर वाक्य से होती है। इस सम्बन्ध में पतञ्जलि का यह कथन द्रष्टव्य है—

"नित्याश्च शब्दाः। नित्येषु च शब्देषु
कूटस्थैरविचालिभिर्वर्णैर्भवितव्यमनपायोपजन विकारिभिः।"

भाष्यकार का अभिप्रेत यह शब्द स्फोट रूप ही है, क्योंकि ध्वनि स्फोट का गुण है। केवल स्फोट और ध्वनि में सूक्ष्म अन्तर है, वह यह कि स्फोट व्यंग्य है और ध्वनि व्यञ्जक। अनुराग का ही दूसरा नाम ध्वनि है। कहने का आशय यह है कि ध्वनि से स्फोट रूप शब्द अभिव्यक्त होता है तथा अभिव्यञ्जक स्फोट रूप शब्द से अर्थ का ज्ञान होता है।

वैयाकरण लोग 'स्फुटत्यर्थो ऽस्मादितिस्फोट.' इस व्युत्पत्ति से स्फोट शब्द को यौगिक मानते हैं। कुछ वैयाकरण लोग इसे योगरूढ़ भी मानते हैं। मुख्य रूप से वैयाकरणों ने शब्द के दो भेद माने हैं:—

(१) स्फोट।
(२) ध्वनि।

महा वैयाकरण पुण्यराज के अनुसार स्फोट ध्वनिरूप शब्द को उपादान कारण है, क्योंकि एक तो इससे अर्थ का ज्ञान होता है और दूसरे ध्वनिरूप शब्द का अर्थो में प्रयोग किया जाता है। वह शब्द समुदाय जिसे ध्वनि कहते है, स्फोट का व्यञ्जक होता है, इसके अनन्तर दूसरे स्फोट रूप शब्द के अभिव्यक्त होने पर अर्थ की प्रतीति होती है अर्थात् श्रोता की बुद्धि में स्थित क्रमरहित शब्द स्फोट किंवा ध्वनि शब्द के सुनते ही अभिव्यक्त होता है तथा वही अर्थ का ज्ञान कराता है। अतः स्पष्ट है कि स्फोट व्यंग्य है और ध्वनि व्यञ्जक है। यद्यपि स्फोट में कोई क्रम या भेद नही होता, तथापि व्यञ्जक ध्वनि के भेद से उसमें भी भेद मान लिया जाता है। जिस प्रकार दीपक स्वयं को प्रकाशित करता हुआ अन्य घट पटादि वस्तुओं को भी व्यक्त करता है, उसी प्रकार ध्वनि द्वारा व्यञ्जित स्फोट शब्द भी स्वयं को प्रकाशित करता हुआ अर्थ को भी प्रकाशित करता है। इसीलिये स्फोट और ध्वनि में तादात्म्य माना जाता है।

मानव मस्तिष्क में शब्द अपने क्रमरहित एवं निर्विभाग रूप में विद्यमान रहता है। उसकी जब उच्चारण की इच्छा होती है, तब उसमें एक क्रिया होती है, फिर वह शब्द क्रिया के कारण पद, वाक्य के रूप में उच्चरित होता है। यद्यपि मूलरूप मे शब्द अखण्ड है, तथापि उसमें वृत्ति के कारण भागों की या क्रम की सत्ता होती है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि वैयाकरण लोग ध्वनि के प्राकृत और वैकृत दो भेद करते है। प्राकृत ध्वनि में स्वभाव भेद रहता है और वैकृत ध्वनि में वृत्ति भेद रहता है। प्राकृत ध्वनि के बाद ही वृत्ति भेद होने पर ध्वनि उत्पन्न होती है। कहा है—

> स्फोटस्य ग्रहणे हेतु: प्राकृतो ध्वनिरिष्यते।
> वृत्तिभेदे निमित्तत्वं वैकृतः प्रतिपद्यते॥

स्फोट का ग्रहण प्राकृत ध्वनि से होता है और उसी को स्फोट का प्रतिबिम्ब माना जाता है। वैयाकरण लोग श्रूयमाण वर्ण को स्फोट का अभिव्यञ्जक मानते है। साथ ही उनका मत है कि स्फोट अन्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्य होता है। इस प्रकार श्रूयमाण वर्ण या नाद जिन्हें दूसरे शब्दों में ध्वनि कहते हैं, क्रमशः स्फोट को बुद्धि में प्रकाशित एवं अभिव्यक्त करते जाते हैं।

संक्षेप में वैयाकरणों का यही स्फोटवाद है। इस स्फोटवाद पर व्याकरण शास्त्र तो खड़ा है ही, साथ ही आचार्य आनन्दवर्धन का पूरा ध्वनि सिद्धान्त रूपी भव्य-भवन भी खड़ा हुआ है। स्फोटवाद के सम्बन्ध में यह कहना अनुचित न होगा कि इसकी स्थापना तो स्फोटायन नामक किसी प्राचीन आचार्य ने की जो सम्भवत. यास्क और पाणिनि से भी पूर्ववर्ती थे। अनन्तर यास्क, पाणिनि, पतञ्जलि, कात्यायन, भर्तृहरि प्रभृति वैयाकरणों ने स्फोटवाद का समर्थन तो किया ही, साथ ही इसके विकास में महत्त्वपूर्ण योग भी दिया, किन्तु आलोककार से पूर्व आचार्य स्फोटायन का यह स्फोटवाद व्याकरण शास्त्र तक ही सीमित रहा, साहित्यिक जगत में इसका प्रवेश न हो सका। ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने स्फोटवाद की आधार शिला पर ध्वनि सिद्धान्त का निरूपण करके न केवल साहित्यिक क्षेत्र में इसके प्रवेश को उन्मुक्त किया अपितु इसे विकास के उन्नत शिखर पर, ख्याति के चरम बिन्दु पर ला बैठाया।

प्रश्न—१२. ध्वन्यालोक के स्वरूप और विषय निर्देश पर ध्वन्यालोक के अनुसार प्रकाश डालिये।

उत्तर—सौविध्य की दृष्टि से सम्पूर्ण ध्वन्यालोक को हम निम्नांकित तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं:—

(१) कारिका भाग।

(२) वृत्ति भाग।
(३) उदाहरण भाग।

जहाँ तक कारिकाओं का प्रश्न है, वे सभी उपलब्ध संस्करणों में समान संख्या में उपलब्ध नहीं होती। किसी संस्करण में ध्वन्यालोक की कारिकाओं की संख्या १२६ है तो किसी में ११६ है। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि इसकी कारिकाओं की संख्या ११६ से १२६ के बीच निश्चित रूप से है। अधिकांश विद्वान् इसी मत के पक्षधर हैं कि ध्वन्यालोक में कुल कारिकाएँ ११६ ही हैं। कारिकाओं का जो व्याख्यान भाग है, उसे वृत्ति भाग कहते हैं। ये कारिकाएँ और वृत्ति एक ही व्यक्ति की लिखी हुई है, या इनको अलग अलग विद्वानों ने लिखा ? इस सम्बन्ध में भी विद्वत्समाज में एकमत्य नहीं है। फिर भी परम्परा के अनुसार कारिकाकार और वृत्तिकार एक ही व्यक्ति माने जाते हैं। वृत्तिभाग में यत्र-तत्र परिकर श्लोक, संक्षेप श्लोक, और संग्रह श्लोक भी सन्निविष्ट हैं। ग्रन्थकार ने अपनी बात को समझाने के लिये जो उदाहरण पूर्ववर्ती कवियों के ग्रन्थों या स्वनिर्मित ग्रन्थों से दिये हैं उन्हें हम उदाहरण भाग में रख सकते हैं। समग्र ग्रन्थ को केवल चार उद्योतों में विभक्त किया गया है। कारिकाओं में ग्रन्थकार ने विभिन्न छन्दों का प्रयोग किया है। मन्दाक्रान्ता, उपजाति, आर्या, रथोद्धता, मालिनी, शिखरिणी आदि ग्रन्थकार के प्रिय छन्द रहे है। यह तो हुई इसकी स्वरूप स्थिति। अब विषय निर्देश पर भी लगे हाथों दृष्टिपात करते चलें।

ध्वन्यालोक में ग्रन्थकार का लक्ष्य केवल ध्वनि का सर्वाङ्गीण प्रतिपादन करना और उसकी स्थापना है। प्रथम उद्योत में केवल ध्वनि सम्बन्धी तीन विप्रतिपत्तियों की सम्भावना करके उनका निराकरण किया गया है तथा वाच्यार्थ से प्रतीयमान का भेद दिखाते हुए उसका वैशिष्ट्य प्रतिपादित करके ध्वनि काव्य का लक्षण किया गया है। द्वितीय उद्योत में मुख्य रूप से ध्वनि काव्य के भेदों का निरूपण करके असंलक्ष्य क्रमव्यंग्य के रूप में रसादि ध्वनि की चर्चा की गई है। इसके साथ-साथ रसवदलङ्कार से रसध्वनि का भेद दिखाते हुए गुण और अलंकार का भेद दिखाया गया है। साथ ही रस के अनुसार गुणों की व्यवस्था की गई है। रस की दृष्टि से, विशेष रूप से शृङ्गार में रूपक आदि अलंकारों के ग्रहण एवं त्याग की समीक्षा की गई है। शब्द शक्तिमूल संलक्ष्यक्रम व्यंग्य के प्रसङ्ग में श्लेष और शब्द शक्तिमूलक ध्वनि का भेद बताते हुए ध्वनि के अन्य भेद-प्रभेदों का भी सोदाहरण प्रतिपादन किया गया है। तृतीय उद्योत में ध्वनि के व्यंग्य प्रकार से लक्षित भेदों का व्यञ्जक के प्रकार से लक्षित भेदों का सोदाहरण निर्देश किया गया है। असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि का वर्ण, पद, पदावयव, वाक्य, संघटना और प्रबन्ध में भी लक्षित होने का निर्देश किया है। संघटना का स्वरूप निरूपण करके गुणों के साथ उसका सम्बन्ध विस्तार के साथ निरूपित किया गया है। कथा शरीर के निर्माण में औचित्य के ध्यान की अनिवार्यता का निर्देश करते हुए औचित्यबन्ध

को रस का उपनिषद् कहा है तथा अनौचित्य को रसभंग का कारण बताया गया है। तदनन्तर रस विरोधी का परिहार बताया गया है, इसके साथ ही मीमांसक के साथ वाक्य के व्यञ्जकत्व को लेकर विचार तो किया ही है, साथ ही व्यञ्जकत्व और गौणत्व का स्वरूपतः तथा विषयत. भेद करते हुए, व्यंग्य और व्यञ्जक का स्वरूप विवेचन विस्तार के साथ किया गया है। इसके उपरान्त गुणीभूत व्यंग्य का निर्देश किया है। ध्वनि में व्यंग्य की द्विविध स्थिति को बताते हुए चित्रकाव्य किंवा अधम काव्य का स्वरूप बताया गया है।

चतुर्थ उद्योत में प्रतिभा के आनन्त्य का विस्तार से निरूपण है ही, साथ ही इस बात की पुष्टि की गई है कि प्रतिभावान् अर्थ, भाव, उक्ति आदि में नवीन चमत्कारों की उद्भावना कर सकता है। संक्षेप में यही ध्वन्यालोक की स्वरूपस्थिति और विषय निर्देश है।

प्रश्न—१३. क्या रसादि अर्थ सर्वदा ही ध्वनि का प्रकार होता है? आलोककार आनन्दवर्धन के मतानुसार उत्तर दीजिये।

उत्तर—रसादि अर्थ सर्वथा ध्वनि का प्रकार नहीं होता, जब वह अङ्गी या प्रधान रूप से प्रतीत होता है, तभी ध्वनि का प्रकार होता है, अन्यथा नहीं। इस बात को पहले ही कह दिया है तो भी रसवत् आदि अलकारों के प्रकाशन का अवसर देने के लिये अनुवाद किया गया है। वह रस आदि ध्वनि के रूप में अवस्थित है ही क्योंकि उससे रहित काव्य नगण्य है।' यद्यपि सारा काव्य रस से ही जीवित रहता है, तथापि एक घन चमत्कार रूप में भी उस रस के प्रयोजन अंश में अधिक चमत्कार होता है। जब कोई व्यभिचारी भाव उद्रिक्त या निष्पन्न अवस्था को प्राप्त करके अतिशय चमत्कार का प्रयोजक होता है, तब वहाँ पर भाव ध्वनि होती है। उदाहरणार्थ जैसे :—

> तिष्ठेत्कोपवशात्प्रभावपिहिता दीर्घं न सा कुप्यति,
> स्वर्गायोत्पतिता भवेन्मयिपुनर्भावार्द्रमस्या मनः।
> तां हर्तुं विबुधद्विपोऽपि न च मे शक्ताः पुरोवर्तिनीं,
> सा चात्यन्त मगोचरं नयनयोर्यातेति कोऽयं विधिः॥

अर्थात्—वह उर्वशी भले ही कुछ कोप से अन्तर्हित हो जाय, पर वह अधिक कुपित नहीं होती, भले ही वह स्वर्ग में चली गई हो, फिर भी उसका मन मेरे प्रति भावार्द्र है। मेरे सामने स्थित उसे देवताओं के द्वेषी असुर भी हरण नहीं कर सकते, किन्तु फिर भी वह आँखों का अत्यन्त अविषय हो गई है, यह कैसा प्रकार है?

यहाँ पर विप्रलम्भ रस होने पर भी वितर्क नामक व्यभिचारी भाव के चमत्कार का अत्यन्त आस्वाद हो रहा है। व्यभिचारी भावों के तीन होते है :—

(१) उदय।
(२) स्थिति।
(३) अपाय।

जो लोग यह कहते है कि विविध प्रकार से चरण करने से अर्थात् अभिमुख रूप चरण करने से ये व्यभिचारी कहे जाते है, उनमें भी कभी उदयावस्था मे प्रयुक्त व्यभिचारी भाव होता है। जैसे देखिये—

याते गोत्र विपर्यये श्रुतिपथं शय्यामनुप्राप्तया,
निर्ध्यातं परिवर्तनं पुनरपि प्रारब्धुमङ्गी कृतम्।
भूयस्तत्प्रकृतं कृतं च शिथिलक्षिप्तैक दोर्लेखया,
तन्वङ्ग्या न तु पारितः स्तनभरः क्रष्टुं प्रियस्योरसः॥

अर्थात्—शय्या पर आई हुई कृश अंगों वाली नायिका ने गोत्र विपर्यय अर्थात् प्रियतम के द्वारा दूसरी नायिका का नामोच्चारण कर दिये जाने पर सोचा कि करवट बदल ले और फिर करवट बदलना प्रारंभ किया, फिर करवट बदलने का प्रयत्न किया, एक हाथ को तो शिथिल करके अलग हटाया, किन्तु प्रिय के वक्ष से अपने स्तन भार को खींच न पाई।

यहाँ पर नायिका का प्रणय कोप उदय लेना ही चाहता है किन्तु वह "खींच नहीं पाई" इस कथन से उदय लेने की स्थिति मे अवसान का आस्वादन हो रहा है। कही पर व्यभिचारी भाव की प्रशम अवस्था का चमत्कार होता है। जैसा कि—"एकस्मिन् शयने पराङ्मुखतया०" इत्यादि उदाहरण से स्पष्ट होता है। यह व्यभिचारी भाव का प्रशम है। यहाँ ईर्ष्या विप्रलम्भ रस का प्रशम है। कही पर तो व्यभिचारी भाव की सन्धि ही आस्वादक होती है। जैसे इस उदाहरण मे :—

ओसुरु सुम्ठि आइं मुहु चुम्विउ जेण।
अमिअ रस घोण्टाणं पडिजाणिउ तेण॥

अर्थात्—ईर्ष्याजनित अश्रु से शोभित नायिका के मुख का जिसने चुम्बन किया, उसने रुक-रुक कर अमृत-रस को पान करने की तृप्ति को जान लिया।

यहाँ पर 'ईर्ष्या' शब्द से कोप के मिश्रण से मन्द-मन्द रोती हुई नायिका के मुख को जिसने चूम लिया, उसने अमृत रस को धीरे-धीरे पीने की तृप्ति को जान लिया, इस कथन मे कोप और प्रसाद की सन्धि चमत्कारकारी है। कही पर व्यभिचारी का एक दूसरे व्यभिचारी मे मिल जाना ही आनन्दप्रद होता है। जैसे—

क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलं भूयोऽपि दृश्येत सा,
दोषाणां प्रशमाय मे श्रुतमहो कोपेऽपि कान्तं मुखम्।
किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषाः कृतधियः स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा,
चेतः स्वास्थ्यमुपैहि कः खलु युवा धन्योऽधरं यास्यति॥

अर्थात्—यह ब्राह्मण-कन्या मे आसक्ति रूप गलत कार्य कहाँ और चन्द्रवंश कहा ? काश, वह फिर दीख जाती। मैंने दोषो का शमन करने के लिये शास्त्र पढा है। ओह, उसका मुख क्रोधावस्था मे भी सुन्दर लगता है, निर्मल एवं शुद्ध आचरण वाले लोग क्या कहेंगे ? वह स्वप्न में भी दुर्लभ है, हे चित्त, तू धैर्य धारण कर, कौन भाग्यशाली युवक होगा जो उसके अधर का पान करेगा ?

यहाँ पर, वितर्क और औत्सुक्य, मति और स्मरण, शङ्का और दैन्य, धृति और चिन्तन, ये भाव परस्पर बाध्य-बाधक रूप में रहते हुए अन्त मे चिन्ता को प्राधान्य देकर परमास्वाद के प्रतिष्ठान बन गये हैं।

यदि कोई कहे कि विभाव और अनुभाव मे इससे भी अधिक चमत्कार दृष्टिगोचर होता है, अत: विभाव ध्वनि और अनुभाव ध्वनि को भी मानना चाहिये। यह कथन उचित नही है क्योकि विभाव और अनुभाव अपने शब्द से ही वाच्य होते है, उनकी चर्वणा भी चित्तवृत्तियो मे ही पर्यवसित होती है, अतः रस और भावों से अधिक चर्वणा योग्य दूसरा नही है। यदि कोई कहे कि विभाव और अनुभाव व्यंग्य होते है, तब वस्तुध्वनि को क्यो नही मान लिया जाता ? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि विभावाभाव मे रत्याभास होगा, तब विभाव के ही मात्र भासित होने के कारण चर्वणाभास होगा। इस प्रकार यह विषय रसाभास का विषय हो जायेगा। यद्यपि आचार्य भरतमुनि का मत है कि जो शृङ्गार का अनुकरण हो, उसे हास्य कहना चाहिये, तो भी हास्य रस की स्थिति शृङ्गार के बाद होती है। जैसे—

दूराकर्षण मोहमन्त्र इव मे तन्नाम्नि याते श्रुतिं।
चेतः कालकलामपि प्रकुरुते नावस्थितिं तां विना ॥

अर्थात्—दूर से ही आकर्षित कर लेने वाले मोह मन्त्र की तरह, उसके नाम के कान मे पड़ते ही चित्त थोड़ी देर भी उसके बिना नही ठहर पाता।

यहाँ हास्य रस की अनुभूति का अवसर नहीं है क्योंकि रति स्थायिभाव यहाँ नही है, यहाँ तो परस्पर आस्थाबन्ध का अभाव है, अतः इसे रति नहीं कहा जा सकता। यहाँ वस्तुतः रत्याभास मात्र है क्योंकि रावण को यह ज्ञान नहीं हो सका कि सीता मेरे प्रति उपेक्षा का भाव रखती है या द्वेष का ? यदि उसे [illegible] ज्ञात होता तो निश्चय ही सीता के प्रति उसकी अभिलाषा विलीन हो जाती। यह सीता मेरे प्रति अनुरक्त है इस प्रकार का निश्चय भी उसे नहीं है क्योंकि उसे कामजनित मोह हो चुका है। अतः यहाँ केवल रति की आभासता ही [illegible] है। इस बात को 'शृङ्गारानुकृति' कहकर भरतमुनि ने भी [illegible] अमुख्यता और आभास एक ही अर्थ है। इसलिये अभिलाषा [illegible] ही रहे, तब शृंगार शब्द से व्यवहार उसके आभास [illegible] एक शृंगार के कहने मे वीर आदि रसों को भी आभास [illegible] है। इस प्रकार से भावध्वनि आदि [illegible]

योजना की कला के जानकार लोग एक रस के आस्वाद से अप्राप्त गन्ध के उपभोग में भी कहते हैं कि यह गन्ध शुद्ध मांसी आदि से तैयार है। वस्तुत. रसध्वनि तो वहीं है जो यहाँ मुख्य रूप से विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी के संयोग से उत्पन्न स्थायीभाव की प्रतिपत्ति वाले ज्ञाता का स्थायी के अंश की चर्वणा के कारण ही प्रकृष्ट आस्वाद है। जैसे इस उदाहरण में –

कृच्छ्रेणोरुयुगं व्यतीत्य सुचिरं भ्रान्त्यानितम्बस्थले,
मध्येऽस्यास्त्रिवलीतरंग विषमे निःष्पन्दतामागता।
मद्दृष्टिस्तृषितेव सम्प्रतिशनैरारुह्य तुङ्गौ स्तनौ,
साकाङ्क्ष मुहुरीक्षते जललवप्रस्यन्दिनी लोचने॥

अर्थात् – प्यासी सी मेरी दृष्टि कठिनाई से प्रिया के उरु युगल को पार कर, नितम्ब स्थल में देर तक भ्रमण करके, इसके त्रिवली की तरंगों से विषम मध्य भाग में निश्चल हो गई। अब इन उन्नत स्तनों पर धीरे से चढ़कर, चाह के साथ अश्रुजल को बरसाने वाली आँखों को बार-बार देख रही है।

यहाँ पर, नायिका रत्नावली के आकार रूप चित्र से देखी हुई अपनी प्रतिकृति से पवित्र हुए फलक को देखने के कारण वत्सराज उदयन का परस्पर आस्था रूप रति स्थायीभाव, विभाव और अनुभाव के संयोजन के कारण चर्वणा की स्थिति तक पहुच गया है। तात्पर्य यह है कि रसादि अर्थ अंगी या प्रधान रूप से भासमान होकर असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य ध्वनि का प्रकार है।

प्रश्न – १४ 'काव्य में रसादि रूप ध्वन्यर्थ अङ्गी है और गुण और अलंकार इसके अङ्ग।' इस कथन को आचार्य आनन्दवर्धन के मतानुसार सिद्ध कीजिये।

उत्तर - अलंकार से अलकार्य पृथक् होता है। लोक में इसी प्रकार दृष्टिगत होता है कि गुणी के गुण पृथक् रहा करते है क्योंकि गुणो के बिना भी गुणी की स्थिति तो सम्भव हो सकती है, किन्तु गुणी के बिना गुणो की स्थिति सम्भव नही हो सकती। इसी तरह गुण और अलकार का व्यवहार भी समझा जा सकता है। अलंकार्य के रहने पर ही गुण और अलकारो की कल्पना या योजना की जा सकती है, अन्यथा वह उपहासास्पद ही होगी। इसी बात को सूत्र रूप में स्पष्ट करते हुए आलोककार आनन्दवर्धन ने कहा है—

"तमर्थमवलम्बन्ते ये ऽङ्गिन ते गुणाः स्मृताः।
अङ्गाश्रितास्त्वलंकाराः मन्तव्या कटकादिवत्॥

ये तमर्थं रसादि लक्षणमङ्गिनमन्ततमवलम्बन्ते ते गुणाः शौर्यादिवत्। वाच्यवाचक लक्षणान्यङ्गानि ये पुनस्तदाश्रितास्तेऽलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत्।"

(ध्वन्यालोक)

अर्थात् जो भी उस अङ्गी रूप अर्थ का अवलम्बन करते है, वे गुण कहलाते है और कटक आदि की तरह अंगों पर आश्रित रहने वालो को अलंकार मानना चाहिये अर्थात् जो रसादि रूप मुख्य अर्थ का अवलम्बन करते है, वे शौर्य आदि की तरह गुण है, और जो वाच्य-वाचक रूप अंगों पर आश्रित रहते है, वे कटक कुण्डलादि की तरह अलंकार कहे जाते है। शृंगार ही मधुर एव परम आह्लाद-कारी रस है क्योकि शृंगारमय काव्य को श्रवण करके माधुर्य प्रतिष्ठित होता है।

अब प्रश्न यह उठ सकता है कि माधुर्य आदि गुण शब्द और अर्थ दोनों के ही है, तब यह कैसे कह दिया गया कि अगी रसादि पर गुण आश्रित होते है? इसका उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है कि शृंगार रस के स्थायी भाव रति के सम्बन्ध मे देवता, मनुष्य, पक्षी आदि सभी जातियों मे वासना अविच्छिन्न रूप से विद्यमान रहती है, कोई भी ऐसा नही, जो हृदय सवाद धारण नही करता क्योकि मति आदि को भी रति मे चमत्कार प्रतीत होता ही है। इसीलिये कारिका मे मधुर शब्द का प्रयोग किया गया है। मीठा आदि मधुर रस विवेकी किंवा अविवेकी, स्वस्थ अथवा अस्वस्थ व्यक्ति के जिह्वा मे पड़ते ही अभिलषणीय हो जाता है। वस्तुतः माधुर्य शृंगार आदि रस का ही गुण है। वह मधुर रस के अभिव्यञ्जक शब्द और अर्थ मे आरोपित होता है। अतः शब्द और अर्थ की जो मधुर शृंगार रस को अभिव्यक्त करने की सामर्थ्य है, वही माधुर्य है। शृंगार ही दूसरे रसों की अपेक्षा आह्लादक होने के कारण मधुर है। शब्द और अर्थ शृंगार रस के प्रकाशन में तत्पर होते है। अतः शब्दार्थमय काव्य का यह माधुर्य गुण है। श्रव्यत्व ओजस् का भी साधारण लक्षण है। विप्रलम्भ शृंगार मे और करुण मे माधुर्य प्रकर्षयुक्त होता है। कारण यह है कि वहाँ मन अधिक आर्द्र भाव को प्राप्त करता है। सम्भोग शृंगार से मधुरतर विप्रलम्भ शृंगार है, उससे भी मधुरतम करुण है उस रस के अभिव्यञ्जन का कौशल शब्द-अर्थ का मधुरतत्व और दूसरे का मधुरतमत्व है। कहा है:—

> शृङ्गारे विप्रलम्भाख्ये करुणे च प्रकर्षवत्।
> माधुर्यमार्द्रतां याति यतस्तत्राधिकं मनः॥

अर्थात्—विप्रलम्भ शृंगार तथा करुण में माधुर्य ही प्रकर्षयुक्त होता है, क्योकि माधुर्य सहृदय-हृदय को आकर्षित करने का सर्वोत्कृष्ट साधन है।

रौद्र आदि रस अत्यन्त दीप्ति या उज्ज्वलता को उत्पन्न करते हैं, इसलिए लक्षणा से उन्हें ही दीप्ति कहा जाता है। उनका प्रकाशन करने वाला शब्द दीर्घ समास की रचना से अलंकृत वाक्य है। रौद्र के समान ही वीर और अद्भुत भी दीप्ति से लक्षित होते हैं। जैसे—

> चञ्चद् भुजभ्रमितचण्डगदाभिघात-
> सञ्चूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य।

स्त्यानावबद्धघन शोणितशोणपाणि-
रुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः ॥

हे देवि! घुमाई जाती हुई दोनों भुजाओं से घुमाई गई प्रचण्ड गदा के अभिघात से सम्यक् प्रकार से चूर्णित उरुयुगल वाले सुयोधन के निरन्तर जमे हुए घने शोणित से लाल हाथों वाला भीम तुम्हारे बालों को सजाएगा।

यहाँ पर, कुलांगना के केशपाश की याद दिलाने वाले 'देवि' इस सम्बोधन से क्रोध का ही उद्दीपन विभाव रूप का सम्पादन किया है। अतः यहाँ पर शृंगार की शंका नहीं करनी चाहिए और इस प्रकार का प्रकाशन, दीर्घ समास की अपेक्षा न करके वाला, प्रसादयुक्त वाचकों द्वारा अभिहित अर्थ है, जैसे—

यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमदः पाण्डवीनां चमूनां,
यो यः पाञ्चालगोत्रे शिशुरधिकवया गर्भशय्यां गतो वा ॥
यो यस्तत्कर्मसाक्षी चरति मयि रणे यश्च यश्च प्रतीपः,
क्रोधान्धस्तस्य तस्य स्वयमपि जगतामन्तकस्यान्तकोऽहम् ॥

अर्थात् पाण्डवों की सेनाओं में अपनी भुजाओं पर अधिक गर्व करने वाला जो-जो व्यक्ति शस्त्र धारण करता है, पाञ्चाल के गोत्र में जो-जो बड़ा-छोटा या अभी गर्भ में पड़ा है, और जो-जो व्यक्ति उस द्रोण वध रूपी घोर कर्म के साक्षी है, तथा जो-जो मेरे युद्धभूमि मे विचरण करते समय विरोधी होगा, उस-उसका क्रोध से अन्धा मैं विनाश कर डालूँगा, वह चाहे स्वयं भी सम्पूर्ण जगत का अन्त करने वाला यमराज ही क्यों न हो।

यहाँ पर, अलग-अलग हुए ही एवं क्रम से विमृश्यमान अर्थों द्वारा 'क्रोध' इस एक पद से दूसरे पद मे उत्कर्ष पर चढ़ना है, इस प्रकार समासरहित होना ही दीप्ति का कारण है। इस तरह माधुर्य और दीप्ति दोनो एक दूसरे के विरोध रूप में स्थित होकर शृंगार आदि तथा रौद्र आदि रसों मे होते हैं। उनके समावेश का वैचित्र्य हास्य, भयानक, वीभत्स और शान्त रसों मे दृष्टिगत होता है। अन्तर केवल यह है कि हास्य शृंगार का अंग है, इसलिये उसमे माधुर्य प्रकृष्ट ही होता है, तथा विकासधर्मी होने के कारण ओज भी उसमें प्रकृष्ट ही होना है। इस तरह दोनों का ही साम्य है। भयानक मे चित्तवृत्ति भग्न हो जाती है, फिर भी उसका विभाग दीप्त होता है। इसीलिये उसमे ओज प्रकृष्ट रूप मे रहता है और माधुर्य अल्परूप मे। यही ढंग वीभत्स मे भी है।

काव्य का सब रसों के प्रति जो समर्पकत्व है, सभी रसों और रचनाओं में सामान्य रूप से अवस्थित रहने वाले गुण को प्रसाद गुण कहते हैं। शब्द और अर्थ की स्वच्छता का नाम ही प्रसाद है। वह सभी रसों तथा रचनाओं मे सामान्य रूप मे रहने वाला है, उसे मुख्यतया व्यंग्य अर्थ की उपेक्षा से ही व्यवस्थित मानना चाहिए। समर्पकत्व का अर्थ है, सम्यक्तया अर्पण कृतित्व, जिस तरह सूखे काठ में आग झट से व्याप्त हो जाती है, उसी तरह हृदय के एक रूप होने के कारण

प्रतिपत्ताओं के हृदयों को वह अपने स्वरूप से व्याप्त कर लेता है। दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि जिस तरह स्वच्छ वस्त्र को जल जल्दी व्याप्त कर लेता है, उसी तरह वह प्रसाद भी सभी रसों को व्याप्त कर लेता है।

यहाँ पर यह प्रश्न उठ सकता है कि गुण जब रसगत धर्म हैं, तब शब्द और अर्थ की स्वच्छता कैसे ? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि सभी रसों में सामान्य रूप से ही रहने वाला गुण शब्दगत और अर्थगत एवं समस्त और असमस्त इन सभी प्रकार की रचनाओं में सामान्य रूप से रहा करता है। तात्पर्य यह है कि अर्थ का समर्पकत्व व्यंग्य के प्रति ही सम्भव होगा, अन्यथा नही, शब्द का भी अपने वाच्य का अर्पकत्व कितना अलौकिक है जिससे गुण माना जाय ? इस तरह भामह के अभिप्राय से माधुर्य, ओज, प्रसाद ये तीन ही गुण है। वे मुख्य रूप से प्रतिपत्ता के आस्वाद स्वरूप हैं, अतः लक्षण से आस्वाद्य रस में उपचरित हैं, और तब उस रस के व्यञ्जक शब्द और अर्थ में भी उपचरित है। अतः स्पष्ट है कि काव्य में रसादि रूप ध्वन्यर्थ अङ्गी है तथा गुण और अलंकार उसके अंग।

प्रश्न—१५. रसध्वनि के सम्बन्ध में भट्टनायक आदि आचार्यों के मतों का निराकरण करते हुए आचार्य आनन्दवर्धन का मत सिद्धान्त रूप में प्रदर्शित कीजिये।

उत्तर—जब रस प्रधान होता है अर्थात् अङ्गी होता है तब रसादि ध्वनि होती है, किन्तु जब रस की स्थिति मुख्य नहीं होती था अङ्ग कोटि की होती है, तब वह रसवद् आदि अलंकार की कोटि में आता है। अलंकारों मे ध्वनि का अन्तर्भाव नही होता। समासोक्ति आदि अलकारो मे भी ध्वनि का अन्तर्भाव नही है। इसी तरह रसवद् अलकार मे भी ध्वनि का अन्तर्भाव नही है। तात्पर्य यह है कि ध्वनि तत्व सर्वथा पृथक् अस्तित्व रखता है। कहा है—

वाच्य वाचक चारुत्व हेतूना विविधात्मनाम् ।
रसादि परता यत्र स ध्वनेर्विषयो मतः ॥

अर्थात्—अनेक प्रकार के वाच्य, वाचक और उनके चारुत्व हेतुओं का जहाँ रस आदि में तात्पर्य हो, वह ध्वनि का विषय माना गया है। रसवत्, प्रेयस, ऊर्जस्वि, समाहित आदि अलकार के रूप मे रसादि का अङ्गत्व होता है। रसवत् आदि अलंकारों मे रसादि ध्वनि का अन्तर्भाव नही है। "विभावानुभावसञ्चारि संयोगाद् रस निष्पत्तिः" इस भरतमुनि के सिद्धान्त पर शंका करते हुए भट्टनायक का कथन है कि रस यदि परगत अर्थात् सहृदय से भिन्न प्रतीत होता है, तब वह सहृदय से असम्बद्ध होगा क्योकि ऐसी स्थिति मे सहृदय को रसप्रतीति नही होगा, स्वगत रूप से भी वह रस प्रतीत नही होता क्योंकि स्वयं में प्रतीति मान लेने पर सहृदय में उत्पत्ति मानती पड़ेगी। ऐसा मानना भी उचित नही है क्योंकि सहृदय के सीता विभाव नहीं है। यदि यह कहा जाय कि साधारण कान्तात्व रत्यादि

के विकास के हेतुभूत विभावना में प्रयोजक है, तो वह देवता के वर्णन में कैसे होगा ? यह कहना भी ठीक नहीं है कि बीच में अपनी कान्ता के स्मरण का संवेदन होता है क्योंकि अलौकिक चरित्र वाले राम आदि में सेतुबन्ध आदि विभाव हैं, वे कैसे साधारण को प्राप्त कर सकते हैं ? उत्साह शक्ति से सम्पन्न राम आदि का तत्काल स्मरण भी नहीं होता क्योंकि उनका कभी अनुभव हुआ नहीं रहता। शब्द रूप काव्य में यदि रामगत उत्साह की प्रतीति करते हैं, तो भी सहृदयों को रस उत्पन्न नहीं होगा। जैसे नायक-नायिकाओं को प्रत्यक्ष देखकर किसी को रसोत्पत्ति नहीं होती। रसोत्पत्ति को सहृदयों में मान लेने पर करुण रस के उत्पन्न होने से दुःखी होने पर वे पुनः करुण रस प्रधान नाटकों को देखने में प्रवृत्त नहीं होंगे। इसीलिये उत्पत्ति भी नहीं, अभिव्यक्ति भी नहीं। शक्ति या वासना रूप शृंगार की अभिव्यक्ति में, विषय के ग्रहण में, अनुभव के अंश में तारतम्य की प्रवृत्ति करनी पड़ेगी। वहाँ भी रस स्वगत अभिव्यक्त होगा या परगत होगा, यह दोष बना ही रहेगा। अतः काव्य में न रस प्रतीत होता है, न उत्पन्न होता है और न ही अभिव्यक्त होता है, किन्तु तीन अंशों वाला होने के कारण काव्य रूप शब्द की अन्य शब्दों से विलक्षणता है। यहाँ अभिधा वाच्य विषयक व्यापार है, भावकत्व रसादि विषयक व्यापार है और भोजकत्व सहृदय विषयक व्यापार है। इस तरह काव्य रूप शब्द के ये तीन अंशभूत व्यापार हैं।

यहाँ यदि अभिधा के अंश को मुख्य मान लिया जाय तो तन्त्र आदि शास्त्रों के प्रकारों से श्लेष आदि अलंकारों से क्या होगा ? उपनागरिका आदि वृत्तियों के भेदों का वैचित्र्य कुछ काम नहीं कर सकता और श्रुति दुष्ट आदि दोषों का वर्जन किस काम आयेगा ? इसलिये रस भावना रूप दूसरा व्यापार है जिसके कारण अभिधा विलक्षण ही हो जाती है। रस के भावित हो जाने पर, उसका भोग, जो अनुभव, स्मरण और प्रतिपत्ति से विलक्षण है और वह द्रुति, विस्तार और विकास रूप है तथा रजस् एवं तमस् के वैचित्र्य से अनुविद्ध स्वात्म चैतन्य रूप लोकोत्तर आनन्द है, वही प्रधानभूत अंश सिद्ध रूप है। सहृदयों को जो फल मिलता है, वह तो अप्रधान ही है। यह तो हुआ भट्टनायक का मत। रस स्वरूप के सम्बन्ध में अनेक मत हैं। भट्टलोल्लट के अनुसार पूर्व अवस्था में जो स्थायी है, वही व्यभिचारी भावों के सम्पात आदि से परिपोष प्राप्त करके अनुकार्य में ही रस होता है, परन्तु नाट्य में प्रयोग किये जाने के कारण नाट्य रस होता है। शङ्कुक के अनुसार-चित्तवृत्ति के प्रवाह धर्म होने से एक चित्तवृत्ति का दूसरी चित्तवृत्ति से परिपोष रूप फल क्या होगा ? दूसरी बात यह है कि विस्मय, शोक, क्रोध आदि का क्रम से परिपोष नहीं होता; अतः अनुकार्य में रस नहीं हो सकता। यदि अनुवर्ती नट में रस को मानेंगे तो नट में रस जब सिद्ध ही है तब उसके द्वारा रसोपयोगी ताल-लय आदि का अनुसरण नहीं होगा। यदि सामाजिक में रस को स्वीकार करेंगे, तब भी कौन सा चमत्कार हो जायेगा ? अपितु करुण रस में तो सामाजिकों को दुःख की प्राप्ति होगी। तत्तद्गत रत्यादि भाव के अनन्त होने के कारण नियत

का अनुकरण नहीं किया जा सकता, ऐसा करना निष्प्रयोजन भी है क्योंकि स्थायी के वैशिष्य की प्रतीति मे नट के तटस्थ होने के कारण व्युत्पत्ति नहीं होगी।

अतः जिसकी अवस्था नियत नहीं है ऐसे स्थायी को उद्देश्य करके संयोग प्राप्त करते हुए विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी से "यह राम सुखी है" यह स्मृति से विलक्षण, स्थायी के प्रतीति गोचर होने के कारण आस्वाद रूप अनुकर्तानट में आलम्बित, एकमात्र नाटय में रहने वाली प्रतिपत्ति अर्थात् ज्ञान ही रस है। वह रस दूसरे आधार की अपेक्षा नहीं करता किन्तु अनुकार्य राम आदि से अभिन्न रूप मे मान लिये गये नर्तक में सामाजिक आस्वाद प्राप्त करता है। इसलिये नाटय में ही रस है अनुकार्य मे नहीं।

अन्य लोगो के अनुसार अनुकर्ता नट मे अभिनयादि सामग्री आदि से उत्पन्न जो स्थायी का मिथ्या ज्ञान, भीत पर हरिताल आदि से अश्व के मिथ्या ज्ञान की तरह है, वही लोकातीत होने के कारण आस्वाद नामक प्रतीति मे रस्यमान ही रस है, इस प्रकार नाटय मे रस नाटयरस कहलाते है। अन्य लोगों के अनुसार विभाव, अनुभाव भाव ही विशिष्ट सामग्री के द्वारा सामाजिको में समर्पित, उनसे विभावनीय एवं अनुभावनीय स्थायी रूप चित्तवृत्ति के उचित वासना मे सम्बद्ध, एव सामाजिक की निवृत्ति या आनन्द रूप चर्वणा से विशिष्ट होकर ही रस है। इस प्रकार नाटय ही रस है। अन्य लोग शुद्ध विभाव को, दूसरे शुद्ध अनुभाव को, कुछ लोग स्थायी भाव को, कुछ व्यभिचारी को, कुछ लोग इनके संयोग को, कुछ अनुकार्य को, कुछ लोग समुदाय रूप समस्त को रस कहते है।

काव्य मे भी लोकधर्मी और नाटयधर्मी के समान क्रम से स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति इन दोनों प्रकारों से अलौकिक, प्रसन्न, मधुर और ओजस्वी शब्द से समर्प्यमाण विभावादि के योग से इसी प्रकार रस की प्रतीति है। यहा पर लोकधर्मी और नाटयधर्मी का अर्थ समझ लेना आवश्यक है। नाटय दो प्रकार के होते है—

(१) लोकधर्मी।
(२) नाटयधर्मी।

जिसमे अभिनय स्वाभाविक होता है, अर्थात् पुरुष का अभिनय पुरुष करता है और स्त्री का अभिनय स्त्री, उसे लोकधर्मी नाटय कहते है। जिसमे स्वर, अलंकार और स्त्री पुरुषादि अपने वेष का परिवर्तन करते है, उसे नाटयधर्मी नाटय कहते है। काव्य में नाटय से रस की प्रतीति विचित्र है तो भी उपाय के विलक्षण होने के कारण वही यहाँ भी प्रकार है। सभी पक्षो मे रस की प्रतीति का निराकरण नहीं है क्योंकि अप्रतीत वस्तु पिशाच की तरह व्यवहार मे नहीं आती किन्तु जिस तरह प्रतीत मात्र होने से समान होने पर भी प्रात्यक्षिकी, आनुमानिकी, आगमोत्था, प्रतिभानकृता, योगिप्रत्यक्षजा ये प्रतीतियां उपाय के विलक्षण होने से पृथक्-पृथक् हो जाती है, उसी तरह यह प्रतीति भी, जिसके नाम चर्वणा, आस्वादन और भोग

आदि है, अन्य प्रतीतियों से विलक्षण है क्योंकि इस प्रतीति का निदानभूत जो हृदय संवाद आदि से उपकृत विभादि सामग्री है, वह लोकोत्तर है। रस प्रतीत होते है, यह 'ओदनं पचति' के समान व्यवहार है क्योंकि रस प्रतीयमान ही होता है, विशिष्ट प्रतीति ही रस है। वह नाटच में लौकिक अनुमानजन्य प्रतीति मे विलक्षण प्रतीति है। लौकिक अनुमानजन्य प्रतीति को वह प्रतीति पहले अपने उपाय के रूप मे अपेक्षा करती है। इस प्रकार काव्य मे अन्य लौकिक-वैदिक शब्दजन्य प्रतीति से विलक्षण प्रतीति है, उस शब्द प्रतीति को पहले मे उपाय रूप से अपेक्षा करती है।

अतः भट्टनायक का यह कथन कि रस प्रतीत नही होता, निर्मूल हो गया क्योंकि जब वह प्रतीत ही नही होता तो भट्टनायक उसका व्यवहार कैसे करेंगे ? यह कहना बड़े साहस की बात है कि राम आदि का चरित सबका हृदयसंवादी नही है. क्योंकि चित्त नानाविध वासना से विशिष्ट होता है। इस बात को योग सूत्र कार भी मानते है। वे वासनाएँ अनादि होती है क्योंकि आशिष या सकल्प विशेष नित्य होते है। अत: जाति, देश, और काल के व्यवधान होने पर भी वासनाओं का आनन्तर्यक्रम बना रहता है, क्योंकि स्मृति और संस्कार दोनो एक रूप होते है। अत रस की प्रतीति सिद्ध है। वह रसना रूप उत्पन्न होती है, उसमे वाच्य और वाचक का अभिधा से अतिरिक्त व्यञ्जना रूप ही व्यापार है।

भोजकत्व-व्यापार काव्य का रसविषयक व्यापार होने के कारण ध्वनन रूप ही है, यदि आप यह कहे कि रसों के प्रति काव्य भावक होता है, तब काव्य को रस का उत्पादक मान लेने से आपने स्वयं ही उत्पत्ति पक्ष को पुनरुज्जीवित कर दिया। केवल काव्य के शब्दों का भावकत्व नही बन सकता, क्योंकि अर्थ के परिज्ञान न होने से उनका भावकत्व नही बनेगा, केवल अर्थों का भी भावकत्व सम्भव नही है। लौकिक वाक्य से भी उन अर्थों के उपस्थित होने पर उनमे भावकत्व का योग नही है। इसलिये व्यञ्जकत्व नामक व्यापार से गुण और अलंकार के औचित्य आदि रूप इतिकर्तव्यता के द्वारा भावक काव्य रसो को भावित करता है। इस प्रकार तीनो अशो साध्य, साधन और इतिकर्तव्यता वाली भावना मे करण अंश में ध्वनन ही आता है। भोग भी काव्य शब्द से नही किया जाता ? अर्थात् किया जाता है, वह भोग, जो घने मोहान्धकार की संघटना मग्न हो जाने के द्वारा आस्वाद नामधारी एवं द्रुत, विस्तर और विकास रूप है, जब उत्पन्न किया जाता है, उस स्थिति में लोकोत्तर ध्वनन व्यापार ही प्रधान हेतु होता है। यह भोजकत्व व्यापार रस की ध्वननीयता के सिद्ध हो जाने पर स्वयं सिद्ध है क्योंकि भोग रस्य मानता के कारण उत्पन्न चमत्कार से अभिन्न है। सत्व आदि का अङ्गाङ्गि भाव प्रयुक्त वैचित्र्य अनन्त हो जाता है। अत द्रुति आदि के रूप से आस्वाद की कल्पना उचित नहीं है।

इस रसास्वाद का परब्रह्म के आस्वाद के समान होना माना गया है, इस काव्य का व्युत्पादन, शास्त्र के शासन और इतिहास के प्रतिपादन से विलक्षण है।

'जैसा राम वैसा मैं हूं' इस प्रकार के उपमान से अतिरिक्त, रसास्वाद के उपायभूत अपनी प्रतिभा के विकास रूप व्युत्पत्ति को पर्यन्त में उत्पन्न करता है। अतः स्पष्ट है कि रस अभिव्यक्त होते है और प्रतीति के द्वारा ही आस्वादित होते है, वह अभिव्यक्ति प्रधान रूप से हो या अप्रधान रूप से। प्रधान रूप से होने पर ध्वनि होगी और अप्रधान रूप से होने पर रसादि अलंकार। कहा है—

"रसभावतदाभासतत्प्रशमलक्षण मुख्यमर्थमनुवर्तमाना यत्र शब्दार्थालङ्कारा गुणाश्च परस्परं ध्वन्यपेक्षया विभिन्न रूपा व्यवसिता तत्र काव्ये ध्वनिरिति व्यपदेशः।"

"प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रसादयः।
काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः॥"

(ध्वन्यालोक)

अर्थात्—जहाँ रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावप्रशम रूप मुख्य अर्थ का अनुसरण करते हुए शब्द, अर्थ और उनके अलंकार और गुण परस्पर ध्वनि की अपेक्षा भिन्न रूप से व्यवस्थित होते हैं, उस काव्य मे 'ध्वनि' यह व्यवहार होता है और जहाँ वाक्यार्थ के प्रधान होने पर रस आदि अङ्ग हो जाते है, उस काव्य में रसादि अलंकार है, ऐसा मेरा (ध्वनिकार का) सिद्धान्त है।

प्रश्न—१६. लक्षणा व्यापार और ध्वनन-व्यापार का भिन्न-विषयकत्व का प्रतिपादन करते हुए रस-प्रतीति के अलौकिकत्व का उपपादन कीजिये।

उत्तर—लक्षणा व्यापार और ध्वनन व्यापार दोनों ही एक दूसरे से पृथक् व्यापार हैं क्योंकि लक्षणा अमुख्यार्थ विषयक व्यापार है और ध्वनन प्रयोजन विषयक व्यापार। लक्षणा व्यापार को प्रयोजन विषयक व्यापार नही माना जा सकता क्योंकि प्रयोजन विषयक व्यापार में लक्षणा की मुख्यार्थबाध आदि सामग्री का अभाव है। कहा है :—

मुख्यां वृत्तिं परित्यज्य गुणवृत्यार्थ दर्शनम्।
यदुद्दिश्य फलं तत्र शब्दो नैव स्खलद्गतिः॥

(ध्वन्यालोक)

अर्थात्—जिस फल को उद्देश्य करके मुख्य वृत्ति को छोड़कर गुण वृत्ति से अर्थ का ज्ञान कराया जाता है, वहाँ शब्द बाधितार्थ नही है। जिस शब्द की बाधक व्यापार मे गति कुण्ठित हो रही हो, वहाँ लक्षणा व्यापार होता है, किन्तु जो शब्द प्रयोजन का बोध कर रहा है, उसका बाधक के साथ योग नही है। जब बाधक का योग नही होता तो वह लक्षणा का विषय नही होता।

जैसे "सिंहो वटुः" इस प्रयोग मे बोधनीय शौर्यातिशय में भी शब्द का बाधक योग माना जाय, तब लक्षक शब्द उस शौर्यातिशय की प्रतीति ही नहीं करा पायेगा।

यदि यह कहे कि उपचार से शौर्यातिशयता का बोध करेगा, तब तो वहाँ भी दूसरा प्रयोजन ढूँढना पड़ेगा और वहाँ भी उपचार ही होगा। इस प्रकार अनवस्था हो जायेगी। अत. स्पष्ट है कि जब बाधक योग किंवा स्खलद्गतित्व नहीं है तो प्रयोजन के बोधन मे लक्षणा व्यापार नहीं होता क्योंकि उसकी सामग्री वहाँ नहीं होती। यह भी नहीं कह सकते कि वहाँ व्यापार ही नहीं है, वह व्यापार अभिधा भी नहीं है क्योंकि वहाँ संकेत का अभाव है। जो अभिधा और लक्षणा से भिन्न व्यापार है, वह ध्वनन व्यापार है, ऐसा भी नहीं। प्रयोग मे कोई दोष नहीं है क्योंकि प्रयोजन की बिना किसी विघ्न से प्रतीति हो जाती है। इसलिये अभिधा ही मुख्य अर्थ में बाधक के कारण बोध की इच्छा रखने वालों के द्वारा रोकी जाकर अचरितार्थ होने के कारण दूसरे अर्थ में फैलती है। इसलिये यह इसका मुख्य अर्थ है, यह व्यवहार होता है। उसी प्रकार अमुख्य रूप से संकेत ग्रहण भी वहाँ है। अतः कहा जा सकता है कि लक्षणा अभिधा की पुच्छभूत ही है। जिस कारण लक्षणा अभिधा की पुच्छभूत है, उस कारण वाचकत्व रूप अभिधा व्यापार पर आश्रित, उसके पुच्छभूत होने के कारण गौण लाक्षणिक प्रकार है। अतः वह गुण वृत्ति व्यंजना रूप ध्वनि का विषय कैसे हो सकती है क्योंकि उसका विषय भिन्न है। अतः अतिव्याप्ति और अव्याप्ति के कारण भक्ति अर्थात् लक्षणा ध्वनि का विषय नहीं हो सकती।

यह लक्षणा निम्नलिखित प्रकार से पाँच प्रकार की होती है—

(१) अभिधेय के साथ संयोग होने से, जैसे—'द्विरेफ'
(२) सामीप्य से, जैसे—"गङ्गायां घोषः"
(३) सम्बन्ध से, जैसे—'यष्टी प्रवेशय'
(४) वैपरीत्य से, जैसे—'किमिवोपकृतं न तेन मम'
(५) क्रिया योग से, जैसे—'प्राणानयं हरति'

इस प्रकार उपर्युक्त पंचविध लक्षणा से सारा विश्व ही व्याप्त है। अतः शिखरिणि आदि उदाहरण मे भी सादृश्य मे लक्षणा ही है, यह कथन उपयुक्त नहीं है क्योंकि यदि उपर्युक्त उदाहरण मे लक्षणा मान भी ली जाय, तो फिर विवक्षितान्यपर की सगति कैसे होगी क्योंकि लक्षणा के होने पर वाच्य का विवक्षित होना सम्भव नहीं है। उस विवक्षितान्यपर वाच्य का मुख्य भेद असंलक्ष्य क्रम रूप विवक्षित है। तद्भेद शब्द से रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावप्रशम आदि उसके अवान्तर भेद भी है। उनमे लक्षणा की उपपत्ति नहीं है, इस प्रकार विभानुभाव का प्रतिपादन करने वाले काव्य मे मुख्य अर्थ मे बाधक के योग की सम्भावना भी नहीं है। अतः लक्षणा का अवसर ही उपस्थित नहीं होता।

अब प्रश्न यह हो सकता है कि लक्षणा के लिये बाधा की आवश्यकता ही क्या है? क्योंकि अभिधेय के साथ अविनाभूत की प्रतीति ही लक्षणा है। जहाँ रसादि विभाव, अनुभाव आदि अभिधेयो के साथ अविनाभूत प्रतीत होते है, वहाँ वे लक्षित ही होते है क्योंकि रसादि के विभाव, अनुभाव क्रमशः कारण और कार्य हैं,

तथा व्यभिचारी भाव उस रसादि के सहकारी है। इस बात का उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है कि ऐसी स्थिति मे तो 'धूम' शब्द से धूम के ज्ञात होने पर अग्नि की स्मृति भी लक्षणा से होने लगेगी और फिर अग्नि के द्वारा शीतापनोद की स्मृति होने लगेगी। इस प्रकार धूम शब्द का अर्थ पर्यवसित ही नही होगा। यदि यह कहा जाय कि धूम शब्द के अपने अर्थ मे विश्रान्त होने के कारण अग्नि आदि अर्थ में व्यापार नहीं है, तब तो मुख्यार्थबाध लक्षणा का जीवित है, यह बात स्वत स्पष्ट हो गई है। मुख्यार्थबाध के रहते अपने अर्थ मे विश्रान्ति नही हो सकती। विभाव आदि के प्रतिपादन मे कोई बाधक नहीं है।

मीमांसक लोगो का यह कथन कि जिस प्रकार धूम के ज्ञान के बाद अग्नि का स्मरण होता है, उसी प्रकार विभाव आदि की प्रतीति के बाद रत्यादि चित्तवृत्ति की प्रतीति होती है, उपहासास्पद है क्योंकि लोकगत चित्तवृत्ति के अनुमान मात्र मे रसता कैसे हो सकती है? अलौकिक चमत्कार रूप रसास्वाद, जिसका प्राण विभाव आदि की चर्वणा है, वह स्मरणजनित अनुमान के समान नही हो सकता क्योकि लौकिक कार्य और कारण के अनुमान से संस्कृत हृदय वाला व्यक्ति विभावादि को काव्य या नाट्य से अवगत करता हुआ तटस्थ भाव से अवगम नही करता, अपितु हृदय सवाद नामक सहृदयत्व के परवश होने के कारण पूर्णता को प्राप्त करने वाले रसास्वाद के अंकुरीभाव से, अनुमान और स्मरण की सरणि पर आरूढ हुए विना ही, तन्मय होने के कारण उचित चर्वणा के उपयोग से विभावादि को अवगत करता है। वह चर्वणा पहले प्रमाणान्तर से उत्पन्न न तो होती है और न ही वर्तमान मे प्रमाणान्तर से उत्पन्न होती है, क्योकि अलौकिक वस्तु मे प्रत्यक्ष आदि प्रमाणो का व्यवहार नहीं होता।

विभाव विशेष ज्ञान की वस्तु है, उसे लोक व्यवहार मे कारण कहा जाता है, विभाव नही, अनुभाव भी अलौकिक होता है, इसे कार्य कहा जाता है न कि अनुभाव। यह वाणी, अग और सत्व से किया हुआ अभिनय का अनुभव कराता है, इसीलिये इसे अनुभाव कहते है। अत. परकीय चित्तवृत्तियो को सामाजिक लोग अनुभव नही करते। इस अभिप्राय से 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति' इस सूत्र मे स्थायी का ग्रहण नही किया गया है। स्थायी भाव का रसी भाव औचित्य के कारण कहा जाता है, क्योकि वह औचित्य विभाव, अनुभाव और उचित चित्तवृत्ति के संस्कार से सुन्दर चर्वणा के द्वारा उत्पन्न होता है, तथा हृदय संवाद की उपयोगिनी लोक चित्तवृत्ति के परिज्ञान की अवस्था में उद्यान और पुलक आदि के द्वारा स्थायी-भूत रति आदि के अवगम से होता है। चित्तवृत्ति रूप होने पर भी व्यभिचारी मुख्य चित्तवृत्ति के परवश ही होकर चर्वित होता है। यही कारण है कि उसकी चर्वणा विभाव, अनुभाव के बीच ही की गई है। अतएव रस्यमानता की यही निष्पत्ति है जो समय से प्रवृत्त बन्धु-समागम आदि कारण से उत्पन्न हर्ष आदि लौकिक

उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुररुचं प्रारब्धजृम्भां क्षणा -
दायासं श्वसनोद्गमैरविरलैरातन्वतीमात्मनः ।
अद्योद्यानलतामिमां समदनां नारीमिवान्यां ध्रुवं,
पश्यन् कोपविपाटलद्युतिमुखं देव्याः करिष्याम्यहम् ॥

अर्थात्—अत्यन्त उत्कण्ठा से युक्त, लता पक्ष में (कलियों से युक्त) पाण्डुवर्ण, लतापक्ष में (कलियों के कारण सफेद लगने वाली) क्षण में जंमाई लेती हुई, लतापक्ष में (उसी समय विकसित होती हुई) अपने निरन्तर श्वास से वायु में थकान प्रकट करती हुई, लतापक्ष में (हवा के कारण कांपती हुई) मदन से युक्त, लता पक्ष में (मदन नामक वृक्ष से लिपटी हुई) परकीय नारी की तरह इस उद्यान लता को देखता हुआ मैं आज निश्चय ही देवी वासवदत्ता के मुख को लाल कर दूंगा।

इस उदाहरण में उपमा, श्लेष भावी ईर्ष्याविप्रलम्भ का मार्ग परिशोधक रूप में स्थित होकर, सहृदयों की चर्वणा का आभिमुख्य करता हुआ, रस के प्रमुख होने की दशा में अग्रसर होता हुआ, ग्रहण किया गया है। साथ ही 'ध्रुवं' शब्द भावी ईर्ष्या को अवसर देने मे प्राणभूत है।

रसानुगुण न होने से अलंकार का अवसर पर त्याग का उदाहरण देखिये :—

रक्तस्त्वं नवपल्लवैरहमपि श्लाघ्यैः प्रियायाः गुणै -
स्त्वामायान्ति शिलीमुखाः स्मरधनुर्मुक्तास्तथा मामपि ।
कान्तापादतलाहतिस्तवमुदे तद्वन्ममाप्यावयोः,
सर्वं तुल्यमशोक केवल मह धात्रा सशोकः कृतः ॥

अर्थात्—हे अशोक ! तू नये पल्लवों से रक्त है और मैं भी प्रिया के प्रशंसनीय गुणों के कारण अनुरक्त हूं। तुझ पर शिलीमुख अर्थात् भौंरे आते हैं और मुझ पर भी कामदेव के धनुष से छूटे हुए शिलीमुख अर्थात् बाण आते हैं, प्रिया के पैरों का आघात तुझे प्रसन्न करता है और मुझे भी, हम दोनों का सब कुछ बराबर है, केवल विधाता ने मुझे सशोक बना दिया है।

यहाँ पर प्रबन्ध से प्रवृत्त होने पर भी श्लेष व्यतिरेक की विवक्षा से छोड़ा गया है, अतः रस विशेष को पुष्ट करता है। यहां दो अलंकारों का सन्निपात नहीं है अपितु नरसिंह अर्थात् आदमी और शेर की तरह श्लेष व्यतिरेक रूप अन्य अलकार भी नहीं है क्योंकि उसकी दूसरे प्रकार से व्यवस्था की गई है। जहाँ श्लेष के विषय-भूत शब्द में प्रकारान्तर से व्यतिरेक की प्रतीति होती है, वह उसका विषय है। जैसे—"स हरिर्नाम्ना देव. सहरिर्वरतुरग निवहेन" इत्यादि में क्योंकि यहाँ श्लेष का विषय दूसरा शब्द है और व्यतिरेक का विषय दूसरा। यदि इस तरह के विषय में अलङ्कारान्तरत्व की कल्पना की जाय तो संसृष्टि का विषयापहार ही हो जायेगा। यदि कहा जाय कि श्लेष के प्रकार से ही यहाँ व्यतिरेक प्रतीत हो रहा है, अतः यह संसृष्टि का विषय नहीं है, तो यह कथन युक्तिसगत न होगा क्योंकि प्रकारान्तर से भी व्यतिरेक दृष्टिगोचर होता है। जैसे इस उदाहरण में—

नो कल्पापायवायोरदयरय दलत्क्ष्मा धरस्यापि शम्या ,
गाढोद्गीर्णोज्ज्वलश्रीरहनि न रहिता नो तमः कज्जलेन ।
प्राप्तोत्पत्तिः पतङ्गान्नपुनरुपगता मोह मुष्णत्विषां वो ,
वर्तिः सैवान्यरूपा सुखयतु निखिलद्वीप द्वीपस्य दीप्तिः ॥

अर्थात्—समग्र द्वीपों के दीप सूर्य की दीप्ति रूप कोई लोकोत्तर वर्ति, जो निर्दय वेग से पहाड़ों को उखाड़ देने वाले कल्पान्त की वायु से नही बुझ पाती । जो दिन में भी अत्यन्त उज्ज्वल प्रकाश फैलाती है और अन्धकार रूपी काजल से जो रहित नही होती, जो पतङ्ग अर्थात् सूर्य से उत्पन्न होती है, फिर भी पतंग (विशेष प्रकार के कीड़े) से नही बुझती, वह आप लोगों को सुखी करे ।

यहाँ साम्य प्रपञ्च के प्रतिपादन के बिना भी व्यतिरेक दिखाया गया है । 'रक्तस्त्वं०' इत्यादि उदाहरण में श्लेष मात्र से चारुत्व की प्रतीति नहीं है, इसलिये श्लेष को व्यतिरेक के अंग रूप से विवक्षा होने के कारण उसका स्वयं अलङ्कारत्व नही है, यह भी नही कहा जा सकता क्योंकि इस प्रकार के विषय मे साम्य मात्र के सम्यक् प्रतिपादन से भी चारुत्व देखा ही जाता है । जैसे इस उदाहरण मे—

आक्रन्दाः स्तनितैर्विलोचनजलान्यश्रान्तधाराम्बुभिः ,
स्तद्विच्छेदभुवश्च शोकशिखिनस्तुल्यास्तडिद्विभ्रमैः ।
अन्तर्मे दयितामुखं तवशशीवृत्तिः समैवावयो -
स्तत्किं मामनिशं सखे जलधर त्वं दग्धमेवोद्यतः ॥

अर्थात्—हे मित्र मेघ ! मेरे वियोगजनित आक्रन्दन, तुम्हारे गर्जनों के, मेरे आँखो के जल तुम्हारे निरन्तर धारा जलो के एवं प्रिया के वियोग से उत्पन्न मेरे शोकाग्नि तुम्हारे विद्युद्विलासो के समान है, मेरे हृदय में प्रिया का मुख है, तुम्हारे भीतर चन्द्रमा है, इस तरह मेरी और तुम्हारी वृत्ति एक सी है, फिर भी क्यो तुम मुझे डालने के लिये तत्पर हो ? यथा वा—

कोपात्कोमललोलबाहुलतिकापाशेन बद्ध्वा दृढं ,
नीत्वा वास निकेतनं दयितया सायं सखीनां पुरः ।
भूयोनैवमिति स्खलत्कलगिरा संसूच्य दुश्चेष्टितं ।
धन्यो हन्यत एव निह्नुतिपरः प्रेयान्रुदत्या हसन् ॥

अर्थात्—कोप के कारण अपनी कोमल और चंचल बाहुलता के पाश से जोर से बांधकर, सखियों के सामने वासगृह मे ले जाकर, उसके दुश्चेष्टित कार्यों को सूचित करके 'फिर तो ऐसा नही करोगे' इस बात को अव्यक्त लड़खड़ाती हुई आवाज मे कहती हुई और रोती हुई नायिका के द्वारा अपने नखक्षत आदि को छिपाने मे संलग्न हँसता हुआ धन्य प्रियतम मार खाता है ।

यहाँ पर रूपक आक्षिप्त तो है ही साथ ही उसका पूरी तरह से निर्वाह भी नही किया गया है, किन्तु फिर भी रस का पोषण हो रहा है । यथा वा—

उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुररुचं प्रारब्धजृम्भां क्षणा-
दायासं श्वसनोद्गमैरविरलैरातन्वतीमात्मनः ।
अद्योद्यानलतामिमां समदनां नारीमिवान्यां ध्रुवं,
पश्यन् कोपविपाटलद्युतिमुखं देव्याः करिष्याम्यहम् ॥

अर्थात्—अत्यन्त उत्कण्ठा से युक्त, लता पक्ष में (कलियों से युक्त) पाण्डुवर्ण, लतापक्ष में (कलियों के कारण सफेद लगने वाली) क्षण में जंभाई लेती हुई, लतापक्ष में (उसी समय विकसित होती हुई) अपने निरन्तर श्वास से वायु में बतान प्रकट करती हुई, लतापक्ष में (हवा के कारण कांपती हुई) मदन से युक्त, लता पक्ष में (मदन नामक वृक्ष से लिपटी हुई) परकीय नारी की तरह इस उद्यान लता को देखता हुआ मैं आज निश्चय ही देवी वासवदत्ता के मुख को लाल कर दूंगा।

इस उदाहरण में उपमा, श्लेष भावी ईर्ष्याविप्रलम्भ का मार्ग परिशोधक रूप में स्थित होकर, सहृदयों की चर्वणा का आभिमुख्य करता हुआ, रस के प्रमुख होने की दशा में अप्रधान होता हुआ, ग्रहण किया गया है। साथ ही 'ध्रुवं' शब्द भावी ईर्ष्या को अवसर देने में प्राणभूत है।

रसानुगुण न होने से अलंकार का अवसर पर त्याग का उदाहरण देखिये :—

रक्तस्त्वं नवपल्लवैरहमपि श्लाघ्यैः प्रियायाः गुणै-
स्त्वामायान्ति शिलीमुखाः स्मरधनुर्मुक्तास्तथा मामपि ।
कान्तापादतलाहतिस्तवमुदे तद्वन्ममाप्यावयोः,
सर्वं तुल्यमशोक केवल मह धात्रा सशोकः कृतः ॥

अर्थात्—हे अशोक ! तू नये पल्लवों से रक्त है और मैं भी प्रिया के प्रशंसनीय गुणों के कारण अनुरक्त हूं। तुझ पर शिलीमुख अर्थात् भौंरे आते हैं और मुझ पर भी कामदेव के धनुष से छूटे हुए शिलीमुख अर्थात् बाण आते हैं, प्रिया के पैरों का आघात तुझे प्रसन्न करता है और मुझे भी, हम दोनों का सब कुछ बराबर है, केवल विधाता ने मुझे सशोक बना दिया है।

यहां पर प्रबन्ध से प्रवृत्त होने पर भी श्लेष व्यतिरेक की विवक्षा से छोड़ा गया है, अतः रस विशेष को पुष्ट करता है। यहां दो अलकारों का सन्निपात नहीं है अपितु नरसिंह अर्थात् आदमी और शेर की तरह श्लेष व्यतिरेक रूप अन्य अलंकार भी नहीं है क्योंकि उसकी दूसरे प्रकार से व्यवस्था की गई है। जहां श्लेष के विषय-भूत शब्द में प्रकारान्तर से व्यतिरेक की प्रतीति होती है, वह उसका विषय है। जैसे—"स हरिर्नाम्ना देवः सहरिर्वरतुरग निवहेन" इत्यादि में क्योंकि यहाँ श्लेष का विषय दूसरा शब्द है और व्यतिरेक का विषय दूसरा। यदि इस तरह के विषय में अलङ्कारान्तरत्व की कल्पना की जाय तो संसृष्टि का विषयापहार ही हो जायेगा। यदि कहा जाय कि श्लेष के प्रकार से ही यहां व्यतिरेक प्रतीत हो रहा है, अतः यह संसृष्टि का विषय नहीं है, तो यह कथन युक्तिसंगत न होगा क्योंकि प्रकारान्तर से भी व्यतिरेक दृष्टिगोचर होता है। जैसे इस उदाहरण में—

श्यामास्वङ्गं, चकित हरिणी प्रेक्षणे दृष्टिपातं,
गण्डच्छायां शशिनि शिखिना वर्हभारेषु केशान्।
उत्पश्यामि प्रतनुषु नदी वीचिषु भ्रू विलासान्,
हन्तैकस्थं क्वचिदपि न ते भीरु सादृश्यमस्ति ॥

अर्थात्—हे भीरु ! श्यामा लताओं मे तेरे अंग को, चौंधियाई हिरनियों की दृष्टि मे तेरे दृष्टिपात को, चन्द्रमा मे तेरे गालो की कान्ति को, मयूरों के पुच्छ भाग मे तेरे वालो को, नदी की पतली तरंगों मे तेरे भ्रू-विलासों को देखता फिरता हूँ, हाय, तेरा सादृश्य कही एक स्थान पर नही है।

इस प्रकार कवि का उपनिवध्यमान अलंकार रसाभिव्यक्ति का कारण होता है। उक्त प्रकारो का अतिक्रमण करने पर अलंकार निश्चय ही रसभंग का कारण हो जाता है। रूपकादि अलंकारो का जो रसादि विषय के व्यञ्जकत्व मे लक्षण का प्रकार दिखाया गया है, उसका अनुसरण करता हुआ समाहित चित्त सुकवि यदि अलक्ष्य क्रम व्यंग्य के सदृश ध्वनि के आत्मा का उपनिबन्धन करता है तो उसे बडा आत्मलाभ होता है।

अवसर पर छोड़े गये अलंकारों का पुनर्ग्रहण भी होता है जैसे इस उदाहरण मे—

शीतांशोरमृतच्छटा यदि करा कस्मान्मनो मे भृशं,
संप्लुष्यन्त्यथ कालकूट पटली संवासमन्दूषिता।
किं प्राणान्न हरन्त्युत प्रियतमा सजल्प मन्त्राक्षरै-
रक्ष्यन्ते किमु मोह मेमि हहहा नो वेद्मि केयं गतिः ॥

यहाँ रूपक, सन्देह और निदर्शना अलंकारो को छोडकर पुन उपादान किया गया है।

प्रश्न—१८. "प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति काव्यार्थतत्वज्ञों को ही होती है" इस कथन को ध्वनिकार के अनुसार सिद्ध कीजिये।

उत्तर—केवल शब्द और अर्थ के ज्ञानमात्र से प्रतीयमान अर्थ नहीं जाना जाता। इसका वास्तविक ज्ञान तो काव्यार्थ के तत्वज्ञ लोगो को ही हो पाता है। यदि वह प्रतीयमान अर्थ वाच्यरूप ही होता तो वाच्य और वाचक के रूप के परिज्ञान से ही उसकी प्रतीति हो जाती। वाच्य-वाचक के परिज्ञान मे जिन्होने श्रम किया है और काव्यतत्वार्थ ज्ञान से पराङ्मुख है, उनके लिये यह प्रतीयमान अर्थ, गाने मे असमर्थ किन्तु संगीत शास्त्र के लक्षणो को जानने वालो के लिये स्वर और श्रुति आदि के तत्व की तरह अगोचर है। कहा है—

"सोऽर्थो यस्मात्केवल काव्यार्थ तत्वज्ञैरेव ज्ञायते। यदि च वाच्यरूप एवासावर्थ स्यात्तद्वाच्यवाचक रूपपरिज्ञानादेव तत्प्रतीतिः स्यात्। अथ च वाच्यवाचक लक्षणमात्र

कृतश्रमाणां काव्यतत्वार्थभावना विमुखानां स्वरश्रुत्यादिलक्षणमिवा प्रगीतानां-गान्धर्वलक्षणविदामगोचर एवामावर्थः ।"

(ध्वन्यालोक)

तात्पर्य यह है कि जिस तरह गान विद्या में निपुणता प्राप्त कर लेने वाला यदि गाने का अभ्यास न करने पर स्वर और श्रुति आदि के तत्वों से अपरिचित रहता है, उसी तरह केवल वाच्य-वाचक मात्र में श्रम करने वाले तथा काव्य तत्वार्थ की भावना से विमुख लोग उस प्रतीयमान अर्थ को नहीं समझ सकते, स्वर और श्रुति के भेद संगीत शास्त्र में बाईस प्रकार के बताये गये हैं ।

इस प्रकार वाच्य से पार्थक्य रखने वाले व्यंग्य की महत्ता ध्वनिकार प्रतिपादित की है । जब तक लोकव्यवहार की स्थिति है, शब्द-अर्थ अपने साधारण रूप से होते हैं, किन्तु काव्य के क्षेत्र में उनकी सीमा का विस्तार हो जाता है । अतः काव्य तत्वार्थी को केवल ज्ञान का पुनः ज्ञान न करके ज्ञात का पुनः पुनः अनुसन्धान करना चाहिए । यह प्रत्यभिज्ञान प्रतिभावान् महाकवि के लिये उतना ही अपेक्षित है जितना सहृदय के लिये । तभी तो कहा है.—

"काव्यं तु जातु जायेत कस्यचित्प्रतिभावतः ।"

प्रत्यभिज्ञान के सम्बन्ध में एक उदाहरण द्रष्टव्य है:—

तैस्तैरप्युपयाचितैरुपनतस्तन्व्याः स्थितोऽप्यन्तिके ,
कान्तो लोकसमान एवमपरिज्ञातो न रन्तुं यथा ।
लोकस्यैष तथानवेक्षितगुणः स्वात्मापि विश्वेश्वरो ,
नैवालं निजवैभवाय तदिदं तत्प्रत्यभिज्ञोदिता ।।

अर्थात्—कोई नायिका किसी व्यक्ति को बिना देखे ही उसके रूप का वर्णन सुनकर अपना प्रिय मान बैठती है और पत्र लेखनादि उपायों से उसे अपने पास बुलाने का प्रयत्न करती है । अकस्मात् वह उसके पास पहुँच जाता है । ऐसी स्थिति में क्या यह सम्भव है कि नायिका उसके साथ रमण करे ? नहीं क्योंकि जब तक नायिका को विशेष रूप से यह ज्ञात नहीं हो जाता कि जिस व्यक्ति से मिलने के लिये वह बहुत दिनों से प्रयत्न कर रही है, वही उपस्थित है, तब तक वह व्यक्ति उसके लिये अन्य सा साधारण व्यक्ति के समान ही रहता है, इसी प्रकार ईश्वर आत्मा से अभिन्न होते हुए भी अपना विशेष रूप से प्रत्यभिज्ञान न किये जाने पर अपना वैभव प्रकट नहीं करता ।

वह शब्द है और उसकी अभिव्यक्ति की सामर्थ्य रखने वाला कोई शब्द है । वे शब्द और अर्थ महाकवि को यत्नपूर्वक जानने चाहिए, व्यंग्य अर्थ है और उसकी अभिव्यक्ति की सामर्थ्य रखने वाला कोई शब्द है न केवल शब्दमात्र । वे ही शब्द अर्थ महाकवि के प्रत्यभिज्ञान के योग्य है क्योंकि व्यंग्य और व्यञ्जक के ही सुन्दर ढंग से प्रयोग करने पर महाकवियों को महाकवित्व का लाभ है, न कि वाच्य-वाचक रचना मात्र से । जो कवि लोग व्यंग्य और व्यञ्जक के प्राधान्य में भी पहले वाच्य

और वाचक का ही उपपादन करते है, वह भी ठीक ही है, क्योंकि जिस प्रकार आलोक चाहने वाला व्यक्ति उसका उपाय होने के कारण दीपशिखा के लिये यत्न करता है, उसी प्रकार उस व्यंग्य अर्थ के प्रति आदरयुक्त जनवाच्य अर्थ के लिये प्रयत्न करता है क्योंकि दीपशिखा के विना आलोक सम्भव नहीं होता। अतः व्यंग्य अर्थ के प्रति आदरयुक्त होते हुए भी वाच्य अर्थ के लिये प्रयत्नशील होते हैं। जिस तरह पदार्थ के द्वारा वाक्यार्थ दिखाया जाता है, उसी प्रकार उस व्यंग्यार्थ की प्रतीति भी वाच्यार्थ पूर्विका होती है।

नियमत पदार्थ के ज्ञान के द्वारा वाक्यार्थ का ज्ञान होता है, पहले पदार्थ का ज्ञान होता है, तब वाक्यार्थ का ज्ञान होता है, यह क्रम है, किन्तु जो व्यक्ति वाक्यवृत्त कुशल है, उसे यह क्रम लक्षित नही होता। इसी तरह पहले वाच्य अर्थ की प्रतीति होती है तदनन्तर व्यंग्य अर्थ की, परन्तु जो अत्यन्त सहृदय व्यक्ति है, उसे यह क्रम प्रतीत नही होता है। इसीलिये ध्वनि को 'असंलक्ष्यक्रम' कहा गया है। अनुमान आदि में भी जिसे विषय का अभ्यास होता है, उसे व्याप्ति स्मृति किंवा अनुमिति का क्रम स्पष्ट ज्ञात नही होता। यही बात संकेत ज्ञान और अर्थज्ञान के क्रम के बारे मे भी कही जा सकती है।

पदार्थों मे जब तक योग्यता, आकांक्षा, और सन्निधि ये तीनों विद्यमान नही रहते, तब तक वाक्य अपना स्वरूप लाभ नही करता। योग्यता पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध में बाधा का अभाव है। पद समूह मे इस योग्यता के अभाव में किसी प्रकार वह वाक्य नही कहा जा सकता, जैसे—'वह्निना सिञ्चति'। यह पदसमूह योग्यता-रहित है, क्योकि सिञ्चन कार्य की योग्यता अग्नि मे नही है, अतः पदसमूह होते हुए भी इसे वाक्य नही कहा जा सकता। पदसमूह को वाक्य बनने मे आकाक्षा भी होनी चाहिए अर्थात् एक पद से दूसरे पद के अन्वय का अनुभावन होना चाहिये। आकाक्षारहित पदसमूह भी वाक्य नही कहा जा सकता, जैसे 'गौरश्वः पुरुषो हस्ती' इत्यादि *क्योकि यहाँ एक पद का दूसरे पद के साथ अन्वय नही है।* इसके साथ-साथ वाक्य के लिए सन्निधि भी आवश्यक है। एक पद का दूसरे से सामयिक व्यवधान नही होना चाहिए। अत. यदि घटम् कहने के घण्टे भर बाद आनय यदि कहा जाय तो यह पद समूह वाक्य नहीं कहा जा सकता। अतः आकाक्षा, योग्यता और सन्निधि ये तीनों ही पद समूह को वाक्य का स्वरूप लाभ कराने वाले मुख्य धर्म हैं। यद्यपि आकाक्षा श्रोता की जिज्ञासा रूप है तथापि परम्परा सम्बन्ध द्वारा पदार्थ का भी धर्म है। अपनी इस सामर्थ्य के द्वारा ही पदार्थ शब्दार्थ का बोध कराते हैं।

अतः जिस प्रकार सामर्थ्यवश ही वाक्यार्थ का प्रतिपादन करता हुआ पदार्थ जिस प्रकार व्यापार के पूर्ण हो जाने पर अलग-अलग प्रतीत नहीं होता और जिस प्रकार अपनी सामर्थ्य के वश ही वाच्यार्थ *को प्रकाशित करता हुआ भी पदार्थ व्यापार की* निष्पत्ति मे विभक्त रूप से प्रतीत नही होता, उसी प्रकार वह अर्थ वाच्यार्थ से विमुग्व

आत्मा वाले सहृदय जनों की तत्वार्थदर्शिनी बुद्धि में झट से ही अवभासित होता है। कहा है:—

> तैद्वत्सचेतसां सोऽर्थो वाच्यार्थ विमुखात्मनाम् ।
> बुद्धौ तत्वार्थदर्शिन्यां झटित्येवावभासते ।।

अतः स्पष्ट है कि प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति काव्यार्थतत्वज्ञ जन ही सुगमतया कर सकते है। साधारण जन नहीं।

प्रश्न - १९. संघटना के स्वरूप का उपपादन करते हुए गद्यबन्ध में भी रसबन्धोक्त औचित्य के संश्रित संघटना को ध्वनिकार के अनुसार सिद्ध कीजिये।

उत्तर - ध्वनिकार आनन्दवर्धन के मतानुसार संघटना तीन प्रकार की हुआ करती है:—

(अ) असमासा।
(आ) मध्यम समासा।
(इ) दीर्घसमासा।

कुछ लोगों का मत है कि संघटना माधुर्य आदि गुणों का आश्रयण करके रहती हुई रसों को व्यक्त करती है। अब गुण और संघटना के सम्बन्ध को लेकर तीन विकल्प किये गये हैं। प्रथम विकल्प के अनुसार गुण और रीति का अभेद है। यदि भेद स्वीकार करें तब दो विकल्प और होते हैं कि संघटना के आश्रित गुण है या गुण के आश्रित संघटना है? वामन ने रीति और गुण का अभेद माना है। तो भी 'शिंशपा के आश्रित वृक्षत्व' की तरह स्वाभिन्न वस्तु का भी स्व से भेद परिकल्पित किया है। गुण और संघटना में भेद मानने वाले भट्ट उद्भट आदि के अनुसार गुण संघटना के धर्म है, तथा धर्म अपने धर्मी के आश्रित होते ही है इसलिये गुण संघटना के आश्रित है। इसके अनुसार आधेयभूत गुणों का आश्रय करके यह अर्थ होगा। तीसरे विकल्प के अनुसार संघटना अपने आधारभूत गुणों का आश्रयण करती है। यही आचार्य आनन्दवर्धन का सिद्धान्त है। उनकी मान्यता है कि गुणों के आश्रित होकर ही संघटना रस व्यञ्जक हुआ करती है। 'गुणानाश्रित्य' इस कारिकांश को उपर्युक्त तीनों विकल्पों के साथ सङ्गत करके ध्वनिकार ने तीनों के अनुसार संघटना की रसव्यञ्जकता द्योतित की है। संघटना गुणों के आश्रित है, इस कथन का यह तात्पर्य नहीं है कि गुणों के साथ संघटना का आधाराधेय भाव है, क्योंकि गुणों मे संघटना नहीं रहती। इसलिये संघटना गुण से परतन्त्र होकर रहती है, उनकी यह मुख्य पेशिणी है। जैसे राजाश्रित प्रजावर्ग, राजा के मुखाश्रित या परतन्त्र होकर रहता है।

यदि गुण और संघटना को एक तत्व माना जाय या संघटना के आश्रित गुणों को माना जाय, तब संघटना की ही तरह गुणों की अनियतता का प्रसंग उपस्थित

होगा क्योंकि गुणों का माधुर्य प्रसाद-प्रकर्ष करुण तथा विप्रलम्भ शृंगार में ही होता है। ओज के विषय रौद्र, अद्भुत आदि हैं, माधुर्य और प्रसाद गुण रस, भाव तथा भावाभास को ही विषय करते हैं, इस प्रकार विषय का नियम व्यवस्थित है, किन्तु सघटना के सम्बन्ध मे यह नियम लागू नही होता, जैसाकि शृंगार में भी दीर्घसमासा और रौद्र आदि मे असमासा संघटना दृष्टिगोचर होती है। शृंगार मे दीर्घसमासा सघटना का एक उदाहरण देखिये —

अनवरतनयनजललवनिपतनपरिमुषितपत्रलेख ते ।
करतलनिषण्णमबले वदनमिदं कं न तापयति ॥

अर्थात् —हे अबले ! तेरा यह निरन्तर अश्रुकणों के गिरते रहने से मिटे हुए पत्र लेखों वाला एव हाथ पर रखा हुआ मुख किसे दुःखी नही करता ? इसी तरह रौद्र आदि में भी असमासा संघटना देखी जाती है जैसे — 'यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुज गुरुमद पाण्डवीनां चमूनाम्०' इत्यादि मे। इस कारण गुण सघटना स्वरूप नही हैं और न वे सघटना के आश्रित हैं।

अब प्रश्न हो सकता है कि यदि गुण सघटना के आश्रित नहीं हैं तो किसके आश्रित हैं ? इसके उत्तर मे कहा जा सकता है कि गुण रस रूप अर्थ के आश्रित है अर्थात् रस रूप अंगी अर्थ का जो आलम्बन करते हैं, वे गुण कहे जाते हैं और कटक-कुण्डलादि की तरह अंगों के आश्रित रहने वालों को अलकार कहा जाता है। कहा है :—

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः ।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत् ॥

(ध्वन्यालोक)

यदि गुणों को शब्द के आश्रित भी मान लें तो भी इनकी अनुप्रास आदि मे समानता नही है क्योंकि अनुप्रास आदि अर्थ की अपेक्षा न रखने वाले शब्द मात्र के ही धर्म बताये गये है, किन्तु गुण व्यंग्य विशेष को अवभासित करने वाले वाच्य के प्रतिपादन मे समर्थ शब्द के ही धर्म बताये गये हैं। इनका शब्द धर्मत्वशौर्यादि की तरह अन्य के आश्रित होने पर भी शरीराश्रित ही माना गया है।

यदि यह कहा जाय कि गुण यदि शब्द के आश्रित है तब वे सघटना रूप अथवा उसके आश्रित हो ही जायेंगे, क्योंकि असंघटित शब्द अर्थ विशेष द्वारा प्रतिपाद्य रस आदि के आश्रित गुणों के अवाचक होने के कारण आश्रय नही होते। यह कथन युक्तिसंगत नही है क्योंकि रस आदि का वर्ण और पद व्यंग्यत्व पहले बताया जा चुका है या रस आदि को वाक्य व्यंग्य मान [illegible] नियत गुणों का आश्रय नही होती। इसलिये जिनकी सङ्घ[illegible] ही व्यंग्य विशेष मे अनुगत होकर गुणो के आश्रय हैं माधुर्य के सम्बन्ध मे तो इस प्रकार कहा जा ..

संघटना से रहित शब्दों का आश्रयत्व कैसे बन सकता है क्योंकि असमासा संघटना कभी ओजस् का आश्रय नही बन सकती।

इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि असमासा संघटना ओजस् की आश्रय कैसे नही हो सकती? रौद्र आदि को प्रकाशित करते हुए काव्य की दीप्ति ओजस् है, वह ओजस् यदि असमासा संघटना में भी हो तो दोष हो जायेगा? इसमें सहृदय संवेद्य कोई अचारुत्व भी नही है। अत. गुणों के नियत संघटना से रहित शब्दो के आश्रय होने. से कोई नुकसान नहीं है, किन्तु उन गुणों का चक्षु आदि की तरह अपने-अपने विषय नियमित स्वरूप का कभी व्यभिचार नही है। इसलिये गुण अलग है और संघटना अलग। गुण संघटना के आश्रित नही है, यही सिद्धान्त है।

कुछ लोगों ने कहा है कि संघटना की तरह गुणों का भी अनियत विषयत्व होगा क्योकि लक्ष्य मे व्यभिचार देखा जाता है। इसके उत्तर मे ध्वनिकार का मत है कि जिस लक्ष्य में परिकल्पित विषय के नियम का व्यभिचार है, वह दूषित ही होगा क्योंकि दोष दो प्रकार का होता है :—

(१) कवि अव्युत्पत्ति कृत।

(२) अशक्ति कृत।

इनमे अव्युत्पत्ति कृत दोष शक्ति से तिरस्कृत हो जाने के कारण कभी लक्षित नहीं होता किन्तु अशक्ति कृत दोष झट से प्रतीत हो जाता है। कहा है—

अव्युत्पत्ति कृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः।
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य स झटित्यवभासते॥

जैसा कि महाकवियों का भी उत्तम देवता के सम्बन्ध मे प्रसिद्ध सम्भोग शृंगार का निबन्धन आदि अनौचित्य शक्ति से तिरस्कृत होने के कारण ग्राम रूप से प्रतिभासित नही होता। जैसे—'कुमारसम्भव' में पार्वती का सम्भोग वर्णन शक्ति द्वारा तिरस्कृतत्व अन्वय व्यतिरेक द्वारा निश्चित होता है। जैसा कि शक्ति रहित कवि के द्वारा इस प्रकार के विषय मे उपनिबध्यमान शृंगार स्पष्ट ही दोष रूप से प्रतीत होता है। अब प्रश्न उठता है कि 'यो यः शस्त्रं बिभर्ति०' इत्यादि मे अचारुत्व क्या है? प्रतीत न होते हुए अचारुत्व का आरोप करते हैं। इसलिये गुण से व्यतिरिक्त होने किंवा गुण रूप होने मे संघटना का अन्य कोई नियम हेतु कहना चाहिये। अतः उसके नियमन मे हेतु वक्ता और वाच्य का औचित्य है। उनमें से वक्ता कवि या कवि निबद्ध हो सकता है और कवि निबद्ध भी रसभाव रहित या रसभाव सहित हो सकता है। रस भी कथानायक के आश्रित अथवा उसके विपक्ष के आश्रित हो सकता है और कथानायक धीरोदात्त आदि भेद से भिन्न पूर्व या उसके बाद हो सकता है। वाच्य भी ध्वनि रूप रस का अंग या रसाभास का अंग, अभिनेयार्थ किंवा अनभिनेयार्थ, उत्तम कोटि की प्रकृति के आश्रित या उससे इतर के आश्रित, बहुत प्रकार का हो सकता है।

होगा क्योंकि गुणो का माधुर्य प्रसाद-प्रकर्ष करुण तथा विप्रलम्भ शृंगार में ही होता है। ओज के विषय रौद्र, अद्भुत आदि हैं, माधुर्य और प्रसाद गुण रस, भाव तथा भावाभास को ही विषय करते हैं, इस प्रकार विषय का नियम व्यवस्थित है, किन्तु सघटना के सम्बन्ध मे यह नियम लागू नही होता, जैसाकि शृंगार मे भी दीर्घसमासा और रौद्र आदि में असमासा सघटना दृष्टिगोचर होती है। शृंगार मे दीर्घसमासा संघटना का एक उदाहरण देखिये —

अनवरतनयनजललवनिपतनपरिमुषितपत्रलेखं ते ।
करतलनिषण्णमबले वदनमिदं कं न तापयति ॥

अर्थात्—हे अबले ! तेरा यह निरन्तर अश्रुकणों के गिरते रहने से मिटे हुए पत्र लेखों वाला एवं हाथ पर रखा हुआ मुख किसे दुःखी नही करता ? इसी तरह रौद्र आदि मे भी असमासा संघटना देखी जाती है जैसे —'यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुज गुरुमद पाण्डवीनां चमूनाम्०' इत्यादि मे। इस कारण गुण संघटना स्वरूप नही हैं और न वे सघटना के आश्रित हैं।

अब प्रश्न हो सकता है कि यदि गुण सघटना के आश्रित नही है तो किसके आश्रित हैं ? इसके उत्तर मे कहा जा सकता है कि गुण रस रूप अर्थ के आश्रित है अर्थात् रस रूप अंगी अर्थ का जो आलम्बन करते हैं, वे गुण कहे जाते है और कटक-कुण्डलादि की तरह अंगो के आश्रित रहने वालों को अलंकार कहा जाता है। कहा है :—

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः ।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत् ॥

(ध्वन्यालोक)

यदि गुणो को शब्द के आश्रित भी मान लें तो भी इनकी अनुप्रास आदि मे समानता नही है क्योंकि अनुप्रास आदि अर्थ की अपेक्षा न रखने वाले शब्द मात्र के ही धर्म बताये गये हैं, किन्तु गुण व्यंग्य विशेष को अवभासित करने वाले वाच्य के प्रतिपादन मे समर्थ शब्द के ही धर्म बताये गये हैं। इनका शब्द धर्मत्वशौर्यादि की तरह अन्य के आश्रित होने पर भी शरीराश्रित ही माना गया है।

यदि यह कहा जाय कि गुण यदि शब्द के आश्रित हैं तब वे सघटना रूप अथवा उसके आश्रित हो ही जायेंगे, क्योंकि असंघटित शब्द अर्थ विशेष द्वारा प्रतिपाद्य रस आदि के आश्रित गुणो के अवाचक होने के कारण आश्रय नही होते। यह कथन युक्तिसंगत नही है क्योंकि रस आदि का वर्ण और पद व्यंग्यत्व पहले बताया जा चुका है या रस आदि को वाक्य व्यंग्य मान लेने पर कोई नियत सघटना गुणो का आश्रय नही होती। इसलिये जिनकी सङ्घटना नियत नहीं है, ऐसे शब्द ही व्यंग्य विशेष के अनुगत होकर गुणो के आश्रय हैं। अब प्रश्न हो सकता है कि माधुर्य के सम्बन्ध मे तो इस प्रकार कहा जा सकता है किन्तु ओजस् का नियत

संघटना से रहित शब्दों का आश्रयत्व कैसे बन सकता है क्योंकि असमासा संघटना कभी ओजस् का आश्रय नहीं बन सकती।

इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि असमासा संघटना ओजस् की आश्रय कैसे नहीं हो सकती ? रौद्र आदि को प्रकाशित करते हुए काव्य की दीप्ति ओजस् है, वह ओजस् यदि असमासा संघटना में भी हो तो दोष हो जायेगा ? इसमें सहृदय संवेद्य कोई अचारुत्व भी नहीं है। अतः गुणों के नियत संघटना से रहित शब्दो के आश्रय होने से कोई नुकसान नहीं है, किन्तु उन गुणो का चक्षु आदि की तरह अपने-अपने विषय नियमित स्वरूप का कभी व्यभिचार नहीं है। इसलिये गुण अलग है और संघटना अलग। गुण संघटना के आश्रित नही है, यही सिद्धान्त है।

कुछ लोगों ने कहा है कि संघटना की तरह गुणों का भी अनियत विषयत्व होगा क्योंकि लक्ष्य मे व्यभिचार देखा जाता है। इसके उत्तर में ध्वनिकार का मत है कि जिस लक्ष्य में परिकल्पित विषय के नियम का व्यभिचार है, वह दूषित ही होगा क्योंकि दोष दो प्रकार का होता है :—

(१) कवि अव्युत्पत्ति कृत।
(२) अशक्ति कृत।

इनमे अव्युत्पत्ति कृत दोष शक्ति से तिरस्कृत हो जाने के कारण कभी लक्षित नही होता किन्तु अशक्ति कृत दोष झट से प्रतीत हो जाता है। कहा है—

अव्युत्पत्ति कृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः।
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य स झटित्यवभासते॥

जैसा कि महाकवियों का भी उत्तम देवता के सम्बन्ध में प्रसिद्ध सम्भोग श्रृंगार का निबन्धन आदि अनौचित्य शक्ति से तिरस्कृत होने के कारण ग्राम रूप से प्रतिभासित नहीं होता। जैसे—'कुमारसम्भव' में पार्वती का सम्भोग वर्णन शक्ति द्वारा तिरस्कृतत्व अन्वय व्यतिरेक द्वारा निश्चित होता है। जैसा कि शक्ति रहित कवि के द्वारा इस प्रकार के विषय मे उपनिबध्यमान श्रृंगार स्पष्ट ही दोष रूप से प्रतीत होता है। अब प्रश्न उठता है कि 'यो यः शस्त्रं बिभर्ति॰' इत्यादि में अचारुत्व क्या है ? प्रतीत न होते हुए अचारुत्व का आरोप करते है। इसलिये गुण से व्यतिरिक्त होने किंवा गुण रूप होने में संघटना का अन्य कोई नियम हेतु कहना चाहिये। अतः उसके नियमन मे हेतु वक्ता और वाच्य का औचित्य है। उनमे से वक्ता कवि या कवि निबद्ध हो सकता है और कवि निबद्ध भी रसभाव रहित या रसभाव सहित हो सकता है। रस भी कथानायक के आश्रित अथवा उसके विपक्ष के आश्रित हो सकता है और कथानायक धीरोदात्त आदि भेद से भिन्न पूर्व या उसके बाद हो सकता है। वाच्य भी ध्वनि रूप रस का अंग या रसाभास का अंग, अभिनेयार्थ किंवा अनभिनेयार्थ, उत्तम कोटि की प्रकृति के आश्रित या उससे इतर के आश्रित, बहुत प्रकार का हो सकता है।

उनमे से जब कवि रसभाव रहित वक्ता हो तब रचना की स्वतन्त्रता है, और जब कविनिबद्ध वक्ता रसभाव रहित हो, तब भी रचना की स्वतन्त्रता है, किन्तु जब कवि या कविनिबद्ध वक्ता रसभाव समन्वित हो और रस प्रधान के आश्रित होने के कारण ध्वनिरूप हो चुका हो, तब नियमतः ही वहाँ असमासा और मध्यम समासा ही संघटनाएँ होंगी, किन्तु करुण और विप्रलम्भ शृंगार मे असमासा ही संघटना होगी। जब प्राधान्य से प्रतिपाद्य होता है, तब उसकी प्रतीति मे व्यवधायक और विरोधी सब प्रकार से ही परिहार्य होते है। इस तरह दीर्घ समासा संघटना *समासों के अनेक प्रकारों की सम्भावना के कारण कभी इस प्रतीति मे व्यवधान* उपस्थित करती है, इसलिये उसमे अत्यन्त अभिनिवेश शोभा नही देता। विशेषतः अभिनेयार्थ काव्य में, और उसके अतिरिक्त मे विशेषत. करुण और विप्रलम्भ शृंगार मे क्योंकि उन दोनों के सुकुमारतर होने के कारण थोड़ी भी अस्वच्छता होने पर शब्द-अर्थ की प्रतीति शिथिल हो जाती है।

रौद्र आदि दूसरे रसो के प्रतिपादन मे मध्यम समासा संघटना या दीर्घ समासा भी कभी धीरोद्धत नायक के सम्बन्ध या व्यापार के सहारे, उसके आक्षेप के बिना न हो सकने वाले, इसके बिना न हो सकने वाले, इसके उचित वाच्य की अपेक्षा से प्रतिकूल नही होती। इसलिये वह भी अत्यन्त परिहार्य नही है। अन्य सभी संघटनाओं मे प्रसाद गुण व्याप्त रहता है, क्योंकि वह सर्वसाधारण और सर्व सघनासाधारण कहा जाता है। प्रसाद के बिना असमासा भी संघटना करुण और *शृंगार को व्यक्त नही करती, और उसके होने पर मध्यमसमासा भी संघटना नही* *प्रकाशित करती है,* यह बात नही है। अत: सर्वत्र प्रसाद गुण का अनुसरण करना चाहिये। इसीलिये ही 'यो य. शस्त्रं बिभर्त्ति' इत्यादि मे यदि ओजस् की स्थिति अभिमत नही है तो वहाँ प्रसाद ही गुण है, माधुर्य नही। अभिप्रेत रस के प्रकाशन हो जाने से *अचारुत्व नही है। अतः गुण से अतिरिक्त न होने किंवा गुण से अतिरिक्त* होने मे संघटना का यथोक्त औचित्य होने के कारण विषम नियम है, अतः उसका भी रस व्यञ्जकत्व है। रस की अभिव्यक्ति मे निमित्तभूत उस संघटना का जो नियम हेतु है, वही गुणों का नियत विषय है। इसलिये गुण के आश्रित रूप से संघटना के व्यवस्थापन मे भी दोष *नही है। तात्पर्य यह है कि यदि गुण संघटना* रूप है तथापि गुण नियम ही संघटना का नियम है। गुण के आश्रित संघटना के पक्ष में भी यही नियम है। संघटना के आश्रित गुण के पक्ष मे भी संघटना के नियामक होने से जो वक्तृगत और वाच्यगत औचित्य को हेतु रूप से कहा गया है, वह गुणों का भी नियम हेतु है। *इस प्रकार तीनों पक्षो मे कोई अन्तर नही है।*

विषय के आश्रित भी दूसरा औचित्य उसका नियमन करता है। काव्य के प्रभेदों के अनुसार वह भिन्न होता है। वक्तृगत और वाच्यगत औचित्य के होने पर भी विषय के आश्रित दूसरा औचित्य संघटना को नियमन करता है क्योंकि काव्य के *प्रभेद संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश मे निबद्ध मुक्तक, सन्दानितक, विशेषक, कलापक,*

कुलक, पर्यायबन्ध, परिकथा, खण्डकथा, सकलकथा, सर्गबन्ध, अभिनेयार्थ, आख्यायिका, कथा आदि के आश्रय से भी संघटना विशेष प्रकार की होती है। प्रबन्धों की तरह मुक्तकों में भी कवि लोग रस निबन्धन करते हैं, जैसे अमरुक कवि ने किया है। उसके मुक्तक शृंगार रसपूर्ण तो हैं ही साथ ही निबन्ध काव्य की तरह प्रसिद्ध भी हैं। सन्दानितक आदि में विकट निबन्धन के औचित्य से मध्यम समासा तथा दीर्घ समासा ही रचनाएँ हैं। प्रबन्ध के आश्रित काव्यों में यथोक्त प्रबन्ध के *औचित्य का ही अनुसरण करना चाहिए। अभिनेयार्थ में सर्वथा रस निबन्धन प्रयत्न* श्लाघनीय हुआ करता है।

जो वक्तृगत और वाच्यगत औचित्य संघटना का नियामक कहा गया है, वही छन्दोबद्धता रहित गद्य में भी विषयगत औचित्य सहित नियामक होता है। यहाँ भी जब कवि अथवा कवि निबद्ध वक्ता रस भाव से रहित होता है, तब स्वतन्त्रता होती है, किन्तु रस-भाव से समन्वित वक्ता के होने पर पूर्वोक्त का ही अनुसरण करना चाहिये। उसमें भी विषयगत औचित्य ही होता है। आख्यायिका में अधिकांश मध्यम समासा और दीर्घ समासा ही संघटनाएँ होती है क्योंकि गद्य विकट रचना के कारण सुन्दर होता है, उसका उसमें प्रकर्ष होता है, लेकिन कथा में गद्य की विकट रचना के प्राचुर्य होने पर भी रस के निबन्धन के उक्त औचित्य का अनुसरण करना ही चाहिए। सर्वत्र यद्यपि रसबन्ध के आश्रित रचना ही शोभा देती है, तथापि विषयगत औचित्य के कारण उसमें कुछ भेद हो जाता है।

गद्यबन्ध में विशेषकर विप्रलम्भ शृंगार और करुण रस के वर्णन में तथा आख्यायिका आदि में दीर्घ समासा रचना शोभाधायक नहीं हुआ करती। नाटक आदि में असमासा ही संघटना होती है। रौद्र, वीर आदि के वर्णन में नहीं। हाँ केवल विषयगत औचित्य प्रमाणानुरूप घट-बढ़ जाता है। नाटक आदि में अतिदीर्घ समासा संघटना और आख्यायिका आदि में अत्यन्त असमासा संघटना नहीं होनी चाहिए।

प्रश्न—२०. भक्ति और ध्वनि के एकत्व का निषेध करते हुए रूढ़ शब्द भी ध्वनि के विषय नहीं होते, इस बात को सिद्ध कीजिये।

उत्तर—भक्तिवादी आचार्य भक्ति और ध्वनि को निम्नलिखित प्रकार से अभिन्न मानते हैं जिसका ध्वनिकार ने खण्डन करके यह सिद्ध किया है कि ध्वनि भक्ति से सर्वथा भिन्न है। उनमें एकत्व हो ही नहीं सकता। भक्तिवादियों के अनुसार भक्ति और ध्वनि में इस प्रकार एकत्व सिद्ध किया जा सकता है:—

(१) पर्याय से।
(२) लक्षण से।
(३) उपलक्षण से।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या भक्तिवादी ध्वनि और भक्ति को एक दूसरे का पर्याय मानते है जैसे—घट और कलश शब्द एक ही अर्थ के द्योतक हैं या भक्ति को ध्वनि का लक्षण मानते है, जैसे पृथ्वीत्व और पृथ्वी का व्यावर्तक धर्म रूप लक्षण है या फिर उपलक्षण मानते हैं? जैसे—'काकवद् देवदत्तस्य गृहम्'। यदि पर्याय मानते हैं तो भक्ति और ध्वनि किसी प्रकार भी एक दूसरे का पर्याय नही हो सकती क्योंकि दोनो ही स्वरूपतः भिन्न हैं। भक्ति ध्वनि का लक्षण भी नही हो सकती क्योंकि लक्षण वही होता है जिसमें अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोष न हो। भक्ति ध्वनि की उपलक्षण भी नही है क्योंकि भक्ति से ही ध्वनि लक्षित होती है, यह नही कहा जा सकता। अव्याप्ति और अतिव्याप्ति के कारण भक्ति से ध्वनि लक्षित ही नही हो सकती क्योंकि ध्वनि से भिन्न स्थल में भी भक्ति दृष्टिगोचर होती है, अत यह अतिव्याप्ति है। जैसे—

> परिम्लानं पीनस्तनजघन सङ्गादुभयत्
> स्तनोर्मध्यस्यान्तः परिमलिनमप्राप्य हरितम्।
> इदं व्यस्तन्यासं श्लथभुजलताक्षेप वलनैः,
> कृशाङ्गाया. सन्तापं वदति विसिनीपत्रशयनम्॥

यहाँ पर 'वदति' का अर्थ है प्रकटन या ज्ञान। कवि ने यदि प्रकटयति भी लिख दिया होता तब भी कविता में कोई असौन्दर्य नही आता और इस वदति रूप गूढ अर्थ के प्रकाशन से कोई चारुता भी इसमें नही आ सकी। अतः यह ध्वनि का विषय न होकर भक्ति का विषय हो सकता है। इस प्रकार अतिव्याप्ति के कारण भक्ति को ध्वनि का लक्षण नही कहा जा सकता।

यथा वा—

> शतकृत्वोऽवरुध्यते सहस्रकृत्वश्चुम्ब्यते।
> विरम्यपुनारम्यते प्रियो जनो नास्ति पुनरुक्तम्॥

यहाँ पर पुनरुक्त का अर्थ है पुनर्वचन। प्रिय कोई वचन नही होता। अतः यहाँ पर मुख्यार्थ का बाध होकर लक्षणा होती है, उससे प्रिय की हर प्रकार से उपादेयता लक्षित होती है, अत. यह भी ध्वनि का विषय नही है।

तथा च—

> परार्थे यः पीडामनुभवति भङ्गेऽपि मधुरो,
> यदीयः सर्वेषामिह खलु विकारोऽप्यभिमतः।
> न सम्प्राप्तोवृद्धिं यदि स भृशमक्षेत्रपतितः,
> किमिक्षोर्दोषोऽसौ न पुनरगुणायामरुभुव.॥

इस श्लोक में भी प्रकृत महापुरुष के पक्ष में 'अनुभवति' शब्द उपपन्न है तो भी प्रकृत इक्षु पक्ष में असम्भव होता हुआ पीडावत्व को लक्षित करता है। यहाँ भी व्यंग्य के अप्राधान्य में ध्वनि का अभाव है। अतः स्पष्ट है कि अतिव्याप्ति होने के कारण भक्ति ध्वनि का लक्षण नही हो सकती क्योंकि जो चारुत्व उक्त्यन्तर से

प्रकाशित नहीं किया जा सकता, उसे प्रकाशित करने वाला एवं व्यञ्जना व्यापार को धारण करने वाला शब्द ध्वनि का विषय होता है। कहा है :—

> उक्त्यन्तरेणाशक्यं यत्तच्चारुत्वं प्रकाशयन् ।
> शब्दोव्यञ्जकतां बिभ्रद् ध्वन्युक्ते विषयी भवेत् ॥

इसके अतिरिक्त अपने विषय से भी अन्यत्र विषय में शब्द दूसरी उक्ति से अशक्य चारुत्व की व्यञ्जना का हेतु नहीं है तथा अपने विषय से भी दूसरे विषय में जो शब्द रूढ़ हो जाते हैं, जैसे—'लावण्य' आदि। वे भी ध्वनि के विषय नहीं होते। क्योंकि उनमें उपचरित शब्द वृत्ति है। उस प्रकार के विषय में कहीं पर सम्भव होता हुआ भी ध्वनि का व्यवहार प्रकारान्तर से होता है, उसके प्रकार के शब्द के द्वारा नहीं। कहा है :—

> रूढा ये विषयेऽन्यत्र शब्दाः स्वविषयादपि ।
> लावण्याद्याः प्रयुक्तास्ते न भवन्ति पदं ध्वनेः ॥

अतः स्पष्ट है कि न तो भक्ति और ध्वनि में ऐक्य है और न ही रूढ़ शब्द ध्वनि के विषय होते हैं।

प्रश्न-२१. वाच्यार्थ से प्रतीयमान अर्थ सर्वथा भिन्न होता है। इस बात को सिद्ध करते हुए रसादि का वाच्य सामर्थ्य से आक्षिप्तत्व का प्रतिपादन कीजिये।

उत्तर- जिस प्रकार स्त्रियों में लावण्य पृथक् होकर दिखाई देता हुआ, सारे अङ्गों से पार्थक्य रखने वाला, कोई दूसरा ही सहृदय जनों की आँखों का अमृत, एक तत्त्व है, उसी प्रकार यह प्रतीयमान अर्थ कुछ और ही वस्तु है जो प्रसिद्ध अवयवों से भिन्न रूप में स्त्रियों में लावण्य की तरह भासित होता है। कहा है—

> प्रतीयमानं पुनरन्यदेव,
> वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
> यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं,
> विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥

(ध्वन्यालोक)

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार लावण्य रमणी के अंग से अभिन्न रहते हुए भी उनसे भिन्न एवं कुछ विशेष चमत्कार की वस्तु सा प्रतीत होता है, उसी प्रकार प्रतीयमान अर्थ की स्थिति है जो महाकवियों की वाणियों में वाच्य से कुछ अतिरिक्त ही प्रतीत होता है। जिस तरह लावण्य को केवल देखकर ही समझा जा सकता है, उसे प्रकट करने के लिये किसी शब्द में सामर्थ्य नहीं है, उसी प्रकार प्रतीयमान अर्थ भी अनिर्वचनीय तत्त्व है। एक बात और है कि जिस तरह रमणी के अंग और लावण्य के भेदों को अभेद का भ्रम साधारणतया हो जाता है, उसी तरह लोग

वाच्य और प्रतीयमान में भी भेद बुद्धि खो बैठते हैं। दोनों को एक ही वस्तु समझ बैठते हैं। वस्तुतः सत्य तो यह है कि प्रतीयमान अर्थ लावण्य की तरह एक चमत्कार सार तत्व है, उसे केवल अनुभव ही किया जा सकता है। लावण्य के सम्बन्ध में कितना सुन्दर किसी ने कहा है, देखिये—

मुक्ताफलेषुच्छायायास्तरलत्वमिवान्तरा।
प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्यमिहोच्यते॥

अर्थात् मुक्ताओं में जो छाया की तरलता की तरह अङ्गों में कुछ झलकता सा दिपता हुआ सा प्रतीत होता है, वह लावण्य कहलाता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि प्रतीयमान अर्थ की सिद्धि के लिये 'भासमानत्व' को हेतु दिया गया है, अर्थात् प्रतीयमान अर्थ इसलिये है क्योंकि वह भासित होता है, किन्तु प्रतीयमानत्व हेतु असिद्ध है, इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि प्रतीयमान के दो भेद होते हैं:-

(१) लौकिक।
(२) काव्य व्यापारैक गोचर।

लौकिक उसे कहते है जो कभी स्वशब्द वाच्य होने की स्थिति को प्राप्त करता है और विधि निषेध आदि अनेक प्रकार का होता हुआ वस्तुशब्द से व्यपदिष्ट होता है। जो पहले वाच्य की अवस्था मे किसी वाक्यार्थ में उपमादि रूप से अलंकार भाव को प्राप्त हुआ, व्यङ्ग्यावस्था मे अलंकार रूप नही है, क्योंकि वाक्यार्थ में जो उसका गुणीभाव हो जाता था, वह नही होता। वह पूर्व प्रत्यभिज्ञान के बल से अलकार ध्वनि के नाम से ब्राह्मणश्रमण न्याय के अनुसार व्यपदिष्ट होता है। उस अलंकार रूप के अभाव के कारण वह वस्तुमात्र कहा जाता है।

जो स्वप्न में भी स्व शब्द से वाच्य नही होता और लौकिक के अन्तर्गत नही आता, किन्तु शब्दों के द्वारा समर्प्यमाण और सहृदयों के हृदय से संगति रखने के कारण सुन्दर विभाव-अनुभाव उनकी समुचित एवं पहले से विद्यमान रत्यादि वासनाओं के उद्बोधन के द्वारा सुकुमार सहृदय हृदय का आनन्दमय चर्वणा रूप व्यापार के द्वारा रसन किंवा आस्वादन करने योग्य रस है। काव्य के व्यापार का एकमात्र गोचर रस ध्वनि है और वह ध्वनि ही मुख्य रूप से आत्मा है। प्रतीयमान अर्थ वाच्य अर्थ से बहुत भिन्न है, क्योंकि वह कभी वाच्य अर्थ के विधिरूप होने पर प्रतिषेध रूप हुआ करता है। जैसे इस उदाहरण में—

भ्रम धार्मिक विस्रब्धः स शुनोऽद्यमारितस्तेन।
गोदावरी नदीकूललतागहनवासिना दृप्तसिंहेन॥

अर्थात् हे धार्मिक! तुम इतमीनान से घूमो। वह कुत्ता गोदावरी नदी के घना गहन वाले पागल शेर के द्वारा आज मार डाला गया।

अपने संकेत स्थान की, धार्मिक के संचारण रूप विघ्न के दोष से और उसके द्वारा तोड़े जाते हुए फूल-पत्तों से स्थान को छायाहीन कर देने के कार्य से रक्षा के

लिये किसी स्त्री की यह उक्ति है। वहाँ धार्मिक महानुभाव का स्वतः सिद्ध भी भ्रमण कुत्ते के भय से प्रतिषिद्ध होने से यहाँ विधि प्रतिप्रसव रूप अर्थात् निषेधाभाव रूप है न कि प्रैषादिरूप नियोग। 'भ्रम' पद का लोट लकार में प्रयोग अतिसर्ग और प्राप्त काल के अर्थ में हुआ है। भाव और अभाव में विरोध होने से दोनों की युगपत् वाच्यता नहीं है। क्रम भी नहीं है क्योंकि विश्राम होने के बाद व्यापार नहीं होता। "विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीण शक्तिर्विशेषणे।" अतः यह बात स्वतः सिद्ध हो गई कि निषेध रूप अर्थ के बोध के लिये किसी अतिरिक्त शक्ति की कल्पना आवश्यक है, वह शक्ति व्यञ्जना ही हो सकती है और इससे प्रतीत निषेध रूप अर्थ व्यंग्य होगा।

इस सम्बन्ध में अभिहितान्वयवादी लोग कहते हैं कि भ्रमण निषेध रूप अर्थ में यदि अभिधा से ही काम चल सकता है तो भिन्न शक्ति की कल्पना करना निरर्थक है। इनके अनुसार वाक्यार्थ वही होता है जिसमें वक्ता का तात्पर्य हो। तात्पर्य शक्ति से वे लोग वाक्यार्थ का बोध करते हैं और पदार्थ बोध के लिये अभिधा का उपयोग है। प्रस्तुत श्लोक में नायिका पुंश्चली है और उसका तात्पर्य भ्रमण के निषेध में है और भ्रमण निषेध ही वाक्यार्थ है। यहाँ मुख्यार्थ का बोध इस प्रकार होता है कि 'मतवाला', 'धार्मिक' और 'वह' आदि का अन्वय मुख्य अर्थ के साथ नहीं होता, इस तरह यहाँ पदार्थों के अन्वय का अभाव रूप मुख्य का बाध हो रहा है। अतः विपरीत लक्षणा उपस्थित होती है, तात्पर्य शक्ति को जो भ्रमण विधि से पर्यवसित नहीं हो पा रही थी, सहायता पहुँचाती है और वह भ्रमण निषेध की प्रतीति उत्पन्न करती है। तात्पर्य शक्ति और लक्षणा ये दोनों ही अभिधा के आश्रित शक्तियां हैं, अतः भ्रमण निषेध रूप अर्थ अभिधामूलक ही है तथा यह इस तरह वाच्य से अतिरिक्त नहीं है, यह बात स्पष्ट हो जाती है।

आचार्य आनन्दवर्धन ने उपर्युक्त अभिहितान्वयवादियों के मत का खण्डन करते हुए कहा है कि लोक में तीन व्यापार हुआ करते हैं:—

(१) अभिधा।

(२) तात्पर्य।

(३) लक्षणा।

अभिधा से सामान्य या जाति का बोध होता है, वह भी संकेत की सहायता से अर्थात् अभिधा से गोत्व सामान्य का बोध होगा न कि गौ रूप विशेष का क्योंकि विशेष में अभिधा को स्वीकार करने पर आनन्त्य और व्यभिचार दोष होते हैं क्योंकि विशेष एक न होकर अनन्त हुआ करते हैं। अतः सबमें संकेत सम्भव नहीं होता, और दूसरी बात यह है कि जिस गौ विशेष के साथ संकेत का ग्रहण नहीं हुआ है, उसका भी गो पद से बोध होने की स्थिति में व्यभिचार दोष होगा। इसलिये सामान्य या जाति में ही अभिधा को माना गया है। दूसरी तात्पर्य शक्ति विशेष रूप परस्पर अन्वित वाक्यार्थ में होती है। इस प्रकार तात्पर्य शक्ति के द्वारा

वाच्य और प्रतीयमान में भी भेद बुद्धि खो वैठते हैं। दोनों को एक ही वस्तु समझ वैठते हैं। वस्तुतः सत्य तो यह है कि प्रतीयमान अर्थ लावण्य की तरह एक चमत्कार सार तत्व है, उसे केवल अनुभव ही किया जा सकता है। लावण्य के सम्बन्ध में कितना सुन्दर किसी ने कहा है, देखिये—

मुक्ताफलेषुच्छायायास्तरलत्वमिवान्तरा।
प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्यमिहोच्यते॥

अर्थात् - मुक्ताओं मे जो छाया की तरलता की तरह अङ्गों में कुछ झलकता या दिपता हुआ सा प्रतीत होता है, वह लावण्य कहलाता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि प्रतीयमान अर्थ की सिद्धि के लिये 'भासमानत्व' को हेतु दिया गया है, अर्थात् प्रतीयमान अर्थ इसलिये है क्योंकि वह भासित होता है, किन्तु प्रतीयमानत्व हेतु असिद्ध है, इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि प्रतीयमान के दो भेद होते है. -

(१) लौकिक।
(२) काव्य व्यापारैक गोचर।

लौकिक उसे कहते है जो कभी स्वशब्द वाच्य होने की स्थिति को प्राप्त करता है और विधि निषेध आदि अनेक प्रकार का होता हुआ वस्तु शब्द से व्यपदिष्ट होता है। जो पहले वाच्य की अवस्था मे किसी वाक्यार्थ में उपमादि रूप से अलंकार भाव को प्राप्त हुआ, व्यंग्यावस्था मे अलकार रूप नही है, क्योंकि वाक्यार्थ मे जो उसका गुणीभाव हो जाता था, वह नही होता। वह पूर्व प्रत्यभिज्ञात के बल से अलंकार ध्वनि के नाम से ब्राह्मणश्रमण न्याय के अनुसार व्यपदिष्ट होता है। उस अलंकार रूप के अभाव के कारण वह वस्तुमात्र कहा जाता है।

जो स्वप्न मे भी स्व शब्द से वाच्य नही होता और लौकिक के अन्तर्गत नही आता, किन्तु शब्दों के द्वारा समर्प्यमाण और सहृदयों के हृदय से संगति रखने के कारण सुन्दर विभाव-अनुभाव उनकी समुचित एवं पहले से विद्यमान रत्यादि वासनाओं के उद्बोधन के द्वारा सुकुमार सहृदय हृदय का आनन्दमय चर्वणा रूप व्यापार के द्वारा रसन किंवा आस्वादन करने योग्य रस है। काव्य के व्यापार का एकमात्र गोचर रस ध्वनि है और वह ध्वनि ही मुख्य रूप से आत्मा है। प्रतीयमान अर्थ वाच्य अर्थ से बहुत भिन्न है, क्योंकि वह कभी वाच्य अर्थ के विधिरूप होने पर प्रतिषेध रूप हुआ करता है। जैसे इस उदाहरण में—

भ्रम धार्मिक विस्रब्धः स शुनोऽद्यमारितस्तेन।
गोदावरी नदीकूललतागहनवासिना दृप्तसिंहेन॥

अर्थात् हे धार्मिक ! तुम इतमीनान से घूमो। वह कुत्ता गोदावरी नदी के लता गहन वाले पागल शेर के द्वारा आज मार डाला गया।

अपने संकेत स्थान की, धार्मिक के संचारण रूप विघ्न के दोष से और उसके द्वारा तोड़े जाते हुए फूल-पत्तो से स्थान को छायाहीन कर देने के कार्य मे रक्षा के

लिये किसी स्त्री की यह उक्ति है। वहाँ धार्मिक महानुभाव का स्वतः सिद्ध भी भ्रमण कुत्ते के भय से प्रतिषिद्ध होने से यहाँ विधि प्रतिप्रसव रूप अर्थात् निषेधाभाव रूप है न कि प्रैषादिरूप नियोग। 'भ्रम' पद का लोट लकार में प्रयोग अतिसर्ग और प्राप्त काल के अर्थ में हुआ है। भाव और अभाव मे विरोध होने से दोनों की युगपत् वाच्यता नहीं है। क्रम भी नही है क्योंकि विश्राम होने के बाद व्यापार नही होता। "विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीण शक्तिर्विशेषणे।" अतः यह बात स्वत सिद्ध हो गई कि निषेध रूप अर्थ के बोध के लिये किसी अतिरिक्त शक्ति की कल्पना आवश्यक है, वह शक्ति व्यञ्जना ही हो सकती है और इससे प्रतीत निषेध रूप अर्थ व्यंग्य होगा।

इस सम्बन्ध मे अभिहितान्वयवादी लोग कहते है कि भ्रमण निषेध रूप अर्थ मे यदि अभिधा से ही काम चल सकता है तो भिन्न शक्ति की कल्पना करना निरर्थक है। इनके अनुसार वाक्यार्थ वही होता है जिसमें वक्ता का तात्पर्य हो। तात्पर्य शक्ति से वे लोग वाक्यार्थ का बोध करते हैं और पदार्थ बोध के लिये अभिधा का उपयोग है। प्रस्तुत श्लोक मे नायिका पुंश्चली है और उसका तात्पर्य भ्रमण के निषेध में है और भ्रमण निषेध ही वाक्यार्थ है। यहां मुख्यार्थ का बोध इस प्रकार होता है कि 'मतवाला', 'धार्मिक' और 'वह' आदि का अन्वय मुख्य अर्थ के साथ नही होता, इस तरह यहां पदार्थों के अन्वय का अभाव रूप मुख्य का बाध हो रहा है। अतः विपरीत लक्षणा उपस्थित होती है, तात्पर्य शक्ति को जो भ्रमण विधि में पर्यवसित नही हो पा रही थी, सहायता पहुँचाती है और वह भ्रमण निषेध की प्रतीति उत्पन्न करती है। तात्पर्य शक्ति और लक्षणा ये दोनों ही अभिधा के आश्रित शक्तियां है, अतः भ्रमण निषेध रूप अर्थ अभिधामूलक ही है तथा यह इस तरह वाच्य से अतिरिक्त नही है, यह बात स्पष्ट हो जाती है।

आचार्य आनन्दवर्धन ने उपर्युक्त अभिहितान्वयवादियों के मत का खण्डन करते हुए कहा है कि लोक मे तीन व्यापार हुआ करते हैं:—

(१) अभिधा।
(२) तात्पर्य।
(३) लक्षणा।

अभिधा से सामान्य या जाति का बोध होता है, यह भी संकेत की सहायता से अर्थात् अभिधा से गोत्व सामान्य का बोध होगा न कि गौ रूप विशेष का क्योंकि विशेष मे अभिधा को स्वीकार करने पर आनन्त्य और व्यभिचार दोष होते हैं क्योंकि विशेष एक न होकर अनन्त हुआ करते है। अतः सबमें संकेत सम्भव नहीं होगा, और दूसरी बात यह है कि जिस गौ विशेष के साथ संकेत का ग्रहण नही हुआ है, उसका भी गौ पद से बोध होने की स्थिति में व्यभिचार दोष होगा। इसलिये सामान्य या जति में ही अभिधा को माना गया है। दूसरी तात्पर्य शक्ति विशेष रूप परस्पर अन्वित वाक्यार्थ में होती है। इस प्रकार तात्पर्य शक्ति के द्वारा

पदार्थों के परस्पर अन्वय के अतिरिक्त कुछ प्रतीत नहीं होता। जिस प्रकार 'गंगायां घोषः' आदि लक्षणा के विषय हैं, उस तरह प्रस्तुत श्लोक लक्षणा का विषय नहीं है। इसका कारण यह है कि 'गङ्गायां घोष.' आदि में परस्पर अन्वय ही नहीं बन पाता क्योंकि प्रवाह रूप गंगा में घोष को धारण कर सकने की योग्यता नहीं है।

इसके विपरीत प्रस्तुत श्लोक में अन्वय अप्रतिहत रूप में बन जाता है क्योंकि जब शेर के द्वारा कुत्ता मार डाला गया, जिसके कारण धार्मिक को घूमने में बाधा होती थी, तब कुत्ते के मर जाने में भ्रमण उचित ही है। इस प्रकार अन्वय के उपपन्न हो जाने पर मुख्यार्थ बाध की शंका ही नहीं करनी चाहिए। विपरीत लक्षणा तो तब होती जब परस्पर अन्वय के प्रतिहत होने पर मुख्यार्थ की बाधा होती। अतः भ्रमण निषेध रूप अर्थ की प्रतीति के लिये अतिरिक्त ध्वनन व्यापार को मानना ही पड़ेगा। यदि थोड़ी देर के लिये यह मान भी लें कि यहां लक्षणा का अवसर है, तो यहां मुख्यार्थ विरोध की प्रतीति हो कहां रही है? पदार्थों का यहां आपस में विरोध नहीं है। परस्पर विरोध है तो अन्वय में विरोध होगा, किन्तु जब तक अन्वय की प्रतीति नहीं हो जाती, तब तक विरोध की प्रतीति भी सम्भव नहीं है। यह स्पष्ट हो चुका है कि अभिधा शक्ति अन्वय में प्रवृत्त नहीं हो सकती, फिर तात्पर्य शक्ति में ही अन्वय की प्रतीति करनी पड़ेगी। इस तरह तात्पर्य शक्ति भी वाक्यार्थ का ज्ञान कराने में कृत कार्य होती है फिर अतिरिक्त अर्थ अर्थात् भ्रमण निषेध रूप अर्थ उसकी सीमा से बाहर की बात है।

प्रश्न हो सकता है कि बाधित स्थल में भी तात्पर्य शक्ति से अन्वय प्रतीति को स्वीकार करने पर 'अंगुल्यग्रे करिवर शतम्' में भी अन्वयप्रतीति स्वीकार करनी पड़ेगी। इसके उत्तर में ध्वनिकार का अभिमत है कि जहां तक अन्वय या वाच्यार्थ का ज्ञान है, वह तो महाभाष्य के 'दशदाडिमादि' वाक्य की तरह होगा ही, लेकिन शुक्ति में रजत का ज्ञान हो जाने पर भी प्रत्यक्षादि प्रमाण से बाधित हो जाता है, उसी प्रकार 'अगुल्यग्रे करिवरशतम्' इत्यादि वाक्य अपने ज्ञात होने के बाद उत्पन्न बाध ज्ञान से विशिष्ट होने के कारण प्रमाण नहीं होंगे तब यह शंका उपस्थित होती है कि ऐसी स्थिति में 'सिहो माणवक.' इत्यादि वाक्य भी प्रमाण नहीं होंगे, क्योंकि अन्वय बोध के पश्चात् इनका भी बाध हो जायेगा, इस शंका का समाधान ध्वनिकार ने इस प्रकार किया है कि द्वितीय कक्ष्या में जब तात्पर्य शक्ति के द्वारा अन्वय बोध यहां होता है, तब बाधक रूप विरोध की प्रतीति होती है, जिसके निराकरणार्थ तृतीय शक्ति लक्षणा ही समुल्लसित होती है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जब ध्वनन को ही काव्य की आत्मा माना जाय तो 'सिहो बटुः' इस स्थल में भी काव्य का व्यवहार होगा, क्योंकि प्रयोजन जो प्रतीयमान होने वाला है, वह यहां भी है। इसके उत्तर में ध्वनिकार ने कहा है; कि तब तो घट में भी जीव व्यवहार प्रसक्त होना चाहिए क्योंकि व्यापक आत्मा की स्थिति घट में भी है ही। तब यदि यह कहा जाय कि मन और इन्द्रियों

के अधिष्ठान से युक्त शरीर में आत्मा के होने पर जीव व्यवहार होता है, तब हम भी यही उत्तर देंगे कि गुण और अलंकार के औचित्य से सुन्दर शब्दार्थ शरीर जब ध्वनन रूप आत्मा से युक्त होता है, तभी काव्य व्यवहार है, इससे तो कोई आत्मा की असारता व्यक्त नहीं होती। दूसरी बात यह है कि भक्ति को ध्वनि मानना गलत है क्योंकि भक्ति लक्षणा व्यापार है और तृतीय कक्ष्या मे यह आता है। प्रथम कक्ष्या मे अभिधा व्यापार, दूसरी में तात्पर्य शक्ति, तीसरी मे लक्षणा और चतुर्थ कक्ष्या मे ध्वनन व्यापार होता है। इस प्रकार न तो 'सिंहो वटु' इत्यादि काव्य की श्रेणी मे आयेंगे और न भक्ति तथा लक्षणा ही ध्वनि सिद्ध होगी।

अब प्रश्न यह हो सकता है कि आखिर यहाँ प्रयोजन को क्या समझा जाय? इसके उत्तर मे आचार्य आनन्दवर्धन ने प्रयोजन को सर्वथा शब्द के व्यापार का विषय सिद्ध किया है। 'गंगायां घोषः', सिंहो वटुः' आदि उदाहरणो मे प्रतीयमान प्रयोजन को अनुमान का विषय बनाया जा सकता है या नहीं? इस विषय पर विचार करते हुए ध्वनिकार ने अपना अभिमत व्यक्त करते हुए कहा है कि यहाँ अनुमान नही हो सकता क्योकि पहले स्थल मे व्यभिचार है और दूसरे स्थल में असिद्धि। प्रथम स्थल मे अनुमान का स्वरूप यह होगा 'तीरे गङ्गागतातिपवित्रत्वादिधर्मवत्, गङ्गा सामीप्यात्' इस तरह का अनुमान करने वाला यह कहना चाहता है कि जो वस्तु गंगा के समीप होती है, वह गंगा के समान ही पवित्र होती है, जैसे मुनिजन। तब यह भी कहा जा सकता है कि शिर की खोपड़ी भी तो गगा के समीप रह सकती है, किन्तु वह अति पवित्र नही है, ऐसी स्थिति मे गगा सामीप्य को हेतु मानकर अतिपवित्रत्व आदि को सिद्ध करना व्यभिचार दोष से युक्त है। "सिंहो माणवकः" मे भी अनुमान का स्वरूप इस प्रकार होगा—'वटु सिंह धर्मवान् सिंह शब्द वाच्यत्वात्, सम्प्रतिपन्न सिंहवत्' यहाँ हेतु स्वरूपासिद्ध है क्योकि सिंह शब्द से वटु शब्द वाच्य नहीं होता। इसी प्रकार इन स्थलों मे कोई अन्य प्रकार का अनुमान भी नही हो सकता क्योकि अनुमान तब तक सिद्ध नही होता जब तक कि व्याप्ति ग्रहण के समय मौलिक प्रमाणान्तर न हो। प्रस्तुत में जो भी व्याप्ति सामान्य को लेकर की जायेगी, वह प्रामाणिक नही होगी क्योकि व्याप्ति ग्रह का विषय कोई प्रत्यक्ष आदि प्रमाण नही है। अत. इससे यह सिद्ध हुआ कि अनुमान प्रमाण का विषय किसी प्रकार प्रयोजन को नहीं बनाया जा सकता।

यह स्मृति भी नही है, प्रयोजन स्मृति का भी विषय नही बन सकता क्योकि स्मृति उसकी होती है जो कभी पहले अनुभूत हो चुका हो, यहाँ ऐसा कोई पूर्वानुभव नही है, जिसके आधार पर स्मृति हो। अतः जब कि अनुमान भी नही और स्मृति भी नही तो स्वीकार करना होगा कि यहाँ शब्द का ही व्यापार है।

शब्द का व्यापार भी न अभिधा है, न तात्पर्य है और न लक्षणा है। अभिधा इसलिये नही है कि गंगा शब्द का संकेत शैत्यपावनत्व में नही मिलता। तात्पर्य इसलिये नही है कि वह केवल अन्वय या परस्पर सम्बन्ध की प्रतीति होते ही समाप्त

हो जाता है, लक्षणा व्यापार भी नही है क्योंकि मुख्यार्थबाध आदि हेतु यहाँ अवगमन रूप व्यापार स्खलित या प्रतिहत नही हो रहा है। लक्षणा व्यापार वही होता है जहाँ स्खलद्गतित्व किंवा स्वार्थ भ्रंश होता है। अतः यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि प्रयोजन में लक्षणा व्यापार नही होता। इसी बात को प्रकाशकार आचार्य मम्मट ने इस प्रकार कहा है :—

नाभिधा समयाभावात्, हेत्वभावान्नलक्षणा।
लक्ष्य न मुख्यं नाप्यत्र बाधो योग फलेन नो॥
न प्रयोजन मेतस्मिन् न च शब्दः स्खलद्गतिः।
एवमप्यनवस्था स्याद् या मूलक्षयकारिणी॥

(काव्यप्रकाश)

प्राभाकर मतानुयायी अन्विताभिधानवादी अभिधा के अतिरिक्त कोई व्यापार नही मानते, उनके मतानुसार जैसे एक ही बाण दीर्घ व्यापार के द्वारा अपने लक्ष्य तक पहुँच जाता है, उसी प्रकार एक ही अभिधा व्यापार दीर्घ-दीर्घ होकर वक्ता के अभिप्रेत अर्थ का ज्ञान करा देता है, किन्तु तर्क की कसौटी पर कसने पर उनका यह सिद्धान्त विशृङ्खलित हो जाता है क्योंकि किसी प्रकार भी एक ही व्यापार को नही माना जा सकता। जिस व्यापार से विधि रूप अर्थ का बोध होता है, उसी से निषेध रूप अर्थ करना सम्भव नही। अत. यह मानना पड़ेगा कि व्यापार एक न होकर अनेक हैं। साथ ही विषय और सहकारी के भेद से उसे असजातीय भी मानना होगा। अनेक व्यापार को सजातीय इसलिये नही मान सकते कि शब्द, बुद्धि और कर्म का विरम्य व्यापार नही होता। यदि मीमांसक के मतानुसार यह मान लिया जाय कि चतुर्थ कक्ष्या में रहने वाला प्रतीयमान या व्यंग्य अर्थ शीघ्र ही वाक्य द्वारा अभिहित कर लिया जाता है, तब अनेक व्यापार की कल्पना की स्थिति नही रह जायेगी, किन्तु इस स्थिति में बडी अव्यवस्था उत्पन्न हो जायेगी क्योंकि चतुर्थ कक्ष्या सन्निविष्ट अर्थ की साक्षात् प्रतिपत्ति संकेत किये बिना कैसे हो सकती है? यदि नैमित्तिक रूप उस अर्थ को सकेत की अपेक्षा से रहित माना गया, तब तो एक अनोखी ही बात होगी क्योंकि जो चतुर्थ कक्ष्या सन्निविष्ट अर्थ है, वह पहले प्रतीत होगा और उसके बाद प्रतीत होने वाले पदार्थ ज्ञान उसके निमित्त होंगे। ऐसा मानने वाले मीमांसकों से यदि कहा जाय कि वे अपने प्रपौत्र के बाद उत्पन्न हुए होंगे। यदि वे इस बात को स्वीकार कर लें तो चतुर्थ कक्ष्या सन्निविष्ट अर्थ की प्रतीति पहले हो सकती है, अन्यथा नही क्योंकि वह तो क्रम से ही होगी।

अन्विताभिधानवादी का जहाँ तक पदार्थों के निमित्त होने का प्रश्न है, वह पहले पदार्थों में संकेतग्रह मान लेने से हल हो जाता है अर्थात् पहले पदार्थों का ज्ञान होता है तत्पश्चात् चतुर्थ कक्ष्या निविष्ट अर्थ का ज्ञान होता है। इस तरह पदार्थों का निमित्तत्व भी सार्थक हो जाता है। यही बात अवापोद्वाप के सम्बन्ध में है। अवापोद्वाप का अर्थ है ग्रहण-त्याग। अभिहितान्वयवादियों के अनुसार पहले अभिधा शक्ति के द्वारा पदार्थो का ज्ञान होता है तत्पश्चात् तात्पर्य शक्ति के द्वारा अन्वय रूप

वाक्यार्थ का ज्ञान होता है। इस मत को अन्विताभिधानवादी मीमांसक नही मानते इनके अनुसार अभिधा से अन्वित पदार्थ का ही ज्ञान होता है अर्थात् जो वाक्यार्थ है वही वाच्यार्थ भी है। ये लोग अन्वयांश में अतिरिक्त शक्ति की कल्पना नही करते हैं, जैसे – 'गामानय' इस वाक्य मे गो शब्द का कोई अर्थ नहीं है, प्रत्युत यहाँ गौ की प्रतीति 'आनयन' से अन्वित होकर एवं आनयन की प्रतीति गौ से अन्वित होकर होती है, यही अवापोद्वाप द्वारा संकेत का ग्रहण है। इस पर अभिनवगुप्त का कथन है कि ऐसी स्थिति मे आप स्वयं ही यह स्वीकार कर रहे है कि संकेत पदार्थ मात्र में ही होगा और वाक्यार्थ रूप विशेष की प्रतीतिवाद मे ही होगी, पहले नहीं। अतः 'दीर्घदीर्घतराभिधा व्यापार' का यह पक्ष भी किसी प्रकार सिद्ध नही हो पाता।

मीमांसा शास्त्र के प्रवर्तक आचार्य जैमिनि ने जो "श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरण-स्थानसमाख्यानां समवायेपारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्" सूत्र प्रस्तुत किया है, वह भी अनुपयुक्त ही है क्योंकि श्रुतिस्थल की तरह लिंग आदि स्थल मे भी शब्द श्रवण के पश्चात् प्रतीयमान सभी अर्थों की अभिधा से ही प्रतीति होने पर लिंग आदि के दौर्बल्य का कारण नही रह जाता। अतः इस प्रक्रिया का समर्थन एकमात्र निमित्तता वैचित्र्य के मानने पर ही हो सकता है और जब निमित्तता वैचित्र्य स्वीकार कर लिया गया तो व्यापार का भिन्न होना स्वाभाविक ही है। इस प्रकार 'दीर्घ-दीर्घ' रूप से प्रतीत होने वाले सभी अर्थों मे केवल अभिधा व्यापार से काम नही चलेगा, अतिरिक्त व्यापार मानना ही पड़ेगा।

वैयाकरण और वेदान्ती लोग जो स्फोट सिद्धान्त के अनुसार वाक्य और वाक्यार्थ दोनों को अखण्ड मानते है, यह भी व्यावहारिक जगत मे युक्तिसगत नहीं है क्योंकि जहाँ तक व्यवहार का प्रसंग है वहाँ तक किसी भी अखण्ड वाक्य को बिना क्रिया-कारक भेद आदि से खण्ड-खण्ड किये अर्थज्ञान नहीं होगा, यहाँ तक कि स्वयं वैयाकरण को भी नही होगा। वेदान्ती लोग भी तो व्यावहारिक दुनिया में आकर व्यावहारिक सत्य को स्वीकार करते है। अतः उन्हे ये व्यावहारिक जीवन मे पद-पदार्थ की कल्पना अवश्य करनी पड़ेगी। हाँ, जब वे 'विद्या' की स्थिति की बात करेंगे तब उनका अखण्ड वाक्य-वाक्यार्थ बाद स्वीकार्य होगा। क्योंकि उस स्थिति मे एक अद्वैत ब्रह्म को छोडकर और कुछ रह ही नही जाता।

'भ्रम धार्मिक विश्रब्ध०' इत्यादि उदाहरण के प्रसंग में भट्टनायक ने कहा है कि इसमे 'दृप्तसिंह' एव 'धार्मिक' पद के प्रयोग से ही प्रतिपत्ता को जो निषेध रूप ज्ञान होता है, वह सर्वथा भयानक रस के आवेश के कारण ही होता है क्योंकि बिना धार्मिक की भीरुता और सिंह की वीरता के ज्ञान के निषेध रूप अर्थ का ज्ञान हो ही नही सकता।

इसके उत्तर मे अभिनवगुप्त का मत है कि हम कब वक्ता और प्रतिपत्ता के वैशिष्ट्य के ज्ञान के बिना और शब्दगत ध्वनन व्यापार के बिना निषेध रूप अर्थ का ज्ञान करते हैं ? हम तो यहाँ तक कहते हैं कि प्रतिपत्ता की प्रतिभा रूप

विशेषता द्योतन ही व्यञ्जना का प्राण है। भयानक रस के आवेश वाली बात भी उपेक्षणीय ही है, क्योंकि भय मात्र की उत्पत्ति ही यहाँ हमें स्वीकार्य है। रसाभिव्यक्ति से ही रस का आवेश हो सकता है और रस हमेशा व्यंग्य ही होता है, शब्द द्वारा वाच्य कदापि नहीं होता। अतः दृप्तसिंह आदि और धार्मिक पद के प्रयोग से जो भयानक रस का आवेश भट्टनायक ने कहा है, वह उनकी मूलतः गलत धारणा है। मात्र भयानक रस की अभिव्यक्ति से निषेध की प्रतीति नहीं हो सकती। धार्मिक प्रतिपत्ता भीरु ही हो, यह आवश्यक नहीं है, वह वीर प्रकृति का भी हो सकता है।

यदि यह कहे कि प्रतिपत्ता के प्रतिभा विशेष को यहाँ भयानक रस के आवेश के होने मे सहकारी कारण कल्पित कर लिया जाय तो नियम बन सकता है और उस तरह का प्रत्येक प्रतिपत्ता भयानक रस के आवेश से निषेध का ज्ञान कर सकता है, तो फिर जब प्रतिपत्ता के प्रतिभा विशेष को स्वीकार कर ही चुके, तब ध्वनन व्यापार को क्यों स्वीकार नही कर लेते ? क्योंकि ध्वनन व्यापार मे भी तो प्रतिपत्ता का प्रतिभा विशेष सहकारी होता है। वस्तु ध्वनि को स्वीकार किये बिना रसध्वनि को स्वीकार करना आश्चर्यजनक है, जबकि रसध्वनि वस्तुध्वनि का अनुग्राहक है। यदि आप यह कहे कि यहाँ रसध्वनि का प्राधान्य है, तो ठीक है। हमारा भी यही मन्तव्य है कि किसी प्रकार ध्वनि का निराकरण नही होना चाहिए। प्रस्तुत श्लोक में यदि रसध्वनि और वस्तु ध्वनि दोनों ही हों तो क्या नुकसान है।

अब कही वाच्य के प्रतिषेध रूप होने पर व्यंग्य विधिरूप हो जाता है। जैसे—

> श्वश्रूरत्र निमज्जति अत्राहं दिवसकं प्रलोकय ।
> मा पथिक रात्र्यन्ध शय्यायामावयोः शयिष्ठाः ॥

अर्थात्—सास यहाँ पर गहरी नीद सोती है, यहाँ मैं सोती हूँ, दिन में ही देख लो। हे रतौंधी के रोगी पथिक ! कही हम दोनो की खाट पर न गिर पड़ना। प्रस्तुत गाथा मे प्रतीयमान विधि को निषेध का अभाव रूप समझना चाहिए, क्योंकि नायिका ने 'खाट पर न गिर जाना' इस निषेध के प्रकार से पथिक को मिलन का वचन दिया है। कही वाच्य के विधिरूप होने पर व्यग्य न विधिरूप और न निषेध रूप होता है। जैसे इस उदाहरण मे—

> व्रज ममैवैकस्या भवन्तु निःश्वासरोदितव्यानि ।
> मा तवापि तया विना दाक्षिण्य हतस्य जनिषत ॥

अर्थात्—तू जा, निश्वास और रुदन मुझ अकेली के ही भाग्य मे हो, उसके बिना समानुरागिता से रहित तेरे भी ये निश्वास, रुदन मत पैदा हो। यहाँ न तो गमनाभाव रूप निषेध है और न कोई विध्यन्तर ही।

कहीं पर वाच्य के प्रतिषेध रूप होने पर व्यंग्य अनुभव रूप होता है जैसे—

प्रार्थये तावत्प्रसीद निवर्तस्व मुखशशि ज्योत्स्नाविलुप्ततमोनिवहे ।
अभिसारिकाणा विघ्नं करोष्यन्यासामपि हताशे ॥

अर्थात्—प्रार्थना करता हूँ प्रसन्न हो, लौट जाओ, अरी, अपने मुखचन्द्र की चाँदनी से अन्धकार समूह को दूर करने वाली! हत आशाओं वाली, तू दूसरी अभिसारिकाओं के लिये भी विघ्न करती है।

प्रस्तुत गाथा का आचार्य ने वक्ता के भेद से निम्नलिखित चार प्रकार से अर्थ किया है। पहले अर्थ के अनुसार—जब नायक के घर पर नायिका पहुँची तो नायक उसके समक्ष गोत्रस्खलन आदि अपराध कर बैठा, इस पर तुनककर जब वह चल पड़ने के लिये तैयार हुई तो नायक उसकी प्रशंसा के द्वारा उसे लौटाने का प्रयत्न करने लगा। उसने कहा कि वह अपने और मेरे सुख मे तत्काल विघ्न तो कर ही रही है, अन्य अभिसारिकाओ के सुख मे भी विघ्न डाल रही है। यहाँ नायक का चाटु रूप अभिप्राय व्यंग्य है। दूसरे अर्थ के अनुसार—नायिका की सखी ने मना किया कि अभी अभिसार मत कर, किन्तु जब नायिका ने उसकी बात नही मानी, तब सखी ने कहा कि वह अपना विघ्न तो करती ही है, साथ ही अपने मुखचन्द्र की चन्द्रिका से मार्ग को प्रकाशित करके अन्य अभिसारिकाओं के लिये भी विघ्न उपस्थित करती है। इसमे सखी का चाटु रूप अभिप्राय व्यंग्य है। तीसरे अर्थ के अनुसार नायिका को अभिसार के समय रास्ते मे नायक मिल गया जो स्वय ही नायिका से मिलने उसके घर जा रहा था। अत: नायिका को पहचानते हुए भी न पहचानने का बहाना करके नायक ने कहा। इसमे 'निवर्तस्व' यह वाच्य है और नायक का तात्पर्य व्यंग्य है कि मेरे घर आ या हम दोनों ही तुम्हारे घर चलें। इस प्रकार यह अनुमय रूप व्यंग्य है। चौथे अर्थ के अनुसार इसमें तटस्थ सहृदयो का किसी अभिसारिका के प्रति वचन है।

कही पर वाच्य से विभिन्न विषय रूप में व्यवस्थापित व्यंग्य होता है, जैसे—

कस्य वा न भवति रोषो दृष्ट्वा प्रियाया. सव्रणमधरम् ।
सभ्रमर पद्माघ्राणशीले वारितावामे सहस्वेदानीम् ॥

अर्थात्—प्रिय के व्रणयुक्त अधर को देखकर. किसे क्रोध नही होता ? अरी, मना करने पर भी भौरेसहित कमल को सूँघने वाली, अब तू इसका परिणाम भुगत।

यहाँ पर नायिका किसी जार से अपना अधर खण्डित कराकर आती है, कहीं उसका अपराध प्रकट न हो जाय और उसका पति उस पर अत्यधिक क्रुद्ध न हो जाय, इसलिये उसकी सखी ने उसे निरपराध सिद्ध करने के लिये प्रस्तुत बात कही, जिसका व्यंग्य उसके पति, सुनने वाले आसपास के लोग, सौत, स्वयं नायिका, चौथे कामुक जार तथा तटस्थ विदग्ध जनों पर विभिन्न रूपों में प्रतीत होता है। जैसे—नायिका की सखी उसके पति से यह कहना चाहती है कि इसका को अपराध नहीं है। गलत समझ कर कहीं इस पर कोप मत कर बैठना। अ

के लोगो से उसके इस कथन का तात्पर्य यह है कि यदि इसका पति इसे उपालम्भ भी दे तो इसका अपराध नही समझना चाहिए। सौत, जो नायिका के उपालम्भ और अविनय मे प्रसन्न है, के प्रति 'प्रियायाः' इस शब्द के बल से नायिका का सौभाग्यातिशय स्थापन व्यग्य है। नायिका के प्रति व्यंग्य यह है कि यह मत समझना कि सौतों के बीच तुम्हारी स्थिति हल्की कर दी गई है, अपितु 'सहस्व' इस पद से उनके बीच तू शोभा को प्राप्त कर, यह अर्थ है। चौर्य कामुक के प्रति व्यंग्य यह है कि आज तो किसी तरह प्रसन्नानुरागिणी तेरी इस प्रियतमा की मैंने रक्षा कर दी, अब फिर कही स्पष्ट रूप से इसका अधर मत काट देना। तटस्थ सहृदयो के प्रति व्यंग्य यह है कि मैंने बिल्कुल झूठ बोलकर किस प्रकार जाहिर को छिपा दिया।

रसादि रूप तीसरा प्रभेद तो वाच्य की सामर्थ्य से आक्षिप्त होकर प्रकाशित होता है कि वह साक्षात् शब्द व्यापार का विषय होता है। इसलिये वह भी वाच्य विभिन्न ही है। जैसा कि उसका वाच्यत्व अपने शब्दों से निवेदित होने के रूप से या विभाव आदि के प्रतिपादन के द्वारा हो सकता है। पहले पक्ष में यदि रस किंवा शृंगार आदि के द्वारा निवेदित न होने पर रसादिको की अप्रतीति का प्रसंग होगा, किन्तु सर्वत्र उन रसादिको का अपने शब्दों के द्वारा निवेदितत्व नहीं है। जहाँ कही भी वह है, वहा भी विशेष प्रकार के विभाव आदि के प्रतिपादन के द्वारा ही उसकी प्रतीति होती है। अपने शब्द से यह प्रतीति केवल अनूदित हो जाती है, उस शब्द के कारण कृत नही होती क्योंकि विषयान्तर मे उसे उस प्रकार नही देखते।

उस काव्य मे जहाँ केवल शृंगार आदि शब्दमात्र प्रयुक्त हों और विभावादि का प्रतिपादन न हुआ हो, थोड़ी मात्रा मे भी रसवत्ता की प्रतीति नही होती क्योकि स्व शब्द का अवधान न हो तो भी केवल विशिष्ट विभाव आदि के द्वारा रसादि की प्रतीति होती है। केवल स्व शब्द के अवधान से प्रतीति नहीं होती। इस कारण अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा रसादिको का अभिधेय के सामर्थ्य से आक्षिप्तत्व ही सिद्ध होता है न कि किसी प्रकार अभिधेयत्व। इस प्रकार तीसरा भी प्रभेद वाच्य से भिन्न ही है, यह बात सिद्ध हुई।

प्रश्न – २१. त्रिविध गुणीभूत व्यंग्य को बतलाते हुए गुणीभूत व्यंग्य के कारण अलंकारों की रम्यता को सिद्ध कीजिये।

उत्तर—जहाँ व्यग्य का सम्बन्ध होने पर वाच्य का चारुत्व प्रकृष्ट हो जाता है, वहाँ गुणीभूत व्यंग्य नामक काव्य होता है। कहा है—

प्रकारोऽन्यो गुणीभूत व्यंग्यः काव्यस्य दृश्यते।
यत्र व्यग्यान्वये वाच्य चारुत्वं स्यात्प्रकर्षवत्॥

(ध्वन्यालोक)

ललना के लावण्य के समान व्यङ्ग्य अर्थ के प्रतिपादन मे ध्वनि होती है और उस ध्वनि के गुणीभाव से वाच्य के चारुत्व का प्रकर्ष होने पर गुणीभूत व्यग्य नामक काव्य प्रभेद हुआ करता है। वहाँ तिरस्कृत वाच्य वाले शब्दो से प्रतीयमान व्यंग्य का कभी वाच्य रूप शब्दार्थ की अपेक्षा गुणीभाव होने पर गुणीभूत व्यग्यता होती है। जैसे इस उदाहरण मे—

लावण्यसिन्धुरपरैव केयमत्र,
यत्रोत्पलानि शशिना सह सम्प्लवन्तौ।
उन्मज्जति द्विरद कुम्भ तटी च यत्र,
यत्रापरे कदलिकाण्ड मृणाल दण्डाः॥

अर्थात् – यह कौन अनोखी ही लावण्य की नदी है जिसमे चन्द्रमा के साथ कमल तैर रहे हैं, जिसमें हाथी के कुम्भ का अग्रभाग निकल रहा है और जिसमे विलक्षण ही कदली काण्ड और मृणाल दण्ड है।

यह किसी तरुण की अभिलाष युक्त उक्ति है। इसमें नदी शब्द से परिपूर्णता, कमल शब्द से कटाक्ष की छटा, शशि शब्द से मुख का सौन्दर्य, द्विरदकुम्भ तटी शब्द से स्तन युगल, कदली काण्ड शब्द से उरु युगल और मृणाल दण्ड शब्द से हस्तयुगल ध्वनित होते हैं। यहाँ इनके स्वार्थ के सर्वथा अनुपपन्न होने के कारण ग्रन्थ शब्द मे कहे गये न्याय के अनुसार तिरस्कृत वाच्यत्व है। यह प्रतीयमान व्यंग्य भी अर्थ विशेष 'यह कौन विलक्षण ही' इस उक्ति से युक्त वाच्य अश मे चारुत्वच्छाया का विधान करता है क्योकि वाच्य के ही स्वरूप के उन्मज्जित होने और व्यंग्य समूह के निमज्जित होने से सुन्दर रूप से प्रतीति होती है। सुन्दरत्व इसलिये है कि जिनका समागम सम्भाव्यमान नहीं है, ऐसे सकल लोक सारभूत कुवलयादि भाव वर्ग की नायिका रूप एकाधिकरण में विश्रान्ति से समुच्चय रूप प्राप्त होने के कारण विस्मय के विभावत्व की प्राप्तिपूर्वक व्यंग्य अर्थ से उपस्कृत तथा विचित्र ही वाच्य रूप के उन्मज्जन के कारण अभिलाष आदि का विभाव बन जाता है। इसलिये इतने मे यद्यपि वाच्य का प्राधान्य है, तथापि रसध्वनि में उसका भी गुणीभाव हो जाता है। कुछ लोगों का कथन है कि यह जलक्रीडा के लिये अवतीर्ण युवतियों के लावण्य द्रव से सुन्दरीकृत नदी के सम्बन्ध मे उक्ति है या नदी मे स्नान के लिये उतरी हुई युवतियों के सम्बन्ध मे उक्ति है, किन्तु सब प्रकार से विस्मयकारी व्यापार होने के कारण व्यग्य का गुणीभाव है।

अतिरस्कृत वाच्य भी शब्दो से प्रतीयमान व्यंग्य की कभी वाच्य के प्राधान्य से काव्य चारुत्व की अपेक्षा गुणीभाव होने पर गुणीभूत व्यग्यता होती है। जैसे इस उदाहरण मे—

अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत्पुरस्सरः।
अहो दैवगतिः कीदृक्तथापि न समागमः॥

अर्थात्--सन्ध्या या नायिका अनुराग मान्ध्यकालीन लालिमा या प्रेम से भरी बैठी है और दिवस या नायक उसके सामने सरक रहा है। अहो, दैव की गति कैसी है कि तो भी समागम नहीं होता। इसमें व्यंग्य की प्रतीति होने पर भी वाच्य का ही चारुत्व उत्कर्षयुक्त है। अत. उसी की प्राधान्यता के कारण गुणीभूत व्यग्य है। उसी व्यग्य का स्वयं उक्ति से प्रकाशित होने पर गुणी भाव होता है। जैसे इस उदाहरण मे--'सकेत काल मनसं०' इत्यादि' रमादि रूप व्यंग्य का गुणीभाव रसवद् अलकार मे विवाह मे प्रवृत्त भृत्य का अनुगमन करने वाले राजा की तरह होता है। व्यग्य अलंकार के गुणो भाव मे दीपक आदि विषय है जो ये अपरिमित स्वरूप भी प्रकाशमान उस प्रकार के अर्थ रमणीय होते हुए विवेकी लोगों के सुखावह काव्य-बन्ध है, उन सभी मे यह गुणीभूत व्यग्य समझना चाहिए। जैसे -

लच्छी दुहिदा जामाउओ हरी तत घरिणिआ गङ्गा।
अमिअमिअङ्का अ सुआ अहो कुडुम्बं महोअहिणो॥

अर्थात्---पुत्री लक्ष्मी, जामाता विष्णु, पत्नी गङ्गा, अमृत और चन्द्रमा पुत्र, वाह ! यह समुद्र का परिवार है ?

तात्पर्य यह है कि समस्त लोगों की अभिलाष की भूमि लक्ष्मीपुत्री है, भोगापवर्ग प्रदान करने मे सक्षम विष्णु जामाता है, पत्नी गङ्गा है, अमृत और चन्द्रमा पुत्र हैं। अमृत से तात्पर्य यहा मदिरा से है। इससे गंगास्नान, हरिचरण के आराधन आदि सैकड़ों उपायों से लक्ष्मी का मुख्य फल चन्द्रोदय और पान गोष्ठी का उपभोग है। इस प्रकार समुद्र की त्रैलोक्य मे सारभूतता व्यग्य होती हुई भी, 'वाहरे समुद्र का परिवार' इस शब्द से गुणीभाव को प्राप्त करता है। यह वाच्य अलंकार वर्ग व्यंग्य अंश का अनुगमन होने पर प्राय अतिशय शोभा को धारण करता हुआ दृष्टिगोचर होता है। जैसा कि दीपक, समासोक्ति आदि की तरह अन्य भी अलंकार प्राय: व्यंग्य अलंकारान्तर और वस्त्वन्तर का स्पर्श करने वाले दृष्टिपथ मे आते है। रूपक, उपमा, तुल्ययोगिता, निदर्शना आदि मे गम्यमान धर्म के प्रकार से जो सादृश्य है, वही अतिशय शोभाधायक होता है। इस तरह वे सभी अतिशय चारुत्व से युक्त होते हुए गुणीभूत व्यंग के ही विषय होते हैं।

प्रश्न- २२. "वाच्य और वाचक की औचित्य के साथ योजना महाकवि के लिये आवश्यक है।" इस बात को ध्वनिकार के मत से सिद्ध कीजिये।

उत्तर—वाच्य और वाचकों का जो रसादि विषयक औचित्य से जोड़ना है, वह महाकवि का मुख्य कर्म है अर्थात् इतिवृत्त विशेषों का और उनके विषय के वाचकों का रसादि विषयक औचित्य के साथ सयोजन महाकवि का मुख्य कर्म है। तभी प्रगल्कविता संभव है अन्यथा नहीं। कहा है:—

वाच्याना वाचकानां च यदौचित्येन योजनम् ।
रसादि विषयेणैतत्कर्म मुख्यं महाकवेः ।

वाच्यानामितिवृत्त विशेषाणा वाचकानां च तद्विषयाणां रसादि विषयेणौचित्येन यद्योजन मेतन्महाकवेर्मुख्यं कर्म । श्रयमेव हि महाकवेर्मुख्योव्यापारो यद्रसादीनेव मुख्यतया काव्यार्थीकृत्य तद् व्यवत्यनुगुणत्वेन शब्दानामर्थाना चोप निबन्धनम् ।

(ध्वन्यालोक)

अर्थात् महाकवि का मुख्य वही व्यापार है जो रसादि को मुख्य रूप से काव्य का अर्थ बनाकर उनकी व्यञ्जना के अनुरूप शब्द और अर्थों का उपनिबन्धन करना । यह रसादि के तात्पर्य से काव्य का निबन्धन भरत आदि ने भी कहा है अर्थात् वृत्तिया काव्य की माताएँ होती हैं, यह कहते हुए आचार्य भरत ने भी रस का ही जीवितत्व सिद्ध किया है । भामह आदि ने भी प्रकारान्तर से इसी बात का समर्थन किया है । जैसे —

स्वादुकाव्य रसोन्मिश्रं वाक्यार्थमुपभुञ्जते ।
प्रथमा लीढमधवः पिवन्ति कटुभेषजम् ।।

अर्थ और शब्द का रसादि के अनुगुण रूप से जो औचित्यवान् व्यवहार है, उसे वृत्ति कहा गया है । वृत्तियाँ भी दो प्रकार की मानी गई हैं । रस के अनुगुण औचित्यवान् वाच्याश्रित व्यवहार को कैशिकी आदि वृत्ति और रस के अनुगुण औचित्यवान् वाचकाश्रित व्यवहार को उपनागरिका आदि वृत्ति कहते हैं । ये वृत्तिया रसादि के तात्पर्य से सन्निवेशित होकर नाटच और काव्य की अपूर्व शोभा कर देती हैं । रसादि उन दोनों के भी जीवभूत है । रसादि के विना उनका न तो कोई महत्व होता है और न कोई अस्तित्व ही । इतिवृत्त आदि तो केवल शरीरभूत हुआ करता है ।

कुछ लोगो का मत है कि रसादि का इतिवृत्त आदि के साथ गुण-गुणि व्यवहार उचित है न कि जीव शरीर व्यवहार क्योकि वाच्य रसादिमय प्रतीत होता है न कि रसादि से पृथग्भूत । इसके उत्तर में ध्वनिकार का कथन है कि यदि वाच्य रसादि मय ही है जैसे शरीर गौरत्वमय है, तब जैसे शरीर के प्रतीत होने पर नियमत. ही गौरत्व सबको प्रतीत होता है, वैसे ही वाच्य के साथ ही रसादि भी सहृदय और असहृदय दोनो को ही प्रतीत होने चाहिए, किन्तु व्यवहार मे ऐसा होता नही है । यदि यह कहे कि रत्नो के जात्यत्व की तरह वाच्यो का रसादि रूपत्व प्रतिपत्ता विशेष द्वारा संवेद्य होता है, तो भी ठीक नहीं है क्योकि जिस तरह जात्यत्व रूप से प्रतिभासमान रत्न में उस जात्यत्व की रत्न के स्वरूप से अनतिरिक्तता लक्षित होती है, उस प्रकार रसादि की भी विभाव, अनुभाव आदि रूप वाच्य से अव्यतिरिक्तता ही लक्षित होनी चाहिये, पर ऐसा होता नहीं क्योकि किसी को भी ऐसी प्रतीति नही होती कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारि ही रस हैं और इसलिये विभावादि की प्रतीति की अविनाभाविनी रसादि की प्रतीति है ।

प्रकार प्रतीतियों मे कार्य-कारण भाव के होने से क्रम अवश्यम्भावी है, परन्तु शीघ्रता के कारण यह क्रम प्रकाशित नही होता है। इसलिये अलक्ष्यक्रम होते हुए भी रसादि व्यंग्य होते हैं।

अब प्रश्न यह हो सकता है कि शब्द ही प्रकरणादि से सहकृत होकर वाच्य और व्यंग्य की साथ ही प्रतीति उत्पन्न करता है, तब क्रम की कल्पना मे क्या लाभ? वाच्य की प्रतीति का परामर्श ही शब्द के व्यञ्जक होने मे कारण तो है नही, जैसा कि गति आदि शब्दों से भी रस की अभिव्यक्ति है, न कि बीच मे उन गीतादि शब्दों के वाच्य का परामर्श होता है। इसके उत्तर मे आचार्य का कथन है कि प्रकरण आदि के सहकार से शब्दो का व्यञ्जकत्व है, इस बात को हम भी स्वीकार करते हैं, किन्तु वह व्यञ्जकत्व उनका कभी स्वरूप विशेष के कारण और कभी वाचक शक्ति के कारण है। उनके यदि वाच्य की प्रतीति के बिना ही स्वरूप की प्रतीति से वह निष्पन्न हो तो वाचक शक्तिमूलक नही है और यदि वाचक शक्तिमूलक है तो नियमतः ही व्यंग्य की प्रतीति का वाच्य-वाचक भाव की प्रतीति के बाद ही होगा।

वह क्रम यदि लाघव के कारण लक्षित नही होता तो क्या किया जाय? यदि वाच्य प्रतीति के बिना ही प्रकरणादि से सहकृत शब्द मात्र से साध्य रसादि की प्रतीति हो तो वाच्यवाचक भाव मे व्युत्पत्तिरहित ज्ञाताओ को काव्य मात्र के सुनने *से रसादि की प्रतीति होनी चाहिए, जो नही होती। साथ ही वाच्य और व्यंग्य की* प्रतीति एक साथ होने पर वाच्य की प्रतीति का कोई उपयोग नही रहता। यदि रहता है तो उन दोनों का सहभाव नही होगा और जिनका भी स्वरूप विशेष प्रतीतिमूलक व्यञ्जकत्व है, जैसे गीतादि शब्दों का, उनकी भी स्वरूप प्रतीति तथा व्यंग्य प्रतीति का नियमत. क्रम है, लेकिन वह शब्द की क्रियाओ का पौर्वापर्य अनन्य साध्य उस फल वाली आशुभाविनी घटनाओं मे वाच्य से विरोध न रखने वाले तथा अन्य वाच्य से विलक्षण रसादि मे प्रतीत नही होता, किन्तु कही पर जहाँ सङ्घटना द्वारा व्यंग्यत्व नही है, वहाँ प्रतीत होता है जैसे—अनुरणन रूप व्यंग्य की प्रतीतियों में। अर्थशक्ति मूल अनुरणन रूप व्यंग्य ध्वनि मे अभिधेय की और उसकी सामर्थ्य से आक्षिप्त अर्थ की अन्य अभिधेय से विलक्षण रूप होने के कारण अत्यन्त विलक्षण जो प्रतीतियां हैं, उनके निमित्त निमित्ति भाव को छिपाया नही *जा सकता। अतः स्पष्ट ही वहाँ पौर्वापर्य है और उस प्रकार के विषय मे वाच्य और* व्यंग्य के अत्यन्त विलक्षण होने के कारण जो एक ही प्रतीति है, वही दूसरे की भी है, ऐसा नहीं कह सकते। जैसे शब्द शक्तिमूल अनुरणन रूप व्यंग्य ध्वनि मे—

गावो वः पावनानां परमपरिमिता प्रीतिमुत्पादयन्तु।

अर्थात्—पावनों मे श्रेष्ठ किरणें या गायें आप लोगो मे अपरिमित प्रीति उत्पन्न करे।

इसमे दो अर्थों की शाब्दी प्रतीति मे उपमानोपमेय भाव की प्रतीति उपमा वाचक पद के अभाव में अर्थ की सामर्थ्य से आक्षिप्त है, इसलिये वहाँ भी अभिधेय

और व्यंग्य अलंकार की प्रतीतियों का पौर्वापर्य स्पष्ट लक्षित हो जाता है। पद प्रकाश शब्द शक्तिमूल अनुरणन रूप व्यंग्य ध्वनि में भी उभय अर्थ के साथ सम्बन्ध के योग्य विशेषण पद को जोड़ने वाले पद के बिना जोडना अशाब्द हो जाता है तथापि अर्थ में अवस्थित होता है। इसलिये यहां भी पहले की तरह अभिधेय की तथा उसके सामर्थ्य से आक्षिप्त अलंकार मात्र की प्रतीति निश्चित ही है। इस प्रकार के विषय में आर्थी भी प्रतीति को उभय अर्थ के साथ सम्बन्ध के योग्य शब्द से उत्पन्न की जाने के कारण शब्द शक्तिमूल मानी जाती है। अविवक्षित वाच्य ध्वनि का तो प्रसिद्ध अपने विषय में वैमुख्य की प्रतीतिपूर्वक ही अर्थान्तर का प्रकाशन है, अत: क्रम नियमतः होगा।

इसलिये अभिधान और अभिधेय की प्रतीति की भांति ही वाच्य और व्यंग्य की प्रतीति का निमित्त निमित्ति भाव के कारण क्रम नियम भावी है, किन्तु वह उपर्युक्त युक्ति के अनुसार कहीं पर लक्षित होता है और कहीं पर नहीं। अत: स्पष्ट है कि वाच्य और वाचक के साथ औचित्य की योजना करना महाकवि के लिये आवश्यक है। रसौचित्य की योजना के बिना उसका महाकवित्व सम्भव नहीं है।

प्रश्न - २३. काव्य के तृतीय भेद चित्र-काव्य के भेद-प्रभेदों को विस्तार के साथ स्पष्ट कीजिये।

उत्तर—काव्य मुख्यतया निम्नलिखित प्रकार से तीन प्रकार का माना जाता है —

(१) ध्वनि काव्य या उत्तम काव्य।
(२) मध्यम काव्य या गुणीभूत व्यंग्य काव्य।
(३) अधम काव्य या चित्र काव्य।

अर्थात् ध्वनिकाव्य और गुणीभूत व्यग्य काव्य से जो भिन्न होता है उसे चित्र-काव्य कहते हैं। कहा है:—

प्रधान गुण भावाभ्यां व्यंग्यस्यैव व्यवस्थिते।
काव्ये उभे ततोऽन्यद्यत्तच्चित्रमभिधीयते॥
(ध्वन्यालोक)

वह चित्र काव्य शब्द और अर्थ के भेद से दो प्रकार का होता है: —

(१) शब्द चित्र।
(२) वाच्य चित्र।

व्यंग्य अर्थ के प्राधान्य में ध्वनि काव्य होता है और ध्वनि के गौण हो जाने पर गुणीभूत व्यग्य काव्य होता है। इनसे भिन्न अर्थात् रस, भाव आदि के तात्पर्य से रहित और व्यंग्यार्थ के प्रकाशन शक्ति से शून्य केवल वाच्य और वाचक के वैचित्र्य मात्र के आश्रय से जो काव्य उपनिबद्ध होता है, वह चित्र की भांति मालूम पड़ने के कारण चित्र काव्य कहलाता है। यह मुख्य काव्य न होकर काव्य का

अनुकरण मात्र है। उनमें कुछ शब्द चित्र है जैसे दुष्कर यमक आदि, उस शब्द चित्र से अन्य, व्यंग्य अर्थ के सस्पर्श से रहित, प्राधान्य अर्थात् वाक्यार्थ रूप से स्थित गुण रस आदि के तात्पर्य से रहित उत्प्रेक्षा आदि वाच्य चित्र हैं।

जहां प्रतीयमान अर्थ का संस्पर्श न हो उसे चित्र काव्य कहते हैं अर्थात् जहाँ वस्तु या अलंकारान्तर व्यंग्य नही है, वह चित्रकाव्य का विषय माना जा सकता है। अब प्रश्न यह हो सकता है कि जहाँ रसादि का विषयत्व नहीं है, वह काव्य का प्रकार हो कैसे सकता है? क्योंकि काव्य मे वस्तु संस्पर्श का अभाव नहीं बन सकता और संसार की सभी वस्तुएँ अवश्य किसी रस की या भाव की अङ्ग बन जाती हैं, अन्ततः विभाव रूप मे। रसादि चित्त वृत्ति विशेष है, वह कोई ऐसी वस्तु नही जो चित्तवृत्ति विशेष को उत्पन्न नही करती यदि वह उसे उत्पन्न न करे, तो वह कवि का विषय ही नही होगी। इसके उत्तर मे कहा जा सकता है कि वास्तव मे वह काव्य का कोई प्रकार नही है, जहाँ रसादि की प्रतीति न होती हो, लेकिन जब रस, भाव आदि की विवक्षा से रहित कवि शब्दालंकार या अर्थालंकार का उपनिबन्धन करता है, तब उसकी विवक्षा की अपेक्षा अर्थ रसादि शून्यता मानी जाती है क्योंकि काव्य मे शब्दो का अर्थ कवि की विवक्षा के उपारूढ ही होता है और वाच्य की सामर्थ्य के वश कवि की विवक्षा के न होने पर भी उस प्रकार के विषय में रसादि की प्रतीति होती हुई बहुत दुर्बल होती है। इस तरह से भी नीरसत्व को मानकर चित्र काव्य का विषय निश्चित किया जाता है। कहा है—

> रस भावादि विषय विवक्षा विरहिते सति,
> अलंकार निबन्धो यः स चित्र विषयो मतः।
> रसादिषु विवक्षा तु स्यात्तात्पर्य वती यदा,
> तदा नास्त्ये तत्काव्यं ध्वनेर्यत्र न गोचरः॥

अर्थात् रस, भाव आदि की विवक्षा न होने पर जो अलंकार का निबन्धन है, वह चित्र काव्य का विषय माना जाता है, किन्तु जब रसादि मे तात्पर्य रखने वाली विवक्षा हो, तब वह काव्य नहीं है जहाँ ध्वनि का गोचर न हो। वस्तुतः निरंकुश वाणी वाले कवियों की रसादि की तात्पर्य की अपेक्षा रहित प्रवृत्ति देखकर ही चित्रकाव्य की कल्पना की गई है। वैसे तो संसार की कोई वस्तु ऐसी नहीं है जो उचित रस के विभाव से रस का अंग नही बन जाती। कहा है—

> अपारेकाव्य संसारे कविरेकः प्रजापतिः।
> यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते॥
> शृंगारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्।
> स एवः वीतरागश्चेन्नीरसं सर्वमेव तत्॥
> भावानचेतनानपि चेतनवच्चेतनानचेतनवत्।
> व्यवहारयति यथेष्टं सुकविः काव्ये स्वतन्त्रतया॥

अर्थात् अपार काव्य-संसार में कवि एक प्रजापति है। जिस प्रकार उसे संसार

लगता है, उस प्रकार उसे बदल देता है। यदि कवि काव्य में शृङ्गारी है तो सारा समार ही रसमय हो गया और यदि कवि ही वीतराग है तो सभी कुछ नीरस हो गया। सुकवि स्वतन्त्र रूप से काव्य मे अचेतन भी भावों को चेतन की तरह और चेतन भी भावों को अचेतन की तरह अंकित करता है।

इसलिये रस मे तात्पर्य रखने वाले कवि के लिये कोई ऐसी वस्तु नही है जो सब तरह से उसकी इच्छानुरूप रस का अङ्ग नही हो जाती, किंवा अतिशय चारुत्व को नही बढाती। यह सब महाकवियो के काव्यो मे दृष्टिगोचर होता है।

किन्तु प्राथमिक अभ्यासार्थी कवियों का चित्र से व्यवहार हो सकता है, लेकिन परिपक्व कवित्व वाले कवियों के लिये ध्वनि ही काव्य है। यही कारण है कि चित्र-काव्य को प्रशंसनीय नही माना गया है। उसे अधम काव्य की संज्ञा दी गई है। अत मनीषियो को उत्तम काव्य के निर्माण मे ही संलग्न होना चाहिए। मध्यम काव्य का भी निर्माण उचित है किन्तु अधम काव्य के निर्माण मे तो मात्र कालक्षेप ही कहा जा सकता है।

———

प्रश्न — २४. प्रतीयमान कृत छाया और स्त्रियों की लज्जा में साम्य स्थापित करते हुए काकु के अर्थान्तर प्रतीति के स्थल में गुणीभूत व्यंग्यत्व सिद्ध कीजिये तथा गुणीभूत व्यंग्य के विषय में ध्वनि की योजना नहीं करनी चाहिए, इस बात को स्पष्ट करते हुए रसादि तात्पर्य की पर्यालोचना से गुणीभूत व्यंग्य का भी ध्वनि रूपत्व सिद्ध कीजिये।

उत्तर—

मुख्या महाकविगिरामलङ्कृति - भृतामपि।
प्रतीयमानच्छायैषा भूषा लज्जेव योषिताम्॥
(ध्वन्यालोक)

अर्थात्—महाकवियों की अलंकार अलंकारयुक्त वाणी की प्रतीयमानकृत छाया स्त्रियों की लज्जा की तरह मुख्य भूषा है। इससे सुप्रसिद्ध भी अर्थ कुछ कमनीय बन जाता है जिस प्रकार शृंगार रस की तरङ्गिणी लज्जा से अवरुद्ध होकर नेत्र, गात्र के विकार अनिर्वचनीय विलासो को उत्पन्न करते है, उसी प्रकार यह प्रतीयमान छाया भी चमत्कारकारी अर्थों की प्रतीति करानी है। जैसे:—

विश्रम्भोत्था मन्मथाज्ञा विधाने,
ये मुग्धाक्ष्याः केऽपि लीला विशेषाः।
अक्षुण्णास्ते चेतसा केवलेन,
स्थित्वैकान्ते सन्ततं भावनीयाः॥

अर्थात्—मन्मथ की आज्ञा के विधान मे जो मुग्धाक्षी के विश्रम्भ से उत्पन्न कुछ अपूर्व लीला विशेष है, उन्हे अक्षुण्ण रूप मे एकान्त मे बैठकर एकाग्रचित्त से अनुभव करना चाहिए तात्पर्य यह है कि त्रिभुवन द्वारा वन्द्यमान शासन वाले, अतएव लज्जा और साध्वस का ध्वंस कर देने वाले मन्मथ की दी हुई जो यह अलङ्घनीय आज्ञा है उसके अनुष्ठान मे साध्वस और लज्जा के त्याग मे विस्रम्भ सम्भोग के अवसर पर मुग्धाक्षी के अकृत्रिम सम्भोग के परिभावन से उचित दृष्टि प्रसार द्वारा पवित्रित जो गात्र और नेत्र के विकार रूप विलास है, वे नव-नव रूप से प्रतिक्षण उन्मिषित हो रहे हैं। उन्हे केवल व्यग्रतारहित एकान्त मे समस्त इन्द्रियों का उपसंहार करके भावना करनी चाहिए क्योंकि कुछ अपूर्वता उनमे है जो उपायान्तर से निरूपित नहीं किये जा सकते।

इसमे वाच्य का अस्पष्ट अभिधान करते हुए 'कुछ' इस पद ने अक्लिष्ट और अनन्त प्रतीयमान को अर्पित करते हुए कौन सी शोभा उत्पन्न नही की और काकु से जो अर्थान्तर देखा जाता है वह व्यंग्य के गुणीभाव होने पर इस प्रकार को आश्रयण करता है, अर्थात् हृदयस्थ वस्तु की प्रतीति की ईषद् भूमि काकु है, उससे जो अर्थान्तर की प्रतीति होती है, वह गुणीभूत व्यंग्य के प्रकार का आश्रयण करती है, तथा जो यह काकु से कही पर अर्थान्तर की प्रतीति देखी जाती है, वह व्यंग्य अर्थ के गुणीभाव होने पर गुणीभूत व्यंग्य रूप काव्य प्रभेद आश्रयण करती है जैसे —

'स्वस्था भवन्ति मयि जीवति धार्तराष्ट्राः'।

अर्थात्—मेरे जीते जी धृतराष्ट्र के पुत्र स्वस्थ हो जांय, यहाँ पर काकु के द्वारा मेरे जीते जी धृतराष्ट्र के पुत्र कैसे स्वस्थ हो जायेंगे, यह अर्थ ध्वनित होता है। अथवा इस उदाहरण मे—

आम् असत्यः उपरम पतिव्रते,
न त्वया मलिनितं शीलम्।
किं पुनर्जनस्य जायेव,
नापितं तं न कामयामहे॥

अर्थात्—हाँ, हम तो बदचलन हैं, रुक जा, अरी पतिव्रता, तू ने अपनी आबरु को मैला नहीं किया, और फिर हम तो किसी आदमी की पत्नी की तरह उस जीवन को नहीं चाहतीं।

यहाँ पर 'हाँ, हम बदमाशी करते हैं' अभ्युपगम काकु आकांक्षा और उपहास के सहित है, 'रुक जा' यह निराकांक्ष होने के कारण सूचनगर्भ काकु है। 'अरी पतिव्रता' यह दीप्त स्मित से युक्त है, 'तूने आबरु को मैला नही किया' यह गद्गद् भाव और आकाक्ष से उक्त है, 'और किसी आदमी की पत्नी की तरह नाई को नही चाहती' यह निराकांक्ष गद्गद भाव एवं उपहास से युक्त है। यह किसी नाई से फंसी

कुलवधू द्वारा अविनय देखकर भिल्ली उड़ाई गई किसी नायिका की प्रत्युपहास से युक्त उक्ति काकुपूर्ण ही है।

शब्द शक्ति ही अपने सामर्थ्य से आक्षिप्त काकु की सहायता से अर्थ विशेष की प्रतिपत्ति का हेतु है न कि काकु मात्र क्योंकि विषयान्तर में स्वेच्छा से प्रयुक्त काकु मात्र से उस प्रकार के अर्थ की प्रतिपत्ति सम्भव नहीं, वह अर्थ काकु विशेष की सहायता वाले शब्द के व्यापार से उपारूढ होकर भी अर्थ की सामर्थ्य से व्याप्त है, इसलिये व्यंग्य रूप ही है, लेकिन जब उस व्यंग्य विशिष्ट वाच्य की प्रतीति वाचकत्व के अनुगम से ही होती है, तब उस प्रकार का अर्थ द्योतन करने वाले काव्य का गुणीभूत व्यंग्य रूप में व्यपदेश होता है क्योंकि उस व्यंग्य से विशिष्ट वाच्य का अभिधान करने वाला गुणीभूत व्यंग्य है। तात्पर्य यह है कि इस प्रकार काकु की योजना में सर्वत्र गुणीभूत व्यंग्यता ही है। "मथ्नामि कौरवशत समरे न कोपात" इत्यादि उदाहरण में कुछ लोगों ने विपरीत लक्षणा की कल्पना की है, जो अनुचित है क्योंकि इसमें उच्चारण काल में ही 'न कोपात्' इस दीप्त, तार, गद्गद् और साकांक्ष काकु के बल से निषेध का निषिध्यमान रूप से ही युधिष्ठिर के अभिमत सन्धि के मार्ग के अक्षमत्व के अभिप्राय में प्रतीति हो जाती है। हाँ, 'दर्शयेजेत' इत्यादि उदाहरणों में काकु आदि उपायान्तर न होने के कारण विपरीत लक्षणा हो सकती है।

जो विषय इस प्रभेद का अर्थात् गुणीभूत व्यंग्य का युक्ति से प्रतीत हो जाता है, वहाँ विद्वज्जनों को ध्वनि की योजना नहीं करनी चाहिए। कहा है -

प्रभेदस्यास्य विषयो यश्च युक्त्या प्रतीयते।
विधातव्या सहृदयैर्न तत्र ध्वनि योजना॥

लक्ष्य में कुछ मार्ग ध्वनि का और गुणीभूत व्यंग्य का दृष्टिगत होता है जो संकीर्ण सा है, ऐसे स्थलों पर जहाँ जिसके साथ युक्ति हो, वहाँ वैसा व्यपदेश करना चाहिए। सर्वत्र ध्वनि का ही पक्षपाती नहीं होना चाहिए। जैसे इस उदाहरण में:—

पत्युः शिरश्चन्द्र कलामनेन स्पृशेति सख्या परिहासपूर्वम्।
सा रञ्जयित्वा चरणौ कृताशीर्माल्येन तां निर्वचनं जघान॥

अर्थात्—'पति के सिर की चन्द्रकला को इससे स्पर्श करना' यह कहकर सखी के द्वारा परिहासपूर्वक चरणों को रंगकर आशीर्वाद दी गई उस पार्वती ने बिना कुछ कहे ही माला से उस सखी को मारा।

यहाँ पर निरन्तर पैरों पर गिरकर मनाये बिना झट से पति की इच्छा के अनुकूल मत चलना, यह उपदेश सखी के द्वारा दिया गया है। 'चन्द्रकलामनेन स्पृश' इस वाक्य से शंकर के सिर पर रखी हुई चन्द्रकला को तिरस्कृत करो यह कहकर सौतों का पराजय कहा गया है और 'बिना कुछ कहे ही' इस कथन में यद्यपि लज्जा, अवहित्थ, हर्ष, ईर्ष्या, साध्वस, एवं सौभाग्याभिमान ध्वनित होते है,

तथापि वे कुमारी जन के योग्य 'बिना कुछ कहे' शब्द के अप्रतिपत्ति रूप अर्थ के उपस्कारक हो जाते है और उपस्कृत अर्थ शृंगार का अंग बन जाता है।

यथा वा—

प्रयच्छतोच्चैः कुसुमानि मानिनी,
विपक्षगोत्रं दयितेन लम्भिता।
न किञ्चिदूचे चरणेन केवलं,
लिलेख वाष्पाकुल लोचना भुवम्॥

अर्थात्—ऊँचे से फूल देते हुए प्रियतम मे सौत का नाम लिये जाने पर मानिनी ने कुछ नही कहा, केवल आँखो मे आसू भरकर पैर से जमीन कुरेदने लगी।

इन दोनो उदाहरणों मे क्रमशः 'बिना कुछ कहे मारा' और 'कुछ नही बोली' इस प्रतिषेध के द्वारा व्यंग्यार्थ का उक्ति के द्वारा प्रकटन कर दिये जाने के कारण यहाँ गुणीभाव ही शोभित होता है। जब वक्रोक्ति के बिना व्यग्य अर्थ तात्पर्य से प्रतीत होता है, तब उसका प्राधान्य होता है। जैसे—

एवं वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीलाकमल पत्राणि गणयामास पार्वती॥

इस उदाहरण मे यहाँ भङ्गी से उक्ति है। अत वाच्य का भी प्राधान्य है। इसलिये यहाँ अनुरणन रूप व्यग्य ध्वनि का व्यपदेश नही करना चाहिए।

यह गुणीभूत व्यंग्य भी रसादि के तात्पर्य के पर्यालोचन से पुन ध्वनि रूप हो जाता है जैसे—

दुराराधा राधा सुभग यदनेनापिमृजत,
स्तवैतत्प्राणेशाजघनवसनेनाश्रु पतितम्।
कठोर स्त्री चेतस्तदलमुपचोरेर्विरम हे,
क्रियात्कल्याण वो हरिरनुनयष्वेवमुदित.॥

अर्थात्—हे सुभग, प्राणेश्वरी के इस जघन वस्त्र से भी गिरे हुए आँसू को तुम्हारे पोछने से राधा प्रसन्न होने वाली नही है। स्त्री का चित्त कठोर होता है, उपचार व्यर्थ है, बस करो, इस प्रकार अनुनय के अवसरो मे राधा द्वारा कहे गये कृष्ण आप लोगो का कल्याण करें।

इस प्रकार स्थित होने पर 'न्यक्कारोह्ययमेव' इत्यादि श्लोक मे निर्दिष्ट पदो का व्यंग्यविशिष्ट वाच्य के प्रतिपादन मे इसके वाक्यार्थीभूत रस की अपेक्षा मे व्यञ्जकत्व कहा है। उन पदो मे अर्थान्तर सङ्क्रमित वाच्य ध्वनि का भ्रम नहीं करना चाहिए क्योंकि वे विवक्षित वाच्य होते हैं। उनमे वाच्य का व्यंग्यविशिष्टत्व प्रतीत होता है न कि व्यग्य रूप मे परिणतत्व प्रतीत होता है। इसलिये वाक्य वहाँ ध्वनिरूप है और पद गुणीभूत व्यंग्य है। केवल गुणीभूत व्यग्य ही पद अलक्ष्य क्रम व्यंग्य ध्वनि के व्यञ्जक नही होते, अपितु ध्वनि के प्रभेदरूप, अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य भी। जैसे इसी श्लोक मे 'रावण' इस पद का प्रभेदान्तर रूप का व्यञ्जकत्व

है, किन्तु जिस वाक्य में रसादि में तात्पर्य नही होता, गुणीभूत व्यंग्य पदों से उद्भासित भी उसमें गुणीभूत व्यग्यता ही समुदाय रूप धर्म है, जैसे इस उदाहरण मे—

राजानमपि सेवन्ते विषमप्युपयुञ्जते ।
रमन्ते च सह स्त्रीभिः कुशलाः खलु मानवाः ।।

अर्थात्—राजाओं की भी सेवा करते है, विष का भी भक्षण करते है और स्त्रियों के साथ रमण भी करते हैं, मानव बड़े कुशल होते है।

इसमे कुशल शब्द मानव शब्द के साथ लगाये जाने से गुणीभूत व्यग्य है। इसलिये वाच्य और व्यंग्य के प्राधान्य और अप्राधान्य के विवेक मे अधिक प्रयत्न करना चाहिए जिससे ध्वनि तथा गुणीभूत व्यग्य का और अलंकारों की असङ्कीर्णता स्पष्टतया परिलक्षित हो सके। अन्यथा अलंकार के सम्बन्ध मे भ्रम हो सकता है। जैसे—

लावण्यद्रविणव्ययो न गणितः क्लेशो महान् स्वीकृतः,
स्वच्छन्दस्य सुखं जनस्यवसतश्चिन्तानलो दीपितः।
एषापि स्वयमेव तुल्यरमणाभावाद्वराकी हता,
कोऽर्थश्चेतसि वेधसा विनिहितस्तन्व्यास्तनुं तन्वता ।।

अर्थात्—विधाता ने लावण्य रूपी धन के व्यय की परवाह नही की, महान् क्लेश उठाया, स्वच्छन्द भाव से सुखपूर्वक निवास करते हुए लोगो के मन में चिन्ता की आग लगाई, और इस बेचारी को भी समान प्रिय के प्राप्त न होने से स्वय ही मार डाला। समझ मे नही आता कि विधाता ने उसकी शरीर-रचना करते समय मन मे क्या लाभ सोच रखा था।

कुछ लोग इसमें व्याजस्तुति अलंकार मानते हैं जो अनुचित है क्योंकि यह अभिधेय इस अलकार के स्वरूप मे सुसङ्गत रूप पर्यवसित नही होता। यह किसी रागी पुरुष की उक्ति भी नही है क्योंकि 'इस बेचारी को समान प्रिय प्राप्त न होने से स्वयं ही मार डाला' यह उसकी उक्ति युक्तिसंगत नहीं बैठती। रागरहित पुरुष का भी विकल्प नही होता क्योंकि उसका इस प्रकार के विकल्पों का परिहार एकमात्र व्यापार है, यह श्लोक कही प्रबन्ध में भी दृष्टिगत नहीं होता जिससे इसका प्रकरण लभ्य अर्थ प्रतीत हो सके। अतः यह अप्रस्तुत प्रशंसा है। गुणीभूत व्यंग्य से यह किसी अह मानी विद्वान् व्यक्ति का करुण क्रन्दन है, यह प्रतीत होता है। अप्रस्तुत प्रशंसा मे वाच्य कभी विवक्षित, कभी अविवक्षित और कभी विवक्षिताविवक्षित होता है। इस प्रकार यह तीन प्रकार की होती है। विवक्षित का एक उदाहरण देखिये—

अमी ये दृश्यन्ते ननु सुभग रूपाः सफलता,
भवत्येषां यस्य क्षणमुपगतानां विषयताम्।
निरालोके लोके कथमिद महो चक्षुरधुना,
समं जातं सर्वैर्नसममथवान्यैरवयवैः ।।

अर्थात्—ये जो सुन्दर रूपों वाले शरीर के अवयव दृष्टिगोचर होते है, इनकी जिसका क्षण भर विषय हो जाने से सफलता होती है. आश्चर्य है, यह चक्षु भी अब अन्धकारमय जगत मे सभी अन्य अवयवो के समान भी नही रहा।

इसमे चक्षु विवक्षित स्वरूप ही है न कि प्रस्तुत है क्योकि महान् गुणवाला अविषय मे पड़े होने के कारण पर भाग को प्राप्त न हो सका। अविवक्षित वाच्य जैसे—

> कस्त्वं भो कथयामि दैवहतकं मां विद्धि शाखोटकं,
> वैराग्यादिव वक्षि, साधुविदितं कस्मादिदं कथ्यते।
> वामेनात्र वटस्तमध्वगजनः सर्वात्मना सेवते,
> नच्छायापि परोपकारकारिणी मार्गस्थितस्यापि मे ॥

अर्थात्—तुम कौन हो ? कहता हूँ, मुझे दैव का मारा शाखोटक समझो, जैसे वैराग्य से बोल रहे हो, तुमने ठीक समझा, यह क्यों ? कहता हूँ, दाईं ओर यहाँ बटवृक्ष है, उसे पथिक जन सब प्रकार से सेवन करते है, मार्ग पर खड़े भी मेरी छाया परोपकार करने वाली नही है।

यहाँ पर किसी वृक्ष के साथ बातचीत सम्भव नही, इसीलिये अविवक्षित अभिधेय वाले ही इस श्लोक से समृद्ध असत्पुरुष के समीप रहने वाले किसी निर्धन मनस्वी का निर्वेद वचन तात्पर्य द्वारा वाक्यार्थ किया गया है, यह प्रतीत होता है। कही पर विवक्षित और अविवक्षित दोनो होते हैं जैसे—

> उप्पहजाआएँ असोहिणीए फलकुसुमपत्तरहिआएं।
> वेरीएँ वइं देन्तो पामरं हो ओहसिज्जिहसि ॥

अर्थात्—अरे नीच ! कुमार्ग मे उत्पन्न हुई, अशोभन, फल, फूल और पत्तों से रहित वदरी को बोता हुआ तू उपहास का पात्र होगा।

यहाँ पर वाच्य का सम्भव नही है, यह नही कह सकते क्योंकि व्यंग्य भी सम्भव है, जैसे कि कुमार्ग मे पैदा हुई अर्थात् उस प्रकार की कुलीन नही, अशोभन अर्थात् लावण्यरहित, फल, फूल और पत्तों से रहित, इस प्रकार की भी कोई पुत्रवती अथवा भाई आदि से युक्त या सम्बन्धी वर्ग द्वारा पोषित होकर रक्षित होती है। हे पामर, वदरी को बोता हुआ सभी लोगों द्वारा उपहास का पात्र बनेगा।

अतः स्पष्ट है कि यहाँ पर वाच्यार्थ न अत्यन्त सम्भवी, है और न असम्भवी, इसलिये वाच्य और व्यंग्य के प्राधान्य किंवा अप्राधान्य का विवेकपूर्वक निरूपण करना चाहिए।

प्रश्न—२५. रस विरोधी तत्वों का निरूपण करते हुए एक रस की अंगीकारिता को स्पष्ट कीजिये।

उत्तर—प्रबन्ध मे किंवा मुक्तक मे रस का निबन्धन करने का प्रयत्न करने वाले कवि को विरोधी रसों के परिहार में प्रयत्न करना चाहिए। कहा है.—

प्रबन्धे मुक्तके वापिरसादीन्बधुमिच्छता ।
यत्नः कार्यः सुमतिना परिहारे विरोधिनाम् ॥

अब प्रश्न यह होता है कि वे विरोधी कौन है जिनका कवि को परिहार करना चाहिए ? इसका उत्तर यह है कि विरोधी रस से सम्बन्ध रखने वाले विभाव आदि का रस से सम्बन्ध होने पर भी अन्य वस्तु का विस्तार से वर्णन, असमय मे ही रस का विच्छेद और असमय मे ही प्रकाशन, रस के परिपोष प्राप्त कर लेने पर भी बार-बार उसका ही उद्दीपन और वृत्ति का अनौचित्य, ये पाँच रस के विरोधी है ।

प्रस्तुत रस की अपेक्षा विरोधी रस से सम्बन्ध रखने वाले विभाव, भाव और अनुभाव का परिग्रह रस के विरोध का हेतु हो सकता है । उनमें विरोधी रस के विभाव का परिग्रह, जैसे शान्त रस के विभावों में उनके विभाव रूप से ही निरूपित होने के बाद ही शृंगार आदि के विभाव वर्णन में । विरोधी रस के भाव का परिग्रह जैसे-प्रिय के प्रति कामिनियों के प्रणय कलह से कुपित होने पर वैराग्य की कथाओ द्वारा अनुनय करने पर । विरोधी रस के अनुभव का परिग्रह, जैसे—प्रणय कुपित होने पर प्रिया के प्रसन्न न होने की स्थिति मे कोप के आवेश से विवश नायक के रौद्र के अनुभावो के वर्णन मे ।

यह दूसरा रसभंग का कारण है कि प्रस्तुत रस की अपेक्षा किसी प्रकार सम्बद्ध भी अन्य वस्तु का विस्तार से वर्णन करना । जैसे विप्रलम्भ शृंगार में किसी नायक के वर्णन का उपक्रम करने पर कवि की यमक आदि अलंकारो के निबन्धन में रसिकता के कारण बढ़ा-चढ़ाकर पर्वत आदि के वर्णन मे । असमय में ही रस का विच्छेद और असमय में ही उसके प्रकाशन को भी रसभंग का कारण समझना चाहिए । असमय जैसे—किसी नायक का स्पृहणीय समागम वाली किसी नायिका के साथ शृंगार के परम परिपोष की अवस्था तक पहुँचने पर और परस्परानुराग के विदित होने पर समागम की चिन्तायोग्य वर्णन को छोड़कर स्वतन्त्र रूप से दूसरे व्यापार का वर्णन करने पर, असमय मे रस का प्रकाशन जैसे—प्रलय काल सदृश युद्ध मे विप्रलम्भ शृंगार के उपक्रम के बिना और बिना उचित कारण के राम सरीखे देवता का भी शृंगार कथा मे वर्णन करना । इस प्रकार के विषय में नायक का दैववश व्यामोहित हो जाना उसके दोष का परिहार नही है क्योंकि मुख्य रूप से कवि की प्रवृत्ति रसबन्ध की ओर ही होनी चाहिए । इतिवृत्त का वर्णन तो रसबन्ध का उपाय ही है, जैसे प्रकाश चाहने वाला व्यक्ति दीपक जलाने का प्रयत्न करता है, उसी प्रकार रस निबन्धन करने का इच्छुक व्यक्ति इतिवृत्त का आश्रय लेता है, जो लोग मात्र इतिवृत्त के वर्णन में दत्तचित्त रहा करते हैं और जो अङ्गाङ्गि भाव से अपने वर्णनों मे रस योजना नही कर पाते, वे ही स्खलित हुआ करते है ।

रस का वार-वार उद्दीपन भी रस भङ्ग का कारण हुआ करता है क्योंकि वह रस परिम्लान पुरुष की तरह निस्तेज हो जाया करता है। व्यवहार का अनौचित्य भी रस भंग का कारण हुआ करता है। जैसे नायक के प्रति किसी नायिका के द्वारा उचित भंगी के बिना स्वयं सम्भोग की इच्छा-व्यक्त करने में। कैशिकी और उपनागरिका आदि वृत्तियों का अनौचित्य में निबन्धन भी रसभंग का कारण होता है। अतः इनका परिहार करना चाहिए। कहा है—

मुख्या व्यापार विषयाः सुकवीनां रसादयः।
तेषां निबन्धने भाव्यं तैः सदैवा प्रमादिनः॥
नीरसस्तु प्रबन्धो य सोऽपशब्दो महान् कवेः।
स तेना कविरेवस्या दन्येनास्मृत लक्षणः॥
पूर्वे विशृङ्खल गिरः कवयः प्राप्त कीर्तयः।
तान्समाश्रित्य न त्याज्या नीतिरेषा मनीषिणा॥
वाल्मीकि व्यास मुख्याश्च ये प्रख्याता कवीश्वराः।
तदभिप्राय बाह्योऽयं नास्माभिर्दर्शितो नय.॥

विवक्षित रस के लब्धप्रतिष्ठ हो जाने पर बाध्य या अङ्ग भाव को प्राप्त विरोधियों का कथन दोपरहित है। विरोधियों का बाध्यत्व उनके अभिनव सम्भव होने पर सम्भव हो सकता है, अन्यथा नही। इसलिये उनका कथन प्रस्तुत रस के परिपोष के लिये ही सम्पन्न होगा। उनके अंगभाव-प्राप्त होने पर उनका विरोधित्व ही निवृत्त हो जाता है। उनके अंग भाव की प्राप्ति स्वाभाविक अथवा समारोपकृत होती है। उनमें से जिनकी प्राप्ति नैसर्गिक है, उनके कथन में तो कोई विरोध ही नहीं जैसे विप्रलम्भ शृंगार मे उसके अंगभूत व्याधि आदि का, तथा न उनके अंगों का दोष है और न उनका जो दोष नही है। उनका अंग सम्भव होने पर भी मरण का उपनिबन्धन ठीक नही है क्योंकि आश्रय के विच्छेद हो जाने पर रस का अत्यन्त विच्छेद हो जाता है। इस प्रकार के विषय मे करुण का परिपोष भी नही होगा क्योंकि वह प्रस्तुत नही है और जो प्रस्तुत है, उसका विच्छेद हो जाता है। हाँ, जहाँ करुण का ही काव्यार्थत्व है, वहाँ विरोध नही है।

इसी प्रकार शृंगार मे शीघ्र मिलन सम्भव होने पर मरण का कभी-कभी उपनिबन्धन अत्यन्त विरोधी नही होता है। जैसे इस श्लोक में:—

तीर्थे तोय व्यतिकरभवे जह्नुकन्या सरय्वो,
देहत्यागादमरगणनालेख्यमासाद्य सद्यः।
पूर्वाकाराधिक चतुरया सङ्गतः कान्तयासौ,
लीलागारेष्वरमतपुनर्नन्दना भ्यन्तरेषु॥

अर्थात्—गंगा और सरयू के सङ्गम से बने तीर्थ मे शरीर त्याग करके सद्यः देवताओं मे गणना प्राप्त कर, पूर्व आकृति से अधिक सुन्दर प्रियतमा के साथ वह अज-नादन वन के भीतरी लीलागारों मे रमण करने लगा। यहाँ स्पष्टतः मरण रति का अंग

है। कवि ने मरण में पदबन्ध मात्र नहीं किया क्योंकि दीर्घ काल में मिलन होने पर उस रस का बीच में प्रवाह विच्छेद ही हो जायेगा। इसलिये इस प्रकार के इतिवृत्त वर्णन को रसबन्ध, प्रधान कवि को छोड़ देना चाहिए। उनमें से विवक्षित रस के लब्धप्रतिष्ठ होने पर बाध्यरूप से विरोधी रसाङ्गों के कथन में दोष का अभाव होता है, जैसे—

> क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलं भूयोऽपि दृश्येत सा,
> दोषाणां प्रशमाय मे श्रुतमहो कोपेऽपि कान्तं मुखम्।
> किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषाः कृतधियः स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा,
> चेतः स्वास्थ्यमुपैहि कः खलु युवा धन्योऽधरं पास्यति॥

अर्थात्—वह ब्राह्मण कन्याभिलाष रूप अकार्य कहाँ और चन्द्रवंश कहाँ? फिर वह दृष्टिगोचर हो गई। मैंने शास्त्रों का श्रवण दोषों के शमन के लिये किया है। अहो, क्रोध में भी उसका मुख सुन्दर लगता था। पापरहित विद्वान् क्या कहेंगे? वह स्वप्न में भी दुर्लभ हो गई। अरे, चित्त स्वस्थ हो जा, कौन युवक उसका अधर पान करेगा? अथवा महाश्वेता के प्रति पुण्डरीक के अधिक अनुरक्त हो जाने पर दूसरे मुनिकुमार कपिञ्जल के उपदेश के वर्णन में स्वाभाविक अङ्गभाव की प्राप्ति से दोष का अभाव, जैसे—

> भ्रमिमरतिमलसहृदयतां,
> प्रलयं मूर्छां तमः शरीर सादम्।
> मरणं च जलद भुजगजं,
> प्रसह्य कुरुते विषं वियोगिनीनाम्॥

अर्थात्—मेघ रूपी भुजङ्ग से उत्पन्न विष वियोगिनियों के लिये चक्कर, अरति, आलस्य, प्रलय, मूर्छा, मोह, शारीरिक कष्ट और मरण हठात् कर देता है।

समारोपित अङ्ग भाव की प्राप्ति में भी विरोध का अभाव होता है जैसे—

> पाण्डुक्षामं वदनं हृदयं सरसं तवालसं च वपुः।
> आवेदयति नितान्तं क्षेत्रियरोगं सखि हृदन्तः॥

अर्थात्—हे सखी, तेरा पीला और मुरझाया हुआ मुख, सरस हृदय, आलस्य भरा शरीर हृदय के भीतर साध्य न होने वाले रोग को सूचित करते हैं।

आधिकारिका होने के कारण प्रधानभूत एक वाक्यार्थ में परस्पर विरोधी दो रसों किंवा भावों का अङ्गभाव प्राप्त होने पर भी विरोध नहीं होता, जैसे 'क्षिप्तो-हस्तावलग्न."० इत्यादि उदाहरण में नहीं हुआ क्योंकि वे दोनों अंग रूप से व्यवस्थित होते हैं। विधि में ही दो विरोधियों के समावेश का दोष है, अनुवाद में नहीं। जैसे—

> एहि गच्छ पतोत्तिष्ठ वद मौनं समाचर।
> एवमाशा ग्रहग्रस्तैः क्रीडन्ति धनिनोऽर्थिभिः॥

अर्थात्—आओ, जाओ, बैठो, उठो, बैठो, चुप हो जाओ, इस प्रकार धनी लोग आशा के ग्रह ग्रस्त याचकों के साथ खिलवाड़ करते है।

यहाँ विधि और प्रतिषेध के अनूद्यमान रूप में समावेश करने पर विरोध नहीं है। यह कहना असंगत होगा कि रसों में विधि अनुवाद का व्यवहार नहीं है क्योंकि उनको वाक्यार्थ रूप मे माना जाता है, वाक्यार्थ और विधि अनुवादों में जो विधि अनुवाद है, उन्हें वाक्यार्थ द्वारा आक्षिप्त रसों मे कौन रोक सकता है? या जो रसादि को काव्य का साक्षात् अर्थ नहीं मानते, उन्हें उन रसादि की तन्निमित्तता अवश्य माननी चाहिए।

कहीं पर दो विरुद्ध सहकारी वाले कारण से कार्य विशेष की उत्पत्ति देखी जाती है। एक साथ एक कारण का विरुद्ध फल के उत्पादन का हेतुत्व विरुद्ध है न कि दो विरोधियो का सहकारी होना विरुद्ध है, इस प्रकार के विरुद्ध पदार्थों के अभिनय के सम्बन्ध मे भी यही बात लागू होगी जो अनूद्यमान वाच्य के सम्बन्ध में लागू होती है।

प्रशंसनीय अभ्युदय वाले किसी नायक के प्रभावातिशय वर्णन में उसके विरोधियों का जो करुण रस है, वह परीक्षक लोगो को व्याकुल नहीं करता, अपितु अतिशय प्रीत्युत्पादक हो जाया करता है। अत: वीर रस के आस्वादातिशय का विरोधी करुण रस के कुण्ठशक्तिक हो जाने से कोई दोष नहीं होता, इसलिये वाक्यार्थी-भूत रस या भाव के विरोधी को रस विरोधी कहना तो ठीक है लेकिन किसी रस या भाव के विरोधी को रस का विरोधी कहना युक्तिसंगत नहीं है।

यह भी कहा जा सकता है कि वाक्यार्थीभूत भी किसी करुण रस के विषय का उस प्रकार के शृङ्गार विषय के साथ भङ्गि विशेष का आधार लेकर संयोजन करना रस के परिपोष के लिये ही होता है क्योंकि प्रकृति मधुर पदार्थ शोचनीयता प्राप्त होकर पूर्व अवस्था मे होने वाले, स्मरण किये जाते हुए विलासों के कारण शोकावेग को अत्यधिक उत्पन्न करते है, जैसे—

अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तन विमर्दनः,
नाभ्यूरु जघन स्पर्शी नीवी विस्रंसनं करः॥

अर्थात्—रशना को ऊपर खींचने वाला, पुष्ट स्तनों का मर्दन करने वाला, नाभि, उरु तथा जघन का स्पर्श करने वाला, नीवी को ढीली करने वाला यह वही हाथ है। यहां पर शिवजी के अपराध काम जिस प्रकार व्यवहार करता है, उस प्रकार व्यवहार किया, इस प्रकार भी निर्विरोधित्व है ही, अतः जैसे-जैसे निरूपण होगा वैसे-वैसे दोष का अभाव होगा। इस प्रकार अन्यत्र भी निर्विरोधित्व समझना चाहिये, जैसे—

आमन्त्यः क्षत कोमलाङ्ग लिगलद्रक्तैः सदर्भाः स्थलीः,
पादैः पातित यावकैरिव पतद्बाष्पाम्बुधौताननाः।
भीता भर्तृकरावलम्बितकरास्त्वद्वैरिनार्योऽधुना,
दावाग्निं परितो भ्रमन्ति पुनरप्युद्यद्विवाहा इव॥

अर्थात्—कोमल अंगुलियों के क्षत हो जाने से रक्त टपकाती हुई, मानों यावक रस को गिराती हुई पैरों से कुशों वाली भूमि को पार करती हुई, गिरते हुए अश्रुजल से धुले मुखों वाली, डरी हुई, पति के हाथ में हाथ पकड़ाये हुई, तुम्हारे शत्रु की स्त्रियाँ इस समय वनाग्नि के चारों ओर भ्रमण किया करती है, मानों उनका पुनः विवाह होने लगा हो।

यह तो हुई बातें रस विरोधी का रस के साथ समावेश करने अथवा न करने की। अब प्रबन्ध में उन्हे रखने का जो उचित क्रम है, उस पर प्रकाश डाला जायेगा। यद्यपि प्रबन्ध में अनेक रसों का निबन्धन किया जा सकता है, तो भी उनका उत्कर्ष चाहने वाले कवि को अनेक रसों के स्थान पर एक ही रस को स्वीकार करना चाहिए क्योंकि रसान्तरों के साथ एक रस का मुख्यतया संयोजन करने से मुख्य रस के अङ्गित्व का उपहनन नही होता।

जिस तरह प्रबन्ध का एक व्यापक कार्य बनाया जाता है, उसी प्रकार रस के विधान में भी कोई विरोधी नही है। प्रबन्ध मे सन्धि आदि के द्वारा अन्य कार्यों के सकीर्ण होने पर भी उनमे प्राधान्य का अपचय नही होता। उसी तरह एक के भी सन्निवेश किये जाने पर कोई विरोधी नही होता।

अब प्रश्न यह हो सकता है कि जिन रसो का परस्पर विरोध नही है जैसे वीर और शृंगार का, शृंगार और हास्य का, रौद्र और शृंगार का, वीर और अद्भुत का, वीर और रौद्र का, रौद्र और करुण का और शृङ्गार तथा अद्भुत का, उनमें तो अगाङ्गि भाव हो सकता है, पर उनका अङ्गाङ्गि भाव कैसे होगा जिनमें परस्पर बाध्यबाधक भाव है? जैसे शृङ्गार और बीभत्स का, वीर और भयानक का, शान्त और रौद्र का या शान्त और शृंगार का।

इसके उत्तर मे कहा जा सकता है कि अन्य रस के अंगी होने पर अविरोधी या विरोधी रस को परिपोष तक नही पहुँचाना चाहिये, इस प्रकार विरोध नहीं होगा। उनमे अविरोधी रस का अंगीरस की अपेक्षा अत्यन्त आधिक्य नही करना चाहिए। उत्कर्ष का साम्य होने पर भी दोनों का विरोध सम्भव नही है। जैसे—

एकतो रोदिति प्रिया अन्यतः समरतूर्य निर्घोषः।
स्नेहेन रणरसेन च भटस्य दोलायितं हृदयम्॥

अर्थात्—एक ओर प्रिया रो रही है और दूसरी ओर युद्ध के तूर्य का गर्जन है। स्नेह और युद्ध प्रेम से वीर का हृदय दोलायित हो रहा है।

यथा वा—

कण्ठाच्छित्वाक्षमालावलयमिव करेहारमावर्तयन्ती,
कृत्वा पर्यङ्कबन्धं विषधर पतिना मेखलाया गुणेन।
मिथ्या मन्त्राभि जापस्फुरदधरपुर व्यञ्जिता व्यक्तहासा,
देवी सन्ध्याभ्यसूयाहसित पशुपतिस्तत्र दृष्टा तु वोऽव्यात्॥

अर्थात्—कण्ठ से हार निकाल कर अक्षमाला वलय की तरह हाथ में फेरती हुई, करधनी के गुण रूपी सर्पराज के द्वारा पर्यङ्कबन्ध आसन मारकर झूठ-मूठ के मन्त्र पढ़ने से फुरफुराते अधर पुट के द्वारा अव्यक्त हास्य व्यञ्जित करती हुई, सन्ध्यारूपी अपनी सौत के प्रति ईर्ष्यावश पशुपति अर्थात् शिवजी का उपहास करती हुई दृष्टिगोचर होने वाली पार्वती आप लोगों की रक्षा करें।

अंगीरस के विरुद्ध व्यभिचारी भावों का अधिकता से निवेशन न करना या निवेशन करने पर शीघ्र ही अंगीरस के व्यभिचारी की अनुवृत्ति करना यह दूसरा परिपोष का परिहार है। परिपोष तक पहुँचाये हुए अंगभूत रस की अंग रूप में बार-बार प्रत्यवेक्षा करना यह तीसरा परिपोष का परिहार है।

इसी प्रकार अन्य रसों की भी उत्प्रेक्षा की जा सकती है। किसी अंगीरस की अपेक्षा किसी विरोधी रस की न्यूनता सम्पादित करनी चाहिए। जैसे अंगी शान्त रस में शृंगार की अथवा शृङ्गार में शान्त की। इसप्रकार विरोधी तथा अविरोधी रसों का अङ्गाङ्गि भाव से समावेश होने पर प्रबन्धों में विरोध नहीं होता।

इस तरह अविरोधी तथा विरोधी रसों का प्रबन्ध में रहने वाले अंगी रस के साथ समावेश करते हुए स्थायी का जो एकाश्रय रूप से विरोधी हो, उसे विभिन्नाश्रय कर देना चाहिए। इस प्रकार उसके परिपोष होने में कोई दोष नहीं होता है।

विरोधी रस दो प्रकार का हुआ करता है—

(१) एकाधिकरण्य विरोधी।

(२) नैरन्तर्य विरोधी।

विरुद्ध एक आश्रय वाले विरोधी रस को जैसे—वीर रस के साथ भयानक, विभिन्नाश्रय करन देना चाहिए तथा उस वीर रस के आश्रय कथानायक के प्रतिनायक में भयानक रस का सन्निवेश करना चाहिए, इस प्रकार विरोधी रस का परिपोष निर्दोष हो जाता है, क्योंकि विपक्ष में अत्यन्त भय के वर्णन करने पर नायक की नीति, पराक्रम, आदि सम्पत्ति सुतरां प्रकट हो जाती है जो रस एकाधिकरण होने से निर्विरोध है किन्तु नैरन्तर्य में विरोधी है, उसे रसान्तर के व्यवधान से प्रबन्ध में निवेशित करना चाहिए। जैसे शान्त और शृंगार को नागानन्द में निवेशित किया गया है। तृष्णाक्षय रूप सुख का परिपोषक होने के कारण शान्त में तदनुरूप रस प्रतीत होता ही है। कहा भी है—

यच्च काम सुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥

अर्थात्—संसार में जो विषम सुख है और जो दिव्य महान् सुख है, ये दोनो तृष्णाक्षय रूप सुख के षोडशांश भी प्राप्त नहीं करते।

एक ही वाक्य में स्थित रहने वाले होने पर भी दो रसों का दूसरे रस के बीच में होने से विरोध नहीं होता। इस प्रकार सभी जगह विरोध और अविरोध

का निश्चय करना चाहिए, शृंगार मे विशेष रूप से क्योंकि वह सबसे सुकुमार है। शृङ्गार रस विरोधी का समावेश थोड़ा भी सहन नहीं कर पाता।

अतः सभी रसों से अतिशय सुकुमारता रखने वाले शृंगार रस में सावधानी से कवियों को प्रयत्न करना चाहिए। शृंगार रस संसारी जनों के नियमतः अनुभव का विषय होने के कारण और सभी रसो से कमनीय होने के कारण प्रधान है। शृंगार रस समस्त लोगों के मन को हरण करने वाला एव सुन्दर होता है, इसलिये उसके अंगों का समावेश काव्य में अतिशय शोभाधायक होता है। अतः विरोधी रस मे शृंगार के अगों का समावेश विरोधी नही है। जैसे इस उदाहरण मे—

सत्यं मनोरमा रामाः सत्यं रम्या विभूतयः।
किन्तु मत्ताङ्गनापाङ्ग भंग लोलं हि जीवितम् ॥

अर्थात्—यह सच है कि स्त्रियां मनोरम हुआ करती हैं और यह भी ठीक है कि विभूतियां रम्य हुआ करती है, किन्तु जीवन मतवाली अंगना के कटाक्षपात के समान चञ्चल हुआ करता है। इसमें रस विरोध का दोष नही है।

अतः स्पष्ट है कि रस आदि के अविरोध और विरोध के विषय को जान लेने के बाद सुकवि काव्य के सम्बन्ध मे कभी भी सन्देह में नही पड़ता।

प्रश्न—२६. रसादि के तात्पर्य से सन्निवेशित वृत्तियों का ही शोभावहत्व होता है, इस बात को ध्वनिकार के अनुसार सिद्ध कीजिये।

उत्तर—शब्द और अर्थ का रसादि के अनुरूप औचित्यवान् व्यवहार को वृत्ति कहते हैं। ये वृत्तियाँ दो प्रकार की होती हैं—

(१) कैशिकी आदि।
(२) उपनागरिका आदि।

ये वृत्तियां रसादि के तात्पर्य से सन्निवेशित होकर नाटय और काव्य की अपूर्व शोभा करती हैं। कुछ लोगों का यह मत कि रसादि का इतिवृत्त के साथ गुणगुणि व्यवहार मानना चाहिये न कि जीवशरीर व्यवहार, क्योंकि वाच्य रसादिमय प्रतीत होता है न कि रत्यादि से पृथग्भूत अनुचित है क्योंकि 'गौरत्वमयं शरीरम्' ऐसा कहने पर शरीर के प्रतीत होते ही गौरत्व सबको प्रतीति हो जायेगा, किन्तु वाच्य के साथ ही रसादि सहृदय और असहृदय को प्रतीत नही होते। यदि यह कहा जाय कि रत्नों के जात्यत्व की तरह वाच्यों का रसादि रूपत्व भी प्रतिपत्ता विशेष द्वारा ज्ञात हो जायेगा, तो भी यह कथन अनुचित होगा क्योंकि जिस तरह जात्यत्व रूप से प्रतिभासमान रत्न में उस जात्यत्व की रत्न के स्वरूप से अनतिरिक्तता लक्षित होती है, उसी तरह विभाव, अनुरूप वाच्य से रसादि की अनतिरिक्तता लक्षित होनी चाहिए, पर होती नही। विभावादि प्रतीति की अविनाभाविनी प्रतीति रसादि प्रतीति है, अतः उन प्रतीतियो मे कार्य कारण भाव होने के कारण अवश्यंभावी है जो लाघवता के कारण लक्षित नही होता।

यदि यह कहा जाय कि वाच्य प्रतीति के बिना ही प्रकरणादि में सहकृत शब्द मात्र से रसादि साध्य की प्रतीति होती है तो युक्तिसंगत न होगा क्योंकि तब तो प्रकरण को समझे बिना वाच्य-वाचक भाव में व्युत्पत्तिरहित ज्ञाताओं को काव्य मात्र के सुनते ही रसादि की प्रतीति हो जानी चाहिए। दूसरी बात यह है कि वाच्य और व्यंग्य की प्रतीति साथ होने पर वाच्य का कोई उपयोग भी न रहेगा, और उपयोग रहेगा भी तो उन दोनों का सहभाव नहीं होगा। यद्यपि गीतादि शब्दों का, उनकी स्वरूप प्रतीति एवं व्यंग्य प्रतीति का नियमतः क्रम है लेकिन वह शब्द की क्रियाओं का पौर्वापर्य अनन्य साध्य उस फल वाली आनुभाविनी घटनाओं में वाच्य से विरोध न रखने वाले तथा अन्य वाच्य से विलक्षण रसादि में प्रतीत नहीं होता।

कहीं-कहीं जैसे अनुरणनरूप व्यंग्य की प्रतीतियों में वह क्रम भी लक्षित होता ही है क्योंकि शब्दशक्ति मूल अनुरणन रूप ध्वनि में अभिधेय की और उसकी सामर्थ्य से आक्षिप्त अर्थ की अन्य अभिधेय से विलक्षण होने के कारण जो अत्यन्त विलक्षण प्रतीतियां हैं, उनके निमित्त निमित्ति भाव को छिपाया नहीं जा सकता। अतः वहां पर स्पष्ट ही पौर्वापर्य क्रम रहता है। जैसे शब्द शक्तिमूल अनुरणन रूप व्यंग्य ध्वनि में—

'गा'ो वः पावनाना परम परिमिता पीतिमुत्पादयन्तु।'

इसमें दो अर्थों की शाब्दी प्रतीति में उपमानोपमेय भाव की प्रतीति उपमावाचक पद के अभाव में अर्थ की सामर्थ्य से आक्षिप्त है, इसलिये अभिधेय और व्यंग्य अलंकार की प्रतीतियों का पौर्वापर्य स्पष्ट लक्षित हो जाता है, पदप्रकाश शब्द शक्तिमूल अनुरणन रूप व्यंग्य ध्वनि में भी उभय अर्थ के साथ सम्बन्ध के योग्य विशेषण पद को जोड़ने वाले पद के बिना अशाब्द हो जाता है, तो भी अर्थ से व्यवस्थित होता है, अतः यहां भी पहले की तरह अभिधेय की तथा उससे सामर्थ्य से आक्षिप्त अलकार मात्र की प्रतीति का पौर्वापर्य है ही। अविवक्षित वाच्य ध्वनि का तो प्रसिद्ध अपने विषय में वैमुख्य की प्रतीतिपूर्वक ही अर्थान्तर का प्रकाशन है। अतः क्रम नियमतः होगा ही। अतः स्पष्ट है कि अभिधान और अभिधेय की प्रतीति की तरह वाच्य और व्यंग्य की प्रतीति का निमित्त निमित्ति भाव होने के कारण क्रम अवश्यभावी है किन्तु वह क्रम कहीं लक्षित होता है और कहीं पर नहीं।

प्रश्न—२७. संकर और संसृष्टि से ध्वनि की अनन्त प्रकाश्यता सिद्ध करते हुए उसके प्रभेद और प्रभेद भेदों की अनन्तता स्पष्ट कीजिये।

उत्तर—ध्वनि गुणीभूत व्यंग्य के साथ, अलंकारों के साथ और अपने प्रभेदों के साथ संकर और संसृष्टि द्वारा अनेक प्रकार से प्रकाशित होती है। कहा है—

सगुणीभूत व्यंग्यैः सालङ्कारैः सह प्रभेदैः स्वैः ।
संकर संसृष्टिभ्यां पुनरप्युद्योतते बहुधा ॥
(ध्वन्यालोक)

अर्थात्—यह ध्वनि अपने प्रभेदो से, गुणीभूत व्यंग्य से और वाच्य अलंकारों से संकर और संसृष्टि की व्यवस्था की जाने पर अनेक भेदो वाली हो जाती है जैसे-अपने-प्रभेद से संकीर्ण, अपने प्रभेद से संसृष्ट, गुणीभूत व्यंग्य से संकीर्ण, गुणीभूत व्यंग्य से संसृष्ट, वाच्य अलंकारान्तर से संकीर्ण, वाच्य अलंकारान्तर से संसृष्ट, संसृष्ट अलंकार से संकीर्ण तथा संसृष्ट अलंकार से संसृष्ट । इस प्रकार बहुत प्रकार की ध्वनि हुआ करती है । उनमे अपने प्रभेद से संकीर्णत्व कभी अनुग्राह्यानुग्राहक भाव से होता है जैसे—

एवं वादिनि देवर्षौ पार्श्वेपितुरधोमुखी ।
लीला कमल -पत्राणि गणयामास पार्वती ॥

इसमें अर्थ शक्त्युद्भव अनुरणन रूप व्यंग्य ध्वनि प्रभेद द्वारा अलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि प्रभेद अनुगृह्यमाण प्रतीत होता है । इसी तरह कभी दो प्रभेदों के सम्पात के सन्देह मे, जैसे-

क्षण प्राघुणिकादेवर एषा जायया किमपि ते भणिता ।
रोदिति शून्यवलभीगृहेऽनुनीयतां वराकी ॥

अर्थात्—हे देवर ! उत्सव में अतिथि बनकर आई हुई यह तुम्हारी पत्नी कुछ कहे जाने पर रो रही है । सूनी अटारी मे बेचारी को मना लो ।

यहां पर 'मनाओ' यह पद अर्थान्तर संक्रमित वाच्यरूप से और विवक्षितान्य पर वाच्य रूप से सम्भावित होता है । दोनों में से किसी एक पक्ष के निर्णय मे प्रमाण नहीं है, अलक्ष्य क्रम व्यंग्य का एक व्यञ्जकानुप्रवेश से व्यंग्यत्व अपने अन्य प्रभेदो की अपेक्षा करने से बहुत हो सकता है, अपने प्रभेद से संसृष्टत्व जैसे पूर्वोदाहृत श्लोक मे ही । इसमें अर्थान्तर संक्रमित वाच्य का और अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य का संसर्ग है । गुणीभूत संकीर्णत्व जैसे—

कर्ताद्यूतच्छलाना जतुमयशरणोद्दीपन: सोऽभिमानी ,
कृष्णाकेशोत्तरीय व्यपनयनपटुः पाण्डवा यस्य दासाः ।
राजा दुःशासनादेर्गुरुरनुजशतस्याङ्ग राजस्य मित्रं,
क्वास्ते दुर्योधनोऽसौ कथयत न रुषा द्रष्टुमभ्यागतौ स्वः ॥

अर्थात्—जुआ खेलकर छल करने वाला, लाक्षागृह में आग लगाने वाला, वह अभिमानी, द्रौपदी के केश और वस्त्र को हटाने में चतुर, पाण्डव जिसके दास है, दुःशासन जिसके दास है, दुःशासन आदि सौ भाइयों मे बड़ा अंगराज कर्ण का मित्र वह दुर्योधन कहाँ है ? बताओ, हम दोनों क्रोध से नहीं, केवल देखने के लिये आये है ।

इसमें वाक्यार्थी भूत अलक्ष्य क्रम व्यंग्य की व्यंग्य विशिष्ट वाच्य का करने वाले पदो के साथ सम्मिश्रता है, इसीलिये गुणीभूत व्यंग्य के ...

मे और ध्वनि के वाक्यार्थाश्रित होने मे सङ्कीर्णता होने पर भी अपने अन्य प्रभेद की भांति विरोधी नही है। जैसा कि ध्वनि के अन्य प्रभेद परस्पर संकीर्ण होने है और पदार्थ और वाक्यार्थ के आश्रित होने से विरुद्ध नही हैं। साथ ही एक व्यंग्य मे आश्रित होने से प्रधानभाव और गुणभाव विरुद्ध हो सकते हैं न कि व्यंग्य भेद की अपेक्षा से। इस कारण भी इसका विरोध नहीं है। इस संसृष्टि और संकर व्यवहार को एक जगह बहुतों के वाच्य-वाचक भाव की तरह व्यंग्य व्यञ्जक भाव में भी निर्विरोध ही मानना चाहिए, किन्तु जहां कुछ पद अविवक्षित वाच्य और कुछ पद अनुरणन रूप व्यंग्यपरक हो वहां ध्वनि गुणीभूत की संसृष्टि है, जैसे—'तेषां गोपवधू विलास सुहृदां', इत्यादि श्लोक मे। यहां पर—'विलास सुहृदा' 'राधारहः साक्षिणाम्' ये दो पद ध्वनि प्रभेद रूप हैं, 'ते' और 'जाने' ये पद गुणीभूत व्यंग्य रूप हैं।

वाच्य अलकारो का संकीर्णत्व अलक्ष्यक्रम व्यंग्य की अपेक्षा के साथ रसयुक्त और अलंकारयुक्त सभी काव्य में सुनिश्चित है। अन्य प्रभेदो का भी कभी-कभी सङ्कीर्णत्व होता ही है जैसे—

या व्यापारवती रसान् रसयितुं काचित्कवीनां नवा,
दृष्टिर्या परिनिष्ठितार्थ विषयोन्मेषा च वैपश्चिती।
ते द्वे अप्यवलम्ब्य विश्वमनिशं निर्वर्णयन्तो वयं,
श्रान्ता नैव च लब्धमब्धि शयन त्वद्भक्ति तुल्यं सुखम्।

अर्थात्—हे समुद्रशायी भगवन्, जो रसो के आस्वाद करने के लिए व्यापारशील कवियों की नई कोई दृष्टि है और अर्थ के सम्बन्ध परिनिष्ठित उन्मेष वाली विद्वानों की दृष्टि, इन दोनों का आश्रय न लेकर हम निरन्तर विश्व का निवर्णन करते हुए हम परिश्रान्त हो गये, उनमे तुम्हारी भक्ति के समान सुख नही पाया।

इस उदाहरण मे विरोध अलंकार से अर्थान्तर संक्रमित वाच्य नामक ध्वनि प्रभेद का संकर है। वाच्यालकार की संसृष्टि पद की अपेक्षा से ही होती है। जहां कुछ पद वाच्यालंकार वाले होते है और कुछ पद ध्वनि प्रभेदयुक्त होते है, वहां वाच्यालंकार की संसृष्टि होती है जैसे—

दीर्घीकुर्वन् पटुमदकलं कूजितं सारसानां,
प्रत्यूषेषु स्फुटित कमलामोदमैत्री कषायः।
यत्र स्त्रीणां हरति सुरतग्लानि मंगानुकूलः,
सिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थना चाटुकारः।

अर्थात्—जहां सारस पक्षियो के पटु एवं मदकल कूजित को बढाता हुआ, प्रातः-कालीन विकसित कमलो की सुगन्ध से युक्त शरीर को सुख देने वाली शिप्रा नदी की शीतल हवा प्रार्थना करने वाले प्रियतम की तरह स्त्रियों के रतिजन्य खेद को दूर करता है। यहां पर मैत्री पद अविवक्षित वाच्य ध्वनि है तथा अन्य पदों मे अन्य अलंकार हैं। संसृष्ट अलंकारान्तर अर्थात् उत्प्रेक्षा, रूपक, उपमा आदि से संसृष्ट ध्वनि, जैसे—

दन्तक्षतानि करजैश्च विपाटितानि,
प्रोद्भिन्नसान्द्रपुलके भवतः शरीरे।
दत्तानि रक्तमनसा मृगराज वध्वा,
जातस्पृहैर्मुनिभिरप्यवलोकितानि ॥

अर्थात्–सघन पुलक वाले आपके शरीर में रक्त के मन वाली, पक्ष में अनुरक्त मन वाली, मृगराजवधू शेरनी पक्ष में राजवधू द्वारा दिये गये दन्तक्षतो और नख विदारणो को उत्कण्ठित होकर मुनियो ने भी देखा।

यहाँ पर समासोक्ति से संसृष्ट विरोधालंकार के द्वारा संकीर्ण अलक्ष्य क्रम व्यंग्य ध्वनि का प्रकाशन है क्योकि परमार्थ रूप से दयावीर वाक्यार्थीभूत है। अब समृष्ट अलंकारो से ध्वनि का संसृष्टत्व देखिये—

अहिण अपओअरसिएसु पहिअ सामाइएसु दिअहेसु।
सोहइ पसारिअगिआणं पच्चिअं मोर वन्दाणम् ॥

अर्थात्—नये बादलों के गर्जन से भरे तथा पथिको के श्यामायित दिनो मे गर्दन पसारे हुए मोरों का नाच अच्छा लगता है। यहाँ पर उपमा और रूपक के शब्द शक्तमुद्भव अनुरणन रूप व्यंग्य ध्वनि की संसृष्टि है।

इस प्रकार ध्वनि के प्रभेदो और फिर प्रभेदो के भेदो की गणना कौन कर सकता है?

प्रश्न—२८. 'मुख्य रूप से ध्वनि दो प्रकार की होती है फिर उसके अर्थान्तर संक्रमित, अत्यन्त तिरस्कृत एवं विवक्षितान्य पर वाच्य आदि कई भेद हो जाते है।' इस कथन को सोदाहरण स्पष्ट कीजिये।

उत्तर—ध्वनि के सामान्यतः दो भेद होते है:—

(१) अविवक्षित वाच्य।
(२) विवक्षितान्यपर वाच्य।

तात्पर्य यह है कि केवल व्यञ्जना व्यापार मे ध्वनि की पूर्णता सिद्ध नही होती क्योकि सहकारी रूप से प्रतिपत्ता को अभिधा, तात्पर्य एवं लक्षणा के अर्थों की और प्रयोक्ता के विवक्षा की भी आवश्यकता होती है। इसलिये उपर्युक्त दोनो नाम आचार्य आनन्दवर्धन के दिये हुए है। अविवक्षित वाच्य ध्वनि लक्षणामूल होती है, अत इसे लक्षणा की सहकारिता के लिये तथा विवक्षितान्यपर वाच्य ध्वनि प्रयोक्ता की विवक्षा की सहकारिता को व्यक्त किया है। इन दोनो के बिना केवल व्यञ्जना व्यापार से प्रतिपत्ता प्रतिपादित किये जाने वाले अर्थ का सम्यक्तया नही कर सकता। अविवक्षित वाच्य ध्वनि का उदाहरण जैसे—

सुवर्ण पुष्पां पृथ्वीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः।
शूरश्च कृत विद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम् ॥

अर्थात्—तीन प्रकार के लोग सुवर्ण पुष्पा पृथ्वी का चयन करते है, शूर, विद्वान् और जो सेवा करना जानते है अर्थात् जो लोग शूर, विद्वान् और सेवक होते है उन्हे महती समृद्धि सुलभ हो जाती है। विवक्षितान्यपर वाच्य का उदाहरण जैसे—

शिखरिणि क्व नु नाम कियच्चिरं,
किमभिधानमसावकरोत्तप. ।
तरुणि येन तवाधर पाटलं,
दशति बिम्बफल शुकशावकः ॥

अर्थात् - हे तरुणि, इस तोते के बच्चे ने किस पर्वत पर, कितने दिनों तक कौन सा तप किया है जिससे यह तुम्हारे अधर के समान लाल वर्ण वाले बिम्बफल को काट रहा है।

इस श्लोक मे 'तव अधर पाटलं दशति' चमत्कारकारी है। जिस नायिका से यह बात कही जा रही है उसके सम्बन्ध को अधर पदार्थ के साथ बोधन वक्ता का अभीष्ट है, इसीलिये 'तव को 'अधरपाटलम्' भिन्न रखा गया है, समास कर देने मे नायिका के सम्बन्ध का बोध न होकर साधारण रूप से उसके अधर पाटल को शुकशावक काट रहा है, यह अर्थ प्रतीत होता है। इस तरह अविमृष्ट विधेयांश दोष का भी यहां अभाव है। 'तव इस असमस्त पद से नायिका के सम्बन्ध के प्रतीत होने से श्लोक के अर्थ मे एक विलक्षणता झलकने लगती है, तभी यह अर्थ प्रतीत होता है कि तेरा अधर तेरे कारण और भी स्वादु हो गया है अतः उसके समान इस बिम्बफल को शुकशावक स्वाद ले लेकर काट रहा है। यह बात नही कि पेटू मनुष्य की तरह पूरा खाये जा रहा है। इससे शुकशावक की रसज्ञता भी व्यञ्जित हो रही है। अत. स्पष्ट है कि इसमे किसी कामुक नायक की नायिका के प्रति अभिलाषा व्यक्त हो रही है कि काश, मैं भी तेरे अधर का दर्शन करता।

अविवक्षित वाच्य ध्वनि के निम्नलिखित दो भेद होते है:—

(१) अर्थान्तर संक्रमित।
(२) अत्यन्त तिरस्कृत।

अर्थान्तर संक्रमित वाच्य जैसे—

स्निग्धश्यामल कान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाका घना,
वाताः शीकरिणः पयोद सुहृदामानन्द केकाः कलाः।
कामं सन्तु दृढं कठोर हृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे,
वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि धीरा भव ॥

अर्थात्—स्निग्ध एवं श्यामल कान्ति से आकाश को आच्छादित कर देने वाले और उड़ती हुई बक पंक्तियों वाले मेघ, फुहारो वाली हवाओं और मयूरो के अव्यक्त केकारव से युक्त चाहे जितना हो, राम होने के कारण मैं तो सब कुछ सहन कर सकता हूँ, किन्तु वैदेही की क्या हालत हो रही होगी ? हा हा देवि, तुम धैर्य धारण करो।

यहां पर 'राम' शब्द से ध्वनित होने वाले दूसरे धर्म से परिणत व्यक्ति प्रतीत कराया गया है, केवल व्यक्ति नहीं।

यथा वा—

तदा जायन्ते गुणा यदा ते सहृदयैर्गृह्यन्ते।
रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि॥

अर्थात्—गुणी तब होते है जब सहृदय लोग ग्रहण करते हैं। सूर्य की किरणों से अनुगृहीत होकर ही कमल कमल होते है। अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य, जैसे—

रवि संक्रान्त सौभाग्यस्तुषारावृतमण्डलः।
निःश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते॥

अर्थात्—सूर्य में जिसका सौभाग्य संक्रान्त हो गया है और तुषार से जिसका मण्डल ढक गया है, ऐसा चन्द्रमा निःश्वास से अन्धे दर्पण के समान प्रकाशवान् नहीं होता। यहाँ पर अन्ध शब्द अत्यन्त तिरस्कृत है।

यथा वा—

गम्रण अ मत्त मेह धारालुलिअज्जुणाइँ अवणाइँ।
णिरहङ्कारमिअंका हरन्ति नीलाओ वि णिआओ॥

अर्थात्—मत्त मेघों से भरा आकाश भी, धारा वृष्टि से कम्पित अर्जुन वृक्षों वाले वन भी और निरहङ्कार चन्द्रमा वाली काली रातें भी मन को हर लेती है। इसमें मत्त और निरहंकार शब्द अत्यन्त तिरस्कृत है।

ये तो हुए अविवक्षित वाच्य ध्वनि के भेद प्रभेद, अब विवक्षितान्यपर वाच्य ध्वनि के भेद प्रभेदों पर दृष्टिपात कीजिये। विवक्षितान्यपर वाच्य ध्वनि भी दो प्रकार की है:—

(१) असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य।
(२) संलक्ष्यक्रम व्यंग्य।

अंगी रूप से भासमान ध्वनि का स्वरूप रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भाव प्रशम, भाव शान्ति आदि में असंलक्ष्यक्रम रूप से व्यवस्थित रहती है। जैसे—

तिष्ठेत्कोपवशात्प्रभावपिहिता दीर्घं न सा कुप्यति,
स्वर्गायोत्पतिता भवेन्मयि पुनर्भावार्द्रमस्या मनः।
तां हर्तुं विबुध द्विषोऽपि न च मे शक्ताः पुरोवर्तिनीं,
साचात्यन्तमगोचरं नयनयोर्यातेति कोऽयं विधिः।

अर्थात्—वह उर्वशी भले ही कुछ कोप से छिप जाय, पर वह अधिक कुपित नहीं होती, भले ही वह स्वर्ग चली गई हो, फिर भी उसका मन मेरे प्रति भावार्द्र है। मेरे सामने स्थित उसे असुर भी नहीं छीन सकते, किन्तु वह आंखों से अत्यन्त हो गई है, कहीं भी दिखाई नहीं पड़ती, यह क्या बात है?

यथा वा—

याते गोत्र विपर्यये श्रुतिपथं शय्यामनुप्राप्तया,
निर्ध्यातं परिवर्तनं पुनरपि प्रारब्धुमंगी कृतम् ।
भूयस्तत्प्रकृतं कृतं च शिथिल क्षिप्तैक दोर्लतया,
तन्वङ्ग्या न तु पारितः स्तनभरः क्रष्टुं प्रियस्योरसः ॥

अर्थात्—शय्या पर आई हुई तन्वङ्गी ने प्रियतम के द्वारा किसी दूसरी नायिका का नामोच्चारण करने पर सोचा कि करवट बदल ले और फिर करवट बदलने का प्रयास किया। एक हाथ को शिथिल करके उसने अलग तो हटा लिया किन्तु प्रिय के वक्षस्थल से सटे हुए अपने स्तन भार को नहीं हटा सकी।

— — — —

प्रश्न—२६. शब्द तत्वाश्रय और अर्थतत्वाश्रय वृत्तियों का ध्वनिकार के मतानुसार निरूपण कीजिये।

उत्तर - इस व्यंग्य व्यञ्जक भाव के विवेचनमय काव्य लक्षण के ज्ञात होने पर शब्दतत्व के आश्रित रहने वाली उपनागरिका आदि वृत्तियाँ तथा अर्थतत्व के आश्रित रहने वाली कैशिकी आदि वृत्तियाँ सम्यक् प्रकार से रीति की स्थिति में आ जाती हैं। कहा है—

शब्दतत्वाश्रयाः काश्चिदर्थ युजोऽपराः ।
वृत्तयोऽपि प्रकाशन्ते ज्ञातेऽस्मिन् काव्यलक्षणे ॥

अन्यथा अदृष्ट अर्थों के समान ही वृत्तियाँ अश्रद्धेय हो जायेंगी अनुभवसिद्ध नहीं। जिसमें कुछ शब्दों और अर्थों का रत्न विशेषों के जात्यत्व की तरह विशेष प्रतिपत्ता द्वारा संवेद्य चारुत्व अनाख्येय रूप से प्रतीत होता है, उस काव्य में ध्वनि का व्यवहार है। ऐसा किसी ने जो ध्वनि का लक्षण किया है, वह युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि शब्दों का स्वरूप के आश्रित अक्लिष्ट होने पर अप्रयुक्त का प्रयोग और वाचक के आश्रित विशेष प्रसाद और व्यञ्जकत्व है और अर्थों का विशेष स्फुट रूप से अवभासन व्यंग्यपरत्व किंवा व्यंग्य अंश से विशिष्टत्व है।

वे दोनों विशेष व्याख्यान हो सकते हैं और बहुत प्रकार से व्याख्यान हुए है, उनसे व्यतिरिक्त अनाख्येय विशेष की सम्भावना का तो विवेक का अभाव ही कारण है क्योंकि सभी शब्दों के अगोचर रूप से अनाख्येयत्व किसी का संभव नहीं है। अतः अनाख्येय शब्द से उसका अभिधान संभव है। सामान्य का स्पर्श करने वाला विकल्प शब्द का गोचर न होकर जो प्रकाशमान है वह अनाख्येय है जो कहीं पर यह कहा है वह भी रत्न विशेषों की भांति काव्य विशेषों का सम्भव नहीं है क्योंकि उनके रूप की लक्षणकारों ने व्याख्या की है, और रत्न विशेषों के सामान्य की सम्भावना से ही मूल्य की स्थिति की कल्पना देखी जाती है। उन दोनों का भी प्रतिपत्ता विशेष द्वारा संवेद्यत्व है ही। वैकटिक लोग ही रत्न के तत्व के जानकार

होते हैं और सहृदय लोग ही काव्यों के रसज्ञ होते हैं, इस बात में दो मत नहीं हो सकते।

वस्तुतः बौद्ध मत से प्रत्यक्षादि के लक्षण के समान हमारा ध्वनि लक्षण है, अतः दूसरे लक्षण में न छटने में और ध्वनि शब्द का अर्थ न होने से पूर्वोक्त लक्षण ही युक्तिसंगत है, कहा है—

अनाख्येयांश भासित्व निर्वाच्यार्थतया ध्वनेः।
न लक्षणं, लक्षणं तु साधीयोऽस्य यथोदितम्॥

प्रश्न—३०. ध्वनि के अन्यतम प्रकारों से भी वाणी का नवत्व परिलक्षित होता है, सोदाहरण स्पष्ट कीजिये।

उत्तर—ध्वनि के एक भी प्रकार से विभूषित वाणी प्राचीन अर्थ के साथ सम्बन्ध रखती हुई भी नवत्व को प्राप्त कर लेती है कहा है—

अतोह्यन्यतमेनापि प्रकारेण विभूषिता।
वाणी नवत्वमायाति पूर्वार्थान्वय वत्यपि॥

जैसा कि अविवक्षित वाच्य ध्वनि के प्रकार द्वय के समाश्रयण में प्राचीन अर्थ का सम्बन्ध होने पर भी नवत्व प्रतीत होता है—

स्मितं किञ्चिन्मुग्धं तरलमधुरोदृष्टि विभवः,
परिस्पन्दो वाचामभिनव विलासोर्मिसरसः।
गतानामारम्भः किसलयित लीलापरिमलः,
स्पृशन्त्यास्तारुण्यं किमिवहि नरम्यं मृगदृशः॥

अर्थात् कुछ स्मित मुग्ध (बन जाता है) आँखों का विभव (ऐश्वर्य) तरल एवं मधुर (हो जाता है) बातों का लगातार (चल पड़ना) नये हाव-भाव की तरंगों में रसीला (बन जाता है) गमन की शुरुआत किसलयित लीला का पराग (बन जाता है) इस प्रकार तरुणाई का स्पर्श करती हुई हिरन जैसी आँखों वाली का क्या अच्छा नहीं लगता ?

इसमें स्मित को मुग्ध कहकर स्वाभाविक सौन्दर्य को मधुर शब्द में दृष्टि की सर्वजनप्रियता एवं अक्षीणप्रभावत्व आदि को व्यञ्जित किया है। इस तरह व्यञ्जनाओं के कारण प्रत्येक वस्तु में नवीनता का अनुभव होता है।

यथा वा—

सविभ्रमस्मितोद्भेदा लोलाक्ष्यः प्रस्खलद्गिरः।
नितम्बालसगामिन्यः कामिन्यः कस्य न प्रिया॥

अर्थात्—विलास युक्त मुस्कानों वाली, चञ्चल आंखों वाली, लड़खड़ाती हुई आवाज वाली, नितम्ब भार से अलसाकर चलने वाली कामिनियाँ किसे प्रिय नहीं है ?

इन श्लोकों के पहले से होने पर भी तिरस्कृत वाच्य ध्वनि के समाश्रयण मे नवत्व ही प्रतिभासित होता है। इसी प्रकार निम्नाङ्कित में भी:—

यः प्रथमः प्रथमः स तु तथाहि,
हत हस्ति बहल पललाशी।
श्वापद गणेषु सिंहः,
सिंह. केनाधरी क्रियते ॥

अर्थात्—जो पहला है वही पहला है, जैसा कि मारे हुए हाथी के पर्याप्त माम को खाने वाला शेर, जंगली जानवरो मे से किससे तिरस्कृत किया जाता है?

यथा वा—

स्वतेज क्रीत महिमा केनान्येनातिशय्यते।
महद्भिरपि मातङ्गैः सिंह किमभिभूयते॥

अर्थात्—अपने पराक्रम मे खरीदा हुआ बड़प्पन किस दूसरे के द्वारा दबाया जाता है? बडे हाथियों से भी क्या शेर अभिभूत होता है?

इनमे भी अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि के समाश्रयण मे नवत्व प्रतीत होता है?

यथा वा—

निद्राकैतविन. प्रियस्य वदने विन्यस्य वक्त्रं वधू-
र्बोधत्रास निरुद्धचुम्बनरसाप्याभोग लोलस्थिता।
वैलक्ष्याद्विमुखी भवेदिति- पुनस्तस्याप्यनारम्भिणः,
साकाङ्क्षप्रतिपत्ति नाम हृदयं यातं तु पारं रतेः॥

अर्थात्—नीद आने का बहाना किये हुए प्रिय के मुख पर अपना मुख रखकर नव-वधू उसके जग जाने के भय से चुम्बन की इच्छा रोककर भी पूरी तरह देखने के कारण चञ्चल हो उठी। लजा जाने से विमुख हो जायेगी इससे फिर अपनी ओर से आरम्भ न करने वाले उस प्रिय का भी हृदय साकांक्ष होकर परमानन्द अर्थात् रति की चरम सीमा तक चला गया।

यथा वा—

शून्यं वासगृहं विलोक्यशयनादुत्थायकिञ्चिच्छनै-
र्निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिर निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्।
विस्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थली,
लज्जानम्रमुखीप्रियेण हसता बाला चिर चुम्बिता॥

अर्थात्—सूने शयन कक्ष को देखकर, कुछ धीरे पलंग से उठकर, नींद का बहाना किये हुए पति के मुख को देर तक निहार कर, उसे सोया हुआ समझकर विश्वास के साथ चुम्बन करने से रोमाञ्च से युक्त पति के गालो को देखकर, लज्जा से झुके हुए मुख वाली बाला का पति के द्वारा देर तक चुम्बन किया गया।

यहां पर दोनों उदाहरणो मे परिस्थितियां प्रायः एक सी है तथापि पहले श्लोक मे नायक और नायिका दोनों ही अपने अभिलाष को किसी प्रकार रोककर

परस्पर जीवित सर्वस्व होने की भावना से समान चित्तवृत्ति का अनुभव करते है। अतः रति परिपोष को प्राप्त होकर शृंगार की अवस्था तक पहुंच जाती है। दूसरे श्लोक में यद्यपि शृंगार पोषित है तथापि लज्जा के स्वशब्द से युक्त हो जाने के कारण इसमें वह चारुता नहीं आ पाई जो प्रथम श्लोक में दृष्टिगत होती है।

वस्तुत. महाकवि की वह वाणी सबसे बढ़कर है, जो रमणीय रूप में स्थित न होने हुए भी पदार्थों को रमणीय रूप में स्थित सा कर देती है। कहा है:—

अतथास्थितानपि तथासंस्थितानिव हृदये या निवेशयति।
अर्थविशेषान् सा जयति विकट कविगोचरा वाणी॥

इस प्रकार रस, भाव आदि के आश्रय से काव्यार्थों का आनन्त्य सम्यक्तया प्रतीत होता है। पहले देखे हुए भी अर्थ काव्य में रस के परिग्रह से सब नवीन जैसे ही प्रतीत हुआ करते हैं जिस प्रकार वसन्त ऋतु में वृक्ष नये से प्रतीत होते है जैसे—

ध्वन्यालोकः

(प्रथम उद्योतः)

स्वेच्छाकेसरिणः स्वच्छ-
स्वच्छायायासितेन्दवः ।
त्रायन्तां वो मधुरिपोः
प्रपन्नार्तिच्छिदो नखाः ॥१॥

श्रीधरी- स्वेच्छाकेसरिणः=अपनी इच्छा से सिंह का रूप धारण किये हुए, मधुरिपोः=मधु नामक दैत्य के शत्रु भगवान् विष्णु के, स्वच्छ=उज्ज्वल, स्वच्छाया=अपनी कान्ति से, आयासितेन्दवः=चन्द्रमा को भी खिन्न करने वाले प्रपन्नार्तिच्छिदः=शरणागत जनों के कष्टों का छेदन करने वाले, नखाः=नाखून; वः=आप लोगों की, त्रायन्ताम्=रक्षा करें।

अर्थ अपनी इच्छा से सिंह का रूप धारण करने वाले मधु नामक दैत्य के शत्रु भगवान् विष्णु के उज्ज्वल एवं अपनी छाया से चन्द्रमा को भी तिरस्कृत करने वाले तथा शरणागत जनों की विपत्ति का नाश करने वाले नाखून आप लोगों की रक्षा करें।

विशेष - इसमें "मधुरिपु" कहने से उस परमेश्वर उद्योग संसार के त्राण के लिये सदैव चलता रहता है, यह बात ध्वनित की गई है।

दूसरी बात यह है कि प्रस्तुत मंगलाचरण में 'मधुरिपु आपकी रक्षा करें' ऐसा न कहकर 'मधुरिपु के नख आपकी रक्षा करें' ऐसा कहा गया है, यद्यपि मधुरिपु से मधुरिपु के नख भिन्न नहीं हैं, तथापि त्राण के कार्य में असाधारण कारण के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं क्योंकि नख प्रहार के साधन किंवा आयुध हैं। आयुध द्वारा ही अपनी या दूसरे की रक्षा की जा सकती है। साथ ही नखों को त्राण का कर्ता बनाकर उनकी सातिशयशक्तिता को सूचित किया गया है, इससे एक और वस्तु यह भी ध्वनित होती है कि परमेश्वर को जगत् के त्राण जैसे कार्य के लिये अपने से अतिरिक्त साधन की आवश्यकता नहीं होती, अपितु उनका यह कार्य अपने ही शरीर के एक तुच्छ और अति साधारण तत्व नख से ही सम्पन्न हो जाता है।

इस श्लोक में आये हुए विशेषण भी वस्तु ध्वनि से युक्त हैं, क्रम से एक-एक विशेषणों पर दृष्टिपात करते चलें तो अधिक युक्तिसंगत होगा। 'मधुरिपु' को

व्यञ्जना है कि भगवान् संसार को सन्त्रस्त करने वाले मधु दैत्य आदि के शत्रु होकर संसार के त्राण के लिये निरन्तर प्रयत्नशील है। 'स्वेच्छाकेसरिणः' इस विशेषण की व्यञ्जना के अनुसार उन पर न तो किसी प्रकार कर्म की परतन्त्रता है और न दूसरे की इच्छा का कोई दवाव है, अपितु हिरण्यकश्यपु जैसे विशिष्ट दानव का हनन करने के लिये अपनी इच्छा से जिन भगवान् मधुरिपु ने नृसिंह का रूप धारण किया। 'प्रपन्नार्तिहरः' की व्यञ्जना है कि शरण में आये हुए प्रह्लाद सरीखे जनों की आर्ति का छेदन करने वाले। 'स्वच्छ स्वच्छाया—यासितेन्दवः' विशेषण की व्यञ्जना है कि उन नखों के समक्ष चन्द्रमा शोभाहीन है। तात्पर्य यह है कि स्वच्छता और शोभा में बाल चन्द्रमा भी उन मधुरिपु के नखों के समक्ष फीका पड जाता है। यह तो हुई वस्तु ध्वनि की बात। इसमें अलंकार ध्वनि भी है। जैसे बाल चन्द्रमा को एक तो इस बात का भेद है कि मधुरिपु के जैसी स्वच्छता तथा कुटिलता उसमें नहीं है। इस अंश मे यदि किसी प्रकार समानता मान भी ली जाय तो भी मधुरिपु के नखों की तरह वह प्रपन्न जनों की आर्ति के निवारण में सक्षम नहीं हो सका। इस प्रकार उपमानभूत बाल चन्द्रमा से उपमेयभूत नखों के वैशिष्ट्य की प्रतीति होने से व्यतिरेक अलंकार भी यहाँ ध्वनित होता है। साथ ही इसमें उत्प्रेक्षा और अपह्नुति अलंकार भी हो सकते हैं जैसे मानों बालचन्द्र निरन्तर आयास का अनुभव करता है। अपह्नुति यह है कि उन्हीं नखों को सारा विश्व बालचन्द्र के बहुमान या गौरव से देखता है जबकि मैं (बालचन्द्र) विद्यमान हूँ। इस प्रकार यहाँ दोनों का अङ्गाङ्गिभाव रूप संकर ध्वनित है।

काव्यस्यात्मा ध्वनिरितिबुधैर्यः समाम्नातपूर्व-
स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं,
तेन ब्रूमः सहृदयमनः प्रीतये तत्स्वरूपम् ॥२॥

श्रीधरी—बुधैः=काव्यतत्त्वज्ञ लोगों ने, काव्यस्यात्मा=काव्य की आत्मा, ध्वनिः इति=ध्वनि है, इस बात को, समाम्नातपूर्वः=पहले से स्वीकृत किया है, अपरे=दूसरे लोगों ने, तस्याभावं=उसका अभाव, जगदु=कहा है, अन्ये=अन्य लोगों ने, तम्=उस ध्वनि को, भाक्तं आहुः=भाक्त कहा, केचिद्=कुछ लोगों ने, तदीयं तत्त्वं=उस ध्वनि के तत्त्व को, वाचां अविषये स्थितं=वाणी का अगोचर, आहुः=कहा, तेन=इसलिये, सहृदय मनः प्रीतये=सहृदय लोगों के मन की प्रसन्नता के लिये, तत्स्वरूपम्=उस ध्वनि के स्वरूप को, ब्रूमः=कहते हैं।

अर्थ—काव्य तत्त्वज्ञ लोगों ने काव्य की आत्मा ध्वनि है यह पहले से समाम्नात किया है, कुछ लोगों ने उसका अभाव कहा है और अन्य लोगों ने उसे भाक्त कहा है, कुछ लोगों ने उसके तत्त्व को वाणी का अगोचर कहा है, इसलिये सहृदय लोगों के मन की प्रसन्नता के लिये उस ध्वनि के स्वरूप को कहते हैं।

विशेष—प्रस्तुत ग्रन्थ ध्वन्यालोक का प्राधान्यतः अभिधेय किंवा प्रतिपाद्य ध्वनितत्व है, ध्वनि के स्वरूप का ज्ञान प्रयोजन है तथा इस प्रयोजन का प्रयोजन सहृदय जनों के मन की प्रतीति या प्रसन्नता है। इस प्रकार ग्रन्थकार ने आरम्भ में ही विषय, अधिकारी, सम्बन्ध और प्रयोजन को स्पष्ट कर दिया है। इन्हीं का शास्त्रीय भाषा में दूसरा नाम अनुबन्ध चतुष्टय है। अतः स्पष्ट है कि यहाँ विषय ध्वनि का स्वरूप है, अधिकारी सहृदय जन हैं, विषय के साथ सम्बन्ध प्रतिपाद्य प्रतिपादक है और सहृदय के साथ उपकार्योपकारक भाव रूप सम्बन्ध है, प्रयोजन प्रीति है। इस प्रयोजन से सम्बद्ध ध्वनिस्वरूप ज्ञान रूप प्रयोजन सामर्थ्य या आक्षेप से ही प्राप्त होता है क्योंकि सहृदयों की प्रसन्नता ध्वनि स्वरूप के ज्ञान के बिना सिद्ध नहीं होती।

बुधैः काव्यतत्वविद्भिः काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति संज्ञितः, परम्परया यः समाम्नातपूर्वः सम्यक् आसमन्तात् म्नातः प्रकटितः, तस्य सहृदय जन मनः प्रकाशमानस्याप्यभावमन्ये जगदुः, तदभाववादिनां चामी विकल्पाः संभवन्ति।

श्रीधरी—बुधैः काव्यतत्वविद्भिः=बुध अर्थात् काव्य के तत्व को जानने वाले लोगों ने, काव्यस्य आत्मा=काव्य की आत्मा को, ध्वनिरिति संज्ञितः=ध्वनि यह संज्ञा दी है, परम्परया=परम्परा से, यः=जिसको, समाम्नातपूर्वः सम्यक्, आसमन्तादम्नात. प्रकटित.=चारों ओर से प्रकटित किया है, सहृदयजनमनः प्रकाशमानस्यापि=सहृदय लोगों के मन में प्रकाशमान होने पर भी, तस्य अभावं=उस ध्वनि का अभाव, अन्ये जगदुः=अन्य लोगों ने कहा है, तदभाववादिनां च=उसके अभाववादियों के, अमी विकल्पाः संभवन्ति=ये विकल्प संभव हैं।

तत्र केचिदाक्षीरन्—शब्दार्थशरीरन्तावत्काव्यम्, तत्र च शब्दगताश्चारुत्व हेतवोऽनुप्रासादयः प्रसिद्धा एव। अर्थगताश्चोपमादयः। वर्ण संघटनाधर्माश्च ये माधुर्यादयस्तेऽपि प्रतीयन्ते। तदनतिरिक्तं वृत्तयो वृत्तयोऽपि याः कैश्चिदुपनागरिकाद्याः प्रकाशिताः, ता अपिगताः श्रवण गोचरम्। रीतयश्च वैदर्भी प्रभृतयः। तद् व्यतिरिक्तः कोऽयं ध्वनिर्नामेति।

श्रीधरी—तत्र=वहाँ, केचित्=कुछ लोग, आक्षीरन्=कहे कि, शब्दार्थशरीरन्तावत्काव्यम्=काव्य का शरीर तो शब्द और अर्थ है, तत्र च=और उसमें, शब्दगताश्चारुत्व हेतवः=शब्दगत चारुत्व हेतु, अनुप्रासादयः प्रसिद्धा एव=अनुप्रास आदि प्रसिद्ध ही है, अर्थगताश्च=अर्थगत चारुत्व के हेतु, उपमादयः=उपमा आदि अलंकार प्रसिद्ध ही हैं, वर्ण संघटना धर्माश्च=और वर्ण संघटना धर्म, ये=जो, माधुर्यादयः=माधुर्य आदि गुण हैं, तेऽपि प्रतीयन्ते=वे भी प्रतीत होते हैं, तदनतिरिक्तवृत्तयो=उन अलंकार और गुणों से अभिन्न रहने वाली, वृत्तयोऽपि=वृत्तियाँ भी, या=जो, कैश्चिद्=किन्हीं के द्वारा, उपनागरिकाद्याः प्रकाशिताः=उपनागरिका आदि नामों से प्रकाशित की गई हैं, ता अपि=वे भी, गताः

गोचरम्=सुनने में आई है, रीतयश्च वैदर्भी प्रभृतयः=वैदर्भी प्रभृति रीतियाँ भी श्रवणगोचर हुई है, व्यतिरिक्तः=उनके अतिरिक्त, कोऽयं ध्वनिर्नामेति=कौन यह ध्वनि नामक नया पदार्थ है ?

अर्थ—यहाँ कुछ लोग कहे कि—काव्य का शरीर तो शब्द और अर्थ है, और इसमे शब्दगत चारुत्व हेतु अनुप्रास आदि प्रसिद्ध हैं ही और अर्थगत चारुत्व हेतु उपमा आदि भी प्रसिद्ध है। वर्ण संघटना धर्म जो माधुर्य आदि गुण है, वे भी प्रतीत होते है, उन अलंकार और गुणों से अभिन्न रहने वाली वृत्तियाँ भी जो किन्हीं के द्वारा उपनागरिका आदि नामों से प्रकाशित की गई हैं, वे भी सुनने मे आई हैं और वैदर्भी आदि रीतियाँ भी सुनने मे आई हैं, अतः उनके अतिरिक्त यह ध्वनि नामक नया पदार्थ क्या है ?

अन्ये ब्रूयुः—नास्त्येव ध्वनिः। प्रसिद्धप्रस्थान व्यतिरेकिणः काव्यप्रकारस्य काव्यत्व हानेः सहृदयहृदयाह्लादि शब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम्। न चोक्तप्रस्थानातिरेकिणो मार्ग स्य तत्संभवति। न च तत्समतान्तः पातिनः सहृदयान् कांश्चित्परिकल्प्य तत्प्रसिद्धया ध्वनौ काव्य व्यपदेशः प्रवर्तितोऽपि सकल विद्वन्मनोग्राहितामवलम्बते।

श्रीधरी—अन्ये ब्रूयु=अन्य लोग कहे—नास्त्येव ध्वनिः=ध्वनि नहीं है, प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकिणः=क्योंकि प्रसिद्ध प्रस्थान से व्यतिरिक्त, काव्यप्रकारस्य=काव्य के भेद में, काव्यत्वहानेः=काव्यत्व की हानि है, सहृदयहृदयाह्लादि शब्दार्थमयत्वमेव=*सहृदय हृदयों को आह्लादित करने वाला शब्दार्थमयत्व ही, काव्यलक्षणम्*=काव्य का लक्षण है, उक्तप्रस्थानातिरेकिणो=उक्त प्रस्थानो से अतिरिक्त, मार्गस्य=मार्ग का, न तत्सम्भवति=वह सम्भव नहीं है, न च तत्समतान्तः पातिनः=और उस *सम्प्रदाय के मानने वालों के अन्तर्गत ही, कांश्चित्सहृदयान् परिकल्प्य=कुछ सहृदयों* की परिकल्पना करके, तत्प्रसिद्धया=उनके द्वारा प्रसिद्ध कर दिये जाने से, ध्वनौ=ध्वनि में, काव्यव्यपदेशः प्रवर्तितोऽपि=काव्य का व्यवहार प्रवर्तित किये जाने पर भी, *न सकल विद्वन्मनोग्राहितामवलम्बते=सभी विद्वानो का मनोग्राही नहीं हो* सकता।

अर्थ—*अन्य लोग कहे*—ध्वनि नहीं है, क्योंकि प्रसिद्ध प्रस्थान से भिन्न काव्य के भेद में *काव्यत्व की हानि है, सहृदय हृदयाह्लादि-शब्दार्थमयत्व ही काव्य का* लक्षण है। उक्त प्रस्थानों से अतिरिक्त मार्ग का वह सम्भव नहीं है और उस सम्प्रदाय को मानने वालो मे ही कुछ सहृदयो को तैयार करके उनके द्वारा प्रसिद्ध कर दिये जाने से ध्वनि मे *काव्य का व्यवहार प्रवृत्त किया भी जाय*, तो भी सभी विद्वानों का मनोग्राही नहीं हो सकता।

विशेष—अभाववादियों के प्रथम पक्ष अर्थात् "कोऽयं ध्वनिर्नामेति" मे ध्वनि को *चारुत्व का स्थान किंवा चारुत्व का हेतु मानकर* ध्वनि के अस्तित्व को स्वीकार

करने की बात उठी थी, इसके विरुद्ध अभाववादियों के प्रथम दल ने यह तर्क कह दिया कि ध्वनि चारुत्व स्थान तभी हो सकती थी जब यह शब्द रूप या अर्थ रूप होती, दूसरी बात यह है कि चारुत्व हेतु भी तभी हो सकती थी जब यह गुण और अलंकार से व्यतिरिक्त होती। न तो यह शब्दार्थ रूप है और न गुणालंकार व्यतिरिक्त है। अतः स्पष्ट है कि ध्वनि कोई पदार्थ नहीं है। इस पर प्रतिपक्षी की ओर से यह शंका होती है कि क्यों न ध्वनि को गुण और अलंकार से अतिरिक्त तत्व स्वीकार कर लिया जावे ?

इस पर अभाववादियों के दूसरे वर्ग ने यह खण्डन उपस्थित किया कि यदि गुण और अलंकार से अतिरिक्त ही ध्वनि को मान लिया जाय तो इस प्रकार की ध्वनि से क्या लाभ होगा क्योंकि ध्वनि को काव्य का ही तत्व होना चाहिए, वही प्रस्तुत में लक्षणीय हो सकता है, किन्तु जब काव्य के रूप शब्दार्थ तथा चारुत्व हेतु गुण और अलंकार से ध्वनि को पृथक् कर देते है तब तो निश्चय ही ध्वनिकाव्य का कोई तत्व नहीं हो सकता। नृत्य, गीत, वाद्य आदि के समान ही कोई तत्व हो सकता है जिसका काव्य से कोई सम्बन्ध नहीं क्योंकि काव्य कवनीय अर्थात् कवि का प्रयत्न साध्य होता है और नृत्य गीतादि कवनीय नहीं, उसी प्रकार ध्वनि की भी स्थिति है।

वस्तुतः व्यंग्यभाववादी का दूसरा विकल्प यह है कि ध्वनि परम्परा से व्यवहृत मार्गों में नहीं आती, अतः काव्य की आत्मा या काव्य के रूप में उसे स्वीकृत नहीं किया जा सकता। दूसरी बात यह है कि सहृदय हृदयाह्लादकारी शब्दार्थमयत्व रूप काव्य लक्षण भी उसमें संघटित नहीं होता। यदि कुछ सहृदय एकमत होकर ध्वनि को हृदयाह्लाद कभी मानकर काव्य नाम दे भी दें तो भी यह सकल विद्वज्जन मनोग्राह्य तत्व नहीं हो सकता। अत. ध्वनि सिद्धान्त कुछ नहीं है।

पुनरपरे तस्याभावमन्यथा कथयेयुः—न सम्भवत्येव ध्वनिर्नामापूर्वः कश्चित्। कामनीयकमनति वर्तमानस्य तस्योक्तेष्वेव चारुत्व हेतुष्वन्तर्भावात्। तेषामन्यतमस्यैव वा अपूर्वं समाख्यामात्र करणे यत्किञ्चन कथनं स्यात्।

श्रीधरी—पुनः अपरे=फिर अन्य लोग, तस्याभावम्=उस ध्वनि का अभाव, अन्यथा कथयेयु=अन्य प्रकार से कहे, ध्वनिर्नाम=ध्वनि नामका, अपूर्व कश्चित् न सम्भवत्येव=कोई अपूर्व सम्भव ही नहीं है, कामनीयकमनतिवर्तमास्य=क्योंकि वह कामनीयक का अतिवर्तन नहीं करता, (इसलिये) तस्य=उसका, उक्तेष्वेव=कहे हुए ही, चारुत्वहेतुषु=चारुत्व के हेतुओं में, अन्तर्भावात्=अन्तर्भाव है, वा=अथवा, तेषामन्यतमस्यैव=उन्हीं में से एक को, अपूर्व, समाख्यामात्र करणे=अपूर्व समाख्या की जाय, यत्किञ्चन कथनं स्यात्=तो जो कुछ तुच्छ कथन होगा।

विशेष—तृतीय अभाववादियों के सम्बन्ध में ध्वनिवादी का तर्क यह है कि ध्वनि को चारुत्व का हेतु मानकर गुण और अलंकार के अन्तर्भूत मान लेते है,

किन्तु फिर भी इतना तो मानना ही होगा कि अब तक किसी ने 'ध्वनि' का नाम लेकर उसे काव्य की आत्मा बनाने का प्रयास नहीं किया। अतः यह एक अपूर्व बात है, इस प्रकार ध्वनि को स्वीकार कर लेना चाहिये।

इस पर अभाववादियों के इस तृतीय दल का कहना है कि—किसी प्रकार ध्वनि उस सीमा का अतिक्रमण नहीं कर सकती जिसमें कमनीयता किंवा चारुता उत्पन्न करते हैं, अर्थात् ध्वनि केवल चारुत्व हेतु ही सिद्ध होकर रह जाती है। ऐसी स्थिति में उन्हीं चारुत्व हेतुओं में अन्तर्भूत एक तत्त्व को अपूर्व रूप में ध्वनि नाम से लो, यह कोई महत्त्व की बात नहीं है।

किञ्च वाग्विकल्पानामानन्त्यात् सम्भवत्यपि वा कस्मिंश्चित् काव्यलक्षणविधायिभिः प्रसिद्धैरप्रदर्शिते प्रकारलेशे ध्वनिर्ध्वनिरिति यदेतदलीकसहृदयत्वभावनामुकुलितलोचनैर्नृत्यते, तत्र हेतुं न विद्मः। सहस्रशो हि महात्मभिरन्यैरलङ्कार प्रकाराः प्रकाशिताः प्रकाश्यन्ते च। न च तेषामेषा दशा श्रूयते। तस्मात् प्रवादमात्रं ध्वनिः। न त्वस्य क्षोदक्षमं तत्त्वं किञ्चिदपि प्रकाशयितुं शक्यम्, तथा चान्येनकृत एवात्र श्लोकः—

श्रीधरी—किञ्च=और भी, वाग्विकल्पानामानन्त्यात्=वाग्विकल्पों के अनन्त होने के कारण, प्रसिद्धैः काव्यलक्षण विधायिभिः=प्रसिद्ध काव्यलक्षणकारों द्वारा, कस्मिंश्चित् सम्भवत्यपि=किसी प्रकार लेशमात्र सम्भव होने पर भी, ध्वनिर्ध्वनिरितियदेतत्=ध्वनि-ध्वनि यह जो, अलीकसहृदयत्वभावनामुकुलितलोचनैर्नृत्यते=सहृदयता की भावना में आँखें मूदकर ध्वनिवादी नाच रहे हैं, तत्र=उसमें, हेतुं न विद्म:=हेतु हम नहीं जानते, अन्यैः महात्मभिः=अन्य विद्वानों ने, सहस्रशो हि अलंकार प्रकाराः प्रकाशिताः=अलंकारों के भेद बताये हैं, प्रकाश्यन्ते च=और बताये जायेंगे, न च तेषामेषा दशा श्रूयते=उनकी यह स्थिति नहीं सुनाई पड़ती, तस्मात्=इसलिये, प्रवादमात्रं ध्वनिः=ध्वनि प्रवादमात्र है, न त्वस्य क्षोदक्षमं तत्त्वं=इसका कुछ विचार योग्य तत्त्व, प्रकाशयितुं शक्यम्=प्रकाशित किया जा सकता है, तथा च=जैसा कि, अन्येन कृतएवात्र श्लोकः=किसी ने यहाँ श्लोक बनाया ही है।

अर्थ—और भी वाग्विकल्पों के अनन्त होने के कारण प्रसिद्ध काव्य लक्षणकारों द्वारा अप्रदर्शित किसी प्रकार लेशमात्र सम्भव होने पर भी, 'ध्वनि-ध्वनि' यह जो सहृदयता की भावना से आँखें बन्द करके ध्वनिवादी नाच रहे हैं—उसमें हेतु हम नहीं जानते। अन्य विद्वानों ने हजारों अलंकारों के भेद बताये हैं और बताये जाते हैं, उनकी यह स्थिति नहीं सुनाई पड़ती। अतः ध्वनि केवल प्रवादमात्र है। इसका कुछ भी विचार योग्य तत्त्व प्रकाशित नहीं किया जा सकता। जैसा कि किसी ने श्लोक बनाया है—

यस्मिन्नास्ति न वस्तु किञ्चन मनः प्रह्लादि सालंकृति,
व्युत्पन्नै रचितं न चैव वचनैर्वक्रोक्ति शून्यं च यत्।
काव्यं यद्ध्वनिना समन्वितमिति प्रीत्या प्रशंसञ्जडो,
नो विद्मोऽभिदधाति किं सुमतिना पृष्टः स्वरूपं ध्वनेः॥

श्रीधरी—यस्मिन्=जिसमें, सालंकृति=अलंकारयुक्त, मनः प्रह्लादि=मन को आह्लादित करने वाला, किञ्चन वस्तु न=कोई अर्थ नहीं है, यत्=जिसको, व्युत्पन्नै वचनैः च=व्युत्पन्न वचनों से, नैव रचितम्=नहीं रचा गया, यत् वक्रोक्ति शून्यं च=और जो वक्रोक्ति से भी रहित है, तत् काव्यं=उस काव्य को, ध्वनिना समन्वितमिति=ध्वनि से समन्वित मानकर, प्रीत्या=प्रेम से, प्रशंसन्=प्रशंसा करता हुआ, जड़ः=मूर्ख ध्वनिवादी, सुमतिना=सुमति जन द्वारा, ध्वनेः स्वरूपं पृष्टः=ध्वनि का स्वरूप पूछे जाने पर, किं अभिदधाति=क्या कहता है, न विद्मः=इस बात को हम नहीं जानते।

अर्थ—जिसमें अलंकारयुक्त, मन को आह्लादित करने वाला कोई अर्थ नहीं है, जिसे व्युत्पन्न वचनों में नहीं रचा गया है और जो वक्रोक्ति से शून्य है, उस काव्य को ध्वनि समन्वित मानकर प्रेम से प्रशंसा करता हुआ मूर्ख ध्वनिवादी बुद्धिमान व्यक्ति के द्वारा ध्वनि का स्वरूप पूछे जाने पर क्या कहता है, यह हम नहीं जानते।

भाक्त माहुस्तमन्ये। अन्ये तं ध्वनि संज्ञितं काव्यात्मानं गुणवृत्तिरित्याहुः।

श्रीधरी—अन्ये=अन्य लोग, तं=उस ध्वनि को, भाक्त माहुः=भक्ति कहते हैं, अन्ये=अन्य लोग, तं=उस, ध्वनि संज्ञित=ध्वनि नामक, काव्यात्मानं=काव्यात्मा को, गुणवृत्तिरित्याहुः=गुणवृत्ति कहते हैं।

अर्थ—अन्य लोग उसे भाक्त कहते हैं, कुछ लोग उस ध्वनि नामक काव्यात्मा को गुण-वृत्ति कहते हैं।

विशेष—भक्ति शब्द से आलङ्कारिकों की लक्षणा, शुद्धा और गौणी दोनों ही ग्राह्य है। जिस लक्षणा को आलंकारिकों ने सादृश्येतर सम्बन्ध से शुद्धा और सादृश्य सम्बन्ध से गौणी माना है, उसमें मीमांसकों ने केवल गौणी को लक्षणा से भिन्न वृत्ति स्वीकार किया है। मीमांसक लोग गौणी को एक अलग ही वृत्ति मानते हैं जो लक्षणा से अतिरिक्त है। अतः भक्ति शब्द से शुद्धा लक्षणा और गौणी दोनों ही अभिहित होते हैं।

यद्यपि च ध्वनिशब्द संकीर्तनेन काव्यलक्षणविधायिभिर्गुणवृत्तिरन्यो वा न कश्चित् प्रकारः प्रकाशितः, तथापि अमुख्यवृत्त्या काव्येषु व्यवहारं दर्शयता ध्वनिमार्गो मनाक्स्पृष्टोऽपि न लक्षित इति परिकल्प्यैवमुक्तम्—'भाक्तमाहुस्तमन्ये' इति।

श्रीधरी—यद्यपि च=यद्यपि, ध्वनिशब्दसंकीर्तनेन=ध्वनि शब्द का उल्लेख करके, काव्यलक्षण विधायिभि=काव्य लक्षण बनाने वालों ने, गुणवृत्तिः=गुणवृत्ति, अन्यो वा कश्चित्प्रकारः=या दूसरे अन्य किसी प्रकार को, न प्रकाशितः=प्रकाशित नही किया है, तथापि=तो भी, अमुख्य वृत्या, अमुख्य व्यापार के द्वारा, काव्येषु=काव्यो मे, व्यवहारं दर्शयता=व्यवहार दिखाते हुए, ध्वनि मार्गो मनाक्स्पृष्टोऽपि=ध्वनि मार्ग का थोड़ा स्पर्श करके भी, न लक्षित=लक्षित नही किया, इति=इस प्रकार की, परिकल्प्यैव=परिकल्पना करके ही, उक्तम्=कहा है, अन्ये=अन्य लोग, तं=उसको, भाक्त=भाक्त, आहुः=कहते है।

विशेष—भाक्त शब्द को वृत्ति मे गुणीवृत्त कहा गया है। गुणवृत्ति शब्द भी ध्वनि शब्द की तरह शब्द, अर्थ और व्यापार इन तीनो मे इस प्रकार सङ्गत हो जाता है। 'गङ्गायां घोषः" आदि स्थल मे सामीप्य आदि धर्म 'गुण' है, उन्ही गुण रूप उपायों से जिस गंगा आदि शब्द की अर्थान्तर 'तीर' आदि मे वृत्ति हो, वह गुणवृत्ति का शब्दपरक समास है। उन्ही उपायो मे तीरादि अर्थ में जिस शब्द की वृत्ति हो, वह उसका अर्थपरक समास है और गुण द्वारा वर्तन गुणवृत्ति है, यह अमुख्य अभिधा व्यापारपरक समास है। ध्वनति ध्वन्यते और ध्वननम् इस रूप में ध्वनि शब्द भी शब्द, अर्थ और व्यापार इन तीनों मे सगत होता है। भाक्तवादी का तात्पर्य यह है कि ध्वनि तत्व उपचरित शब्द, अर्थ और व्यापार के अतिरिक्त और कुछ भी नही है। उनका पक्ष है कि किसी शब्द के दो ही अर्थ हो सकते है—मुख्य या अमुख्य। जब मुख्य अर्थ में अभिधा को व्यापार स्वीकार किया गया, तब अमुख्य अर्थ ही शेष रहा। ऐसी स्थिति मे ध्वनि भाक्त ही सिद्ध होती है क्योंकि मुख्य और अमुख्य के अतिरिक्त अर्थ की और कोई तृतीय कोटि नहीं होती।

जैसा कि वृत्ति मे अमुख्य वृत्ति का व्यवहार प्राचीन आचार्यों ने किया है, ऐसा संकेत मिलता है, प्राचीन आचार्यों मे भामह और भट्ट उद्भट ने मुख्य के अतिरिक्त गुणवृत्ति व्यापार को तथा वामन ने सादृश्य से लक्षणा को वक्रोक्ति के रूप मे स्वीकार किया है। इस बात का समर्थन आचार्य अभिनवगुप्त ने भी अपने 'लोचन' मे किया है।

केचित्पुनर्लक्षणकरणशालीनबुद्धयो ध्वनेस्तत्त्वं गिरामगोचरं सहृदयहृदयसंवेद्यमेव समाख्यातवन्तः। तेनैवं विधासु विमतिषु स्थितासु सहृदय मनः प्रीतये तत्स्वरूपं ब्रूमः।

श्रीधरी—पुनः लक्षण करण शालीन बुद्धयः=फिर लक्षण बनाने मे शालीन बुद्धि वाले, केचित्=कुछ लोगो ने, ध्वनेस्तत्वं=ध्वनि के तत्व को, गिरामगोचरं=वाणी से परे, सहृदय हृदय संवेद्यमेव=केवल सहृदय हृदयों से संवेद्य, समाख्यातवन्तः=समाख्यात किया है, तेन=इसलिये, एवं विधासु विमतिषु=इस प्रकार की विमतियो के होने पर, सहृदय मनः प्रीतये=सहृदय जनों के मन की प्रसन्नता के लिये, तत्स्वरूपं=उस ध्वनि के स्वरूप को, ब्रूमः=कहते है।

अर्थ—फिर लक्षण बनाने में प्राचीन बुद्धि वाले कुछ लोगों ने ध्वनि के तत्त्व को वाणी से परे, केवल सहृदय हृदय संवेद्य बनाया है। इस कारण इस प्रकार की विमतियों के होने पर सहृदय जनों के मन की प्रसन्नता के लिये हम उसे ध्वनि का स्वरूप कहते हैं।

तस्य हि ध्वनेः स्वरूपं सकल सत्कवि काव्योपनिषद्भूतमतिरमणीय मणीयसीभिरपि चिरन्तनकाव्यलक्षणविधायिनां बुद्धिभिरनुन्मीलितपूर्वम्, अथ च रामायण महाभारत प्रभृतिनि लक्ष्ये सर्वत्र प्रसिद्ध व्यवहारं लक्षयतां सहृदयानामानन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठामिति प्रकाश्यते।

श्रीधरी—तस्य हि ध्वनेः=उस ध्वनि का, स्वरूपं=स्वरूप, सकल सत्कविकाव्योपनिषद्भूतं=जो समग्र सत्कवियों के काव्यों का उपनिषद्भूत, अतिरमणीयम्=अत्यन्त रमणीय, चिरन्तन काव्यलक्षणविधायिनां=प्राचीन काव्य लक्षणकारों की, अणीयसीभिरपि=सूक्ष्मतम, बुद्धिभिः=बुद्धि द्वारा भी, अनुन्मीलितपूर्वम्=पहले उन्मीलित नहीं हुई, अथ च=और, रामायण महाभारत-प्रभृतिनि=रामायण, महाभारत आदि, लक्ष्ये=लक्ष्य ग्रन्थों में, सर्वत्र प्रसिद्ध व्यवहारं लक्षयतां=प्रसिद्ध व्यवहार को लक्षित करते हुए, सहृदयानां=सहृदय लोगों के, मनसि=मन में, आनन्दो प्रतिष्ठा लभतां इति=आनन्द प्रतिष्ठित हो, इस उद्देश्य से, प्रकाश्यते=उसे प्रकाशित करते हैं।

अर्थ—उस ध्वनि का स्वरूप जो समग्र सत्कवियों के काव्यों का उपनिषद्भूत अतिरमणीय है, जो प्राचीन काव्य लक्षणकारों की सूक्ष्मतम बुद्धि के द्वारा भी उन्मीलित नहीं हो सका है और जिसका रामायण, महाभारत आदि लक्ष्य ग्रन्थों में व्यवहार प्रसिद्ध है, को लक्षित करते हुए सहृदयजनों के मन में आनन्द की प्रतिष्ठा करने के उद्देश्य से उसे प्रकाशित करते हैं।

विशेष—यद्यपि प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रयोजन ध्वनि स्वरूप का ज्ञान है तथापि उस प्रयोजन का भी प्रयोजन है सहृदय जनों की मनः प्रीति क्योंकि काव्य के तत्त्वज्ञान के लिये ध्वन्यालोक का निर्माण किया गया है और काव्य का चरम लक्ष्य सहृदय जनों की मनः प्रीति ही है। यश प्राप्ति आदि तो साधारण कोटि के प्रयोजन हैं। अतः स्पष्ट है कि ध्वन्यालोक का मुख्य प्रयोजन अर्थात् प्रयोजन का प्रयोजन सहृदय मनः प्रीति ही सूचित किया गया है।

तत्र ध्वनेरेव लक्षयितुमारब्धस्य भूमिकां रचयितुमिदमुच्यते—

श्रीधरी—तत्र लक्षयितुमारब्धस्य=अब लक्षित करने के लिये आरम्भ किये हुए, ध्वनेरेव=ध्वनि की ही, भूमिकां रचयितुं=भूमिका रचने के लिये, इदमुच्यते=यह कहते हैं—

अर्थ—अब लक्षित करने के लिये आरम्भ किये हुए ध्वनि की ही भूमिका रचने के लिये यह कहते हैं—

१९७१ योऽर्थः सहृदय श्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः।
वाच्य प्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ॥२॥

श्रीधरी—सहृदय श्लाघ्यः=सहृदय लोगों के द्वारा प्रशंसनीय, यः अर्थः= जो अर्थ, काव्यात्मेति=काव्य की आत्मा के रूप में, व्यवस्थितः=व्यवस्थित है, तस्य=उसके, वाच्यप्रतीयमानाख्यौ=वाच्य और प्रतीयमान नाम के, उभौ भेदौ स्मृतौ=दो भेद माने गये है।

अर्थ—सहृदय लोगों के द्वारा प्रशंसनीय जो अर्थ काव्य की आत्मा के रूप में व्यवस्थित है, उसके वाच्य और प्रतीयमान नाम के दो भेद होते है।

विशेष—यहाँ ग्रन्थकार अपने प्रतीयमान अर्थ को निर्विवाद सिद्ध वाच्य अर्थ को सामान्य कोटि में लाकर प्रतीयमान का भी वाच्य अर्थ की तरह प्रनिषेधनीयत्व प्रतिपादन करना चाहते हैं।

शब्द और अर्थ को काव्य का शरीर माना गया है, ऐसी स्थिति मे आवश्यक है कि उस काव्य शरीर की कोई आत्मा भी हो। शब्द और अर्थ में अर्थ की अपेक्षा शब्द अधिक स्थूल होता है, इसलिये साधारण लोग भी उसे जान लेते हैं, किन्तु अर्थ को साधारण लोग नही समझ पाते, लेकिन केवल अर्थ के आधार पर कभी किसी रचना को काव्य नही कहा गया है, इसलिये अपेक्षित है कि वह अर्थ सहृदय जनों के द्वारा प्रशंसनीय हो। इस तरह सामान्य अर्थ और सहृदय श्लाघ्य अर्थ का भेद हर विवेकशील व्यक्ति समझ सकता है। यही कारण है कि आचार्य ने एक ही अर्थ को दो भागों मे विभक्त किया, परन्तु अर्थ की दृष्टि से वाच्य और प्रतीयमान दोनों एक होने पर भी जहाँ तक सहृदय श्लाघ्यत्व की बात है, उसके अनुसार प्रतीयमान अर्थ ही काव्य की आत्मा होगा, वाच्य अर्थ नही। अतः ध्यान देने की बात यह है कि प्रस्तुत कारिका मे सहृदय श्लाघ्य इस विशेषण विभाग की दृष्टि से उस अर्थ के दो भेद बताये गये है, न कि यह कहा गया है कि काव्य की दो आत्माएँ हैं। अतः भ्रम मे नही पड़ना चाहिये।

काव्यस्य हि ललितोचितसन्निवेश चारुणः शरीरस्येवात्मा साररूपतया स्थितः सहृदय श्लाघ्यो योऽर्थस्तस्य वाच्यः प्रतीयमानश्चेति द्वौ भेदौ।

श्रीधरी—ललितोचितसन्निवेश चारुणः=ललित और उचित सन्निवेश के कारण चारु, काव्यस्य हि=काव्य का, शरीरस्य इव आत्मा=शरीर की आत्मा की तरह, साररूपतयास्थितः=सार रूप मे स्थित होकर, सहृदयश्लाघ्यो=सहृदय जनों द्वारा प्रशंसनीय, योऽर्थः=जो अर्थ है, तस्य=उसके, वाच्यप्रतीयमानश्चेति=वाच्य और प्रतीयमान, द्वौ भेदौ=ये दो भेद होते है।

अर्थ—ललित और उचित सन्निवेश के कारण चारु काव्य का, शरीर की आत्मा की तरह, सार रूप मे स्थित होकर सहृदय जनों द्वारा प्रशंसा के योग्य जो अर्थ है, उसके वाच्य और प्रतीयमान ये दो भेद होते है।

तत्र वाच्यः प्रसिद्धो यः प्रकारैरुपमादिभिः। बहुधा व्याकृतः सोऽन्यैः—
काव्यलक्ष्म विधायिभिः। ततो नेह प्रतन्यते ॥३॥
केवल मनूद्यते पूर्व यथोपयोगमिति ॥३॥

श्रीधरी—तत्र=अब, य. वाच्यः=जो वाच्य अर्थ, उपमादिभिः प्रकारैः= उपमा आदि के प्रकारो से, प्रसिद्धः=प्रसिद्ध है, स=उसे, अन्यैः=अन्य लोगों ने, बहुधा व्याकृतः=बहुधा व्याख्यान किया है, काव्यलक्ष्म विधायिभिः=काव्य के लक्षणकारो ने, ततः=इसलिये, इह=यहाँ, न प्रतन्यते=विस्तार नही करते, केवलं=केवल, पुनः=फिर, यथोपयोग=उपयोग के अनुसार, अनूद्यते=अनूदित करेंगे।

अर्थ—अब जो वाच्य, अर्थ, उपमा आदि के प्रकारों मे प्रसिद्ध है, उसका अन्य लोगो ने अनेक बार व्याख्यान किया है, इस कारण यहाँ विस्तार नही करते, केवल फिर उपयोग के अनुसार अनूदित करेंगे।

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव,
वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं,
विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥४॥

श्रीधरी महाकवीनाम्=महाकवियों के, वाणीषु=वचनों मे, प्रतीयमानं= प्रतीयमान, पुन. अन्यदेव=कुछ और ही, वस्तु अस्ति=वस्तु है, यत्=जो, तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं - उन प्रसिद्ध अवयवो के अतिरिक्त रूप मे, अङ्गनासु=स्त्रियों मे, लावण्यमिव=लावण्य की तरह, विभाति=भासित होता है।

अर्थ महाकवियो के वचनो मे प्रतीयमान कुछ और ही वस्तु है, जो उन प्रसिद्ध अवयवों से अतिरिक्त रूप मे स्त्रियों मे लावण्य की तरह भासित होता है।

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वाच्याद्वस्त्वस्ति वाणीषुमहाकवीनाम्। यत्तत्सहृदय सुप्रसिद्धं प्रसिद्धेभ्योऽलंकृतेभ्य प्रतीतेभ्यो वा ऽवयवेभ्यो व्यतिरिक्तत्वेन प्रकाशते लावण्यमिवाङ्गनासु। यथा ह्यङ्गनासु लावण्यं पृथङ् निर्वर्ण्यमानं निखिलावयवव्यतिरेकि किमप्यन्यदेव सहृदयलोचनामृतं तत्वान्तरं तद्वदेव सोऽर्थः।

श्रीधरी - प्रतीयमानं=प्रतीयमान अर्थ, महाकवीनां वाणीषु=महाकवियों के वचनों मे, वाच्यात्=वाच्य से, पुनः अन्यदेव वस्तु अस्ति=कोई अन्य ही वस्तु है, यत्तत्=जो वह, सहृदय सुप्रसिद्ध=सहृदय जनों मे सुप्रसिद्ध, प्रसिद्धेभ्यो अलंकृतेभ्यः=प्रसिद्ध अलंकृत, वा=अथवा, प्रतीतेभ्यो अवयवेभ्यो=प्रतीत अवयवों से, व्यतिरिक्तत्वेन=अतिरिक्त रूप मे, अङ्गनासु=स्त्रियों मे, लावण्यमिव=लावण्य

की तरह, प्रकाशते=प्रकाशित है, यथाहि=जैसे, अङ्गनासु=स्त्रियों में, लावण्यं=लावण्य, पृथङ् निर्वर्ण्यमानं=पृथक् होकर दिखाई देता हुआ, निखिलावयव व्यतिरेकि=सारे अङ्गों में पार्थक्य रखने वाला, किमपि अन्यदेव=कोई दूसरा ही, सहृदय लोचनामृतं=सहृदय जनों की आंखों का अमृत, तत्वान्तरं=एक तत्व है, तद्वदेव सोऽर्थ.=उसी प्रकार वह प्रतीयमान अर्थ है।

अर्थ—प्रतीयमान अर्थ महाकवियों के वचनों में पुनः कोई अन्य ही वस्तु है। सहृदय जनों में सुप्रसिद्ध जो वह अलकृत या प्रतीत अवयवों से सर्वथा अतिरिक्त रूप मे स्त्रियो मे लावण्य की तरह प्रकाशित है। जैसे स्त्रियो मे लावण्य पृथक् होकर दिखाई देता हुआ, सारे अंगों से पार्थक्य रखने वाला कोई दूसरा ही सहृदय जनो की आखों का अमृत एक तत्व है, उसी तरह यह प्रतीयमान अर्थ भी है।

विशेष—प्रस्तुत कारिका मे आचार्य के समक्ष प्रतीयमान को सत् सिद्ध करना है। जबकि आचार्य ने उसे सत् सिद्ध करने के लिये उसका भासमानत्व ही प्रमाण बताया, तब उनके सामने यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि वह प्रतीयमान जिसका भान हो रहा है, अपने अस्तित्व की पुष्टि मे क्या कोई दृष्टान्त भी रखता है? इसके उत्तर मे आचार्य ने कामिनियो के लावण्य को प्रतीयमान का दृष्टान्त बताया। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार लावण्य कामिनी के अग से अपृथग्भूत रहते हुए भी उससे भिन्न और कुछ विशेष चमत्कार की वस्तु सा प्रतीत होता है, वही स्थिति यहाँ प्रतीयमान अर्थ की है, जो महाकवियो की वाणियो मे वाच्य से कुछ अतिरिक्त ही भासित होता है, लावण्य को केवल देखकर समझा जा सकता है, उसे व्यक्त करने के लिये किसी शब्द मे सामर्थ्य नही। ग्रंथकार का तात्पर्य यह है कि जिस तरह लावण्य को शब्द के माध्यम से व्यक्त नही किया जा सकता अर्थात् उसका व्यपदेश नही किया जा सकता, उसी प्रकार प्रतीयमान भी अव्यपदेश्य तत्व है। यह बात रसध्वनि के अभिप्राय से कही गई है, दूसरी बात यह है कि आचार्य यह कहना चाहते है कि जिस तरह अंगना के अंग और लावण्य में लोगो को सामान्यतया अव्यतिरेक का भ्रम हो जाता है, उसी तरह वाच्य और प्रयीयमान मे भी लोग भेद बुद्धि खो बैठते हैं और दोनो को एक ही समझने लगते है। प्रतीयमान को अव्यपदेश्य बताने का लाभ यह है कि वह लावण्य की तरह चमत्कार सारतत्व है, उसे केवल अनुभव किया जा सकता है।

स ह्यर्थो वाच्य सामर्थ्याक्षिप्तं वस्तुमात्रमलंकार रसादयश्चेत्यनेक प्रभेद भिन्नो दर्शयिष्यते, सर्वेषु च तेषु प्रकारेषु तस्यवाच्यादन्यत्वम्, तथा ह्याद्यस्तावत्प्रभेदो वाच्याद् दूरं विभेदवान्, स हि कदाचिद्वाच्ये विधिरूपे प्रतिषेध रूपः।

यथा—

श्रीधरी—स हि अर्थ.=वह अर्थ, वाच्य सामार्थ्यात्=वाच्य सामर्थ्य से, वस्तुमात्रमलंकाररसादयश्च=वस्तुमात्र, अलकार और रस आदि के, आक्षिप्तं=

प्राक्षिप्त होकर, अनेक प्रभेदभिन्नोदर्शयिष्यते=अनेक प्रभेदों से भिन्न रूप में दिखलाया जायेगा, सर्वेषु तेषु प्रकारेषु च=और समस्त उन प्रकारों में, तस्य=उसका, वाच्यादन्यत्वम्=वाच्य से अतिरिक्तत्व है, तथाहि=जैसा कि, आद्यस्तावत् प्रभेदो=पहला प्रभेद, वाच्याद् दूरं विभेदवान्=वाच्य से दूर तक भेद रखने वाला है, हि=क्योंकि, स=वह, कदाचित्=कभी, वाच्ये विधिरूपे=वाच्य अर्थ के विधिरूप होने पर, प्रतिषेध रूपः यथा=प्रतिषेध रूप होता है, जैसे—

भम धम्मिअ वीसत्थो सो सुणओ अज्ज मारिओ देण।
गोलाणइकच्छकुडङ्ग वासिणा दरिअ सीहेण॥
[भ्रम धार्मिक विस्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन।
गोदावरी नदीकूललतागहन वासिना दृप्तसिंहेन॥]

श्रीधरी—धार्मिक विस्रब्धः भ्रम=हे धार्मिक, तुम विश्वस्त होकर घूमो, स शुनकः=वह कुत्ता, गोदावरीनदीकूललता गहनवासिना=गोदावरी नदी के लता गहन में रहने वाले, दृप्त सिंहेन=पागल शेर ने, अद्य मारितः=आज मार डाला।

अर्थ—हे धार्मिक, तुम विश्वस्त होकर घूमो, वह कुत्ता गोदावरी नदी के लता गहन में रहने वाले पागल शेर ने आज मार डाला।

यहाँ पर नायिका पुंश्चली एवं प्रगल्भा है, उसके प्रिय संकेत स्थान पर कोई धर्मानुरागी अपनी असामयिक उपस्थिति से विघ्न तो उत्पन्न करने ही लगे, साथ ही वहाँ की फूल-पत्तियाँ तोड़-तोड़ कर उस स्थान को नष्ट-भ्रष्ट भी करने लगे। उस नायिका से जब न रहा गया तब उसने चाल चलते हुए उन धार्मिक महानुभाव से कहा कि अब वे विश्वस्त होकर घूमें क्योंकि जिस कुत्ते से वे डरा करते थे, उसे गोदावरी किनारे लता गहन में रहने वाले मतवाले शेर ने मार डाला है।

यहाँ पर विचारणीय बात यह है कि धार्मिक महाशय तो कुत्ते से ही परेशान थे, अब शेर पहुँच गया। यहाँ 'भ्रम' में लोट् लकार विधि अर्थ का सूचक है। यहाँ विधि नियोग किंवा आज्ञा रूप नहीं है क्योंकि वह पुंश्चली धार्मिक को आज्ञा नहीं दे रही क्योंकि वह तो स्वयं ही भ्रमण कर रहा है। अतः उसका भ्रमण स्वतः सिद्ध है पुंश्चली धार्मिक के भ्रमण का विधान प्रतिषेधक तत्व जो कुत्ते का भय था, उसके अभाव द्वारा करती है। अतः यहाँ विधि प्रतिषेधाभाव या प्रतिप्रसव रूप है।

इस उदाहरण में 'घूमो' इस विधिरूप अर्थ के बाद ही 'मत घूमो' यह निषेध रूप अर्थ की प्रतीति हो रही है। यहाँ यह कहना युक्तिसंगत न होगा कि दोनों विधि निषेध रूप अर्थ एक ही समय में वाच्य हो रहे हैं क्योंकि अभिधा जब एक विधिरूप अर्थ को बता चुकी, तब उसकी प्रवृत्ति पुनः निषेध रूप अर्थ में नहीं होगी क्योंकि नियम है कि कार्य करके विरत हो जाने पर व्यापार नहीं होता कहा है—

"विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीण शक्तिर्विशेषणे।"

शब्द के संकेतित अर्थ को बताने में जो व्यापार होता है, उसे अभिधा कहते हैं। अत यह बात सिद्ध हुई कि निषेध रूप अर्थ जो संकेतित नही है, के अवबोधन के लिये किसी अतिरिक्त शक्ति की कल्पना आवश्यक है, वह शक्ति व्यञ्जना हो सकती है तथा इससे प्रतीत होने वाला निषेध रूप अर्थ व्यंग्य होगा।

क्वचिद्वाच्ये प्रतिषेध रूपे विधिरूपो यथा—

अत्ता एत्थ णिमज्जइ एत्थ अहं दिअसअं पलोएहि।
मा पहिअ रत्ति अन्धअ सेज्जाए मह णिमज्जहिसि॥
[श्वश्रूरत्र निमज्जति अत्राहं दिवसकं प्रलोकय।
मा पथिक रात्र्यन्ध शय्यायामावयोः शयिष्ठाः॥]

श्रीधरी—क्वचित्=कही, वाच्ये प्रतिषेध रूपे=वाच्य के प्रतिषेध रूप होने पर, विधिरूप.=व्यंग्य विधिरूप होता है, यथा=जैसे—

श्वश्रू=सास, अत्र निमज्जति=यहाँ गहरी नींद सोती है, अत्र अहम्=यहाँ मैं सोती हूँ, दिवसक प्रलोकय - दिन मे ही देख लो, रात्र्यन्ध पथिक=रतोंधी के रोगी पथिक, आवयो. शय्याया=हम दोनो की खाट पर, मा शयिष्ठा=कही मत गिर पड़ना।

अर्थ—कही वाच्य के प्रतिषेध रूप होने पर व्यंग्य विधिरूप होता है। जैसे सास यहाँ पर गहरी नीद सोती है और यहाँ पर मैं सोती हूँ, दिन मे ही देख लो, हे रतोंधी के रोगी पथिक, कही हम दोनों की खाट पर न गिर पड़ना।

विशेष--यदि नायिका 'मम' इस विशेष वचन का प्रयोग करती तो सुनती हुई उसकी सास को यह शंका हो जाती कि यह बहू अपनी ही खाट पर पथिक के गिर जाने की बात क्यो कर रही है जबकि रतौंधी वाला पथिक तो मेरी खाट पर भी गिर सकता है, जरूर यहाँ कुछ गड़बड़ है। इसलिये 'आवयो' पद का प्रयोग किया गया है।

इस गाथा मे प्रतीयमान विधि को निषेध रूप समझना चाहिये क्योंकि नायिका ने 'खाट पर गिर न जाना' इस निषेध के प्रकार से मिलन का वचन दिया है, यहाँ विधि को निमन्त्रण स्वरूप भी नही समझना चाहिए, नायिका ने यहाँ अप्रवृत्त पथिक को निमन्त्रण के द्वारा प्रवृत्त नहीं किया है। यदि ऐसा समझा जायेगा तब उसे अपने सौभाग्य का अभिमान क्या रह जायेगा? पथिक तो स्वयं नायिका से मिलने के लिये उत्सुक है, इसीलिये उसे नायिका ने 'रात्र्यन्ध' कहकर उसके सम्भाव्यमान विकारो के कारण आकुलता को सूचित किया है, अन्यथा वह उससे क्यों रात्र्यन्ध कहती, वह जैसे भी पहुँचता, वह मिल लेती, किन्तु स्थिति ऐसी नही है।

क्वचिद्वाच्ये विधिरूपेऽनुभय रूपो यथा—

वच्च मह व्विश्र एक्केर होन्तुणीसास रोइश्रव्वाइं ।
मा तुज्ज वि तीश्र विणा दक्खिण्ण हश्रस्स जाअन्तु ॥
[व्रज ममैवैकस्या भवन्तु निःश्वास रोदितव्यानि ।
मा तवापि तया विना दाक्षिण्य हतस्य जनिषत ॥]

श्रीधरी—क्वचित्=कहीं, वाच्ये=वाच्य के, विधि रूपे=विधिरूप होने पर, अनुभय रूपो=व्यंग्य न विधिरूप मे और न निषेध रूप मे होता है, जैसे:—व्रज=तू जा, मम एव एकस्या=मुझ अकेली के, निःश्वास रोदितव्यानि=निश्वास और रुदन, भवन्तु=भाग्य मे होवें, तया विना=उसके विना, दाक्षिण्य हतस्य=समानुरागिता से रहित, तवापि=तेरे भी, मा जनिषत=ये निश्वास और रुदन मत होवें।

अर्थ—कहीं वाच्य के विधि रूप होने पर व्यंग्य अनुभय रूप अर्थात् न विधिरूप और न प्रतिषेध रूप होता है, जैसे— जातू, मुझ ही अकेली के निश्वास और रुदन भाग्य में हों, उसके विना समानुरागिता से रहित तेरे भी ये निश्वास और रुदन मत हों।

विशेष—यहाँ पर 'जा' यह विधि है। प्रमादवश ही तू दूसरी नायिका से नहीं मिलता प्रत्युत गाढ अनुराग से तू उससे मिलता है। इसी से तेरा मुख राग कुछ भिन्न सा है, और गोत्र स्खलन आदि हो रहे है। केवल तू यहाँ मेरे पालन का जो पहले वचन दे चुका है, उसी दाक्षिण्य के कारण जो एकरूपता का अभिमान तुझे है, उसी से तू यहाँ ठहरा हुआ है। तू तो पूर्णतः शठ निकला। इस तरह यहाँ खण्डिता नायिका का अधिक कोप रूप अभिप्राय प्रकट हो रहा है। यहाँ न तो गमनाभाव रूप निषेध है और न कोई दूसरा विध्यन्तर ही।

क्वचिद्वाच्ये प्रतिषेध रूपेऽनुभय रूपो यथा—

दे आ पसिअ णिवत्तसु मुहससिजोह्लाविलुत्ततमणिवहे ।
अहिसारिआणं विग्धं करोसि अण्णाणं वि हआसे ॥
[प्रार्थये तावत्प्रसीद निवर्तस्व,
मुखशशि ज्योत्स्नाविलुप्ततमोनिवहे ।
अभिसारिकाणां विघ्नं,
करोष्यन्यासामपि हताशे ॥]

श्रीधरी—क्वचित्—कहीं, वाच्ये प्रतिषेध रूपे=वाच्य के प्रतिषेध रूप होने पर, अनुभय रूपः=व्यंग्य अनुभय रूप होता है, यथा=जैसे, प्रार्थये=प्रार्थना करता हूँ, प्रसीद=प्रसन्न हो, निवर्तस्व=लौट जाओ, मुखशशिज्योत्स्ना विलुप्त तमो निवहे=अरी अपने मुखचन्द्र की चाँदनी से अन्धकार समूह को दूर कर देने-

वाली, हताशे=हत आशाओं वाली, अन्यासामपि=दूसरी भी, अभिसारिकाणा=अभिसारिकाओं का, विघ्नं करोषि=तू विघ्न करती है।

अर्थ – कहीं वाच्य के प्रतिषेध रूप होने पर व्यंग्य अनुभय रूप होता है। जैसे –

प्रार्थना करता हूँ, प्रसन्न हो, लौट आओ, अरी, अपने मुखचन्द्र की चांदनी से अन्धकार समूह को दूर करने वाली, हताशे, तू अन्य अभिसारिकाओं का भी विघ्न करती है।

विशेष – प्रस्तुत गाथा के आचार्य अभिनव गुप्त ने चार अर्थ किये हैं। उनके अनुसार पहला अर्थ इस प्रकार है–नायक के घर नायिका पहुँची किन्तु नायक उसके समक्ष गोत्र स्खलन (अन्य नायिका का नामोच्चारण) कर बैठा। इस पर नाराज होकर जब वह चल पड़ने के लिये तैयार हुई, तब नायक उसकी प्रशंसा द्वारा उसे लौटाने का प्रयत्न करने लगा। उसने कहा कि वह अपने सुख में तथा मेरे सुख में तत्काल विघ्न तो कर ही रही है, अन्य अभिसारिकाओं के सुख में भी विघ्न डाल रही है। यहाँ नायक का चाटुरूप अभिप्राय व्यंग्य है। दूसरे अर्थ के अनुसार – यह नायिका की सखी का कथन है। नायिका को सखी ने मना किया कि वह अभी अभिसार न करे, किन्तु जब नायिका ने उसकी बात को नहीं माना तब सखी ने कहा कि हताशा वह अपना विघ्न तो करती ही है साथ ही अपने मुखचन्द्र की चन्द्रिका से मार्ग को प्रकाशित करके अन्य अभिसारिकाओं का विघ्न करने के लिये भी तैयार है। यहाँ सखी का चाटु रूप अभिप्राय व्यंग्य है।

तीसरे अर्थ के अनुसार—नायिका को अभिसार करते समय नायक रास्ते में मिल गया जो उसके घर उससे मिलने ही जा रहा था, नायिका को पहचानते हुए भी न पहचानने का बहाना करके नायक ने यह कहा। यहाँ पर निवर्तस्व वाच्य है, किन्तु नायक का यह तात्पर्य व्यंग्य है कि मेरे घर चल या हम दोनों ही तुम्हारे घर चलें। इस प्रकार यह अनुभव रूप व्यंग्य है। चौथे अर्थ के अनुसार यहाँ तटस्थ सहृदयों का किसी अभिसारिका के प्रति कथन है।

क्वचिद्वाच्याद्विभिन्न विषयत्वेन व्यवस्थापितो यथा—

कस्स व ण होइ रोसो दट्ठूण पिआए सव्वणं अहरम्।
स भमर पउमग्घाइणि वारिअवामे सहसु एह्लिम्॥

[कस्य वा न भवति रोषो
दृष्ट्वा प्रियायाः सव्रणमधरम्।
सभ्रमर पद्माघ्रायिणि
वारितवामे सहस्वेदानीम्॥]

श्रीधरी—क्वचिद्=कहीं, वाच्याद्विभिन्न विषयत्वेन=वाच्य से विभिन्न विषय रूप में, व्यवस्थापितो=व्यवस्थापित व्यंग्य, यथा=जैसे, प्रियायाः=प्रियतमा का,

सव्रणमधर=व्रण युक्त अधर, दृष्ट्वा=देखकर, कस्य वा=किसको, रोषः न भवति=क्रोध नही होता, वारित वामे=अरी, मना करने पर भी, सभ्रमर पद्माघ्रायिणि=भौरे सहित कमल को सूघने वाली, इदानी सहस्व=अब तू इसका परिणाम भोग।

अर्थ—कही वाच्य से विभिन्न विषय रूप में व्यवस्थापित व्यंग्य जैसे—

प्रियतमा का व्रणयुक्त अधर देखकर किस को क्रोध नहीं होता, अरी, मना करने पर भी भौरे सहित कमल को सूंघने वाली अब तू इसका परिणाम भोग।

अन्येचैवं प्रकारा वाच्याद्विभेदिनः प्रतीयमान भेदाः सम्भवन्ति। तेषां दिङ्मात्रमेतत्प्रदर्शितम्। द्वितीयोऽपि प्रभेदो वाच्याद्विभिन्नः सप्रपञ्चमग्रे दर्शयिष्यते।

श्रीधरी—वाच्याद्विभेदिनः=वाच्य से भेद रखने वाले, प्रतीयमान भेदा=प्रतीयमान के भेद, अन्ये एवं प्रकारा=अन्य इस प्रकार के, सम्भवन्ति=संभव है, एतत्=उन्हे, दिङ्मात्रं=दिङ्मात्र रूप मे, प्रदर्शितम्=प्रदर्शित किया है, वाच्याद्विभिन्न=वाच्य से विभिन्न, द्वितीयोऽपि प्रभेदो=दूसरा प्रभेद भी, अग्रे=आगे, सप्रपञ्चं=विस्तार के साथ, दर्शयिष्यते=दिखायेंगे।

अर्थ वाच्य से भेद रखने वाले प्रतीयमान के दूसरे इस प्रकार के भेद सम्भव है। उन्हे दिङ्मात्र यहाँ दिखाया है, वाच्य से विभिन्न दूसरा भी प्रभेद आगे विस्तार के साथ दिखायेंगे।

विशेष—'कस्य न वा भवति रोषः०' इत्यादि इस गाथा मे व्यग्य विषय के भेद से भिन्न रूप में व्यवस्थापित हैं। व्यवस्थापित कहने का आशय यह है कि यहाँ किसी आचार्य के द्वारा अपनी ओर से जोड़ा नहीं गया, प्रत्युत ऐसा है ही।

इसमे नायिका किसी जार से अपना अधर खण्डित कराकर आई है। यह स्वाभाविक है कि उसकी दुःशीलता प्रकट हो जायेगी और उसका पति उस पर अत्यन्त कुपित होगा। इसलिये उसकी सखी ने उसे निरपराध सिद्ध करने के लिये प्रस्तुत वचन कहा, जिसका व्यंग्य उसके पति, सुनने वाले पास-पड़ोस के लोग, सौत, स्वयं नायिका, चौर्य कामुक जार और तटस्थ जन के प्रति विभिन्न रूप से प्रतीत होता है। जैसे—

नायिका की सखी उसके पति से यह कहना चाहती है कि—इसका कोई अपराध नही है। इसे गलत समझकर कही क्रोध मत कर बैठना। पास पड़ोस के लोगों से यह कहना चाहती है कि यदि इसका पति इसे उपालम्भ भी दे तो भी इसका अविनय नही समझना चाहिए। सौत जो नायिका के अविनय और उपालम्भ से प्रसन्न है के प्रति 'प्रियाया' इस शब्द के बल से नायिका का सौभाग्यातिशय ख्यापन व्यंग्य है। नायिका के प्रति व्यंग्य यह है कि यह मत समझना कि सौतो के बीच इस तरह हल्की कर दी गई है, प्रत्युत 'सहस्व' का दूसरा अर्थ है कि अब उन सौतो के बीच शोभा को प्राप्त करो। चौर्य कामुक के प्रति यह व्यग्य है कि

आज तो किसी तरह तेरी इस प्रियतमा की मैंने रक्षा कर दी, अब फिर कभी स्पष्ट रूप से इसका अधर मत काट देना। तटस्थ सहृदय लोगों के प्रति इस नायिका की सखी का व्यंग्य यह है कि—देखो, मैंने सफेद झूठ बोल कर किस प्रकार प्रकट हुई बात को छिपा दिया।

तृतीयस्तु रसादि लक्षणः प्रभेदो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तः प्रकाशते, न तु साक्षाच्छब्दव्यापार विषय इति वाच्याद्विभिन्न एव, तथाहि, वाच्यत्व तस्य स्वशब्द निवेदितत्वेन वा स्यात्। विभावादि प्रतिपादनमुखेन वा। पूर्वस्मिन् पक्षे स्वशब्द निवेदितत्वा भावे रसादीनामप्रतीति प्रसंगः।

श्रीधरी—रसादिलक्षणः=रसादि रूप, तृतीयः प्रभेदस्तु=तीसरा प्रभेद तो, वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तः=वाच्य की सामर्थ्य से आक्षिप्त होकर, प्रकाशते=प्रकाशित होता है, न तु साक्षाच्छब्द व्यापार विषयः=न कि वह साक्षात् शब्द व्यापार का विषय होता है, इति=इसलिये, वाच्याद्विभिन्न एव=वह वाच्य से विभिन्न ही है, तथाहि=जैसा कि, तस्य वाच्यत्वं=उसका वाच्यत्व, स्वशब्द, निवेदितत्वेन=अपने शब्दों से निवेदित होने के रूप से, वा=अथवा, विभावादि-प्रतिपादन मुखेन वा स्यात्=विभावादि के प्रतिपादन के द्वारा हो सकता है, पूर्वस्मिन् पक्षे=पहले पक्ष मे, स्वशब्द निवेदितत्वा भावे=अपने शब्द अर्थात् रस या शृङ्गार आदि नामों के द्वारा निवेदित न होने पर, रसादीनामप्रतीति प्रसंग=रसादिको की अप्रतीति का प्रसंग होगा।

अर्थ—रसादि रूप तीसरा प्रभेद तो वाच्य की सामर्थ्य से आक्षिप्त होकर प्रकाशित होता है, न कि यह साक्षात् शब्द व्यापार का विषय होता है, इसलिये यह भी वाच्य विभिन्न ही है। जैसा कि उसका वाच्यत्व अपने शब्दों से निवेदित होने के रूप से अथवा विभाव आदि के प्रतिपादन के द्वारा हो सकता है। पहले पक्ष में यदि अपने शब्द अर्थात् रस या शृंगार आदि नामों के द्वारा निवेदित न होने पर रसादिकों की अप्रतीति का प्रसङ्ग होगा।

विशेष—यह ध्यान रखना चाहिये कि रसादि अर्थ उत्पन्न नहीं होता, प्रत्युत प्रकाशित होता है। सहृदय के हृदय मे स्थित रत्यादि स्थायी भाव ही रस रूप मे परिणत हो जाते है। स्थायी भावों की रस रूप मे परिणति के पूर्व सहृदय के हृदय का संवाद द्वारा जब विभाव आदि की प्रतीति हो जाती है, तब तन्मयीभाव होता है, ऐसी स्थिति मे रस आस्वाद्यमान होने लगता है, वह सुखादि मे विलक्षण आत्मिक आनन्दानुभूति है।

"तत्सत्वे कार्य सत्वमन्वयः, तदभावे कार्या भावो व्यतिरेक:" इस परिभाषा के अनुसार उसके रहने पर कार्य हो, यह अन्वय है और उसके न रहने पर कार्य न हो, यह व्यतिरेक है। इसमें ध्वनिकार ने स्व शब्द के अन्वय व्यतिरेक का निराकरण किया है अर्थात् शृंगार आदि शब्द के रहने पर रसादि की प्रतीति

नही होती है और उसके अभाव मे रसादि की प्रतीति हो जाती है, किन्तु जहां ध्वनन व्यापार होता है, वही रसादि की प्रतीति होती है।

न तु सर्वत्र तेषां स्वशब्दनिवेदितत्वम्, यत्राप्यस्ति तत्, तत्रापि विशिष्ट विभावादि प्रतिपादन मुखेनैवेषां प्रतीति:, स्वशब्देन सा केवल मनूद्यते, न तु तत्कृता विषयान्तरे तथा तस्या अदर्शनात्।

श्रीधरी—च=और, सर्वत्र तेषा=सर्वत्र उनका, स्व शब्दनिवेदितत्वम् न=अपने शब्दों द्वारा निवेदितत्व नहीं है, यत्राप्यस्ति तत्=जहां कहीं भी वह है, तत्रापि=वहां भी, विशिष्ट विभावादि प्रतिपादन मुखेनैव=विशेष प्रकार से विभाव आदि के प्रतिपादन के द्वारा ही, एषा प्रतीति=उनकी प्रतीति है, स्वशब्देन=अपने शब्द से, सा=वह प्रतीति, केवलमनूद्यते=केवल अनूदित हो जाती है, न तु तत्कृता=उस शब्द के कारण नही होती, विषयान्तरे=विषयान्तर में, तथा तस्या अदर्शनात्=उसके उस प्रकार से न दिखाई पड़ने से।

अर्थ—सर्वत्र उन रसादिकों का अपने शब्दों द्वारा निवेदितत्व नहीं है, जहां कहीं भी वह है, वहां भी विशेष प्रकार से विभाव आदि के प्रतिपादन के द्वारा ही उनकी प्रतीति है। अपने शब्द से वह प्रतीति केवल अनूदित हो जाती है, उस शब्द के कारण नही होती क्योंकि विषयान्तर मे उसे उस प्रकार नहीं देखते।

न हि केवल शृङ्गारादि शब्द मात्र भाजि विभावादि प्रतिपादन रहित काव्ये मनागपि रसवत्व प्रतीतिरस्ति। यतश्च स्वाभिधानमन्तरेण केवलेभ्योऽपि विभावादिभ्यो विशिष्टेभ्यो रसादीनां प्रतीति.। केवलाच्च स्वाभिधानादप्रतीतिः। तस्मादन्वयव्यतिरेकाभ्यामभिधेयसामर्थ्याक्षिप्तत्व-मेव रसादीनाम्। न त्वभिधेयत्वं कथञ्चित्, इति तृतीयोऽपि प्रभेदो वाच्याद्भिन्न एवेति स्थितम्। वाच्येन त्वस्य सहेव प्रतीतिरित्यग्रे दर्शयिष्यते।

श्रीधरी केवल शृङ्गारादि शब्दमात्र भाजि=(उसकाव्य मे) जहां केवल शृङ्गार आदि शब्दमात्र प्रयुक्त हो, विभावादि प्रतिपादन रहित=विभाव आदि का प्रतिपादन न हुआ हो, मनागपि=थोड़ी भी, रसवत्वप्रतीतिः न अस्ति=रसवत्ता की प्रतीति नहीं होती। यतश्च=क्योंकि, स्वाभिधान मन्तरेण=स्व शब्द का अभिधान न हो तो भी, केवलेभ्यो=केवल, विशिष्टेभ्यो विभावादिभ्यो=विशिष्ट विभाव आदि के द्वारा, रसादीना प्रतीतिः=रस आदि की प्रतीति होती है, केवलाच्च=केवल, स्वाभिधानादप्रतीतिः=स्व शब्द के अभिधान से प्रतीति नहीं होती, तस्मात्=इसलिये, अन्वय व्यतिरेकाभ्यां=अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा, रसादीनां=रसादिकों का, अभिधेय सामर्थ्याक्षिप्तत्वमेव=वाच्य के सामर्थ्य से आक्षिप्तत्व ही सिद्ध होता है, न कथञ्चित् अभिधेयत्वम्=न किसी प्रकार वाच्यत्व

है, इति=इस प्रकार, तृतीयोऽपि प्रभेदो=तीसरा भी प्रभेद, वाच्याद्भिन्न एवेति स्थितम्=वाच्य से भिन्न ही है, यह सिद्ध हुआ, वाच्येन=वाच्य से, अस्य सहैव=इसकी साथ ही, प्रतीतिः=जैसी प्रतीति होती है, अग्रे दर्शयिष्यते=उसे आगे दिखायेंगे।

अर्थ—उस काव्य में, जहाँ केवल शृंगार आदि शब्दमात्र प्रयुक्त हों और विभावादि का प्रतिपादन न हुआ हो, थोड़ी मात्रा में भी रसवत्ता की प्रतीति नहीं होती क्योंकि स्व शब्द का अभिधान न हो तो भी केवल विशिष्ट विभाव द्वारा रसादि की प्रतीति होती है। केवल स्व शब्द के अभिधान से प्रतीति नहीं होती। इसलिये अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा रसादिकों का वाच्य के सामर्थ्य से आक्षिप्तत्व ही सिद्ध होता है, न कि किसी प्रकार वाच्यत्व, इस प्रकार तीसरा प्रभेद भी वाच्य वाच्य से भिन्न ही है, यह सिद्ध हुआ, वाच्य में इसकी एक ही जैसी प्रतीति होती है, इसे आगे बतायेंगे।

विशेष—वृत्ति ग्रन्थ में रसादि को जो अभिधेय के सामर्थ्य से आक्षिप्त कहा है, वह सर्वथा ध्वनन व्यापार से ही गम्य है, जब शब्द से रस का ध्वनन होता है, तब अभिधेय या वाच्य ही विभावादि रूप से सहकारि शक्ति रूप सामर्थ्य होती है, और इससे होने वाला ध्वनन न तो पुत्र जन्म से उत्पन्न हर्ष जैसा होता है और न उसे दिन के भोजन के अभाव में रात्रि के भोजन के अनुमान जैसा अनुमान कहा जा सकता है। ध्वनन शब्द और अर्थ दोनों का व्यापार है। इस तरह ६ निकार ने यहाँ रसादि का शब्द शब्द निवेदितत्व को दूषित किया है और निभादि प्रतिपादन के ढग को जनन और अनुमान के अभिप्राय से दूषित करके भी ध्वनन के अभिप्राय से स्वीकार किया है क्योंकि ध्वनन इन दोनों से भिन्न व्यापार है।

काव्यस्यात्मा स एवार्थ-
स्तथा चादि कवेः पुरा।
क्रौञ्च द्वन्द्व वियोगोत्थः,
शोकः श्लोकत्वमागतः ॥५॥

श्रीधरी—काव्यस्यात्मा=काव्य की आत्मा, स एव अर्थः=वही अर्थ है, तथा=जैसा, पुरा=प्राचीन काल में, क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः=क्रौञ्च पक्षी के जोड़े के वियोग से उत्पन्न, शोकः=शोक, आदिकवेः=आदिकवि वाल्मीकि का, श्लोकत्वमागतः=श्लोक बन गया था।

अर्थ—काव्य की आत्मा वही अर्थ है, जैसा कि प्राचीन काल में क्रौञ्च पक्षी के जोड़े के वियोग से उत्पन्न शोक आदि कवि वाल्मीकि का श्लोक बन गया।

विशेष—"शोकः श्लोकत्वमागतः" में आचार्य ने ऐतिहासिक घटना की ओर सकेत किया है जो वाल्मीकि रामायण में ज्ञात होती है। वाल्मीकि रामायण में कहा गया है कि एक बार महर्षि वाल्मीकि अपने आश्रम से समिधा और कुशों

को लाने के लिये निकल कर जगल मे घूम रहे थे, तभी उन्होंने व्याध के द्वारा वाण से बिधे एक क्रौञ्च पक्षी को देखा जिसके वियोग व्यथा से व्याकुल होकर क्रौञ्ची अत्यन्त कातर होकर चिल्ला रही थी। तत्काल ऋषि के मुख से शापयुक्त छन्दोमयी वाणी निकल पडी जो—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समा।
यत्क्रौञ्च मिथुनादेकमवधी काममोहितम् ॥

इस श्लोक के रूप मे प्रसिद्ध है।

प्रस्तुत कारिका मे रस को काव्य की ग्रात्मा सिद्ध करने के उद्देश्य से इस प्रसग का उल्लेख किया गया है। यह ध्यान देने योग्य है कि विप्रलम्भ शृंगार का स्थायी भाव रति तब होता है, जब नायक-नायिका दोनों ही विद्यमान रहते है। केवल दोनों का एकत्र मिलन सम्पन्न न होने के कारण दोनो मे सापेक्षता रहती है। तात्पर्य यह है कि विप्रलम्भ शृङ्गार मे रति सापेक्ष भाव है। इसके विपरीत शोक रूप स्थायी भाव में ग्रालम्बन विभाव नायिका ग्रौर नायक में कोई एक दिवङ्गत हो जाता है ग्रौर पुर्नमिलन की ग्राशा समाप्त हो जाती है, तब शोक रूप स्थायी भाव निरपेक्ष होता है। 'मा निषाद॰ इत्यादि मे क्रौञ्च के जोड़े में मे एक व्याध के वाण के द्वारा मारा गया है, इस तरह साहचर्य के ध्वस होने से वहाँ विप्रलम्भ शृंगार का स्थायी भाव रति न होकर करुण रस का स्थायी भाव शोक ही माना गया है।

यहाँ क्रौञ्च रूप ग्रालम्बन मे उत्पन्न शोक ग्राक्रन्दन ग्रादि ग्रनुभावों की चर्वणा से ग्रलौकिक स्थिति मे हृदय सवाद तथा तन्मयीभाव के क्रम में ग्रा गया है। ऋषि वाल्मीकि ने उस ग्रलौकिक शोक को चित्त की वृत्ति द्वारा चर्वित किया, यह ग्रास्वादन उस शोक का परिवर्तित रूप करुण रस ही है। इस प्रकार जब ऋषि ने करुण रस का ग्रनुभव किया, तभी उनके मुख मे छन्दोमयी वाणी ग्रनायास ही निकल पडी। यह उसी प्रकार हुग्रा जिस प्रकार दुःख ग्रादि की स्थिति में ग्रनायास ही मुंह मे शब्द निकल पड़ते है। इस तरह शोक करुण रस की स्थिति मे पहुँचकर श्लोक बन गया, "शोकः श्लोकत्वमागतः" यह उक्ति सार्थक हो गई।

लोचनकार ग्रभिनव गुप्त का मत है कि शोक को भ्रम से मुनि का नहीं समझ लेना चाहिए, नही तो क्रौञ्च के दुःख से सन्तप्त ऋषि के मुख मे इस प्रकार श्लोक रचना ग्रस्वाभाविक प्रतीत होगी। ग्रतः वस्तुतः वह शोक ऋषि के द्वारा ग्रास्वाद्यमान होकर ग्रलौकिक हो गया तथा ऋषि ने चित्त वृत्ति के द्वारा उसे करुण रस की स्थिति मे ग्रनुभव किया जो सर्वथा ग्रानन्दमयता की स्थिति है। इस प्रकार इस युक्ति मे करुण रस ही प्रमुख छन्दोमयी वाणी का सार होने से काव्य की ग्रात्मा सिद्ध हुग्रा।

विविध वाच्य वाचक रचना प्रपञ्च चारुणः काव्यस्य स एवार्थः सारभूतः। तथादिकवेर्वाल्मीकेः निहत सहचरी विरहकातरक्रौञ्चाक्रन्द जनित शोक एव श्लोकतया परिणतः।

श्रीधरी– विविध वाच्यवाचक रचना प्रपञ्चचारुण = अनेक प्रकार के वाच्य, वाचक और रचना के प्रपञ्च से सुन्दर, काव्यस्य = काव्य का, स एवार्थः = वही अर्थ, सारभूत = सारभूत है, आदिकवेर्वाल्मीके च — जैसा कि आदि कवि वाल्मीकि का, निहत सहचरी विरहकातर क्रौञ्चाक्रन्दजनित = निहत सहचरी के वियोग से कातर क्रौञ्च के आक्रन्द से उत्पन्न, शोक एव — शोक ही, श्लोकतया परिणत = श्लोक रूप से परिणत हो गया है।

अर्थ—विविध वाच्य, वाचक और रचना के प्रपञ्च से सुन्दर काव्य का वही अर्थ सारभूत है जैसा कि आदि कवि वाल्मीकि का सहचरी के मार दिये जाने से उसके वियोग से कातर क्रौञ्च के आक्रन्द से उत्पन्न शोक ही श्लोक रूप से परिणत हो गया।

विशेष—यह तो निर्विवाद है कि ध्वनि ही काव्य का सारभूत तत्व किंवा आत्मा है, लेकिन केवल उस ध्वनि के रहने मात्र से ही काव्य की पूर्णता नहीं होती। साथ ही उस काव्य को अभिव्यञ्जनीय रस के आनुगुण्य से शब्द, वाचक और रचना के प्रपञ्च से चारु भी होना चाहिए, अन्यथा ध्वनि तो किसी साधारण वाक्य में भी हो सकती है, ऐसी स्थिति में सर्वत्र ध्वनि के व्यवहार की आपत्ति का कारण नहीं हो सकता। लोक में भी हम देखते हैं कि आत्मा के होने पर भी जीव का व्यवहार सर्वत्र नहीं है अपितु कहीं-कहीं पर ही होता है। वही बात प्रस्तुत के बारे में भी समझी जा सकती है। यही कारण है कि वृत्ति में काव्य के विशेषण रूप से—'विविध वाच्य वाचक रचना प्रपञ्च चारु' कहा गया है।

शोको हि करुणस्थायि भावः। प्रतीयमानस्य चान्यभेद दर्शनेऽप्यपि रसभाव मुखेनैवोपलक्षणं प्राधान्यात्।

श्रीधरी– शोको हि = शोक, करुण स्थायिभाव = करुण का स्थायी भाव है, प्रतीयमानस्य = प्रतीय मान के, अन्यभेद दर्शनेऽपि = अन्य भेदों के रहते हुए भी, प्राधान्य के कारण, रसभाव मुखेनैव = रस और भाव द्वारा ही, उपलक्षणम् = उनका बोधन होता है।

अर्थ—शोक करुण का स्थायी भाव है। प्रतीयमान के अन्य भेदों के रहते हुए भी प्राधान्य के कारण रस और भाव द्वारा ही उनका बोधन होता है।

> **सरस्वती स्वादु तदर्थ वस्तु,**
> **निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।**
> **अलोक सामान्यमभिव्यनक्ति,**
> **परिस्फुरन्तं प्रतिभा विशेषम्॥६॥**

श्रीधरी—तद् = उस, स्वादु = रसस्वभाव रूप, अर्थं वस्तु = अर्थ वस्तु को, निष्यन्दमाना = प्रवाहित करती हुई किंवा प्रदर्शित करती हुई, महाकवीनां = महाकवियों की, सरस्वती = वाणी, अलोकसामान्यं = अलौकिक रूप में, परिस्फुरन्त = परिस्फुरित होते हुए, प्रतिभाविशेषम् = प्रतिभा विशेष को, अभिव्यनक्ति = अभिव्यक्त करती है।

अर्थ—उस स्वादु रसस्वभावरूप अर्थ वस्तु को प्रवाहित करती हुई किंवा प्रदर्शित करती हुई महाकवियों की वाणी अलौकिक रूप में परिस्फुरित होते हुए प्रतिभा विशेष को अभिव्यक्त करती है।

विशेष—यहां पर आचार्य ने महाकवियों की वाणी को व्यंग्यार्थ को प्रवाहित करने वाली बताया है। वह एक तरह की धेनु है जो सहृदय रूपी वत्सों को स्वयं दिव्य रस पिलाकर आनन्दित करती है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि वह आनन्द जो सहृदयों को काव्य में मिलता है और वह आनन्द जो समाधि में मिलता है, इन दोनों में बड़ा अन्तर है। काव्यानन्द में प्रतिभा विशेष का पता चलता है क्योंकि जो कविता जितनी रसानुभूति कराती है, उतना ही उसमें कविप्रतिभा का ज्ञान होता है और उसी प्रतिभा विशेष के आधार पर ही कवि की गणना महाकवियों की कोटि में होती है। यों तो संसार में हजारों कवि होते आये हैं, लेकिन यह प्रतिभा विशेष का ही चमत्कार है कि जो कालिदास प्रभृति, कुछ ही कवि महाकवि की श्रेणी में आते हैं।

तत्र वस्तुतत्त्वं निःष्यन्दमाना महतां कवीनां भारती अलोक सामान्यं प्रतिभा विशेषं परिस्फुरन्तमभिव्यनक्ति। येनास्मिन्नति विचित्र कविपरम्परा वाहिनि संसारे कालिदास प्रभृतयो द्वित्राः पञ्चषा वा महाकवय इति गण्यन्ते।

श्रीधरी—तत् = उस, वस्तुतत्त्व = वस्तुतत्त्व को, निःष्यन्दमाना = प्रवाहित करती हुई, महतां कवीनां भारती = महाकवियों की वाणी, परिस्फुरन्त = परिस्फुरित होते हुए, अलोक सामान्य = असाधारण, प्रतिभा विशेषं = प्रतिभा विशेष को, अभिव्यनक्ति = अभिव्यक्त करती है, येन = जिसने, अतिविचित्र कवि परम्परा वाहिनि = अत्यन्त विचित्र कवियों की परम्परा से युक्त, अस्मिन् संसारे = इस संसार में, कालिदास प्रभृतयः = कालिदास आदि, द्वित्राः = दो-तीन, पञ्चषा वा = या पाँच छः, महाकवयः = महाकवि, गण्यन्ते = गिने जाते हैं।

अर्थ—उस वस्तु तत्त्व को प्रवाहित करती हुई महान् कवियों की वाणी परिस्फुरित होते हुए असाधारण प्रतिभा विशेष को अभिव्यक्त करती है जिसमें अतिविचित्र कवियों की परम्परा से युक्त इस संसार में कालिदास आदि दो-तीन या पाँच छः महाकवि गिने जाते हैं।

इदं चापरं प्रतीयमानस्यार्थस्य सद्भाव साधनं प्रमाणम् —

शब्दार्थ शासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते ।
वेद्यते स तु काव्यार्थतत्वज्ञैरेव केवलम् ॥७॥

श्रीधरी—इद च अपर = और यह दूसरा, प्रतीयमानस्यार्थस्य = प्रतीयमान अर्थ के, सद्भावसाधन = सद्भाव का साधन, प्रमाण = प्रमाण है —

शब्दार्थ शासनज्ञान मात्रैणैव = केवल शब्द-अर्थ के नियमों के ज्ञान मात्र से, न वेद्यते = नहीं जाना जाता, स तु = वह प्रतीयमान अर्थ तो, केवलं = केवल, काव्यार्थ तत्वज्ञै रेव = काव्यार्थ के तत्वज्ञ लोगों के द्वारा ही, वेद्यते = जाना जाता है ।

अर्थ – और यह दूसरा प्रतीयमान अर्थ के सद्भाव, सद्भाव का साधन प्रमाण है—केवल शब्द अर्थ के नियमों के ज्ञान मात्र से नहीं जानना है प्रत्युत वह प्रतीयमान अर्थ तो काव्यार्थ के तत्वज्ञ लोगों द्वारा ही जाना जाता है ।

सोऽर्थो यस्मात्केवलं काव्यार्थ तत्वज्ञै रेव ज्ञायते, यदि च एवासावर्थः स्यात्तद्वाच्यवाचक रूपपरिज्ञानादेव तत्प्रतीतिः स्यात् । अथ च वाच्य वाचक लक्षण मात्रकृत श्रमाणां काव्यतत्वार्थ भावनाविमुखानां स्वरश्रुत्यादिलक्षणमिवाऽप्रगीतानां गान्धर्व लक्षणविदामगोचर एवासावर्थः ।

श्रीधरी—सोऽर्थ = वह अर्थ, यस्मात् = जिस कारण, केवलं काव्यार्थ तत्वज्ञैरेव = केवल काव्यार्थ के तत्वज्ञ लोगों के द्वारा ही, ज्ञायते = जाना जाता है, च = और, यदि वाच्य रूप एव असौ अर्थ. स्यात् = यदि यह अर्थ वाच्य रूप ही होता, तदा = तब, वाच्यवाचक रूपपरिज्ञानादेव = वाच्य और वाचक के स्वरूप के परिज्ञान से ही, तत्प्रतीतिः स्यात् = उसकी प्रतीति होती, अथ च = और भी, वाच्यवाचक लक्षण मात्र कृतश्रमाणा = वाच्य वाचक के लक्षण मात्र में श्रम करने वाले, काव्य तत्वार्थ भावना विमुखाना = काव्यतत्वार्थ की भावना से पराङ्मुख रहने वाले लोगों के लिये, अप्रगीताना = गाने में असमर्थ, स्वरश्रुत्यादि लक्षणमिव = स्वर और श्रुति आदि के तत्व के समान, गान्धर्व लक्षणविदा = संगीत शास्त्र के लक्षणों को जानने वालों के समान, असौ अर्थ = यह अर्थ, अगोचर एव = अगोचर ही है ।

अर्थ—वह अर्थ जिस प्रकार काव्यार्थ के तत्वज्ञ जनों द्वारा ही जाना जाता है, और यदि वह अर्थ वाच्य रूप में ही होता तो वाच्य और वाचक के स्वरूप के परिज्ञान से ही उसकी प्रतीति हो जाती है, और भी, वाच्य-वाचक के लक्षण मात्र में जिन्होंने श्रम किया है तथा जो काव्य तत्वार्थ की भावना में विमुख हैं, उनके लिये यह अर्थ गाने में अक्षम किन्तु संगीत शास्त्र के लक्षणों को जानने वाले लोगों के लिये स्वर और श्रुति आदि के तत्व की तरह अगोचर ही है ।

एवं वाच्य व्यतिरेकिणो व्यंग्यस्य सद्भावं प्रतिपाद्य प्राधान्यं तस्यैवेति दर्शयति ।

श्रीधरी—एवम्=इस प्रकार, वाच्य व्यतिरेकिणः=वाच्य से पार्थक्य रखने वाले व्यञ्जक शब्दार्थ=व्यंग्य के सद्भाव का, प्रतिपाद्य=प्रतिपादन करके, प्राधान्य प्रतीयमान उसका ही है, इति दर्शयति=इस बात को दिखाते हैं—

अर्थ—इस तरह वाच्य से पार्थक्य रखने वाले व्यंग्य का सद्भाव प्रतिपादन करके प्राधान्य उसी का है, इस बात को दिखाते हैं—

सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः॥८॥

श्रीधरी—सोऽर्थः=वह अर्थ, तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी=उसकी अभिव्यक्ति की सामर्थ्य रखने वाला, कश्चन शब्दश्च=कोई शब्द है, तौ शब्दार्थौ=उन शब्द और अर्थों को, महाकवेः यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ=महाकवि को प्रयत्नपूर्वक जानना चाहिए।

अर्थ—वह अर्थ है, उसकी अभिव्यक्ति की सामर्थ्य रखने वाला कोई शब्द है, वे शब्द और अर्थ महाकवि को प्रयत्नपूर्वक जानने चाहिए।

व्यंग्योऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन, न शब्द मात्रम्। तावेव शब्दार्थौ महाकवेः प्रत्यभिज्ञेयौ। व्यंग्यव्यञ्जकाभ्यामेव सुप्रयुक्ताभ्यां महाकवित्वलाभो महाकवीनाम्, न च वाच्य वाचक रचना मात्रेण।

श्रीधरी—व्यंग्योऽर्थः=व्यंग्य अर्थ है, तद्व्यक्ति सामर्थ्ययोगी=उसकी अभिव्यक्ति की सामर्थ्य रखने वाला, कश्चन शब्दश्च=कोई शब्द है, न तु शब्द मात्रम्=न कि शब्द मात्र, तावेव शब्दार्थौ=वे ही शब्द और अर्थ महाकवेः प्रत्यभिज्ञेयौ=महाकवि के प्रत्यभिज्ञान के योग्य हैं, (क्योंकि) व्यंग्य व्यञ्जकाभ्यामेव=व्यंग्य और व्यञ्जक के ही, सुप्रयुक्ताभ्याम्=सुन्दर ढंग से प्रयोग करने पर, महाकवीनाम्=महाकवियों को, महाकवित्वलाभः=महाकवित्व लाभ है, न वाच्य वाचक रचना मात्रेण=केवल वाच्य-वाचक रचना मात्र से नहीं।

अर्थ—यह अर्थ है और उसकी अभिव्यक्ति की सामर्थ्य रखने वाला कोई शब्द है न कि शब्दमात्र। ये ही शब्द-अर्थ महाकवि के प्रत्यभिज्ञान के योग्य हैं क्योंकि व्यंग्य और व्यञ्जक के सुन्दर ढंग से प्रयोग करने पर महाकवियों को महाकवित्व का लाभ है, न कि वाच्य-वाचक रचना मात्र से।

इदानीं व्यंग्य व्यञ्जकयोः प्राधान्येऽपि यद्वाच्यवाचकावेव प्रथममुपाददते कवयस्तदपि युक्तमेवेत्याह—

श्रीधरी—इदानीं=अब, व्यंग्य व्यञ्जकयोः प्राधान्येऽपि=व्यंग्य और व्यञ्जक के प्राधान्य में भी, कवयः=कवि लोग, यद्=जो, प्रथम=पहले, वाच्य वाचकावेव=वाच्य और वाचक का ही, उपाददते=उपादान करते हैं, तदपि युक्तमेव=यह भी ठीक ही है, इत्याह=यह कहते हैं—

अर्थ—अब जो व्यंग्य और व्यञ्जक के प्राधान्य में भी कवि लोग पहले वाच्य और वाचक का ही उपपादन करते है, वह भी ठीक है, यह कहते है।

आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवाञ्जनः।
तदुपायतया तद्वदर्थे वाच्ये तदादृतः ॥९॥

श्रीधरी—यथा=जिस प्रकार, आलोकार्थी=प्रकाश चाहने वाला, जनः=मनुष्य, तदुपायतया=उसका उपाय होने के कारण, दीपशिखाया=दीपशिखा के लिये, यत्नवान्=यत्न करता है, तद्वत्=उसी प्रकार, अर्थे आदृत. व्यंग्य अर्थ के प्रति आदरयुक्त मनुष्य, वाच्ये=वाच्य के लिये यत्न करता है।

अर्थ—जिस प्रकार प्रकाश चाहने वाला मनुष्य उसका उपाय होने के कारण दीपशिखा के लिये यत्न करता है, उसी प्रकार उस व्यंग्य अर्थ के लिये आदरयुक्त मनुष्य वाच्य अर्थ के लिये यत्न करता है।

विशेष—यहाँ पर यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि जब वाच्य, वाचक और अभिधा व्यापार का पहले उपादन किया जाता है, तब इन्हें ही प्रधान क्यों नही मान लिया जाता? इसका उत्तर यह है कि प्रथम उपादान को प्राधान्य का हेतु मानना उचित नही है। आशय यह है कि किसी वस्तु को प्रधान इसलिये नहीं माना जा सकता कि उसका उल्लेख पहले होता है क्योकि तब तो उपाय जो पहले होता है, वह उपेय से पहले उल्लिखित होता है, ऐसी स्थिति मे क्या, उपाय को प्रधान कहा जा सकता है? प्रस्तुत मे वाच्य-वाचक भाव भी प्रधानभूत व्यंग्य व्यञ्जक भाव के उपाय है, अतः उनका पहले उपादान होता है अतः प्रथम उपादान मात्र होने से उन्हे प्रथम नही कहा जा सकता। जिस प्रकार आदमी जब किसी वस्तु को रात्रि मे देखना चाहता है, तब वह दीपशिखा के लिये प्रयत्नशील होता है, इस प्रकार दीपशिखा प्रथम उपादीयमान होने पर भी उपेयभूत वस्तु के दर्शन का उपाय होने के कारण अप्रधान है।

यथा ह्यालोकार्थी सन्नपि दीपशिखायां यत्नवाञ्जनो भवति तदुपायतया। न हि दीपशिखामन्तरेणालोकः सम्भवति। तद्वद्व्यंग्यमर्थंप्रत्याहृतो जनो वाच्येऽर्थे यत्नवान् भवति। अनेनप्रतिपादकस्य कवेर्व्यंग्यमर्थं प्रति व्यापारोदर्शितः।

श्रीधरी—यथा=जैसे, आलोकार्थी सन्नपि=प्रकाश को चाहने वाला भी, जन.=व्यक्ति, दीपशिखायां=दीपशिखा मे, तदुपायतया=उस आलोक का उपाय होने के कारण, यत्नवान् भवति=यत्नवान् होता है, हि=क्योकि, दीपशिखामन्तरेण=दीपशिखा के बिना, आलोकः=प्रकाश, न सम्भवति=सम्भव नहीं होता, तद्वत्=उसी प्रकार, व्यंग्यमर्थप्रत्यादृतो=व्यंग्य अर्थ के प्रति आदर युक्त, जनः=व्यक्ति, वाच्ये अर्थे=वाच्य अर्थ मे, यत्नवान् भवति=यत्नवान् होते है, अनेन=इससे, प्रतिपादकस्य कवेः=वक्ता कवि का, व्यंग्यमर्थं प्रति=व्यंग्य अर्थ के प्रति, व्यापारो दर्शित.=व्यापार दिखाया है।

अर्थ—जैसे प्रकाश को चाहने वाला भी व्यक्ति दीप शिखा के लिये उस प्रकाश का उपाय होने के कारण यत्नवान् होता है क्योंकि दीप शिखा के बिना प्रकाश सम्भव नहीं है, उसी प्रकार व्यंग्य अर्थ के प्रति आदर युक्त व्यक्ति वाच्य अर्थ यत्नवान् होता है। इसमें प्रतिपादक कवि का व्यंग्य अर्थ के प्रति व्यापार दिखाया है।

प्रतिपाद्यस्यापि तं दर्शयितुमाह्—

(१७) **यथा पदार्थद्वारेण,**
वाक्यार्थः सम्प्रतीयते।
वाच्यार्थपूर्विका तद्वत्,
प्रतिपत्तस्य वस्तुनः ॥१०॥

श्रीधरी—प्रतिपाद्यस्यामि=प्रतिपाद्य के भी, तं=उस व्यापार को, दर्शयतु आह्=दिखलाने के लिये कहते है—

यथा=जिस प्रकार, पदार्थद्वारेण=पदार्थ के द्वारा, वाक्यार्थः=वाक्यार्थ, सम्प्रतीयते=प्रतीत किया जाता है, तद्वत्=उसी प्रकार, तस्य वस्तुनः=उस वस्तु की, प्रतिपत्=प्रतीति, वाच्यार्थपूर्विका=वाच्यार्थपूर्विका होती है।

अर्थ—प्रतिपाद्य के भी उस व्यापार को दिखाने के लिये कहते है—

जिस तरह पदार्थ के द्वारा वाक्यार्थ प्रतीत किया जाता है, उसी तरह उस वस्तु की प्रतीति भी वाच्यार्थ पूर्विका होती है।

यथा हि पदार्थ द्वारेण वाक्यार्थावगमस्तथा वाच्यार्थप्रतीतिपूर्विका व्यंग्यस्यार्थस्यप्रतिपत्तिः। इदानीं वाच्यार्थ प्रतीति पूर्वकत्वेऽपि तत्प्रतीते-र्व्यङ्ग्यस्यार्थस्य प्राधान्यं यथा न व्यालुप्यते तथा दर्शयति।

श्रीधरी—यथा हि=जिस प्रकार, पदार्थद्वारेण=पदार्थ के द्वारा, वाक्यार्थावगम.=वाक्यार्थ का ज्ञान होता है, तथा=उसी प्रकार, व्यङ्ग्यार्थस्य प्रतिपत्ति.=व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतिपत्ति, वाच्यार्थ प्रतीति पूर्विका=वाच्यार्थ प्रतीति पूर्विका होती है, इदानी=अब, तत् प्रतीतेः=उस व्यङ्ग्य की प्रतीति के, वाच्यार्थप्रतीति पूर्वकत्वेऽपि=वाच्यार्थप्रतीति पूर्वक होने पर भी, व्यङ्ग्यार्थस्य प्राधान्य=व्यङ्ग्य अर्थ का प्राधान्य, यथा न व्यालुप्यते=जिस प्रकार व्यालुप्त नही होता, तथा दर्शयति=वह दिखाते है

अर्थ—जिस प्रकार पदार्थ के द्वारा वाक्यार्थ का बोध होता है, उसी प्रकार व्यंग्यार्थ की प्रतिपत्ति वाच्यार्थ प्रतीति के उपरान्त होती है। अब उस व्यंग्य अर्थ की प्रतीति के वाच्यार्थ प्रतीतिपूर्वक होने पर भी व्यंग्य अर्थ का प्राधान्य जिस प्रकार व्यालुप्त नही होता, वह दिखलाते है—

विशेष—पदार्थ के ज्ञान के बाद ही वाक्यार्थ का ज्ञान हुआ करता है, यह नियम है, लेकिन जो व्यक्ति वाक्य वृत्ति कुशल है, उसे यह क्रम स्पष्टतया

नहीं होता है। इसी प्रकार पहले वाच्य अर्थ की प्रतीति होती है और इसके बाद व्यंग्य अर्थ की प्रतीति होती है, यही क्रम है, परन्तु जो अत्यन्त सहृदय व्यक्ति है, उसे यह क्रम प्रतीत नहीं होता। यही कारण है कि ध्वनि को असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य कहा गया है। इसी तरह अनुमान आदि में भी जिसे विषय का अभ्यास होता है, उसे व्याप्ति, स्मृति और अनुमिति का क्रम स्पष्ट ज्ञात नहीं होता। संकेत ज्ञान किंवा अर्थ ज्ञान के बारे में भी यही बातें लागू होती हैं।

स्व सामर्थ्य वशेनैव वाक्यार्थं प्रतिपादयन्।
यथा व्यापार निष्पत्तौ पदार्थो न विभाव्यते ॥११॥

यथा स्व सामर्थ्यवशेनैव वाक्यार्थं प्रकाशयन्नपि पदार्थो व्यापार निष्पत्तौ न भाव्यते विभक्ततया।

श्रीधरी स्वसामर्थ्य वशेनैव = अपनी सामर्थ्य से ही, वाक्यार्थं प्रतिपादयन् = वाक्यार्थ का प्रतिपादन करता हुआ, पदार्थ = पदार्थ, यथा = जिसप्रकार, व्यापार निष्पत्तौ = व्यापार के पूर्ण हो जाने पर, न विभाव्यते = अलग-अलग प्रतीत नहीं होता।

यथा = जिस प्रकार, स्वसामर्थ्य वशेनैव = अपनी सामर्थ्य के वश ही, वाक्यार्थं प्रकाशयन्नपि = वाक्यार्थ को प्रकाशित करता हुआ भी, पदार्थः = पदार्थ, व्यापार निष्पत्तौ = व्यापार की निष्पत्ति की स्थिति में, विभक्ततया न विभाव्यते = विभक्त रूप में भावित नहीं होता।

अर्थ—अपनी सामर्थ्य से ही वाक्यार्थ का प्रतिपादन करता हुआ पदार्थ जिस तरह व्यापार के निष्पन्न हो जाने पर अलग-अलग प्रतीत नहीं होता।

जिस तरह अपनी सामर्थ्य से ही वाच्यार्थ को प्रकाशित करता हुआ भी पदार्थ व्यापार की निष्पत्ति की स्थिति में विभक्त रूप से भावित नहीं होता है।

तद्वत्सचेतसां सोऽर्थो वाच्यार्थ विमुखात्मनाम्।
बुद्धौ तत्वार्थ दर्शिन्यां झटित्येवावभासते ॥१२॥

एवं वाच्य व्यतिरेकिणो व्यंग्यस्यार्थस्यसद्भावं प्रतिपाद्य प्रकृत उपयोजयन्नाह—

श्रीधरी—तद्वत् = उसी प्रकार, सोऽर्थः = वह अर्थ, वाच्यार्थ विमुखात्मनाम् = वाच्यार्थ से विमुख आत्मा वाले, (सहृदय जनों की) तत्त्वार्थदर्शिन्यां = तत्त्वार्थदर्शिनी, बुद्धौ = बुद्धि में, झटित्येव = शीघ्र ही, अवभासते = अवभासित हो जाता है।

एवं = इस प्रकार, वाच्य व्यतिरेकिणः = वाच्यार्थ से व्यतिरिक्त व्यङ्ग्य-स्यार्थस्य = व्यङ्ग्यार्थ के, सद्भावं = सद्भाव का, प्रतिपाद्य = प्रतिपादन करके, प्रकृत उपयोजयन् = प्रकृत में उसका उपयोग करते हुए, आह = कहते हैं -

अर्थ – उसी प्रकार वह अर्थ वाच्यार्थ से विमुख आत्मा वाले सहृदय जनों की तत्त्वार्थदर्शिनी बुद्धि में शीघ्र ही अवभासित हो जाता है। इस प्रकार वाच्यार्थ

से अतिरिक्त व्यङ्ग्यार्थ का सद्भाव प्रतिपादन करके प्रकृत में उसका उपयोग करते हुए कहते हैं –

Imp. यत्रार्थः शब्दो वा,
तमर्थ मुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यङ्क्त काव्य विशेषः,
स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥१३॥

श्रीधरी—यत्र = जहाँ, अर्थ = अर्थ अपने आपको, वा = अथवा, शब्द = शब्द अपने अर्थ को, उपसर्जनीकृत = गुणी भूत करके, तमर्थ = उस प्रतीयमान अर्थ को, व्यङ्क्त = अभिव्यक्त करते है, स. काव्यविशेषः = वह काव्य विशेष, सूरिभिः = विद्वानो के द्वारा, ध्वनिरितिकथितः = ध्वनि कही जाती है ।

अर्थ—जहाँ अर्थ अपने आपको और शब्द अपने अर्थ को गुणीभूत करके उस प्रतीयमान अर्थ को अभिव्यक्त करते है, वह काव्य विशेष विद्वानो के द्वारा ध्वनि कहा जाता है ।

विशेष—वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है अर्थात् जिस तरह दीपक अपने प्रकाश से घट को तो प्रकाशित करता ही है, स्वय को भी प्रकाशित करता है, उसी तरह वाच्यार्थ भी व्यग्य अर्थ को प्रतीत कराता हुआ स्वय भी प्रतीत होता है, सहृदय लोग शीघ्र ही उस व्यग्य अर्थ का बोध करते है । अतः इसमे क्रम रहता हुआ भी लाघव के कारण उन्हे क्रम लक्षित नही होता, यह सन्देह नही करना चाहिए कि यह सहृदयो का वैशिष्ट्य है कि उन्हे व्यग्य अर्थ का इस प्रकार ज्ञान होता है, अपितु उन्हे तो इस प्रकार अवभासित होता है ।

यहाँ 'सद्भाव' शब्द सत्ता और अस्तित्व के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है, साथ ही उस वस्तु की श्रेष्ठता किंवा अच्छाई भी इसमे अभिहित हुई है । सद्भाव शब्द से ध्वनिकार ने न केवल ध्वनि के अस्तित्व को सिद्ध किया है अपितु उसका प्राधान्य भी सिद्ध किया है ।

मूल कारिका में अर्थ या शब्द यह विकल्प प्राधान्य के अभिप्राय से कहा है । तात्पर्य यह है कि केवल शब्द या केवल अर्थ व्यजक नही होते, अपितु वे एक दूसरे की सहायता से व्यजक हुआ करते है । इस प्रकार जब अर्थ मुख्य रूप से व्यग्य को व्यजना करता है, तब शब्द उसका सहकारी होता है और जब शब्द मुख्य रूप से व्यजक होता है, तब अर्थ उसका सहकारी होता है। इसी प्राधान्य के अभिप्राय से ध्वनिकार ने विकल्प का प्रयोग किया है तथा शब्द और अर्थ की इसी सम्मिलित व्यंजकता के कारण 'व्यङ्क्त' इस द्विवचन के प्रयोग की भी सार्थकता सिद्ध हो जाती है ।

यत्रार्थो वाच्य विशेषः वाचक विशेषः शब्दो वा तमर्थं व्यङ्क्तः, स काव्य विशेषो ध्वनिरिति ।

श्रीधरी—यत्रार्थः=जहाँ अर्थ, वाच्यविशेषः=वाच्य विशेष, वा=अथवा, वाचक विशेष शब्दः=वाचक विशेष शब्द, तमर्थं व्यङ्क्त=उस अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं, स काव्य विशेष.=वह काव्य विशेष, ध्वनिरिति=ध्वनि कहलाता है।

अर्थ—जहाँ अर्थ वाच्य विशेष या वाचक विशेष शब्द उस अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं, वह काव्य विशेष ध्वनि कहलाता है।

विशेष—यद्यपि यह स्पष्ट किया जा चुका है कि ध्वनि काव्य की आत्मा है, लेकिन केवल ध्वनि मात्र मे काव्य का व्यवहार नहीं हो सकता। ध्वनि के साथ-साथ शब्द और अर्थ का गुण और अलङ्कार मे उपस्कृत भी होना चाहिए। यदि केवल ध्वनि के अस्तित्व मात्र से काव्यता मान ली जाय, तब तो 'पीनोऽयं देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इस श्रुतार्थापत्ति के स्थल मे भी काव्यता माननी पड़ेगी, किन्तु यहाँ ध्वनि होते हुए भी गुण और अलङ्कार से उपस्कृत शब्द तथा अर्थ का अभाव है, अत. यहाँ काव्य व्यवहार नही हो सकता। तभी तो कारिका की वृत्ति मे—"विविधवाच्यवाचकरचनाप्रपञ्च चारुण. काव्यस्य" कहा गया है।

अनेन वाच्य वाचक चारुत्व चारुत्व हेतुभ्य उपमादिभ्योऽनुप्रासादिभ्यश्च विभक्त एव ध्वनेर्विषय इति दर्शितम्। यदप्युक्तम्—'प्रसिद्ध प्रस्थानातिक्रमिणो मार्गस्य काव्य हानेर्ध्वनिर्नास्ति' इति, तदप्युक्तम्। यतो लक्षणकृतामेव स केवलं न प्रसिद्धः, लक्ष्ये तु परीक्ष्यमाणे स एव सहृदय हृदयाह्लादकारि काव्यतत्त्वम्। ततोऽन्यच्चित्रमेवेत्यग्रे दर्शयिष्यामः।

श्रीधरी—अनेन=इससे, वाच्यवाचक चारुत्वहेतुभ्यः=वाच्य तथा वाचकता की चारुता के हेतु, उपमादिभ्योऽनुप्रासादिभ्यश्च=उपमा आदि और अनुप्रास आदि से, ध्वनेर्विषय.=ध्वनि का विषय, विभक्त एव दर्शितम्=विभक्त ही है, यह दिखाया है, यदप्युक्तम्=जो कि कहा है, प्रसिद्ध प्रस्थानातिक्रमिणो=प्रसिद्ध प्रस्थानो का अतिक्रमण करने वाला, मार्गस्य काव्यत्वहाने.=मार्ग काव्यत्व से रहित होना है, ध्वनिर्नास्ति इति=अत. ध्वनि नही है, तदप्ययुक्तम्=वह भी ठीक नही है, यत.=क्योंकि, लक्षणकृतामेव=लक्षणकारो के लिये ही, स केवल न प्रसिद्ध=वह केवल प्रसिद्ध नही है, लक्ष्ये तु परीक्ष्यमाणे=लक्ष्य की परीक्षा करने पर, स एव=वही, सहृदय हृदयाह्लादकारी=सहृदय जनो के हृदय को आह्लादित करने वाला, काव्य तत्त्वम्=काव्यतत्त्व है, ततोऽन्यः=उससे भिन्न, चित्रमेव=चित्र ही है, इतिअग्रे दर्शयिष्याम=इस बात को आगे दिखायेंगे।

अर्थ—इससे वाच्य और वाचकता की चारुता के हेतु उपमा आदि तथा अनुप्रास आदि से ध्वनि का विषय विभक्त ही है, यह दिखाया है, जो यह कहा है - प्रसिद्ध स्थानो को अतिक्रमण करने वाला मार्ग काव्यतत्त्व से रहित होता है, अत. ध्वनि नही है, वह भी ठीक नही है क्योंकि लक्षणकारो के लिये ही वह केवल प्रसिद्ध नही है, लक्ष्य की परीक्षा करने पर वही सहृदय जनों के हृदय को आह्लादित करने वाला काव्य तत्व है। उससे दूसरा 'चित्र' है, इस बात को आगे बतायेंगे।

विशेष 'विशेषेण मिनोति वध्नातीति विषय' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो अपने सम्बन्ध के पदार्थ को बाँध देता है, सीमित कर देता है, वह विषय कहलाता है। प्रस्तुत मे ध्वनि का भी अपनी सीमा से बाहर सद्भाव नही है, वह भी अपनी सीमा मे बँधी है। अत. ध्वनि को उपमा आदि अलङ्कारो के अन्तर्गत नही लाया जा सकता क्योंकि उपमा आदि वाच्य और वाचक के चारुत्व के हेतु है ,जबकि ध्वनि का प्राण व्यंग्य व्यजक भाव है और वहाँ स्वयं चारुत्व की प्रतीति होती है।

यदप्युक्तम्—'कामनीयकमनतिवर्तमानस्य तस्योक्तालङ्कारादि प्रकारेष्वन्तर्भावः' इति, तदप्यसमीचीनम्। वाच्यवाचकमात्राश्रयिणि प्रस्थाने व्यंग्य व्यंजकसमाश्रयेण व्यवस्थितस्य ध्वनेः कथमन्तर्भावः, वाच्यवाचक चारुत्व हेतवो हि तस्याङ्गभूतः, स त्वङ्गिरूप एवेति प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्।

श्रीधरी—यदप्युक्तम् = जो यह कहा है कि, कामनीयकमनतिवर्तमानस्य - विशेष कमनीय न होने के कारण, तस्य - उस ध्वनि का, उक्तालङ्कारादिप्रकारेषु अन्तर्भाव = उक्त अलङ्कार आदि प्रकारो मे अन्तर्भाव है, तदपि = वह भी, असमीचीनम् = ठीक नही है, (क्योंकि अलङ्कार आदि) वाच्यवाचकमात्राश्रयिणि प्रस्थाने = प्रस्थान जब कि वाच्य वाचक भाव पर आश्रित है, व्यंग्य व्यजक समाश्रयेण ध्वने = व्यग्य व्यजक भाव के आश्रयण करने वाली ध्वनि का, कथमन्तर्भाव. = उनमे अन्तर्भाव कैसे हो सकता है ?, हि = क्योंकि, प्रतिपादयिष्यमाणत्वात् = यह प्रतिपादन करने के कारण कि, वाच्यवाचक चारुत्व हेतव = वाच्य और वाचक के चारुत्व हेतु अलङ्कार आदि, तस्य उस ध्वनि के, अङ्गभूता. = अङ्गभूत है, स तु = वह ध्वनि तो, अङ्गिरूप एव = अङ्गिरूप ही है।

अर्थ—जो यह कहा है कि —कमनीयता का अतिक्रमण न करने के कारण उस ध्वनि का उक्त अलंकार आदि प्रकारों मे अन्तर्भाव है, यह भी ठीक नही है क्योंकि अलंकार आदि प्रस्थान जब कि एकमात्र वाच्य वाचक भाव पर आश्रित है, तो उनका व्यंग्य-व्यंजक भाव के आश्रित रहने वाली ध्वनि मे अन्तर्भाव कैसे होगा ? क्योंकि यह प्रतिपादन करेंगे कि वाच्य और वाचक के चारुत्व हेतु अलंकार आदि उस ध्वनि के अङ्गभूत है, वह ध्वनि तो अङ्गी रूप ही है।

परिकर श्लोकश्चात्र—

व्यंग्य व्यंजकसम्बन्धनिबन्धनतया ध्वनेः।
वाच्य वाचक चारुत्व हेत्वन्तः पातिता कुतः॥

श्रीधरी अत्र = यहाँ, परिकर श्लोकश्च = परिकर श्लोक भी है —

ध्वनेः = ध्वनि के मूल मे, व्यग्यव्यंजक सम्बन्धनिबन्धनतया = व्यग्य व्यंजक भाव सम्बन्ध के होने के कारण, वाच्य वाचक चारुत्व हेत्वन्त पातिता = वाच्य वाचक के हेतुओं मे उसका अन्तर्भाव, कुतः = कैसे हो सकता है ?

अर्थ यहां एक परिकर श्लोक है—

ध्वनि के मूल में व्यंग्य व्यंजक भाव के सम्बन्ध के होने के कारण वाच्य और वाचक के हेतुओं में उसका अन्तर्भाव कैसे हो सकता है ?

ननु यत्र प्रतीयमानस्यार्थस्य वैशद्येन प्रतीतिः स नाम माभूद् ध्वनेर्विषयः। यत्र तु प्रतीतिरस्ति यथा—समासोक्त्याक्षेपानुक्तनिमित्तविशेषोक्ति पर्यायोक्तापह्नुति दीपकसङ्करालंकारादौ, तत्र ध्वनेरन्तर्भावो भविष्यतीत्यादि निराकर्तुमभिहितम्—'उपसर्जनीकृतस्वार्थौ' इति।

श्रीधरी - यत्र = जहाँ, प्रतीयमानस्यार्थस्य = प्रतीयमान अर्थ की, वैशद्येन प्रतीतिः = विशदता पूर्वक प्रतीति नहीं होती, स नाम = वह, ध्वनेर्विषय. = ध्वनि का विषय, माभूत् मत हो, यत्र तु प्रतीतिरस्ति = किन्तु जहाँ प्रतीति है, यथा = जैसे, समासोक्त्याक्षेपानुक्तनिमित्त विशेषोक्ति पर्यायोक्तापह्नुति दीपकसङ्करालङ्कारौ = समासोक्ति, आक्षेप, अनुक्तनिमित्ता, विशेषोक्ति, अपह्नुति, दीपक, संकर आदि में, तत्र = वहाँ, ध्वनेरन्तर्भावो भविष्यति = ध्वनि का अन्तर्भाव होगा, इत्यादि निराकर्तुमभिहितम् = इत्यादि शङ्का के निवारण के लिये कहा है, उपसर्जनीकृत स्वार्थौ = अपने अर्थ को गुणीभूत करके।

अर्थ जहाँ प्रतीयमान अर्थ की विशदतापूर्वक प्रतीति नहीं होती, वह ध्वनि का विषय मत हो, परन्तु जहाँ प्रतीति है जैसे—समासोक्ति, आक्षेप, अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति, अपह्नुति, दीपक, सङ्कर आदि में, वहाँ ध्वनि का अन्तर्भाव होगा इत्यादि आशङ्का को निवारण करने के लिये कहा गया है "उपसर्जनीकृत स्वार्थौ।"

अर्थो गुणीकृतात्मा, गुणीकृताभिधेयः शब्दो वा यत्रार्थान्तरमभिव्यनक्ति स ध्वनि रिति, तेषु कथं तस्यान्तर्भावः। व्यंग्यप्राधान्ये हि ध्वनिः, न चैतत्समासोक्त्यादिष्वस्ति।

श्रीधरी—अर्थो गुणीकृतात्मा = अर्थ अपने आपको गुणीभूत करके, शब्द. गुणीकृताभिधेयः = शब्द अपने अर्थ को गुणीभूत करके, यत्र: = जहाँ, अर्थान्तर अभिव्यनक्ति = दूसरे अर्थ को अभिव्यक्त करता है, स ध्वनिरिति = वह ध्वनि है, तेषु = उनमें, कथं तस्यान्तर्भावः = उसका अन्तर्भाव कैसे हो सकता है ? हि क्योंकि, व्यंग्यप्राधान्ये ध्वनि = व्यंग्य अर्थ के प्राधान्य में ध्वनि होती है, एतत - यह, समासोक्त्यादिषु न अस्ति = समासोक्ति आदि में नहीं है।

अर्थ—अर्थ अपने आपको गुणीभूत करके और शब्द अपने अर्थ को गुणीभूत करके जहाँ दूसरे अर्थ को अभिव्यक्त करता है, वहाँ ध्वनि होती है, उनमें (अलंकारों में) ध्वनि का अन्तर्भाव कैसे हो सकता है क्योंकि व्यंग्य अर्थ के प्राधान्य में ध्वनि होती है, यह समासोक्ति आदि में नहीं है।

समासोक्तौ तावत्—

उपोढरागेण विलोल तारकं,
यथा गृहीतं शशिना निशामुखम्।
यथा समस्तं तिमिरांशुकं तया,
पुरोऽपि रागाद्गलितं न लक्षितम्॥

श्रीधरी— समासोक्तौ तावत्=समासोक्ति मे जैसे—

उपोढरागेण शशिना=प्रवृद्धानुराग चन्द्रमा ने, विलोल तारकं=चञ्चल तारक वाले, निशा मुखम्=निशा सुन्दरी के मुख को, तथा गृहीतं=इस प्रकार ग्रहण किया कि, यथा=जिससे, तया=उस निशा सुन्दरी ने, रागाद्=प्रेम के कारण, पुरः अपि=सामने से या पूर्व दिशा मे, गलितं=खिसकते हुए या ढलते हुए, तिमिरांशुक=अन्धकार को या अन्धकार के समान काले वस्त्र को, न लक्षितम्=लक्षित नहीं किया।

अर्थ—समासोक्ति मे जैसे—प्रवृद्धानुराग चन्द्रमा ने चञ्चल तारक वाले निशा-नायिका के मुख को इस प्रकार ग्रहण किया जिस प्रकार उस निशा-नायिका ने प्रेम के कारण सामने से या पूर्व दिशा मे, खिसकते हुए या ढलते हुए अन्धकार को या काली साड़ी को नहीं देख पाया।

इत्यादौ व्यङ्ग्येनानुगतं वाच्यमेव प्राधान्येन प्रतीयते समारोपित नायिकानायक व्यवहारयोर्निशा शशिनो रेव वाक्यार्थत्वात्।

श्रीधरी- इत्यादौ=इत्यादि उदाहरण में, व्यङ्ग्येनानुगतं=व्यंग्य से अनुगत, वाच्यमेव=वाच्य ही, प्राधान्येन प्रतीयते=प्रतीत होता है, (क्योंकि) समारोपित नायिकानायक व्यवहारयोः=जिस पर नायिका और नायक के व्यवहारों का आरोप किया गया है, ऐसे, निशाशशिनोरेव=निशा और शशि ही, वाक्यार्थत्वात्=वाक्यार्थ है।

अर्थ- इत्यादि उदाहरण मे व्यंग्य से अनुगत वाच्य ही प्राधान्यतः प्रतीत होता है क्योंकि जिस पर नायिका और नायक के व्यवहारों का आरोप किया गया है, ऐसे निशा और शशि ही वाक्यार्थ है।

आक्षेपेऽपि व्यंग्य विशेषाक्षेपिणोऽपि वाच्यस्यैव चारुत्वं प्राधान्येन वाक्यार्थं आक्षेपोक्तिसामर्थ्यादेव ज्ञायते। तथाहि—तत्र शब्दोपारूढो विशेषाभिधानेच्छया प्रतिषेधरूपो य आक्षेपः स एव व्यंग्य विशेषमाक्षिपन्मुख्यं काव्य शरीरम्।

श्रीधरी—आक्षेपेऽपि=आक्षेप अलंकार मे भी, व्यंग्यविशेषाक्षेपिणोऽपि=व्यंग्य विशेष का आक्षेप करने वाले, वाच्यस्यैव चारुत्व=वाच्य अर्थ की ही चारुता है, प्राधान्येन=मुख्यतया, वाक्यार्थः=वाक्यार्थ को, आक्षेपोक्ति सामर्थ्यादेव=आक्षेपोक्ति

की सामर्थ्य से ही, ज्ञायते = जाना जाता है, तथाहि = जैसा कि, विशेषाभिधानेच्छया = विशेष बात कहने की इच्छा से, शब्दोपारूढो = शब्द द्वारा वाच्य, यः प्रतिषेध रूप आक्षेप = जो प्रतिषेध रूप आक्षेप है, स एव = वही, व्यंग्यविशेषमाक्षिपन् = व्यंग्य को व्यञ्जित करता हुआ, मुख्यं काव्य शरीरम् = मुख्य काव्य शरीर है।

अर्थ—आक्षेप अलंकार में भी व्यंग्य विशेष का आक्षेप करने वाले वाच्य अर्थ की ही चारुता है, प्राधान्यतः वाच्यार्थ आक्षेपोक्ति की सामर्थ्य से ही जाना जाता है। जैसा कि विशेष बात करने की इच्छा से शब्द द्वारा वाच्य जो प्रतिषेध रूप आक्षेप है, वही व्यंग्य विशेष को व्यञ्जित करता हुआ मुख्य काव्य शरीर है।

चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्य व्यंग्ययोः प्राधान्य विवक्षा। यथा—

अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत्पुरस्सरः।
अहो दैवगतिः कीदृक्तथापि न समागमः॥

अत्र सत्यामपि व्यंग्य प्रतीतौ वाच्यस्यैव चारुत्व मुत्कर्षवदिति तस्यैव प्राधान्य विवक्षा।

श्रीधरी—हि = क्योंकि, वाच्य व्यंग्ययोः = वाच्य और व्यंग्य के, प्राधान्य-विवक्षा = प्राधान्य की विवक्षा, चारुत्वोत्कर्ष निबन्धना = चारुत्व के उत्कर्ष के आधार पर होती है, यथा = जैसे—

सन्ध्या = सन्ध्या नायिका, अनुरागवती = प्रेम से भरी है या सन्ध्याकालीन अरुणिमा, दिवसः = नायक किंवा दिन, तत्पुरः = उसके सामने, सरः = सरक रहा है, अहो = आश्चर्य है, दैवगतिः कीदृक् = दैव की गति कैसी है, तथापि = तो भी, न समागमः = समागम नहीं होता।

अर्थ—सन्ध्या (नायिका) प्रेम से या सान्ध्यकालीन अरुणिमा से युक्त है, दिवस या नायक उसके सामने सरक रहा है, आश्चर्य है, दैव की गति कैसी है, तो भी समागम नहीं होता।

श्रीधरी—अत्र = यहाँ, व्यंग्यप्रतीतौ सत्यामपि = व्यंग्य की प्रतीति होने पर भी, वाच्यस्यैव चारुत्वं = वाच्य का ही चारुत्व, उत्कर्षवत् = उत्कर्षयुक्त है, इति = इसलिये, तस्यैव = उसी के, प्राधान्य विवक्षा = प्रधान्य की विवक्षा है।

अर्थ—यहाँ व्यंग्य की प्रतीति होने पर भी वाच्य का ही चारुत्व उत्कर्षयुक्त है, इसलिये उसी के प्राधान्य की विवक्षा है।

यथा च दीपकापह्नुत्यादौ व्यंग्यत्वेनोपमायाः प्रतीतावपि प्राधान्येनाविवक्षितत्वान्नतया व्यपदेशस्तद्वदत्रापि द्रष्टव्यम्।

श्रीधरी—यथा च = और, दीपकापह्नुत्यादौ = दीपक अपह्नुति आदि में, व्यंग्यत्वेन = व्यंग्य रूप से, उपमायाः = उपमा की, प्रतीतावपि = प्रतीति होने पर भी, प्राधान्येनाविवक्षितत्वात् = प्राधान्यतः विवक्षित न होने के कारण, न तया व्यपदेशः = उससे व्यपदेश नहीं होता, तद्वत् = उसी प्रकार, अत्रापि द्रष्टव्यम् = यहाँ भी देखना चाहिए।

अर्थ—और जैसे दीपक, अपह्नुति आदि में व्यंग्य रूप से उपमा की प्रतीति होने पर भी प्राधान्यतः विवक्षित न होने के कारण उससे व्यपदेश नहीं होता, इसी तरह यहाँ भी देखना चाहिए।

अनुक्तनिमित्तायामपि विशेषोक्तौ—

आहूतोऽपि सहायैरोमित्युक्त्वा विमुक्त निद्रोऽपि।
गन्तुमना अपि पथिकः सङ्कोचं नैव शिथिलयति॥

श्रीधरी—अनुक्त निमित्तायां विशेषोक्तौ अपि=अनुक्त निमित्ता विशेषोक्ति में भी—

सहायैः=अपने साथियों के द्वारा, आहूतोऽपि=पुकारे जाने पर भी, ओमित्युक्त्वा=हाँ कहकर, विमुक्तनिद्रा अपि=नींद छोड़ देने पर भी, गन्तुमना अपि=जाने की इच्छा रखता हुआ भी, पथिकः=पथिक, संकोचं नैव शिथिलयति=सङ्कोच को शिथिल नहीं कर पाता।

अर्थ—अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति में भी—

साथियों के द्वारा पुकारे जाने पर भी, हाँ, यह कहकर नींद छोड़ देने पर भी, जाने की इच्छा रखता हुआ भी, पथिक संकोच को शिथिल नहीं कर पाता।

इत्यादौ व्यंग्यस्य प्रकरण सामर्थ्यात्प्रतीतिमात्र न तु तत्प्रतीति निमित्ता काचिच्चारुत्वनिष्पत्तिरिति न प्राधान्यम्। पर्यायोक्तेऽपि यदि प्राधान्येन व्यंग्यत्वं तद्भवतुनाम तस्य ध्वनावन्तर्भावः। न तु ध्वनेस्तत्रान्तर्भावः। तस्य महाविषयत्वेनाङ्गित्वेन च प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्। न पुनः पर्यायो भामहोदाहृत सदृशे व्यंग्यस्यैव प्राधान्यम्। वाच्यस्य तत्रोपसर्जनाभावेनाविवक्षितत्वात्।

श्रीधरी—इत्यादौ=इत्यादि उदाहरण में, प्रकरणसामर्थ्यात्=प्रकरण की सामर्थ्य से, व्यंग्यस्य प्रतीति मात्रं=व्यंग्य की प्रतीति मात्र हो जाती है, न तु तत्प्रतीति निमित्ता=न कि उस प्रतीति के कारण, काचिच्चारुत्वनिष्पत्तिरिति=कोई चारुता की निष्पत्ति होती है, इति=इसलिये, न प्राधान्यम्=व्यंग्य का प्राधान्य नहीं है, पर्यायोक्तेऽपि=पर्यायोक्त में भी, यदि प्राधान्येन व्यंग्यत्वं=यदि प्रधानता से व्यंग्य है, तद्=तब, तस्य=उसका, ध्वनावन्तर्भाव भवतु=ध्वनि में अन्तर्भाव हो जाय, तु=किन्तु, तत्र=उसमें, ध्वनेः अन्तर्भावः न=ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं होगा, तस्य=उसका, महाविषयत्वेन=महाविषय रूप से, अङ्गित्वेन च प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्=अङ्गी रूप में प्रतिपादन करेंगे, न पुनः=ऐसा नहीं, पर्यायो=पर्यायोक्त में, भामहोदाहृत सदृशे=भामह के द्वारा उदाहृत पर्यायोक्त के समान, व्यंग्यस्यैव प्राधान्यम्=व्यंग्य का ही प्राधान्य है, तत्र=वहाँ, वाच्यस्य=वाच्य के, उपसर्जनाभावेन=गुणीभाव की, अविवक्षितत्वात्=विवक्षा नहीं की गई है।

अर्थ—इत्यादि उदाहरण में प्रकरण की सामर्थ्य से व्यंग्य की प्रतीतिमात्र हो जाती है, न कि उस प्रतीति के कारण कोई चारुत्व की निष्पत्ति होती है, अतः व्यंग्य का प्राधान्य नहीं है। पर्यायोक्त में भी यदि प्राधान्यतः व्यंग्य है तो उसका ध्वनि में अन्तर्भाव हो भी जाय, परन्तु ध्वनि का उसमें अन्तर्भाव नहीं होगा क्योंकि उसका महाविषय रूप एवं अङ्गी रूप से प्रतिपादन करेंगे, ऐसा नहीं कि जैसा भामह ने जिस पर्यायोक्त को कहा है उसके समान पर्यायोक्त में व्यंग्य का ही प्राधान्य है, क्योंकि वहाँ वाच्य के गुणी भाव की विवक्षा नहीं की गई है।

अपह्नुतिदीपकयोः पुनर्वाच्यस्य प्राधान्यं व्यंग्यस्यचानुयायित्वं प्रसिद्धमेव।

श्रीधरी—अपह्नुति दीपकयो:=अपह्नुति और दीपक अलकारो मे, वाच्यस्य=वाच्य का, प्राधान्यं=प्राधान्य, व्यंग्यस्य च अनुयायित्वं=व्यंग्य का अनुयायित्व, प्रसिद्धमेव=प्रसिद्ध ही है।

अर्थ—फिर अपह्नुति और दीपक अलंकारों में वाच्य का प्राधान्य और व्यंग्य का अनुयायित्व प्रसिद्ध ही है।

सङ्करालङ्कारेऽपि यदालंकारोऽलंकारान्तरच्छायामनुगृह्णाति, तदा व्यंग्यस्य प्राधान्येनविवक्षितत्वान्न ध्वनि विषयत्वम्।

श्रीधरी—सङ्करालङ्कारेऽपि=सङ्करालङ्कार में भी, यदा=जब, अलङ्कार=अलङ्कार, अलङ्कारान्तरच्छायामनुगृह्णाति=दूसरे अलङ्कार के सौन्दर्य को पुष्ट करता है, तदा=तब, व्यङ्ग्यस्य=व्यंग्य के, प्राधान्येन अविवक्षितत्वान्=प्राधान्यत विवक्षित न होने पर, न ध्वनिविषयत्वम्=ध्वनि का विषय नहीं होता।

अर्थ—सङ्करालङ्कार में भी जब अलकार दूसरे अलंकार के सौन्दर्य को पुष्ट करता है, तब व्यंग्य के प्राधान्यत. विवक्षित न होने पर ध्वनि का विषय नहीं होता।

विशेष—भामह ने सङ्कर के चार प्रकार गिनाये है। आगे चलकर उसके तीन ही प्रकार निर्दिष्ट किये जाते है जो इस प्रकार है:—

(१) अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर।
(२) एकाश्रयानुप्रवेश सङ्कर।
(३) सन्देह सङ्कर।

भामह ने एकाश्रयानुप्रवेश को एक वाक्यानुवर्तन और एक वाक्यांश समावेश इन दो रूपों में विभक्त कर दिया है।

सन्देह सङ्कर के उदाहरण "शशिवदनाऽसित सरसिज नयना:" इत्यादि में रूपक के अनुसार समास करने पर 'शशी एव वदनं यस्या: सा' और उपमा के अनुसार समास करने पर 'शशिवद् वदनं यस्या: सा' ये रूप होंगे, दोनों विशेषणों का क्रमशः

जल और स्थल से सम्बन्ध होने से नायिका का उसमें सम्भव होना बोधित होता है, यहाँ कोई प्रमाण नहीं है जिसके आधार पर यह माना जाय कि उपमा और रूपक में से कोई एक है, अतः यहाँ दोनों का सन्देह रूप सङ्कर है।

दूसरा प्रकार है शब्द और अर्थ के अलंकारों का एक वाक्य में प्रवेश। तीसरा प्रकार है एक वाक्यांश में अनेक अलंकार. द्वितीय प्रकार के उदाहरण में 'स्मर-स्मर' इस आवृत्ति से यमक शब्दालंकार है और स्मर (काम के सदृश, स्मरमिव) यह उपमा अर्थालंकार है। इस प्रकार दोनों का ही एकाश्रयानुप्रवेश है। तीसरे प्रकार के उदाहरण में सूर्य स्वामी है और वासर सेवक है, सूर्य का अस्त होना स्वामी पर विपत्ति है और वासर का अन्धकार रूपी गुफा में प्रवेश समुचित व्रत ग्रहण है, परन्तु इसका आरोप नहीं हुआ है, केवल 'तमोगुण' में एकदेशवर्ती रूपक है, विगलीव में उत्प्रेक्षा है। यहाँ उत्प्रेक्षा और रूपक समान रूपेण वाच्य है। चौथा प्रकार है अङ्गाङ्गिभाव रूप सङ्कर। उदाहरण में जो पार्वती के चञ्चल नेत्रों एवं हरिणी के चञ्चल नेत्रों में अधीर विप्रेक्षित के आदान-प्रदान का सन्देह कवि ने किया है, वहाँ पार्वती की चञ्चल आँखें हरिणी के आँखों के समान है, यह उपमा व्यंग्य है, लेकिन वह वाच्य सन्देह अलंकार का अभ्युत्थान करती है। अतः अनुग्राहक होने के कारण गुणीभूत हो गई है। इसका पर्यवसान सन्देह में होता है।

अलङ्कारद्वय सम्भावनायां तु वाच्य व्यंग्ययोः समं प्राधान्यम्। अथ वाच्योपसर्जनीभावेन व्यंग्यस्य तत्रावस्थानं तदा सोऽपि ध्वनि विषयोऽस्तु, न तु स एव ध्वनिरिति वक्तुं शक्यम्। पर्यायोक्त निर्दिष्ट न्यायात्।

श्रीधरी—अलंकारद्वय सम्भावनायां तु = दो अलंकारों की सम्भावना में तो, वाच्य-व्यंग्यो = वाच्य और व्यंग्य का, समं प्राधान्यम् = प्राधान्य बराबर है, अथ = यदि, वाच्योपसर्जनीभावेन = वाच्य को गुणीभूत करके, व्यंग्यस्य = व्यंग्य का, तत्रावस्थानं = वहां अवस्थान है, तदा = तब, सोऽपि = वह भी, ध्वनि विषयोऽस्तु = ध्वनि का विषय हो सकता है, न तु स एव ध्वनिरिति वक्तुं शक्यम् = न कि वही ध्वनि है, ऐसा कह सकते है, पर्यायोक्त निर्दिष्ट न्यायात् = पर्यायोक्त में दिखाये हुए ढंग से।

अर्थ—दो अलंकारों की सम्भावना में तो वाच्य और व्यंग्य का प्राधान्य बराबर है, यदि यह कहो कि वाच्य को गुणीभूत करके व्यंग्य का वहाँ अवस्थान है, तब वह भी ध्वनि का विषय हो सकता है। न कि वही ध्वनि है, ऐसा कह सकते है जैसा कि पर्यायोक्त में दिखाया जा चुका है।

अपि च संकरालंकारेऽपि च क्वचित् संकरोक्तिरेव ध्वनिसम्भावनां निराकरोति। अप्रस्तुत प्रशंसायामपि यदा सामान्य विशेष भावान्निमित्त-निमित्ति भावाद्वा अभिधीयमानस्याप्रस्तुतस्य प्रतीयमानेन प्रस्तुतेनाभि सम्बन्धस्तदाभिधीयमान प्रतीयमानयोः सममेव प्राधान्यम्।

श्रीधरी—अपि च = और भी, संकरालंकारेऽपि च यत्रचित् = कहीं भी संकरालंकार में, संकरोक्तिरेव = संकर यह कथन ही, ध्वनि सम्भावना = ध्वनि की सम्भावना का, निराकरोति = निराकरण कर देता है।

अप्रस्तुत प्रशंसायामपि = अप्रस्तुत प्रशंसा में भी, यदा = जब, सामान्यविशेष-भावात् = सामान्य विशेष भाव से, निमित्तनिमित्तिभावाद्वा = या निमित्त निमित्ति भाव से, अभिधीयमानस्य अप्रस्तुतस्य = अभिधीयमान अप्रस्तुत का, प्रतीयमानेन प्रस्तुतेनाभिसम्बन्धः = प्रतीयमान प्रस्तुत से सम्बन्ध होता है, तदा = तब, अभिधीयमान प्रतीयमानयोः = अभिधीयमान और प्रतीयमान का, सममेव प्राधान्यम् = बराबर ही प्राधान्य होता है।

अर्थ—दूसरी बात यह है कि सर्वत्र संकरालंकार में 'संकर' यह कथन ही ध्वनि की सम्भावना का निराकरण कर देता है, अप्रस्तुतप्रशंसा में भी जब सामान्य विशेष भाव से या निमित्त-निमित्ति भाव से अभिधीयमान अप्रस्तुत का प्रतीयमान प्रस्तुत से सम्बन्ध होता है, तब अभिधीयमान और प्रतीयमान बराबर ही प्राधान्य होता है।

विशेष—अप्रस्तुतप्रशंसा में अप्रस्तुत अभिधीयमान होता है और प्रस्तुत प्रतीयमान होता है, किन्तु इससे ध्वनि का प्रसंग उपस्थित नहीं होता, अपितु अभिधेय से प्रतीयमान में अधिक चारुत्व होना चाहिए, तब ध्वनि का प्रसंग हो सकता है। अप्रस्तुत प्रशंसा के तीन भेद होते हैं—

(१) सामान्य विशेष भावमूलक।
(२) कार्य कारण भावमूलक।
(३) निमित्त निमित्ति भावमूलक।

प्रथम दो भेदों के दो-दो रूप होते हैं। अप्रस्तुत सामान्य से प्रस्तुत विशेष का आक्षेप, अप्रस्तुत विशेष से प्रस्तुत सामान्य का आक्षेप और अप्रस्तुत कारण से प्रस्तुत कार्य का आक्षेप तथा अप्रस्तुत कार्य से प्रस्तुत कारण का आक्षेप। ये चार भेद और एक निमित्ति निमित्त भावमूलक भेद मिलकर अप्रस्तुत प्रशंसा के पाँच भेद होते हैं। निमित्तिनिमित्त भावमूलक के भी तीन प्रभेद होते हैं—

(१) श्लेष निमित्तक।
(२) समासोक्ति निमित्तक।
(३) सादृश्यमात्र निमित्तक।

इनमें सादृश्यमूलक भेद को छोड़कर अन्य चार भेदों में अप्रस्तुत वाच्य और प्रस्तुत प्रतीयमान दोनों सम प्राधान्य होते हैं। इसलिये उसमें ध्वनि का अवसर ही नहीं है, किन्तु सादृश्यमूलक भेद में जब अभिधीयमान प्रस्तुत का अप्राधान्य और प्रतीयमान प्रस्तुत का प्राधान्य विवक्षित होगा तब अलंकार ध्वनि का प्रसंग होगा और यदि विवक्षित नहीं होगा तब केवल अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार होगा।

यदा तावत्सामान्यस्याप्रस्तुतस्याभिधीयमानस्य प्राकरणिकेन विशेषेण प्रतीयमानेन सम्बन्धस्तदा विशेष प्रतीतौ सत्यामपि प्राधान्येन तत्सामान्येनाविना भावात्सामान्यस्यापि प्राधान्यम्। यदापि विशेषस्य सामान्यनिष्ठत्वं तदापि सामान्यस्य प्राधान्ये सामान्ये सर्व विशेषाणामन्तर्भावाद्विशेषस्यापि प्राधान्यम्।

श्रीधरी—यदा = जब, सामान्यस्याप्रस्तुत स्याभिधीयमानस्य = सामान्य अप्रस्तुत अभिधीयमान का, प्राकरणिकेन विशेषेण = प्राकरणिक विशेष, प्रतीयमानेन सह सम्बन्ध = प्रतीयमान के साथ सम्बन्ध होगा, तदा = तब, प्राधान्येन = प्राधान्य से, विशेषप्रतीतौसत्यामपि = विशेष की प्रतीति होने पर भी, तत् = उसका, सामान्येन = सामान्य से, अविनाभावात् = अविनाभाव होने के कारण, सामान्यस्यापि प्राधान्यम् = सामान्य का भी प्राधान्य होगा, यदापि = जबकि, विशेषस्य सामान्यनिष्ठत्वं = विशेष का सामान्यनिष्ठत्व होगा, तदापि = तब भी, सामान्यस्य प्राधान्ये = सामान्य के प्राधान्य होने पर, सर्व विशेषाणा = सब विशेषणों का, सामान्ये अन्तर्भावात् = अन्तर्भाव होने के कारण, विशेषस्यापि प्राधान्यम् = विशेष का भी प्राधान्य होगा।

अर्थ जब सामान्य अप्रस्तुत अभिधीयमान का प्राकरणिक विशेष प्रतीयमान के साथ सम्बन्ध होगा, तब प्राधान्यतया विशेष की प्रतीति होने पर भी उसका सामान्य से अविनाभाव होने के कारण सामान्य का भी प्राधान्य होगा। जबकि विशेष सामान्यनिष्ठ होगा तब भी सामान्य के प्राधान्य होने पर समस्त विशेषों का सामान्य मे अन्तर्भाव होने के कारण विशेष का भी प्राधान्य होगा।

निमित्तनिमित्ति भावे चायमेव न्यायः।

श्रीधरी— निमित्त निमित्ति भावे = निमित्त निमित्ति भाव मे भी, अयमेव न्यायः = यही नियम होगा।

अर्थ—निमित्त निमित्ति भाव मे भी यही नियम चरितार्थ होगा।

विशेष—अप्रस्तुत मे प्रस्तुत का आक्षेप ही प्रस्तुतप्रशसा है। जब कोई अभिधीयमान और प्रतीयमान मे सामान्य विशेष भाव रूप या निमित्त निमित्ति भाव रूप सम्बन्ध होगा, तब दोनों बराबर प्रधान होगे क्योंकि सम्बन्ध की स्थिति में दोनो का बराबर होना अनिवार्य है और वह प्रधानता समान रूप से दोनो मे रहेगी। अतः किसी प्रकार भी ध्वनि का प्रसग नही हो सकता क्योंकि वाच्य के गुणीभूत और व्यग्य के प्राधान्य की विवक्षा मे ही ध्वनि हुआ करती है। सामान्य और विशेष के एक साथ प्राधान्य मे विरोध नही है, अर्थात् एक स्थान मे, एक समय मे दोनो प्रधान हो सकते हैं। सम्बन्ध की बात को लेकर यह कह सकते हैं कि जब सामान्य रूप अप्रस्तुत अभिधीयमान होगा और विशेष रूप प्रस्तुत होगा तब, क्योंकि सामान्य के अन्तर्गत सभी विशेष समाविष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार अविनाभाव होने के कारण जब सामान्य रूप अप्रस्तुत अभिधीयमान का ही प्राधान्य होगा। इसी तरह जब विशेष रूप अप्रस्तुत अभिधीयमान मे सामान्य रूप प्रस्तुत का आक्षेप होगा तब जिस

प्रकार सामान्य का प्राधान्य होगा, इसी प्रकार विशेष का भी होगा, क्योंकि सामान्य में सभी विशेषों का अन्तर्भाव हो जाता है। यही नियम प्रस्तुत में प्रस्तुत के निमित्त निमित्ति भाव अर्थात् कार्य कारण भाव रूप सम्बन्ध के होने पर लागू होगा।

यदा तु सारूप्यमात्र वशेनाप्रस्तुतप्रस्तुत प्रशंसायामप्रकृतप्रकृतयो सम्बन्धस्तदाप्यप्रस्तुततस्य सरूपस्याभिधीयमानस्य प्राधान्येनाविवक्षायां ध्वनावेवान्तः पातः। इतरथा त्वलंकारान्तरमेव। तदयमत्र संक्षेपः—

श्रीधरी—यदा तु=जब कि, सारूप्यमात्र वशेन=केवल सारूप्यवश, अप्रस्तुत प्रशंसायां=अप्रस्तुत प्रशंसा में, अप्रकृत प्रकृतयो=अप्रकृत और प्रकृत का, सम्बन्ध=सम्बन्ध है, तदापि=तब भी, अभिधीय मानस्य=कहे जाने वाले, अप्रस्तुतस्यसरूपस्य=अप्रस्तुत सरूप का, प्राधान्येनाविवक्षायां=प्राधान्येन विवक्षा न करने पर, ध्वनावेव अन्तः पातः=ध्वनि में ही अन्तर्भाव है, इतरथा=ऐसा न होने पर, अलंकारान्तरमेव=एक प्रकार का अलंकार ही है, तदयमत्र संक्षेपः=वही यहां संक्षेप है—

अर्थ—जब केवल सारूप्यवश अप्रस्तुतप्रशंसा में अप्रकृत और प्रकृत का सम्बन्ध है, तब अभिधीयमान अप्रस्तुत रूप की प्राधान्यतः विवक्षा न करने पर ध्वनि में ही अन्तर्भाव है। ऐसा न होने पर एक प्रकार का अलंकार ही है, वही यहां संक्षेप है—

व्यंग्यस्य यत्राप्राधान्यं वाच्यमात्रानुयायिनः।
समासोक्त्यादयस्तत्र वाच्यालंकृतयः स्फुटाः॥
व्यंग्यस्य प्रतिभामात्रे वाच्यार्थानुगमेऽपि वा।
न ध्वनिर्यत्र वा तस्य प्राधान्यं न प्रतीयते॥

श्रीधरी—वाच्य मात्रानुयायिनः=वाच्य मात्र का अनुगमन करने वाले, यत्र=जहां, *व्यंग्यस्य अप्रधान्य*=*व्यंग्य का अप्रधान्य है*, तत्र=वहां, *समासोक्त्यादयः*=समासोक्ति आदि, वाच्यालंकृतयः स्फुटा=अलंकार स्पष्ट है, व्यंग्यस्य=व्यंग्य का, प्रतिभामात्रे=आभास मात्र में, वा=अथवा, वाच्यार्थाऽनुगमेऽपि=वाच्य अर्थ का अनुगमन करने पर भी, यत्र=जहां, तस्य=व्यंग्य का, प्राधान्य=प्राधान्य, न प्रतीयते=प्रतीत नहीं होता, (तत्र=वहां) ध्वनिः न=ध्वनि नहीं है।

अर्थ—वाच्य मात्र का अनुगमन करने वाले व्यंग्य का जहां अप्रधान्य है, वहां समासोक्ति आदि अलंकार स्पष्ट है। व्यंग्य का केवल आभास होने पर तथा वाच्य अर्थ का अनुगमन करने पर, जहां व्यंग्य अर्थ प्रतीत न होता हो, वहां ध्वनि नहीं होती।

तत्परावेव शब्दार्थौ यत्र व्यंग्यं प्रतिस्थितौ।
ध्वनेः स एव विषयो मन्तव्यः संकरोज्झितः॥

तस्मान्नध्वनेरन्यत्रान्तर्भावः । इतश्च नान्तर्भावः, यत काव्य विशेषोऽङ्गी ध्वनिरिति कथितः । तस्य पुनरङ्गानि-अलंकारा गुणा वृत्तयश्चेति प्रतिपादयिष्यन्ते। न चावयव एव पृथग्भूतोऽवयवीति प्रसिद्धः । अपृथग्भावे तु तदङ्गत्वं तस्य, न तु तत्वमेव। यत्रापि वा तत्वं तत्रापि-ध्वनेर्महा विषयत्वान्न तन्निष्ठत्व मेव । 'सूरिभिः कथितः' इति विद्वदुपज्ञयेयमुक्तिः, न तु यथाकथञ्चित्प्रवृत्तेति प्रतिपाद्यते । प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः, व्याकरणमूलत्वात्सर्व विद्यानाम् । ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति ।

श्रीधरी—यत्र=जहाँ, शब्दार्थौ=शब्द और अर्थ, व्यग्य प्रति=व्यंग्य के प्रति, तत्परावेव स्थितौ=तत्पर होकर ही स्थित हों, स एव=उसी को, संकरोज्झितः=संकररहित, ध्वनेः विषयोमन्तव्यः=ध्वनि का विषय मानना चाहिए, तस्मात्=इसलिये, ध्वनेः=ध्वनि का, अन्यत्र=अन्यत्र, अन्तर्भाव. न=अन्तर्भाव नहीं है, इतश्च—इस कारण भी, नान्तर्भावः=अन्तर्भाव नहीं है, यतः=क्योंकि, ध्वनिः=ध्वनि को, काव्यविशेषोऽङ्गी=काव्य विशेष रूप अगी, कथितः=कहा गया है, तस्य-पुनरङ्गानि=उसके अग, अलकारा गुणावृत्तयश्चेति=अलकार, गुण एव वृत्तया, प्रतिपादयिष्यन्ते=प्रतिपादन किये जायेंगे, न च=न कि, अवयव एव=अवयव ही, पृथग्भूतः अवयवीति प्रसिद्धः=पृथग्भूत होकर अवयवी के रूप मे प्रसिद्ध है, अपृथग्भावे तु=पृथग्भाव न होने पर भी, तदङ्गत्व तस्य=उस अलकारादि का उस ध्वनि का अग होना है, न तु तत्वमेव=न कि अगी होना, यत्रापि वा तत्वं=जहाँ भी अगी होना है, तत्रापि=वहाँ भी, ध्वनेर्महाविषयत्वात्=ध्वनि के महाविषय होने के कारण, तन्निष्ठत्वमेव न=उन अलकारादि मे अन्तर्भाव नहीं है, सूरिभिः कथित=सूरियो ने कहा है, इति=इस प्रकार, विद्वदुपज्ञेयमुक्तिः=यह उक्ति विद्वानो के मतानुसार है, न तु=न कि, यथाकथञ्चित् प्रवृत्ता=जिस किसी प्रकार चल पड़ी, इति प्रतिपाद्यते=इसे प्रतिपादन कर रहे हैं, प्रथमे हि विद्वासः=मुख्य विद्वान्, वैयाकरणाः=वैयाकरण है, हि=क्योकि, सर्वविद्याना=सब विद्याओं का, व्याकरण मूलत्वात्=व्याकरण मूल है, ते च=वे वैयाकरण विद्वान् भी, श्रूयमाणेषु वर्णेषु=श्रूयमाण वर्णो मे, ध्वनिरिति व्यवहरन्ति='ध्वनि' यह व्यवहार करते है।

अर्थ—जहाँ शब्द और अर्थ व्यंग्य के प्रति तत्पर होकर ही स्थित हों, उसी को संकररहित ध्वनि का विषय मानना चाहिये।

इसलिये ध्वनि का अन्यत्र अन्तर्भाव नहीं है। इस कारण भी अन्तर्भाव नहीं है क्योंकि ध्वनि को काव्य विशेष रूप अगी कहा गया है, उसके अग अलकार, गुण, वृत्तियां प्रतिपादित की जायेंगी, न कि अवयव ही पृथग्भूत होकर अवयवी के रूप में प्रसिद्ध है। पृथग्भाव न होने पर भी उस अलकारादि को उस ध्वनि का अग होना है, न कि अगी ही होना। जहाँ भी अगी—

होना है वहाँ भी ध्वनि के महा विषय होने के कारण उन अलंकारादि में अन्तर्भाव नहीं है। 'सूरियों ने कहा' इसका तात्पर्य है कि यह उक्ति विद्वानों के मतानुसार है न कि ऐसे-वैसे ही चल पड़ी, इसी बात का प्रतिपादन कर रहे हैं। मुख्य विद्वान् वैयाकरण हैं, क्योंकि व्याकरण समस्त विद्याओं का मूल कारण है। वे वैयाकरण लोग भी श्रूयमाण वर्णों में 'ध्वनि' यह व्यवहार करते हैं।

विशेष – ध्वनि अलंकारों से सर्वथा भिन्न है, दोनों का तादात्म्य किंवा एकरूपता किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है, इसीलिये परिकर श्लोक में 'संकीर्तित' कहा है, अलंकार वाच्य-वाचक भाव पर आश्रित होते हैं और ध्वनि व्यंग्य व्यञ्जक भाव पर आश्रित रहा करती है, केवल यही कारण नहीं है कि दोनों का तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है, अपितु स्वामी और सेवक की तरह अंगी रूप और अंग रूप होने के कारण भी विरोध है, अतः उन दोनों में तादात्म्य नहीं है। ध्वनि काव्य विशेष होने के कारण अंगी है और अलंकार गुण और वृत्तियां उसके अंग हैं।

यदि कोई यह कहे कि अवयव के अतिरिक्त जब कोई अवयवी नहीं मिलता, तो क्यों न अवयव को ही ध्वनि मान लिया जाय? इसका उत्तर यह है कि अलग-अलग रूप से अवयव किसी तरह भी अवयवी नहीं बन सकता। यदि यह कहा जाय कि समुदाय रूप में ही अवयवों को अवयवी मान लिया जाय तो क्या हर्ज है? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि समुदाय किसी प्रकार भी एक को नहीं कहते, क्योंकि समुदाय में अनेक और भी समुदायियों का अस्तित्व होता है। जैसे- स्तुत में प्रतीयमान भी एक समुदायी है, यह अपनी प्रधानता की स्थिति में ध्वनि हो जाता है। वह अलंकार रूप अप्रधान होने के कारण होता है, इस तरह न तो पृथक्-पृथक् रूप अवयव को अवयवी कह सकते हैं और न समुदाय रूप में। भाव यह है कि ध्वनि सर्वथा अंगी एवं मुख्य तत्व है और अलंकार आदि अंगभूत किंवा अप्रधान हैं। इसी अर्थ में अलंकार आदि ध्वनि के अंग हैं न कि वह काव्य विशेष है और अलंकार आदि उसमें रहा करते हैं, न कि वह ध्वनि स्वयं अलंकार आदि में अन्तर्भुक्त हो सकता है।

ध्वनि विषय को समझने से पूर्व स्फोटवाद को समझ लेना आवश्यक है, तभी यह आसानी से बुद्धिगम्य हो सकती है। वस्तुत: स्फोटवाद भारतीय वैयाकरणों की मौलिक उद्भावना है। अलंकार शास्त्र में ध्वनि की कल्पना का आधार वैयाकरणों का स्फोटवाद ही है। 'स्फुटत्यस्मादर्थ इति स्फोट.' इस व्युत्पत्ति से स्फोट का अर्थ है जिससे अर्थ का स्फुटन होता हो।

शब्द की उत्पत्ति निम्नलिखित तीन प्रकारों से होती है—

(१) संयोग से।

(२) विभाग से।

(३) शब्द से।

किसी वस्तु का किसी वस्तु मे जोर से संयोग होने पर भी शब्द उत्पन्न होता है जिसे हम सयोगज कह सकते है। कागज या किसी वस्तु के विभाग से भी शब्द उत्पन्न होता है, जिसे विभागज कहा जाता है। इसी तरह जिह्वा आदि के संयोग-वियोग से भी शब्द की उत्पत्ति होती है। मूलत: उत्पन्न शब्द स्फोट कहलाता है, किन्तु जो शब्द उत्पन्न होता है, वही श्रोता को नही सुनाई देता, जैसे कुछ दूर पर मे जो कोई बोलता है वही शब्द श्रोता को नही सुनाई देता, प्रत्युत वह उत्पन्न होकर नष्ट हो जाता है, और अपने नष्ट होने से पूर्व दूसरे शब्द को उत्पन्न कर देता है। इसी प्रकार दूसरा तीसरे को और तीसरा चौथे को। इसको 'वीची सन्तान न्याय' भी कहते है। जैसे सरोवर के स्थिर जल मे कोई वस्तु फेंक देने पर एक गोलाकार छोटा सा घेरा पैदा हो जाता है, वही एक से दूसरी तरंग को उत्पन्न करते हुए सारे सरोवर मे व्याप्त हो जाता है। उसी प्रकार शब्द से उत्पन्न शब्द घण्टानुरणन रूप होने के कारण ध्वनि कहलाते है। भर्तृहरि ने कहा है—

यः संयोग वियोगाभ्यां करणैरुपरज्यते।
सस्फोटः शब्दजाः शब्दाध्वनयोऽन्यैरुदाहृताः॥

यह भी कल्पना है कि 'स्फोट' एक नित्य शब्द के रूप मे हमारे मन मे विद्यमान रहता है और हम जिस अनित्य शब्द को सुनते हैं उससे उस नित्य 'स्फोट' रूप शब्द का उद्बोध होता है तथा उसके द्वारा हम अर्थ का ज्ञान करते है। वर्णस्फोट, पदस्फोट, वाक्य स्फोट आदि भेद भी है। घण्टा के एक बार बज जाने के बाद उसमे जिस तरह ध्वनि का अनुरणन होता है, उसी प्रकार अनुरणन रूप से उपलक्षित व्यग्य अर्थ भी अलकार शास्त्र मे ध्वनि कहा जाता है, इस प्रकार वैयाकरणो के 'ध्वनि' को अनुरणनरूपता के आधार पर आलकारिको ने अपने अनुरूप बना लिया।

केवल व्यग्य अर्थ ही ध्वनि नही प्रत्युत व्यञ्जक भी ध्वनि कहा जाता है। इस प्रकार व्यञ्जक होने के कारण वाचक शब्द और वाच्य अर्थ भी 'ध्वनि' पद से वाच्य होते है। इस मन्तव्य को सिद्ध करने के लिये वैयाकरणो ने 'नाद' को लिया है, नाद श्रूयमाण वर्णो को कहते है, जिस क्रम से वर्ण श्रूयमाण होते है, उसी क्रम से स्फोट रूप नित्य शब्द की अभिव्यक्ति होती है। जैसे घट कहने पर घ् के बाद अ फिर ट् और तब अ की प्रतीति होगी, पूर्व वर्ण उत्पन्न होकर अपना सस्कार उत्पन्न करके अगले वर्ण के उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाता है। नैयायिक लोग इसे वर्णो का नाश मानते है किन्तु वैयाकरण लोग इसे तिरोभाव कहते हैं इस प्रकार स्फोट को पूर्व-पूर्व वर्ण के अनुभव से उत्पन्न सस्कार के सहयोग से जो हमे अन्त्य वर्ण की बुद्धि होती है, उसके द्वारा ग्रहण करते है। इस तरह स्फोट रूप नित्य शब्द के ये वर्ण अभिव्यञ्जक होने के कारण ध्वनि कहे जाते है। कहा है—

प्रत्ययैरनुपाख्येयैः ग्रहणानुगुणैस्तथा।
ध्वनि प्रकाशिते शब्दे स्वरूप मवधार्यते॥

(भर्तृहरि)

अर्थात् अनिर्वचनीय, अव्यक्त स्फोट के ग्रहण के अनुकूल प्रयत्नों से उस शब्द में जो ध्वनियों द्वारा प्रकाशित होता है, स्फोट का स्वरूप ज्ञात होता है। तात्पर्य यह है कि जो शब्द श्रूयमाण वर्ण रूप ध्वनियों से ग्रहण के अनुकूल, अनिर्वचनीय प्रयत्नों द्वारा प्रकाशित होता है, उसे ही स्फोट का स्वरूप माना जाता है।

इस प्रकार जब वैयाकरणों ने व्यञ्जक को ध्वनि माना तब आलंकारिकों ने उसी समानता पर व्यञ्जक शब्द और अर्थ को भी अपने यहाँ ध्वनि कहा। यहाँ तक कि ध्वनि को लेकर व्यंग्य अर्थ, व्यञ्जक शब्द, तथा व्यञ्जक अर्थ को ध्वनि कहने की प्रवृत्ति चल पड़ी।

वैयाकरणों के अनुसार जिन वर्णों का हम उच्चारण करते हैं, उनकी अभिव्यक्ति में द्रुत एवं विलम्बित आदि प्रकारों से अन्तर पड़ जाता है। इस प्रकार शब्द में अन्तर होते हुए भी अर्थ में कोई अन्तर नहीं होता। वैयाकरणों ने शब्द के दो रूप माने है—

(१) प्रकृत।

(२) वैकृत।

हम जो उच्चारण करते है वे वैकृत शब्द हैं और प्राकृत शब्द उन वैकृत शब्द के उच्चारण के बाद उत्पन्न होने वाला नित्य स्फोट रूप शब्द है। द्रुत, विलम्बित आदि वृत्तियां वैकृत शब्दों में होती हैं। इस तरह वक्ता को श्रूयमाण वर्णों के उच्चारण रूप प्रसिद्ध व्यापार के अतिरिक्त द्रुत, विलम्बित आदि वृत्तिभेद रूप अधिक व्यापार करना पड़ता है। इस अतिरिक्त व्यापार को भी वैयाकरणों ने ध्वनि माना है इसी आधार पर आलंकारिकों ने भी प्रसिद्ध अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा रूप शब्द व्यापारों के अलावा व्यञ्जकत्व व्यापार को भी ध्वनि माना है। इस तरह वैयाकरणों के अनुसार व्यंग्य अर्थ, व्यञ्जक शब्द, व्यञ्जक अर्थ और व्यञ्जकत्व व्यापार इन चारों को ध्वनि कहने के साथ ही आलंकारिकों ने इन चारों के समुदाय रूप अर्थात् व्यंग्य, वाच्य, वाचक-व्यापार समुदाय रूप काव्य को भी ध्वनि की संज्ञा दी है।

ध्वनि शब्द की निम्नांकित व्युत्पत्तियों में उपर्युक्त सभी को संगृहीत किया गया है। 'ध्वनतीति ध्वनिः' इस व्युत्पत्ति से वाच्य अर्थ और वाचक शब्द दोनों को संगृहीत किया है, 'ध्वन्यते इति ध्वनिः' इस व्युत्पत्ति से व्यंग्य अर्थ संगृहीत है और 'ध्वननं ध्वनिः' इस व्युत्पत्ति से व्यञ्जना रूप शब्द का व्यापार गृहीत है।

तथैवान्यैस्तन्मतानुसारिभिः सूरिभिः काव्यतत्त्वार्थदर्शिभिर्वाच्य-वाचकसम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यञ्जकत्वसाम्याद्ध्वनि-रित्युक्तः। न चैवं विधस्य ध्वनेर्वक्ष्यमाणप्रभेदतद्भेदसंकलनया महाविषयस्य यत्प्रकाशनं तदप्रसिद्धालंकारविशेषमात्रप्रतिपादनेन तुल्यमिति तद्भावित

चेतसांयुक्त एव संरम्भ । न च तेषु कथञ्चिदीर्ष्यया कलुषितशेमुषीकत्व-माविष्करणीयम्, तदेवं ध्वनेस्तावदभाव वादिनः प्रत्युक्ताः ।

श्रीधरी - तथैव = उसी प्रकार, तन्मतानुसारिभिः = उनके मत का अनुसरण करने वाले, काव्यतत्त्वार्थदर्शिभिः = काव्य-तत्त्व के द्रष्टा, अन्यैः सूरिभिः = अन्य विद्वानों ने, वाच्य वाचक सम्मिश्र = वाच्य, वाचक और व्यंग्यार्थ, शब्दात्मा = शब्द रूप, काव्यमिति = काव्य कहे जाने वाले को, व्यञ्जकत्व साम्यात् = व्यञ्जकत्व की समानता के कारण, ध्वनिरित्युक्त = ध्वनि कहा है, वक्ष्यमाणप्रभेदतद्भेद सकलनयामहाविषय-स्य = वक्ष्यमाण भेद-प्रभेद के सकलन से व्याप्त, एव विधस्य ध्वनेः = इस प्रकार की ध्वनि का, यत्प्रकाशन = जो प्रकाशन है, तद् = वह, अप्रसिद्धलकारविशेषमात्र प्रति-पादनेन तुल्य = अप्रसिद्ध किसी अलकार मात्र के समान नहीं है, इति = इसलिये, तद्भावित चेतसा उस ध्वनि के प्रति भावित चित्त वालों की, सरम्भः युक्त एव = सरम्भ ठीक ही है, तेषु कथञ्चिद् ईर्ष्यया = उन लोगों के प्रति किसी प्रकार की ईर्ष्या से, कलुषितशेमुषीकत्व न आविष्करणीयम् = अपनी बुद्धि का कालुष्य प्रकटित नहीं करना चाहिए, तदेव = इस प्रकार, ध्वनेस्तावदभाववादिनः = ध्वनि के अभाव-वादियों का, प्रत्युक्ताः = निराकरण किया ।

अर्थ - उसी तरह उनके मत का अनुसरण करने वाले काव्यतत्त्व के द्रष्टा विद्वानों के वाच्य, वाचक और व्यंग्यार्थ, शब्द रूप व्यञ्जना व्यापार और काव्य कहे जाने वाले को व्यञ्जकत्व की समानता के कारण ध्वनि कहा है, वक्ष्यमाण भेद-प्रभेद के सकलन से व्याप्त ध्वनि का जो प्रकाशन है वह अप्रसिद्ध किसी अलकार मात्र के समान नहीं है। अतः उस ध्वनि के प्रति भावित चित्त वालों का सरम्भ उचित ही है, उन लोगों के प्रति ईर्ष्या से अपनी बुद्धि का कालुष्य प्रकट करना उचित नहीं है। इस प्रकार ध्वनि के अभाववादियों का निराकरण किया ।

अस्ति ध्वनिः । स चासावविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्चेति द्विविधः सामान्येन ।

श्रीधरी - अस्ति ध्वनिः = ध्वनि है, स = वह, अविवक्षितवाच्य विवक्षितान्य परवाच्यश्च = अविवक्षित वाच्य और विवक्षितान्य परवाच्य के भेद से, सामान्येन = सामान्यतः, द्विविधः = दो प्रकार का है ।

अर्थ—ध्वनि है, वह अविवक्षित वाच्य और विवक्षितान्य परवाच्य के भेद से सामान्यतः दो प्रकार की है ।

तत्राद्यस्योदाहरणम् —

सुवर्ण पुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः ।
शूरश्च कृत विद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम् ॥

श्रीधरी - त्रयः पुरुषा = तीन प्रकार के पुरुष, सुवर्ण पुष्पा पृथ्वी = सुवर्ण पुष्पा पृथ्वी को, चिन्वन्ति = एकत्र करते है, शूरश्च = और, कृतविद्यश्च = विद्वान्, यः = जो, सेवितुम् जानाति = सेवा करना जानता है ।

अर्थ—तीन प्रकार के मनुष्य सुवर्ण पुष्पा पृथ्वी को प्राप्त करते हैं—शूर, विद्वान् और जो सेवा करना जानता है अर्थात् जो लोग शूर, विद्वान् और सेवक होते हैं उन्हें महती समृद्धि सुलभ हो जाती है।

द्वितीयस्यापि—

शिखरिणि क्व नु नाम कियच्चिरं,
किमभिधानमसावकरोत्तपः।
तरुणि येन तवाधर पाटलं,
दशति बिम्बफलं शुकशावकः॥

श्रीधरी—*द्वितीयस्यापि = दूसरे का भी, हे तरुणि = हे तरुणी, असौ शुकशावकः =* इस तोते के बच्चे ने, क्वनु नाम शिखरिणि = किस पर्वत पर, कियच्चिरं = कितने दिनों तक, किमभिधान = कौन सी, तपः अकरोत् = तपस्या की है, येन = जिससे यह, तवाधरपाटल = तुम्हारे अधर के समान लाल वर्ण वाले, बिम्बफलं = बिम्बफल को, दशति = काट रहा है।

अर्थ—हे तरुणि, इस तोते के बच्चे ने किस पर्वत पर, कितने दिनों तक कौन सी तपस्या की है जिससे यह तुम्हारे अधर के समान वाले वर्ण वाले बिम्बफल को काट रहा है।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में 'तव अधर पाटलं दशति' यही महत्वपूर्ण है, 'तव' का प्रयोग विशेष व्यञ्जक भी है क्योंकि जिस नायिका से यह बात कही जा रही है, उसके सम्बन्ध को अधर पदार्थ के साथ बोधन वक्ता का अभीष्ट है। इसीलिये तव को अधर पाटलं से भिन्न रखा है। समास कर देने पर नायिका के सम्बन्ध का बोध नहीं होता। उसके अधर पाटल को शुकशावक काटता है, यह अर्थ बोधित होता। अतः अविमृष्ट विधेयांश दोष का यहाँ अभाव है। तब इस असमस्त पद से नायिका के सम्बन्ध के प्रतीत होने के कारण श्लोक के अर्थ में एक अद्भुत वैशिष्ठ्य झलकने लगता है। तब तात्पर्य यह हो जाता है कि तेरा अधर तेरे कारण और भी स्वादिष्ट हो गया है। इसीलिये तेरे अधर के समान उस बिम्बफल को वह शुक शावक बड़े प्रेम से काट रहा है। ऐसा नहीं कि पेटू व्यक्ति की तरह रसास्वादन किये बिना ही काट-काट कर खा रहा है प्रत्युत मजा ले-ले कर खा रहा है, इसमें किसी कामुक नायक का नायिका के प्रति यह अभिलाप व्यंग्य हो रहा है कि—काश, मैं भी तेरे अधरामृत का आस्वादन कर पाता।

यदप्युक्तं भक्तिर्ध्वनिरिति, तत्प्रति समाधीयते।

श्रीधरी—यदप्युक्तम् = जो यह कहा है, भक्तिर्ध्वनिरिति = भक्ति ध्वनि है, तत् = उसका, प्रतिसमाधीयते = प्रतिसमाधान करते हैं।

अर्थ—जो यह कहा है कि भक्ति ध्वनि है, उसका प्रति समाधान करते हैं—

विशेष—भक्ति और ध्वनि को तीन प्रकार से अभिन्न कह सकते है.—

(१) पर्याय से।

(२) लक्षण से।

(३) उपलक्षण से।

क्या भक्तिवादी ध्वनि और भक्ति को पर्याय मानते है जैसे-घट और कलश एक ही अर्थ के बोधक है, या भक्ति ध्वनि का लक्षण है, जैसे पृथ्वीत्व पृथ्वी का व्यावर्तक धर्म रूप लक्षण है, अथवा उपलक्षण अर्थात् सूचक मात्र है, जैसे—'काकवद् देवदत्तस्यगृहम्' अर्थात् दे-दत्त का घर कौवे वाला है। यह बात उसी समय कही गई है, जब देवदत्त के घर पर कौआ बैठा है, इस प्रकार 'काकवत्व' देवदत्त के घर का उपलक्षण मात्र है। इन तीनों विकल्पों में भक्ति ध्वनि का क्या है ? इस प्रश्न को ध्वनिकार ने भक्तिवादी में स्वयं उद्भावित किया है, पुनः स्वयं इसका समाधान करते हुए आचार्य ने इन तीनों विकल्पों का निराकरण किया है। प्रथम विकल्प अर्थात् पर्याय के सम्बन्ध में उन्होंने कहा है कि भक्ति और ध्वनि किसी प्रकार भी एक दूसरे के पर्याय नहीं हो सकते क्योंकि दोनों में रूप भेद है अर्थात् ध्वनि का स्वरूप भिन्न है और भक्ति का भिन्न, भक्ति का लक्षण भी नहीं है क्योंकि लक्षण वही होता है जिसमे अव्याप्ति और अति व्याप्ति आदि दोष नहीं होते, भक्ति को ध्वनि का लक्षण बनाने पर अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोनों दोष उत्पन्न होंगे। भक्ति ध्वनि का उपलक्षण किंवा सूचक भी नहीं है क्योंकि भक्ति में ध्वनि सूचित होती है, यह नहीं कहा जा सकता।

भक्त्या बिभर्ति नैकत्वं रूप भेदादयं ध्वनिः। अयमुक्तप्रकारो ध्वनिर्भक्त्या नैकत्वं बिभर्तिभिन्नरूपत्वात्। वाच्य व्यतिरिक्तस्यार्थस्य वाच्य वाचकाभ्यां तात्पर्येण प्रकाशनं यत्र व्यंग्यप्राधान्ये स ध्वनिः। उपचारमात्रं तु भक्ति।

श्रीधरी—अयं ध्वनि = यह ध्वनि, रूपभेदात्=रूप भेद के कारण, भक्त्या = भक्ति से, एकत्व न बिभर्ति=अभेद को धारण नहीं करती, अयमुक्तप्रकारो ध्वनि.=यह उक्त प्रकार की ध्वनि, भिन्न रूपत्वात्=भिन्न रूप होने के कारण, भक्त्या एकत्व न बिभर्ति=भक्ति से अभेदत्व प्राप्त नहीं करती, वाच्यव्यतिरिक्त-स्यार्थस्य वाच्य से व्यतिरिक्त अर्थ का, वाच्य वाचकाभ्या=वाच्य और वाचक द्वारा, तात्पर्येण प्रकाशन=तात्पर्य रूप से प्रकाशन, यत्र=जहाँ, व्यग्य प्राधान्ये=व्यग्य के प्राधान्य मे हो, स ध्वनिः=वह ध्वनि है, भक्ति तु=भक्ति तो, उपचार मात्रं=उपचार मात्र है।

अर्थ. यह ध्वनि रूप भेद के कारण भक्ति के साथ एकत्व को धारण नहीं करता। यह उक्त प्रकार की ध्वनि भिन्न रूप होने के कारण भक्ति से एकत्व स्थापित नहीं करती, वाच्य से व्यतिरिक्त अर्थ का वाच्य और वाचक द्वारा तात्पर्य

रूप से प्रकाशन जहाँ व्यंग्य के प्राधान्य में हो, वहाँ ध्वनि है, भक्ति तो उपचार मात्र है।

विशेष— उपचार का अर्थ अभिनव गुप्त ने "अनिशयित व्यवहार" करके यह व्यक्त किया है कि जिस शब्द का जिस अर्थ में संकेततः ग्रहण होता है, उसे छोड़कर उससे सम्बद्ध अर्थ में शब्द का व्यवहार ही अतिशयित व्यवहार है, यद्यपि इस उपचार रूप गुण वृत्ति का लक्षण में प्रयोजन भी होता है किन्तु वहाँ उपयोगी न होने के कारण, न होने के समान ही माना गया है। इसलिये वृत्ति में उपचार के साथ 'मात्र' शब्द जोड़ा गया है।

मा चैतस्याद्भक्तिर्लक्षणं ध्वनेरित्याह —

अतिव्याप्तेरथाव्याप्तेर्न चासौ लक्ष्यते तया ॥१४॥

नैव भक्त्या ध्वनिर्लक्ष्यते। कथम् ? अतिव्याप्तेरव्याप्तेश्च। तमातिव्याप्तिर्ध्वनिव्यतिरिक्तेऽपिविषये भक्तेः सम्भवात्। तत्र हि व्यंग्यकृतंमहत्सौष्ठवं नास्ति तमाप्युपचरित शब्दवृत्या प्रसिद्धयनुरोध प्रर्वतित व्यवहाराः कवयो दृश्यन्ते। यथा—

श्रीधरी - भक्तिर्ध्वनेर्लक्षणं=भक्ति ध्वनि का लक्षण है, एतत् च मा स्यात्=यह भी नहीं हो सकता, इति आह=यह कहते है, भक्त्या=भक्ति से, ध्वनि, नैव लक्ष्यते=ध्वनि लक्षित नहीं ही होती है, कथम्=कैसे ? अतिव्याप्ते-व्याप्तेश्च=अतिव्याप्ति और अव्याप्ति के कारण, तत्र=वहाँ, ध्वनि व्यतिरिक्ते-ऽपिविषये=ध्वनि से भिन्न स्थल में भी, भक्तेः=भक्ति का, सम्भवः=सम्भव है, अतिव्याप्तिः=यह अतिव्याप्ति है, यत्र=जहाँ, व्यंग्यकृतं=व्यंग्यकृत, महत्सौष्ठव नास्ति=अधिक सौष्ठव नहीं है, तत्रापि=वहाँ भी, कवयः=कवि लोग, प्रसिद्धयनुरो-धात्=प्रसिद्धिवश, उपचरित शब्द वृत्या=गौणी वृत्ति में, प्रर्वतित व्यवहाराः= व्यवहार करते हुए, दृश्यन्ते=देखे जाते है, यथा=जैसे।

अर्थ—भक्ति से ध्वनि लक्षित नहीं होती, कैसे ? अतिव्याप्ति और अव्याप्ति के कारण, जहाँ ध्वनि से भिन्न स्थल में भी भक्ति का सम्भव है, वहाँ अतिव्याप्ति है। जहाँ व्यंग्यकृत अधिक सौष्ठव नहीं है, वहाँ भी कवि लोग प्रसिद्धिवश उपचरित शब्द व्यापार से व्यवहार करते देखे जाते हैं। जैसे—

परिम्लानं पीनस्तनजघन सङ्गादुभयत-
स्तनोर्मध्यस्यान्तः परिमालिनमप्राप्य हरितम्।
इदं व्यस्तन्यासं श्लथभुजलताक्षेप वलनैः,
कृशाङ्ग्याः सन्तापं वदति विसिनी पत्र शयनम् ॥

श्रीधरी—उभयत=दोनों ओर, पीनस्तनजघनसगात्=मोटे स्तन और जघन के सम्पर्क से, परिम्लानं=अधिक मुर्झाया हुआ, स्तनो. मध्यस्यान्त=स्तनो के बीच, सम्पर्क, अप्राप्य=प्राप्त न करके, हरितम्=हरा ही बना हुआ, श्लथ

भुजलताक्षेप वलनैः = शिथिल भुजलता के फेंकने और मोड़ने की क्रियाओं से, व्यस्तन्यास = अस्तव्यस्त, इदं = यह, बिसिनी पत्र शयनम् = कमलिनी के पत्तों का यह शयन, कृशाङ्ग्याः सन्तापं = कृश अंगों वाली के विरह सन्ताप को, वदति = प्रकट कर रहा है।

अर्थ दोनों ओर मोटे स्तन और जघन के सम्पर्क से अधिक मुर्झाया हुआ, स्तनों के मध्यभाग के बीच सम्पर्क प्राप्त न होने के कारण हरा ही बना हुआ और शिथिल भुजलता के फेंकने और मोड़ने की क्रियाओं से इधर-इधर अस्त व्यस्त, यह कमलिनी के पत्तों का शयन कृश अंगों वाली के विरह सन्ताप को प्रकट कर रहा है।

चुम्बिज्जइ असहुत्तं अवरुन्धिज्जइ सहस्स हुत्तम्मि ।
विरमिअ पुणो रमिज्जइ पिओ जणो णत्थि पुनरुत्तम् ॥
[शतकृत्वो ऽवरुध्यते सहस्रकृत्वश्चुम्ब्यते ।
विरम्य पुनारम्यते प्रियो जनो नास्ति पुनरुक्तम् ॥]

श्रीधरी—तथा = उसी प्रकार, प्रियः जनः = प्रिय को, सहस्रकृत्व ऽचुम्ब्यते = हजार बार चुम्बन करते है, शतकृत्वोऽवरुध्यते = सौ बार आलिङ्गन करते है, विरम्य = विराम करके, पुना रम्यते = फिर रमण करते है, नास्तिपुनरुक्तम् = फिर भी पुनरुक्त नही होता।

अर्थ—प्रिय को हजार बार चुम्बन करते है, सैकड़ों बार आलिङ्गन करते है, विराम करके रमण करते हैं, फिर भी पुनरुक्त नही होता।

विशेष—किसी बात को दुबारा कहना पुनरुक्त या पुनर्वचन कहलाता है। प्रिय तो कोई वचन नहीं है जो पुनरुक्त हो। अतः यहां मुख्यार्थ का बाध होकर लक्षणा होती है और अनुपादेयता लक्षित होती है। अनुपादेयता का तात्पर्य है कि प्रिय की किसी प्रकार भी अनुपादेयता नहीं होती, प्रत्युत सब प्रकार से उसकी उपादेयता बनी रहती है। यहाँ पर अधिक फल शालित्व रूप प्रयोजन प्रतीत होता है किन्तु चमत्कारकारी न होने के कारण आदरणीय नहीं है। इसलिये पहले की तरह यह भी ध्वनि का विषय नहीं है।

तथा—

कुविआओ पसण्णाओ ओरण्ण मुहीओ विहसमाणाओ ।
जह गहिओ तह हिअअं हरन्ति उच्छिन्त महिलाओ ॥
[कुपिताः प्रसन्नाः अवरुदित वदना विहसन्त्यः।
यथा गृहीतास्तथा हृदयं हरन्ति स्वैरिण्यो महिलाः ॥]

श्रीधरी—तथा = उसी प्रकार, कुपिताः = कुपित, प्रसन्नाः = प्रसन्न, अवरुदित वदना = रुआंसी, विहसन्त्यः = हँसती हुई, यथा गृहीतास्तथा = चाहे जिस

रूप में ग्रहण करो उसी रूप में, स्वैरिण्यः महिलाः=मनचली स्त्रियां, हृदयं हरन्ति=हृदय को आकर्षित करती हैं।

अर्थ—उसी तरह, कुपित, प्रसन्न, रुआसी या हंसती हुई, चाहे जिस रूप ग्रहण करो उसी रूप में मनचली स्त्रियां हृदय को आकर्षित करती हैं।

विशेष- 'गृहीताः' में ग्रहण से स्वैरिणी महिलाओं की उपादेयता लक्षित होती है और 'हरन्ति' में हरण में परतन्त्रता लक्षित होती है, हर लेती है अर्थात् अपने वश में कर लेती है। यहां भी व्यंग्य अर्थ का प्राधान्य न होने से ध्वनि नहीं है।

तथा—

अज्जाए पहारो णवलदाए दिण्णो पिएण थणवट्ठे।
मिउओ वि दूसहो व्विअ जाओ हिअए सवत्तीणम्॥
[भार्यायाः प्रहारो नवलतया दत्तः प्रियेण स्तन पृष्ठे।
मृदुकोऽपि दुःसहइव जातो हृदये सपत्नीनाम्॥]

श्रीधरी—तथा=उसी प्रकार, प्रियेण=प्रिय ने, नवलतया=नव लता से, भार्याया. स्तनपृष्ठे=पत्नी के स्तन पर, प्रहारो दत्तः=प्रहार किया, मृदुकः अपि=मृदु होने पर भी, सपत्नीनां हृदये=सौतों के हृदय में, दुःसह इव जातः=दुःसह सा हो गया।

अर्थ—उसी प्रकार, प्रिय ने नवलता से जब पत्नी के स्तन पर प्रहार किया तब वह प्रहार मृदु होने पर भी सौतों के हृदय में अत्यन्त दुःसह हो गया।

विशेष—दान किसी पदार्थ का होता है। यहां दान का मुख्य अर्थ प्रहार के दान से बाधित होने के कारण फलवत्व लक्षित होता है। अत: यह भी पहले उदाहरणों की तरह ध्वनि का विषय नहीं है।

तथा—

परार्थे यः पीडामनुभवति भङ्गेऽपि मधुरो,
यदीयः सर्वेषामिह खलु विकारोऽप्यभिमतः।
न सम्प्राप्तो वृद्धिं यदि स भृशमक्षेत्रपतितः,
किमिक्षोर्दोषोऽसौ न पुनरगुणाया मरुभुवः॥

श्रीधरी—यः=जो, परार्थे=दूसरों के लिये, पीडामनुभवति=पीडा का अनुभव करता है या रस निकालने के लिये यन्त्र से पीड़ित होने का अनुभव करता है, भंगे ऽपि=टूट जाने पर भी, मधुरः=मधुर बना रहता है या मीठा बना रहता है, इह इस संसार मे, यदीयः=जिसका, विकारः अपि=दोष भी या रस, सर्वेषाम् अभिमतः=सबको अच्छा लगता है, अक्षेत्र पतितः=ऊसर जमीन में पड़कर, स यदि=वह ईख यदि, वृद्धिं न प्राप्तः=नहीं बढ़ा, असौ=यह, किं इक्षोः दोषः=क्या ईख का दोष है? अगुणायाः=गुणहीन, मरुभुवः पुनः न=मरुभूमि का नहीं।

अर्थ - जो दूसरों के लिये पीड़ा का अनुभव करता है या रस निकालने के लिये यन्त्र से पीडित होने का अनुभव करता है, टूट जाने पर भी मीठा बना रहता है, सभी लोगों को जिसका विकार या रस भी अच्छा लगता है, वह ईख यदि ऊसर भूमि में नहीं बढ़ती तो क्या यह ईख का दोष है, गुणहीन मरुभूमि का नहीं ?

इत्यत्रेक्षुपक्षे ऽनुभवति शब्दः। न चैवं विधः कदाचिदपि ध्वने-विषयः।

श्रीधरी—इत्यत्र=यहाँ, इक्षुपक्षे=ईख के पक्ष में, अनुभवति शब्द=अनुभव करना है, यह शब्द उपचरित है, न च एवं विधः=इस प्रकार का शब्द, कदाचिदपि ध्वनेविषयः=कभी भी ध्वनि का विषय नहीं होता।

अर्थ यहाँ ईख के पक्ष में अनुभव करता है, यह शब्द उपचरित है, इस प्रकार का शब्द कभी ध्वनि का विषय नहीं होता है।

विशेष—यद्यपि कृत-महापुरुष पक्ष में अनुभवति शब्द ठीक है किन्तु ईख के पक्ष में ईख के जड़ होने एवं अनुभव करने की सामर्थ्य न रखने के कारण पीडावत्व को लक्षित करता है। अतः व्यंग्य का अप्राधान्य होने से ध्वनि का अभाव है। इस प्रकार इन पाँचों उदाहरणों का यही अभिप्राय है कि अतिव्याप्ति होने के कारण भक्ति ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती।

यतः—

उक्त्यन्तरेणाशक्यं यत्तच्चारुत्वं प्रकाशयन् ।
शब्दोव्यञ्जकतां बिभ्रद् ध्वन्युक्ते विषयी भवेत् ॥

श्रीधरी—यतः=क्योंकि, यत्तच्चारुत्व=जो चारुत्व, उक्त्यन्तरेण दूसरी उक्तियों से, प्रकाशयन् अशक्य=प्रकाशित नहीं किया जा सकता, तत्=उसे, प्रकाशयन्=प्रकाशित करता हुआ, व्यञ्जकता बिभ्रद्=व्यञ्जकता को धारण करने वाला शब्द, ध्वन्युक्ते=ध्वनि इस उक्ति का, विषयीभवेत्=विषय होता है।

अर्थ क्योंकि, जो चारुत्व दूसरी उक्ति से प्रकाशित नहीं किया जा सकता उसे प्रकाशित करने वाला और व्यञ्जकता को धारण करने वाला शब्द ध्वनि इस उक्ति का विषय होता है।

अत्र चोदाहृते विषये नोक्त्यन्तराशक्यचारुत्व व्यक्ति हेतुः शब्दः। किञ्च—

श्रीधरी—अत्र च=यहाँ, उदाहृते विषये=उदाहृत विषय में, शब्द=शब्द, उक्त्यन्तराशक्यचारुत्व व्यक्तिः हेतुः=दूसरी उक्ति से अशक्य चारुत्व की व्यञ्जना का हेतु, न=नहीं है। किञ्च=और भी।

अर्थ यहाँ उदाहृत विषय में शब्द दूसरी उक्ति से अशक्य चारुत्व की व्यञ्जना का हेतु नहीं है। और भी—

रूढा ये विषये ऽन्यत्र शब्दाः स्वविषयादपि ।
लावण्याद्याः प्रयुक्तास्ते न भवन्ति पदं ध्वनेः ॥१६॥

तेषु चोपचरित शब्दवृत्तिरस्तीति । तथाविधे च विषये क्वचित्सम्भवन्नपि ध्वनिव्यवहारः प्रकारान्तरेण प्रवर्तते । न तथाविध शब्द मुखेन ।

श्रीधरी—स्वविषयादपि=अपने विषय से भी, अन्यत्र विषये=अन्यत्र विषय मे, शब्दाः=शब्द दूसरी उक्ति से अशक्य चारुत्व की व्यञ्जना का हेतु नहीं है, स्वविषयादपि=अपने विषय मे भी, अन्यत्रविषये=दूसरे विषय में, ये रूढा जो शब्द रूढ हो जाते है, लावण्याद्या. प्रयुक्ताः=जैसे लावण्य आदि प्रयुक्त शब्द, ते ध्वने पद न भवन्ति=वे ध्वनि के विषय नही होते ।

तेषु च=उनमें, उपचरित शब्दवृत्तिः अस्ति=उपचरित शब्द वृत्ति है, तथाविधे=इस प्रकार के, विषय=विषय मे, क्वचित्सम्भवन्नपि=कहीं पर सम्भव होता हुआ भी, ध्वनिव्यवहार.=ध्वनि का व्यवहार, प्रकारान्तरेण प्रवर्तते=प्रकारान्तर मे प्रवर्तित होता है, तथाविधः शब्द मुखेन न=उस प्रकार के शब्द के द्वारा नहीं ।

अर्थ अपने विषय से भी अन्यत्र विषय में शब्द दूसरी उक्ति से अशक्य-चारुत्व की व्यञ्जना का हेतु नही है और अपने विषय मे भी अन्यत्र विषय में जो शब्द रूढ हो जाते है, जैसे-लावण्य आदि प्रयुक्त शब्द, वे ध्वनि के विषय नही होते।

उनमे उपचरित शब्द वृत्ति है । उस प्रकार के विषय में कहीं पर सम्भव होता हुआ भी ध्वनि का व्यवहार प्रकारान्तर मे होता है, उस प्रकार के शब्द के द्वारा नहीं ।

अपि च—

मुख्यां वृत्तिं परित्यज्य गुण वृत्यार्थ दर्शनम् ।
यदुद्दिश्य फलं तत्र शब्दोनैव स्खलद्गतिः ॥१७॥

श्रीधरी—अपि च=और भी, यदुद्दिश्य=जिस फल को उद्देश्य करके, मुख्यां वृत्तिं परित्यज्य=मुख्य वृत्ति को छोडकर, गुण वृत्या=गुणवृत्ति से, अर्थ दर्शनम्=अर्थ का ज्ञान कराया जाता है, तत्र=वहाँ उस फल के बोधन मे, शब्दः=शब्द, स्खलद्गतिः नैव=बाधितार्थ नही है ।

अर्थ—और भी —

जिस फल को उद्देश्य करके मुख्य वृत्ति को छोडकर, 'गुण वृत्ति' से अर्थ का ज्ञान कराया जाता है, वहाँ उस फल के बोधन मे शब्द स्खलद् गति अर्थात् बाधितार्थ नही है ।

तत्र हि चारुत्वातिशय विशिष्टार्थ प्रकाशनलक्षणे प्रयोजने कर्तव्ये यदि शब्दस्यामुख्यतया तदा तस्य प्रयोगे दुष्टतैव स्यात्, न चैवम्, तस्मात्—

श्रीधरी—हि=क्योंकि, तत्र=वहाँ, चारुत्वातिशय विशिष्टार्थ प्रकाशने=चारुत्वातिशय से विशिष्ट अर्थ के प्रकाशन रूप, प्रयोजने कर्तव्ये=प्रयोजन के कर्तव्य होने पर, यदि शब्दस्य अमुख्यता=यदि शब्द की अमुख्यता ही रह गई, तदा=तब, तस्य प्रयोगे=उसके प्रयोग मे, दुष्टतैव स्यात्=दुष्टता ही होगी, न चैवम्=परन्तु ऐसा है नहीं, तस्मात्=इसलिये—

अर्थ—क्योंकि वहाँ चारुत्वातिशय से विशिष्ट अर्थ के प्रकाशन रूप प्रयोजन के कर्तव्य होने पर यदि शब्द की अमुख्यता ही रह गई तो उसके प्रयोग मे दुष्टता ही होगी, परन्तु ऐसा है नहीं, इसलिये—

वाचकत्वाश्रयेणैव गुणवृत्तिर्व्यवस्थिता ।

व्यञ्जकत्वैकमूलस्य ध्वनेः स्याल्लक्षणं कथम् ॥१८॥

श्रीधरी वाचकत्वाश्रयेण एव=वाचकत्व अर्थात् अभिधा व्यापार के आश्रय से ही, गुणवृत्तिः=गुणवृत्ति किंवा लक्षणा, व्यवस्थिता=व्यवस्थित है, व्यञ्जकत्वैक मूलस्य=व्यञ्जना व्यापार ही जिसका एकमात्र मूल है, ध्वनेः=उस ध्वनि का, लक्षण कथम्=यह लक्षण कैसे हो सकता है ?

अर्थ—वाचकत्व अर्थात् अभिधा व्यापार के आश्रय से ही गुणवृत्ति किंवा लक्षणा व्यवस्थित है। अत व्यञ्जना व्यापार जिसका मूल कारण है, उस ध्वनि का यह लक्षण कैसे हो सकता है ?

तस्मादन्यो ध्वनिरन्या च गुणवृत्तिः, अव्याप्तिरप्यस्य लक्षणस्य । न हि ध्वनिप्रभेदोविवक्षितान्य परवाच्य लक्षणः । अन्ये च बहवः प्रकारा भक्त्या न व्याप्यन्त, तस्माद्भक्तिरलक्षणम् ।

श्रीधरी- तस्मात्=इसलिये, अन्य ध्वनि=ध्वनि भिन्न है, अन्या च गुणवृत्तिः=गुणवृत्ति अन्य है, अस्य लक्षणस्य=इस लक्षण की, अव्याप्तिरपि=अव्याप्ति अर्थात् अपने लक्ष्य मे सगत न होना भी है, हि=क्योंकि विवक्षितान्य-परवाच्य लक्षणः=विवक्षितान्य परवाच्य रूप, ध्वनि प्रभेद=ध्वनि का प्रभेद, अन्ये च=और भी, बहवः प्रकाराः=बहुत से ध्वनि के प्रकार, भक्त्या न व्याप्यन्त=लक्षणा किंवा भक्ति से व्याप्त नहीं है, तस्मात्=इसलिये, भक्तिः अलक्षणम्=भक्ति ध्वनि का लक्षण नहीं है।

अर्थ इसलिये ध्वनि भिन्न है और गुणवृत्ति भिन्न है। इस लक्षण की अव्याप्ति अर्थात् अपने लक्ष्य मे सगत न होना भी है, क्योंकि विवक्षितान्य परवाच्य रूप ध्वनि का प्रभेद और अन्य बहुत से प्रकार लक्षणा मे व्याप्त नहीं है, अत भक्ति ध्वनि का लक्षण नहीं है।

कस्यचिद् ध्वनि भेदस्य सा तु स्यादुपलक्षणमस्तु ।

श्रीधरी—सा=वह, ध्वनेः=ध्वनि के, कस्यचिद् भेदस्य=किसी भेद का, उपलक्षणं स्यात्=उपलक्षण हो सकती है।

अर्थ - वह भक्ति ध्वनि के किसी भेद का उपलक्षण हो सकती है।

सा पुनर्भक्तिर्वक्ष्यमाण प्रभेदमध्यादन्यतमस्य भेदस्य यदि नामोपलक्षणतया सम्भाव्यते; यदि च गुणवृत्त्यैव ध्वनिर्लक्ष्यत इत्युच्यते तदभिधानं व्यापारेण तदितरोऽलकार वर्गः समग्र एव लक्ष्यत इति प्रत्येकमलंकाराणां लक्षण करण वैयर्थ्य प्रसंगः। किं च—

श्रीधरी सा पुनर्भक्ति = वह भक्ति, वक्ष्यमाणप्रभेद मध्याद् = वक्ष्यमाण प्रभेदो में से, अन्यतमस्य भेदस्य = किसी एक भेद के, यदि नाम उपलक्षणतया सम्भाव्यते = यदि उपलक्षण के रूप में सम्भावित हो सके, यदि च = और, गुणवृत्त्यैव = गुण वृत्ति से ही, ध्वनिर्लक्ष्यत इत्युच्यते = ध्वनि लक्षित होती है, यह कहते हो, तद् = तब, अभिधा व्यापारेण = अभिधा व्यापार से, तदितर. = उससे भिन्न, समग्र एव = सारा ही, अलकार वर्ग. = अलकार समूह, लक्ष्यत = लक्षित होता है, इति = ऐसी स्थिति मे, प्रत्येकमलकाराणा = प्रत्येक अलंकारो का, लक्षण करणवैयर्थ्य प्रसग = लक्षण करना व्यर्थ होगा, कि च = और भी—

लक्षणेऽन्यैः कृते चास्य पक्ष संसिद्धिरेव नः ॥१६॥

श्रीधरी—अन्यैः = दूसरे लोगों ने यदि, लक्षणे कृते = ध्वनि का लक्षण कर दिया है, नः = हमारे, अस्य पक्ष संसिद्धिरेव = इससे हमारे पक्ष की सिद्धि ही होती है।

अर्थ—यदि दूसरे लोगो ने ध्वनि का लक्षण कर दिया है तो इससे हमारे पक्ष की सिद्धि ही होती है।

कृतेऽपि वा पूर्वमेवान्यैर्ध्वनिलक्षणे पक्ष संसिद्धिरेव नः, यस्माद् ध्वनि रस्तीति नः पक्षः। स च प्रागेव संसिद्ध इत्ययत्नसम्पन्न समीहितार्थाः संवृत्ताः स्मः। ये ऽपि सहृदयहृदय संवेद्यमनाख्येयमेव ध्वनेरात्मानमाम्नासिषुस्तेऽपि न परीक्ष्य वादिनः। यत उक्तया नीत्या वक्ष्यमाणया च ध्वने सामान्य विशेषलक्षणे प्रतिपादितेऽपि यद्यनाख्येयत्वं तत्सर्वेषामेव वस्तूनां तत्प्रसक्तम्। यदि पुनर्ध्वने रतिशयोक्त्यानयाकाव्यान्तरातिशायि तैः स्वरूपमाख्येयते तत्त ऽपि युक्ताभिधायिन एव।

श्रीधरी - पूर्वमेव = पहले ही, अन्यै = दूसरो के द्वारा, ध्वनिलक्षणे कृतेऽपि = ध्वनि का लक्षण कर दिये जाने पर भी, नः = हमारे, पक्ष संसिद्धिरेव = पक्ष की सिद्धि ही है, यस्मात् = क्योंकि ध्वनिः अस्ति = ध्वनि है, इति = यह, नः पक्ष. = हमारा पक्ष है, स च = और वह, प्रागेव ससिद्धः = पहले ही सिद्ध हो चुका, इति = इस प्रकार, अयत्नसम्पन्नसमीहितार्थाः संवृत्ताः स्म. = बिना प्रयत्न के ही हमारा अभीष्ट कार्य सिद्ध हो गया, ये ऽपि = जिन लोगो ने, सहृदयहृदय संवेद्यं = सहृदय -हृदय द्वारा सवेद्य, अनाख्येयं = अनिर्वचनीय, ध्वनेरात्मानं = ध्वनि के स्वरूप को, आम्नासिषु =

कहा है, तेऽपि=वे भी, न परीक्ष्य वादिनः=परीक्षा करके कहने वाले नहीं है, यतः=क्योंकि उक्तया नीत्या वक्ष्यमाणया च=उक्त नीति और वक्ष्यमाण प्रकार से, ध्वनेः=ध्वनि के, सामान्य विशेष लक्षणे=सामान्य और विशेष लक्षण के, प्रतिपादितेऽपि=प्रतिपादित होने पर भी, यदि अनाख्येयत्वं=यदि उसका अनिर्वचनीयत्व है, तत्=तब तो, सर्वेषामपि वस्तूनां तत्प्रसक्तम्=सभी वस्तुओं के सम्बन्ध में वह अनिर्वचनीयत्व है, यदि पुनः=यदि फिर, तैः=उनके द्वारा, अनिशयोक्त्यानया=इस अतिशयोक्ति के द्वारा, ध्वनेः=ध्वनि का, काव्यान्तरातिशायि=अन्य काव्यों से बढ़कर स्वरूप कहा जाता है, तत्=तब, तेऽपि=वे भी, युक्ताभिधायिन एव=ठीक ही कहते हैं।

अर्थ– पहले ही दूसरों के द्वारा ध्वनि का लक्षण कर दिये जाने पर हमारे पक्ष की सिद्धि ही होती है, क्योंकि ध्वनि है, यह हमारा पक्ष है और वह पहले से ही सिद्ध हो चुका, इस प्रकार बिना प्रयत्न के ही हमारा कार्य सिद्ध हो गया। जिन्होंने ध्वनि को सहृदय-हृदय संवेद्य तथा अनिर्वचनीय कहा है, वे भी परीक्षा करके कहने वाले नहीं हैं क्योंकि कथित और वक्ष्यमाण नीति के अनुसार ध्वनि के सामान्य एवं विशेष लक्षण के प्रतिपादित हो जाने पर भी यदि ध्वनि का अनिर्वचनीयत्व है तब तो वह अनिर्वचनीयत्व समस्त वस्तुओं के सम्बन्ध में होगा। यदि वे लोग इस अतिशयोक्ति के द्वारा अन्य काव्यों से बढ़कर स्वरूप कहते हैं, तब तो वे भी ठीक ही कहते हैं।

[इति श्रीराजानकानन्दवर्धनाचार्य विरचिते ध्वन्यालोके प्रथम उद्योत।]

———

ध्वन्यालोक:

द्वितीय उद्योत:

एवमविवक्षितं वाच्यविवक्षितान्यपरवाच्यत्वेनध्वनिर्द्विप्रकारः प्रकाशितः। तत्राविवक्षितवाच्यस्य प्रभेदप्रतिपादनायेदमुच्यते—

श्रीधरी—एवम्=इस प्रकार, अविवक्षितवाच्य=अविवक्षित वाच्य, विवक्षितान्य परवाच्यत्वेन=और विवक्षितान्यपरवाच्य के रूप मे, ध्वनि.=ध्वनि, द्विप्रकारः=दो प्रकार से, प्रकाशित.=प्रकाशित है। तत्र=उसमे, अविवक्षित वाच्यस्य=अविवक्षित वाच्य के, प्रभेदप्रतिपादनाय=प्रभेदो के प्रतिपादन के लिये, इदमुच्यते=यह कहते है।

अर्थ—इस प्रकार अविवक्षित वाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य में ध्वनि दो प्रकार से प्रकाशित है, उनमें अविवक्षित वाच्य के प्रभेद प्रतिपादन के लिये यह कहते हैं—

> अर्थान्तरे संक्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम्।
> अविवक्षित वाच्यस्य ध्वनेर्वाच्यं द्विधामतम्॥१॥
> तथा विधानां च ताभ्यां व्यंग्यस्यैव विशेषः।

श्रीधरी—अर्थान्तरे सङ्क्रमितं=अर्थान्तर मे सक्रमित, वा=और, अत्यन्त तिरस्कृतम्=अत्यन्त तिरस्कृत, (इस रूप से) अविवक्षित वाच्यस्य ध्वने.=अविवक्षित वाच्य ध्वनि का, ध्वनेर्वाच्य=वाच्य, द्विधा मतम्=दो प्रकार का माना जाता है। तथाविधाभ्या च ताभ्या=उन दोनो प्रकार के वाच्यो मे, व्यंग्यस्यैव=व्यग्य का ही, विशेषः=विशेष उत्कर्ष है।

अर्थ—अर्थान्तर मे सक्रमित और अत्यन्त तिरस्कृत इस रूप मे अविवक्षित वाच्य ध्वनि का वाच्य दो प्रकार का माना जाता है क्योकि उन दोनो प्रकार के वाच्यों से व्यग्य का ही विशेष उत्कर्ष है—

तत्र अर्थान्तर सङ्क्रमित वाच्यो यथा—

> स्निग्ध श्यामल कान्तिलिप्त वियतो वेल्लद्बलाका घना,
> वाता शीकरिणः पयोद सुहृदामानन्द केकाः कला।
> कामं सन्तु दृढं कठोर हृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे,
> वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि धीरा भव॥

श्रीधरी—अर्थान्तर सङ्क्रमित वाच्यो यथा=अर्थान्तर सङ्क्रमित वाच्य जैसे—

स्निग्ध श्यामल कालिलिप्त वियत:=स्निग्ध एवं श्यामल कान्ति से आकाश को लिप्त कर देने वाले, वेल्लद्बलाका=वेल्लित होती हुई वक पंक्तियों वाले, घना=बादल, शीकरिण: वाता=फुहारों वाली हवाएँ, पयोद सुहृदामानन्द केका कल=बादलों के मित्र मयूरों की अव्यक्त मधुर केका, काम सन्तुदृढ=भले ही ये सब कितने ही हों, कठोर हृदय:=कठोर हृदय वाला, रामोऽस्मि=मैं तो राम हूं, सर्व सहे=सब कुछ सहन करता हूँ, तु=परन्तु, वैदेही कथ भविष्यति=विदेहतनया सीता कैसे होगी, हहा देवि=हा देवि, धीराभव=तुम धैर्य धारण करो।

अर्थ—स्निग्ध एवं श्यामल कान्ति से आकाश को लिप्त कर देने वाले और वेल्लित होती हुई वक पंक्तियों वाले मेघ, फुहारों वाली हवाएँ तथा बादलों के मित्र मयूरों की अव्यक्त केका, ये सब भले ही कितने ही हों, मैं तो राम हूँ, कठोर हृदय होकर सब कुछ सहन करता हूँ, किन्तु जनकराज पुत्री सीता की क्या हालत हो रही होगी ? हा देवि, तुम धैर्य धारण करो।

इत्यत्र रामशब्दः। अनेन हि व्यंग्यधर्मान्तरपरिणतः सञ्ज्ञी प्रत्याय्यते, न संज्ञिमात्रम्।

श्रीधरी—इत्यत्र=यहाँ, राम शब्द.=राम शब्द, अनेन हि=इस राम शब्द से, व्यग्य धर्मान्तर परिणत.=व्यञ्जित होते हुए दूसरे धर्म से परिणत, सञ्ज्ञी=व्यक्ति, प्रत्यायते=प्रतीत कराया जाता है, न सञ्ज्ञिमात्रम्=केवल व्यक्ति नहीं।

अर्थ—यह 'राम' शब्द। इस राम शब्द से व्यञ्जित होते हुए दूसरे धर्म मे परिणत व्यक्ति प्रतीत कराया जाता है, केवल व्यक्ति नहीं।

विशेष—वाच्य अर्थान्तर में संक्रमित नही होता अपितु सक्रान्त कराया जाता है अर्थात् सक्रमित होता है, इस प्रकार यहां णिच प्रत्यय के प्रयोग से प्रयोजक कर्ता की आवश्यकता है, यहां प्रयोजक कर्ता है व्यञ्जना व्यापार मे सहकारिवर्ग, अर्थात् लक्षणा और वक्ता की विवक्षा आदि। बिना इनकी सहायता से वाच्य अर्थान्तर में सक्रान्त नही होता। यही स्थिति तिरस्कृत शब्द की भी है। अविवक्षित वाच्य वाच्य ध्वनि का ही दूसरा नाम लक्षणा मूल ध्वनि भी है। लक्षणा के आधार पर ही अर्थान्तर संक्रमित वाच्य और अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ये दो भेद होते हैं।

वस्तुतः लक्षणा, शब्द की वह आरोपित शक्ति है जिससे मुख्यार्थ के बाध, मुख्यार्थ के योग रूढि या प्रयोजन मे अन्यतर के होने पर अन्य अर्थ लक्षित होता है। लक्षणा दो प्रकार की होती है—

(१) उपादान लक्षणा।
(२) लक्षण लक्षणा।

जहाँ अपनी सिद्धि के लिये दूसरे का आक्षेप होता है, वहाँ उपादान लक्षणा और जहाँ दूसरे अर्थ की सिद्धि के लिये अपने अर्थ का समर्पण होता है, वहाँ लक्षण लक्षणा है। "कुन्ताः प्रविशन्ति" यह उपादान लक्षणा है, क्योंकि कुन्त अपने प्रवेश की सिद्धि के लिये कुन्तधारी पुरुषों का आक्षेप करते है। "गङ्गायां घोषः" यह उदाहरण लक्षण लक्षणा का है, क्योंकि आधाराधेयभाव की सिद्धि के लिये यहाँ गगा शब्द अपने अर्थ का त्याग कर देता है। इस प्रकार पहले में कुन्तधारियों के आक्षेप से तथा दूसरे मे गगा के प्रवाह रूप अर्थ के त्याग से अन्वयानुपपत्ति दूर होती है। ये दोनों लक्षणा के भेद क्रमशः अर्थान्तर सक्रमित वाच्य और अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनियों के मूल में होते है। पहले मे आक्षेप अर्थात् अर्थान्तर मे संक्रमण और दूसरे मे अपने अर्थ का त्याग होता है।

यथा च ममैव विषम बाणलीलासाम्—

ताला जाअन्ति गुणा जाला दे सहिअएहिं घेप्पन्ति।
रइकिरणानुग्गहिअ आइ होन्ति कमलाइं कमलाइं॥
[तदा जायन्ते गुणा यदा ते सहृदयैर्गृह्यन्ते।
रवि किरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि॥]

इत्यत्र द्वितीयः कमल शब्दः।

श्रीधरी—यथा च=और जैसे, ममैव=मेरा ही, विषमबाणलीलायाम्=विषम बाण लीला मे, गुणा तदा जायन्ते=गुण तब होते है, यदा=जब, ते=वे, सहृदयैः=सहृदय लोगों के द्वारा, गृह्यन्ते=ग्रहण किये जाते है, रवि किरणानुगृहीतानि=सूर्य की किरणों से अनुहीत होकर ही, कमलानि=कमल, कमलानि भवन्ति=कमल होते है।

अर्थ—और जैसे मेरा ही उदाहरण विषम बाण लीला मे—

गुण तब गुण होते है जब सहृदय लोगों के द्वारा ग्रहण किये जाते है। सूर्य की किरणो से अनुगृहीत होकर ही कमल कमल होते है। इसमें दूसरा 'कमल' शब्द।

विशेष—इन उदाहरणो में राम शब्द और कमल शब्द अनुपयुक्त होने के कारण बाधितार्थ होकर लक्षण द्वारा धर्मान्तर मे परिणत अर्थ को लक्षित करते है तो इसका यह अर्थ नही है कि व्यञ्जित होते-होते सभी धर्मान्तरों को लक्षणा के द्वारा ही लक्षित किया जाय। कुछ लोगों ने बलात् लक्षणा द्वारा ही प्रतीत करने का प्रयास किया था, किन्तु यह प्रकार सहृदय जनो की प्रतीति के विरुद्ध है। कारण यह है कि लक्षणा के एक ही धर्म से अन्वित की प्रतीति हो सकती है, क्योंकि लक्षणा की इस अंश में सार्थकता है कि वह शब्द के अनुपयोग को हटा दे और उपयुक्त अर्थ को प्रस्तुत कर दे, किन्तु लक्षणा द्वारा उपर्युक्त अर्थ के प्रतीत होने के बाद भी जब अनेक धर्मान्तर प्रतीत होने लगते है, तब उन्हें भी विरत व्यापार लक्षणा का विषय किसी प्रकार नही माना जा सकता। अतः यहाँ अनेक धर्मान्तरों को प्रस्तुत

अविवक्षित वाच्य ध्वनि का विषय मानते है; जिसका मूल लक्षणा है। इस तरह लक्षणा यहाँ सहकारिणी शक्ति है। उपर्युक्त उदाहरणों में अनुपयोगात्मक मुख्यार्थ बाधा है, अत लक्षणामूलक वाच्य ध्वनि का यह अर्थान्तर संक्रमित वाच्य रूप एक भेद है। यहाँ 'राम' और 'कमल' शब्द के केवल शुद्ध या वाच्य अर्थ की विवक्षा ही नहीं है।

अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य का यह अर्थ नही है कि धर्मी का तिरस्कार होता है, प्रत्युत लक्ष्य और व्यंग्य अर्थों के ज्ञान में धर्मी का भी ज्ञान अनु विष्ट होता है, अत तिरस्कार धर्म का ही अभीष्ट है, न कि धर्मी का। इसीलिए आचार्य ने 'परिणत.' शब्द का प्रयोग किया है, अर्थात् धर्मी स्वयं स्थित रहता हुआ अनेक व्यंग्य धर्मान्तरों मे परिणत रूप मे प्रतीत होता है।

अत्यन्ततिरस्कृत वाच्यो यथादि कवेर्वाल्मीकेः--

रवि संक्रान्त सौभाग्यस्तुषारावृत मण्डलः।
निः श्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते॥

इति। अत्र अन्ध शब्दः।

श्रीधरी—अत्यन्त तिरस्कृत वाच्यो यथा=अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य जैसे, आदि कवेर्वाल्मीकेः=आदि कवि वाल्मीकि का—

रवि संक्रान्त सौभाग्य=सूर्य में जिसका सौभग्य संक्रान्त हो गया है, तुषारावृत मण्डल:=तुषार से जिसका मण्डल ढँक गया है, नि:श्वासान्धः आदर्श इव=नि श्वास मे अन्ध दर्पण के समान, चन्द्रमा न प्रकाशते=चन्द्रमा प्रकाशित नही हो रहा है।

अर्थ—सूर्य मे जिसका सौभाग्य सङ्क्रान्त हो गया है और तुषार से जिसका मण्डल ढक गया है ऐसा निःश्वास से अन्धे दर्पण के समान यह चन्द्रमा प्रकाशित नही हो रहा है, यहाँ 'अन्ध' शब्द।

विशेष अन्धा वह होता है जिसकी दोनो आखें फूट गई हो। जो जन्मान्ध होता है, उसकी आँखें गर्भ मे ही फूट जाती जाती है, परन्तु शीशे का अन्धत्व किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है। यदि शीशे पर अन्धत्व का आरोप भी किया जाय तो भी युक्तिसंगत नही है। अतः इस अर्थ का तिरस्कार कर देते हैं और जिसके पास आंखें नहीं होती, वह किसी भी पदार्थ को स्पष्ट नहीं कर सकता इस पदार्थ स्फुटीकरणाशक्यत्वरूप अर्थ को निमित्त करके वही 'अन्ध' शब्द आदर्श को लक्षणा मे बोधन करता है। इस प्रकार यहाँ छाया हीनत्व, अनुपयोगित्व, आदि अनेक धर्म समूह प्रयोजन के रूप मे प्रतीयमान हैं। यहाँ अन्ध शब्द के अर्थ के तिरस्कृत हो जाने के कारण इस ध्वनि को अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य कहा है।

गअणं च मत्तमेहं धारालुलिअज्जुणाइं अ वणाइं।
णिरहंकारमिअङ्का हरन्ति नीलाओ वि णिसाओ॥

[गगनं च मत्त मेघं धारालुलितार्जुनानि च वनानि ।
निरहंकारमृगाङ्का हरन्ति नीला अपि निशाः ॥]

अत्र मत्त निरहङ्कार शब्दौ ।

श्रीधरी—मत्त मेघं च गगनं=मत्त मेघों से भरा आकाश भी, धारालुलिता.=धारावृष्टि से कम्पित, अर्जुनानि वनानि च=अर्जुन वृक्षों वाले वन भी, निरहकार मृगाङ्का=निरहंकार चन्द्रमा वाली, नीला अपि निशा=काली रातें भी, हरन्ति=मन को आकृष्ट कर लेती है, अत्र=यहाँ, मत्त निरहंकारशब्दौ=मत्त और निरहंकार शब्द ।

अर्थ—मत्त मेघों से भरा आकाश भी, जलवृष्टि से कम्पित अर्जुन वृक्षो वाले वन भी, तथा निरहकार चन्द्रमा वाली काली रातें भी मन को आकृष्ट कर लेती है । यहाँ मत्त और निरहकार शब्द ।

विशेष—मत्त और अहकार ये मुख्य अर्थ मे अनुपपन्न है क्योंकि मेघ तो जड है, वह मत्त कैसे होगा और चन्द्रमा भी अहकार कैसे करेगा ? इस तरह ये शब्द सादृश्य से लक्षणा द्वारा क्रमश. मेघ और चन्द्रमा को लक्षित करते हैं और तब उनसे अनेक निर्दिष्ट धर्म प्रतीयमान होते है । अत. यहाँ भी मुख्यार्थ का तिरस्कार है ।

असंलक्ष्यक्रमोद्योतः क्रमेण द्योतितः परः ।
विवक्षिताभिधेयस्य ध्वनेरात्मा द्विधा मतः ॥२॥

मुख्यतया प्रकाशमानो व्यंग्योऽर्थो ध्वनेरात्मा । स च वाच्यार्थापेक्षया कश्चिदलक्ष्यक्रमतया प्रकाशते, कश्चित्क्रमेणेति द्विधा मतः । तत्र—

श्रीधरी—विवक्षिताभिधेयस्य=जिसका अभिधेय विवक्षित है ऐसी, ध्वने. आत्मा=ध्वनि की आत्मा, द्विधा मत.=दो प्रकार की मानी गई है, असलक्ष्य क्रमोद्योतः=जिसका क्रम लक्षित नही होता, क्रमेण द्योतितः परः=दूसरी वह जिसका क्रम संलक्षित होता है ।

मुख्यतयाप्रकाशमानः=मुख्य रूप से प्रकाशमान, व्यंग्योऽर्थो=व्यंग्य अर्थ, ध्वनेः=ध्वनि का, आत्मा=आत्मा है, स च=वह, वाच्यार्थापेक्षया=वाच्य अर्थ की अपेक्षा, कश्चिदलक्ष्यक्रमतया=अलक्ष्य क्रम रूप से, प्रकाशते=प्रकाशित होता है, कश्चित्=कोई, क्रमेण=क्रम से, इति द्विधा मत=इस प्रकार से दो प्रकार का माना गया है । तत्र=वहाँ ।

अर्थ—जिसका अभिधेय विवक्षित है, ऐसी ध्वनि दो प्रकार की होती है, एक वह जिसमें व्यंग्य का क्रम लक्षित नही होता, दूसरी वह जिसमें व्यंग्य का क्रम लक्षित होता है ।

मुख्य रूप से प्रकाशमान व्यंग्य अर्थ ध्वनि का आत्मा होता है, वह वाच्य अर्थ की अपेक्षा अलक्ष्य क्रम रूप से प्रकाशित होता है, दूसरा क्रम से प्रकाशित होता है इस प्रकार वह व्यंग्य अर्थ दो प्रकार का होता है, वहाँ—

रसभावतदाभासतत्प्रशान्त्यादिरक्रमः ।
ध्वनेरात्माङ्गिभावेन भासमानो व्यवस्थितः ॥३॥

श्रीधरी—अङ्गिभावेन=अङ्गी रूप से, भासमानः=आभासित होने वाला व्यंग्य अर्थ, ध्वनेः आत्मा=ध्वनि का आत्मा, रसभावतदाभासतत्प्रशान्त्यादिरक्रम.= रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावप्रशम, भावशान्ति आदि अक्रम अर्थात् असंलक्ष्य क्रम रूप से, व्यवस्थित.=व्यवस्थित है।

अर्थ—अङ्गी रूप से भासमान ध्वनि की आत्मा स्वरूप रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावप्रशम, भावशान्ति आदि असंलक्ष्यक्रम रूप से व्यवस्थित है।

रसादिरर्थो हि सहेव वाच्येनाव भासते ।
स चाङ्गित्वेनावभासमानो ध्वनेरात्मा ॥

श्रीधरी—रसादिरर्थो हि=रसादि रूप अर्थ, वाच्येन सहेव=वाच्य के साथ सा ही, अवभासते=प्रतीत होता है, स च=और वह, अङ्गित्वेनाव भासमानः= प्रधान रूप से प्रतीत होता हुआ, ध्वनेरात्मा=ध्वनि के आत्मा स्वरूप है।

अर्थ—रसादि रूप अर्थ वाच्य के साथ सा ही प्रतीत होता है और वह प्रधान रूप से प्रतीत होता हुआ ध्वनि की आत्मा स्वरूप है।

इदानीं रसवदलङ्कारादलक्ष्यक्रमद्योतनात्मनो ध्वनेर्विभक्तो विषय इति प्रदर्श्यते—

वाच्यवाचक चारुत्वहेतूनां विविधात्मनाम् ।
रसादिपरता यत्र स ध्वनेर्विषयो मतः ॥४॥

श्रीधरी इदानीं=अब, रसवदलङ्कारात्=रसवत् अलंकार से, अलक्ष्यक्रमद्योतनात्मनो=अलक्ष्य क्रम व्यंग्य रूप, ध्वनेर्विभक्तो विषयः=ध्वनि का विषय अलग है, इति प्रदर्श्यते=यह दिखाते है—

विविधात्मनाम्=अनेक प्रकार के, वाच्यवाचक चारुत्व हेतूनां=वाच्य, वाचक और उनके चारुत्व हेतुओं का, यत्र=जहाँ, रसादिपरता=रस आदि में तात्पर्य हो, स=वह, ध्वनेर्विषयो मतः=ध्वनि का विषय माना गया है।

अर्थ—अब रसवदलंकार से अलक्ष्यक्रम व्यंग्य रूप ध्वनि का विषय अलग है, यह दिखाते है—

अनेक प्रकार के वाच्य, वाचक और उनमें चारुत्व हेतुओं का जहाँ रस आदि में तात्पर्य हो, वह ध्वनि का विषय माना जाता है।

विशेष—जब रस प्रधान होता है तब रसादि ध्वनि होती है, जब रस की स्थिति अप्रधान होती है तब वह रसवत् आदि अलंकार की कोटि में आती है, जिस प्रकार समासोक्ति प्रभृति अलंकारों में ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं है, उसी प्रकार रसवत् अलंकार में भी रसादि ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं है। वस्तु ध्वनि का भी समासोक्ति

आदि अलकारो मे अन्तर्भाव नही है। तात्पर्य यह है कि यह ध्वनि तत्व सर्वथा अलग ही अस्तित्व रखता है।

रसभाव तदाभासतत्प्रशमलक्षणं मुख्यमर्थमनुवर्तमाना यत्र शब्दार्थालङ्कारा गुणाश्च परस्परं ध्वन्यपेक्षया भिन्नरूपा व्यवस्थितास्तत्र काव्ये ध्वनिरिति व्यपदेश·।

प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्ग तु रसादयः।
काव्ये तस्मिन्नलकारो रसादिरिति मे मतिः ॥५॥

यद्यपि रसवदलङ्कारस्यान्यैर्दर्शितो विषयस्तथापि यस्मिन् काव्ये प्रधानतयाऽन्योऽर्थोवाक्यार्थो भूतस्तस्य चाङ्गभूता ये रसादयस्ते रसादेरलङ्कारस्य विष्या इति मामकीनः पक्ष.। तद्यथा चाटुषु प्रेयोऽलंकारस्य वाक्यार्थत्वेऽपि रसादयोऽङ्गभूता दृश्यन्ते।

श्रीधरी—यत्र=जहाँ, रसभावतदाभासतत्प्रशम लक्षणं=रस, भाव, रसाभाव, भावाभास, भावप्रशम रूप, मख्य अर्थ अनुवर्तमाना=मुख्य अर्थ का अनुगमन करते हुए, शब्दार्थालङ्कारा गुणाश्च=शब्द, अर्थ और उनके अलंकार तथा गुण, परस्पर ध्वन्यपेक्षया= परस्पर ध्वनि की अपेक्षा, विभिन्न रूपा=भिन्न स्वरूप से, व्यवस्थिता=व्यवस्थित होते है, तत्र काव्ये=उस काव्य मे, ध्वनिरिति व्यपदेश.=ध्वनि यह व्यवहार होता है।

अन्यत्र=दूसरी जगह, यत्र=जहाँ, वाक्यार्थे प्रधाने=वाक्यार्थ के प्रधान होने पर, रसादय. अङ्गम्=रस आदि अग हो जाते है, तस्मिन्=उस काव्य मे, रसादि अलंकार.=रसादि अलंकार होते है, इति मे मति.=ऐसा मेरा सिद्धान्त है।

यद्यपि रसवत् अलंकारस्य=यद्यपि रसवत् अलकार का, विषय.=विषय, अन्यैर्दर्शितः=दूसरो ने दिखाया है, तथापि= तो भी, प्रधानतया= प्रधान रूप से, अन्योऽर्थः=अन्य अर्थ, यस्मिन् काव्ये=जिस काव्य मे, वाक्यार्थीभूत.=वाक्यार्थीभूत हो, च=और, तस्य ये अगभूता=उसके जो रसादि अग हों, ते रसादेरलंकारस्य विषया=रसादि अलंकार के विषय है, इति=यह, मामकीन. पक्ष.= मेरा पक्ष है, तद्यथा=वह जैसा कि, चाटुषु=चाटु के विषयो मे, प्रेयोऽलकारस्य=प्रेयोअलंकार के, वाक्यार्थत्वेऽपि=वाक्यार्थ होने पर भी, रसादयो=रस आदि, अङ्गभूता दृश्यन्ते=अङ्गभूत देखे जाते है।

अर्थ—जहाँ रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावप्रशम रूप मुख्य अर्थ का अनुगमन करते हुए शब्द, अर्थ और उनके अलंकार तथा गुण परस्पर ध्वनि की अपेक्षा भिन्न स्वरूप से व्यवस्थित होते है, उस काव्य मे ध्वनि व्यवहार होता है।

अन्यत्र जहाँ वाक्यार्थ के प्रधान होने पर रस आदि अग हो जाते है, उस काव्य मे रसादि अलंकार है, यह मेरा सिद्धान्त है। यद्यपि रसवत् अलंकार का विषय दूसरों ने दिखाया है तथापि मुख्य रूप से अन्य अर्थ जिस काव्य मे वाक्यार्थ

हो और उसके जो रसादि अंग हों, वे रसादि अलकार के विषय है, यह मेरा पक्ष है। वह जैसा कि चाटु के विषयों मे प्रेयोलंकार के मुख्य वाक्यार्थ होने पर भी रसादि अंगभूत देखे जाते है।

विशेष—जहां भी रसादि शब्द का प्रयोग है, उसमें रस, भाव, तदाभास, भावाभास, भावशान्ति आदि का ग्रहण किया जाता है। ये रसादि के अंग के रूप मे होने पर क्रमश रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि तथा समाहित अलंकार के नाम से कहे जाते है अर्थात् रस अंग होने पर रसवत् अलंकार, भाव अंग होने पर प्रेयोऽलंकार, रसाभास और भावाभास अंग होने पर ऊर्जस्वि एवं भावशान्ति अंग होने पर समाहित अलकार कहलाते है।

स च रसादिरलंकारः शुद्धः सङ्कीर्णो वा, तत्राद्यो यथा—

किं हास्येन न मे प्रयास्यसि पुनः प्राप्तश्चिराद्दर्शनम्,
केयं निष्करुण प्रवास रुचिता केनासि दूरीकृतः।
स्वप्नान्तेष्विति ते वदन् प्रियतम व्यासक्त कण्ठग्रहो,
बुद्धा रोदिति रिक्त बाहुवलयस्तारं रिपु स्त्री जनः॥

श्रीधरी—स च रसादिरलङ्कारः=वह रसादि अलकार, शुद्धः संकीर्णो वा=शुद्ध और सकीर्ण रूप मे दो प्रकार का होता है, तत्राद्यो यथा=उनमें पहला अर्थात् शुद्ध जैसे—

हास्येन किं=हँसी-मजाक से क्या लाभ? चिरात्=बहुत समय से, दर्शन प्राप्तः=दर्शन मिला है, पुनः मे दूर न प्रयास्यसि=फिर तुम मुझसे दूर नही जा सकते, हे निष्करुण=हे निष्ठुर, केयं प्रवास रुचिता=यह परदेश मे रहने की तुम्हारी इच्छा कैसी? केन दूरीकृतः असि=किसने तुम्हे दूर कर दिया, इति=इस प्रकार, स्वप्नस्यान्तेषु=स्वप्न में, प्रियतमव्यासक्तकण्ठग्रहो=प्रियतम के कण्ठ मे बांह डालकर, वदन्=कहती हुई, ते=तुम्हारी, रिक्तबाहुवलय=वलयो से रहित हाथो वाली, रिपुस्त्रिय=शत्रु की स्त्रियां, बुद्धा=जगकर, तारं=जोर-जोर से, रोदिति=रोया करती हैं।

अर्थ—हँसी-मजाक से क्या लाभ? बहुत समय के बाद दर्शन मिले है, फिर तुम मुझसे दूर नही जा सकते, अरे निष्ठुर! यह परदेश जाने मे तुम्हारी अभिरुचि कैसी है? किसने तुम्हे दूर कर दिया? इस प्रकार स्वप्न मे प्रिय के गले मे बांह डाले कहती हुई, कङ्कण से रहित हाथो वाली तुम्हारी शत्रु-स्त्रियाँ जगकर जोर-जोर से रोया करती हैं।

इत्यत्र करुण रसस्य शुद्धस्याङ्ग-भावात्स्पष्टमेव रसवदलङ्कारत्वम्। एवमेवं विधे विषये रसान्तराणां स्पष्टएवाङ्ग भावः।

श्रीधरी—इत्यत्र=यहाँ पर, शुद्धस्य करुण रसस्य=शुद्ध रूप मे करुण रस के, अङ्गभावात्स्पष्टमेव=अंग हो जाने से स्पष्ट ही, रसवदलङ्कारत्वम्=रसवद्

अलकारता है, एव एव=इसी तरह, एव विधेविषये=इस प्रकार के विषय मे, रसान्तराणां=दूसरे रसो का, अङ्गभाव = अङ्गभाव, स्पष्ट एव=स्पष्ट ही है।

अर्थ—यहाँ पर शुद्ध करुण रस के अङ्ग हो जाने के कारण स्पष्ट ही रसवद् अलकार है। इसी प्रकार ऐसे विषय मे दूसरे रसों का भी अंगभाव है।

सङ्कीर्णोऽस्याङ्गिभूतो यथा—

क्षिप्तो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतोऽप्याददानोंऽशुकान्तं,
गृह्णन् केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षितः सम्भ्रमेण।
आलिङ्गन् योऽवधूतस्त्रिपुर युवतिभिः साश्रुनेत्रोत्पलाभिः,
कामीवार्द्रापराधः स दहतु दुरितं शाम्भवो वः शराग्निः॥

लोचरी—सङ्कीर्णो रसादिरङ्गभूतो=सङ्कीर्ण रसादि अगभूत, यथा=जैसे—

यः=जो भगवान् शङ्कर की शराग्नि, साश्रुनेत्रोत्पलाभिः=सजल नेत्र कमलो वाली, त्रिपुरयुवतिभिः=त्रिपुर युवतियों के द्वारा, क्षिप्तः=झटकने पर, हस्तावलग्नः=हाथ में लग गई, प्रसभमभिहतः=जोर से पीटने पर, अंशुकान्तं आददान = कपड़े के छोर को पकड़ने लगी, अपास्तः=तिरस्कृत होकर, केशेषु गृह्णन्=बालों को पकड़ने लगी, सम्भ्रमेण=घबड़ाहट के कारण, नेक्षितः=न देखने पर, चरण निपतितः=चरणों मे गिर पड़ी, आलिगन्=आलिगन करता हुआ, अवधूत = तिरस्कृत कर गई, ऐसी, आर्द्रापराधः कामी इव=आर्द्रापराध कामी के समान, सः=वह प्रसिद्ध, शाम्भवः शराग्निः=भगवान् शङ्कर की शराग्नि, वः=आप लोगो के, दुरित=पाप को, दहतु=भस्म करे।

अर्थ—जो सजल नेत्र वाली त्रिपुर युवतियों द्वारा झटकने पर हाथ में लग गई, जोर से पीटने पर कपड़ो के छोर को पकड़ने लगी, तिरस्कृत होकर बाल पकड़ने लगी, न देखने पर चरणो पर गिर पड़ी और आलिगन करती हुई तिरस्कृत कर गई, ऐसी आर्द्रापराध कामी की तरह भगवान् शङ्कर की वह प्रसिद्ध शराग्नि आप लोगो के पापों को भस्म करे।

विशेष—त्रिपुरदाह के वर्णन रूप प्रस्तुत पक्ष मे मुख्य रूप से शङ्कर जी के प्रति कवि की भक्ति प्रकट होती है, यद्यपि शङ्कर जी का उत्साह त्रिपुर दाह मे प्रतीत होता है, किन्तु विभाव अनुभाव से परिपुष्ट न हो पाने के कारण वीर रस की स्थिति को प्राप्त नहीं कर सका है। कामी के उपमान से यहाँ श्लेषोपमा के साथ ईर्ष्या विप्रलम्भ रूप शृंगार की प्रतीति अग रूप से होती है तथा करुण रस भी प्रतीत होता है। शृंगार और करुण दोनों परस्पर विरोधी रस हैं, अतः यद्यपि इनका एकत्र वर्णन दोषपूर्ण माना गया है, तथापि प्रस्तुत श्लोक मे दोनो अंग रूप से विद्यमान है, अतः यहाँ इनका विरोध अकिञ्चित्कर है। शृगार सर्वथा सापेक्ष भाव है क्योकि इसका स्थायी भाव 'रति' दूसरे जन के विद्यमान रहने पर ही हो सकती है, इसके विपरीत करुण रस का स्थायी भाव शोक है, उसमे प्रिय के विद्यमान

रहने की अपेक्षा नहीं होती, अत यह निरपेक्ष भाव है, इसलिये दोनों का परस्पर विरोध माना जाता है। यहाँ ये दोनों प्रधान न होकर किसी तीसरे के अंग हैं, इसलिये इनका विरोध एकत्र अवस्थान में भी नहीं है। इस उदाहरण में शृंगार या करुण परिपुष्ट न होने के कारण पूर्ण रस की स्थिति में नहीं हैं, उनका यहाँ व्यवहार गौण है। यहाँ दोनों भाव रूप ही हैं।

इत्यत्र त्रिपुररिपु प्रभावातिशयस्य वाक्यार्थत्वे ईर्ष्या विप्रलम्भस्य श्लेषसहितस्याङ्गभाव इति, एवं विध एव रसवदाद्यलंकारस्य न्याय्यो विषयः। अतएव चेर्ष्याविप्रलम्भ करुणयोरंगत्वेन व्यवस्थानात्समावेशो न दोषः, यत्र हि रसस्य वाक्यार्थीभावस्तत्र कथमलंकारत्वम्? अलंकारो हि चारुत्व हेतुः प्रसिद्धः, न त्वसावात्मैवात्मनश्चारुत्व हेतुः तथाचायमत्र संक्षेपः—

श्रीधरी— इत्यत्र = यहाँ, त्रिपुररिपुप्रभातिशयस्य = शङ्कर जी का अत्यन्त प्रभाव, वाक्यार्थत्वे = वाक्यार्थ है, ईर्ष्याविप्रलम्भस्यश्लेष सहितस्य = श्लेष सहित ईर्ष्या विप्रलम्भ का, अंग भावः = अंग भाव है, इति एवं विध एव = इस प्रकार ही, रसवदाद्यलंकारस्य = रसवदादि अलंकार का, न्याय्यो विषयः = विषय उचित है अतएव च = इसीलिये, ईर्ष्याविप्रलम्भ करुणयोरंगत्वेन = ईर्ष्या, विप्रलम्भ और करुण के अंग रूप से, व्यवस्थानात् = व्यवस्थित होने से, समावेशः न दोषः = समावेश दोषपूर्ण नहीं है, हि = क्योंकि, यत्र रसस्य वाक्यार्थी भाव = जहाँ रस का वाक्यार्थी भाव अर्थात् प्राधान्य है, तत्र = वहाँ, कथमलङ्कारत्वम् = वहाँ अलङ्कारत्व कैसे होगा, हि = क्योंकि, अलंकारः चारुत्व हेतुः प्रसिद्ध = अलंकार चारुत्व के हेतु के रूप में प्रसिद्ध है, तथा च = और, अयमत्र संक्षेपः = इस प्रकार यहाँ संक्षेप है—

अर्थ—यहाँ भगवान् त्रिपुरारि शङ्कर का प्रभावातिशय अङ्गी है और श्लेष सहित ईर्ष्या विप्रलम्भ का अंगभाव है। इस तरह ही रसवत् आदि अलंकार का विषय समीचीन है, इसीलिये ईर्ष्या विप्रलम्भ और करुण के अंग रूप से व्यवस्थित होने के कारण कोई दोष नहीं है क्योंकि जहाँ रस का प्राधान्य है वहाँ कैसे उसका अलंकारत्व होगा? अलंकार चारुत्व के हेतु के रूप में प्रसिद्ध है, वे स्वयं अपने में अपने चारुत्व के हेतु नहीं हैं और इस प्रकार यहाँ संक्षेप है—

रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्।
अलंकृतीनां सर्वासामलंकारत्व साधनम्॥

श्रीधरी— रसभावादि तात्पर्य रस, भाव आदि के तात्पर्य का, आश्रित्य = आश्रयण करके, सर्वासां अलंकृतीनां = सभी अलंकारों का, विनिवेशनम् = रचना, अलंकारत्व साधनम् = उनके अलंकारत्व का साधन है।

अर्थ—रस, भाव आदि के तात्पर्य का आश्रयण करके सभी अलंकारों की रचना उनके अलंकारत्व का साधन है।

तस्माद्यत्र रसादयो वाक्यार्थीभूताः स सर्वो न रसादेरलङ्कारस्य विषयः, स ध्वनेः प्रभेदः, तस्योपमादयोऽलङ्काराः। यत्र तु प्राधान्येनार्थान्तरस्य वाक्यार्थी भावे रसादिभिश्चारुत्वनिष्पत्तिः क्रियते, स रसादेरलंकारताया विषयः।

श्रीधरी— तस्मात्=इसलिये, यत्र=जहाँ, रसादयो वाक्यार्थीभूताः=रसादि वाक्यार्थीभूत हैं, स सर्वो=वह सब, न रसादेरलंकारस्य विषयः=रसादि अलंकार का विषय नहीं है, स ध्वनेः प्रभेदः=प्रत्युत वह ध्वनि का प्रभेद है, तस्य=उसके, उपमादयोऽलङ्काराः=उपमा आदि अलंकार हैं, यत्र तु=और जहाँ, प्राधान्येन=प्रधान-रूप से, अर्थान्तरस्य वाक्यार्थीभावे=अर्थान्तर के वाक्यार्थ हो जाने पर, रसादिभिः=रसादि के द्वारा, चारुत्वनिष्पत्तिः क्रियते=चारुत्व की निष्पत्ति की जाती है, स=वह, रसादेः=रसादि का, अलंकारता या विषयः=अलंकारता का विषय है।

अर्थ—इसलिये जहाँ रसादि वाक्यार्थ है, वह रसादि अलंकार का विषय नहीं है, प्रत्युत वह ध्वनि का प्रभेद है, उसके उपमादि अलंकार है। जहाँ प्रधान रूप से अर्थान्तर के वाक्यार्थ हो जाने पर रसादि के द्वारा चारुत्व की निष्पत्ति की जाती है, वह रसादि की अलंकारता का विषय है।

एवं ध्वनेरुपमादीनां रसवदलङ्कारस्य च विभक्तविषयता भवति। यदि तु चेतनानां वाक्यार्थी भावो रसाद्यलंकारस्य विषय इत्युच्यते तर्ह्युपमादीनां प्रविरलविषयता निर्विषयता वाभिहिता स्यात्। यस्मादचेतनवस्तुवृत्ते वाक्यार्थीभूते पुनश्चेतनवस्तुवृत्तान्तयोजनया यथाकथञ्चिद्भवितव्यम्। अथ सत्यामपि तस्यां यत्राचेतनानां वाक्यार्थीभावो नासौ रसवदलङ्कारस्य विषय इत्युच्यते। तत् महतः काव्यप्रबन्धस्य रसनिधानभूतस्य नीरसत्वमभिहितं स्यात्। यथा—

श्रीधरी—एवं=इस प्रकार, ध्वनेः=ध्वनि का, उपमादीनां=उपमा आदि का, रसवदलंकारस्य च=और रसवत् अलंकारों का, विभक्ता विषयता भवति=भिन्न विषयता सिद्ध होती है, यदि तु चेतनानां वाक्यार्थी भावो=यदि चेतन पदार्थों का वाक्यार्थी भाव, रसाद्यलंकारस्य विषयः=रसादि अलंकार का विषय है, इत्युच्यते=ऐसा कहा जाता है, तर्हि=तब, उपमादीनां=उपमा आदि अलंकारों का, विरलविषयता निर्विषयता वा=क्षीण विषयता या विषयहीनता, अभिहिता स्यात्=रह जायेगी, यस्मात्=क्योंकि अचेतन वस्तुवृत्ते=अचेतन वस्तु वृत्तान्त के, वाक्यार्थीभूते=मुख्य होने पर, पुनः चेतन वस्तुवृत्तान्तयोजनया=फिर वहाँ चेतन वस्तु वृत्तान्त की योजना, यथाकथञ्चिद्भवितव्यम्=किसी प्रकार होनी चाहिए, अथ=अगर, सत्यामपि तस्यां=उस चेतन वृत्तान्त की योजना के होने पर भी, यत्र=जहाँ, अचेतनानां=अचेतन वस्तुओं का, वाक्यार्थीभावः=वाक्यार्थी भाव है, असौ=वह,

रसवदलंकारस्य विषयः न=वह रसवदलंकार का विषय नहीं हो सकता, इत्युच्यते=ऐसा कहा जाता है, तत्=तब, रसविधानं भूतस्य=रस के विधान रूप, महत् काव्यप्रबन्धस्य=काव्य भाग की, नीरसत्वमभिहितं स्यात्=नीरसता अभिहित होती है। यथा=जैसे—

अर्थ—इस प्रकार ध्वनि, उपमा आदि और रसवत् अलंकारों का अलग-अलग विषय सिद्ध होता है, यदि चेतन पदार्थों का वाक्यार्थीभाव रसादि अलंकार का विषय है, यह कहते हैं तो उपमा आदि अलंकारों को बहुत कम विषय मिलेंगे या उनका कोई विषय ही नहीं रह जायेगा, क्योंकि जहाँ अचेतन वस्तु का वृत्तान्त मुख्य वाक्यार्थ है, वहाँ चेतन वस्तु वृत्तान्त योजना कैसे हो सकती है? यदि चेतन वृत्तान्त की योजना के होने पर भी उसका जहाँ वाक्यार्थी भाव है, वह रसवद् अलंकार नहीं हो सकता ऐसा कहते हैं तो बहुत बड़े एवं रस के विधान रूप काव्य भाग की नीरसता अभिहित होती है, जैसे—

तरंग, भ्रूभंगा, क्षुभित विहगश्रेणि रशना,
विकर्षन्ती फेनं वसनमिव संरम्भ शिथिलम्,
यथाविद्धंयाति स्खलितमभिसन्धाय बहुशो,
नदी रूपेणेयं, ध्रुवमसहना सा परिणता॥

श्रीधरी—तरंगभ्रूभंगा=तरंगें ही जिसके सुन्दर कटाक्ष विक्षेप हैं, क्षुभितविहगश्रेणि-रशना=कोलाहल करती हुई पक्षियों की पंक्ति ही जिसकी करधनी है, संरम्भ शिथिलम् वसनमिव=रगड़ से ढीले पड़े हुए वस्त्र की तरह, फेन विकर्षन्ती=फेन को फैलाती हुई, बहुशः=बहुत बार, स्खलितमभिसन्धाय=स्खलन को प्राप्त कर, यथाविद्धं याति=कुटिल चाल से चलती हुई, इयं=यह, ध्रुवं=निश्चय ही, नदी रूपेण=नदी के रूप से, असहना परिणता=(मुझ पर) कुपित हो गई।

अर्थ—तरंगें ही जिसका सुन्दर कटाक्ष विक्षेप है और कोलाहल करती हुई पक्षियों की पंक्ति ही जिसकी रशना है, रगड लगने से ढीले पडे हुए वस्त्र की तरह फेन को फैलाती हुई, बहुत बार स्खलन को प्राप्त करके कुटिल चाल से चलती हुई वह निश्चय ही नदी के रूप में मुझ पर कुपित हो गई है।

यथा वा—

तन्वी मेघजलार्द्रपल्लवतया धौताधरेवाश्रुभिः,
शून्येवाभरणैः स्वकाल विरहाद्विश्रान्त पुष्पोद्गमा।
चिन्तामौनमिवाश्रिता मधुकृतां शब्दैर्विना लक्ष्यते,
चण्डी मामवधूय पादपतितं जातानुतापेव सा॥

श्रीधरी—यथा वा=अथवा जैसे, चण्डी=कोपनशीला, तन्वी सा=वह उर्वशी, पादपतितं=पैरों पर गिरे हुए, मां=मुझको, अवधूय=झटक कर, जातानुता

व=मानो पश्चाताप होने के कारण, मेघजलार्द्रपल्लवतया=मेघ के जल से गीले पल्लव के रूप में, अश्रुभि. धौता धरा=आंसुओं से धुले अधर वाली, स्वकाल विरहाद्विश्रान्तपुष्पोद्गमा=समय बीत जाने पर फूलों का खिलना बन्द हो जाने के रूप में, शून्येवाभरणैः=आभरणों से शून्य की तरह, मधुकृतां शब्दैविना=भौंरों के शब्दों के अभाव के रूप में, चिन्तामौनमिवाश्रिता=चिन्ता के कारण मौन हुई जैसी, लक्ष्यते=प्रतीत होती है।

अर्थ—अथवा जैसे—

कोप करने वाली यह तन्वङ्गी उर्वशी पैरों पर गिरे हुए मुझे झटक कर मानो पश्चाताप के कारण मेघ के जल से गीले पत्ते के रूप में आंसुओं से धुले अधर वाली, अपने समय के बीत जाने पर फूलों का खिलना बन्द हो जाने के रूप में, अपने आभूषणों से रहित की तरह, भौंरों के शब्दों के अभाव के रूप में, चिन्ता के कारण मौन हुई लता जैसी प्रतीत होती है।

यथा वा—

> तेषां गोपवधू विलास सुहृदां राधारहः साक्षिणाम्,
> क्षेमं भद्र कलिन्द शैलतनया तीरे लतावेश्मनाम्,
> विच्छिन्ने स्मरतल्प कल्पन मृदुच्छेदोपयोगेऽधुना,
> ते जाने जरठी भवन्ति विगलन्नीलत्विषः पल्लवाः॥

श्रीधरी—यथा वा=अथवा जैसे:—

भद्र=हे भद्र, गोपावधू विलास सुहृदां=गोपियों के विलास सुहृद, राधारह साक्षिणां=राधा के एकान्त के साक्षी, तेषां=उन, कलिन्द शैलतनयातीरे=यमुना के किनारे, लतावेश्मना=लतागृहों का, क्षेमं=कल्याण तो है, अधुना=अब तो, स्मरतल्प=काम शैय्या के, कल्पन=निर्माण के लिये, छेदोपयोगेविच्छिन्ने=कोमल किसलयों को तोड़ने का प्रयोजन न रहने के कारण, ते पल्लवा=वे पत्ते, विगलन्नीलत्विषः=श्यामल कान्ति से रहित होकर, जरठी भवन्ति=बूढ़े हो जाते होंगे, जाने=ऐसा मैं सोचता हूँ।

अर्थ—अथवा जैसे—

हे भद्र, गोपियों के विलास सुहृद और राधा के एकान्त के साक्षी, उन यमुना तट के लतागृहों की कुशल तो है अथवा अब तो काम शय्या के निर्माण के लिये कोमल किसलयों को तोड़ने का प्रयोजन न रहने के कारण वे पत्ते श्यामल कान्ति से रहित होकर बूढ़े हो जाते होंगे ऐसा मैं सोचता हूँ।

इत्येवमादौ विषयेऽचेतनानां वाक्यार्थी भावेऽपि चेतन वस्तु वृत्तान्त योजनास्त्येव। अथ यत्र चेतन वस्तु वृत्तान्त योजनास्तितत्र रसादिरलंकारः। तदेवं सत्युपमादयोनिर्विषयाः प्रविरल विषया वा स्युः, यस्यास्त्येवासावचेतन वस्तु वृत्तान्तो यत्र चेतन वस्तु वृत्तान्त योजना

नात्यन्ततो विभावत्वेन । तस्मादंगत्वेन च रसादीनामलंकारता । यः पुनरंगी रसोभावो वा सर्वाकारमलङ्कार्यः स ध्वने रात्मेति ।

श्रीधरी—इत्येवमादौ विषये=इत्यादि विषय मे, अचेतनानां=अचेतन पदार्थो के, वाक्यार्थी भावेऽपि=प्रधान होने पर भी, चेतनवस्तुवृत्तान्तयोजनास्त्येव=चेतन वस्तु किंवा पदार्थ योजना है ही, अथ=और, यत्र=जहाँ, चेतनवस्तुवृत्तान्तयोजनास्ति = चेतन वस्तु के वृत्तान्त की योजना है, तत्र = वहाँ, रसादिरलंकारः = रसादि अलंकार है, तदेव सति=ऐसी स्थिति मे, उपमादयो= उपमा आदि अलंकारो का, निर्विषया प्रविरलविषया वा स्युः=निर्विषयता किंवा प्रविरल विषयता हो जायेगी, यस्मात् = क्योकि असौ अचेतन वस्तु वृत्तान्तो नास्त्येव= नहीं, अचेतन वस्तु वा वृत्तान्त नही ही है, यत्र=जहाँ, अन्ततः=अन्ततो गत्वा, विभावत्वेन=विभाव रूप मे, चेतन वस्तुवृत्तान्त योजना नास्ति=चेतन वस्तु की वृत्तान्त योजना नही है, तस्मात्=इसलिये, अगत्वेन=अंग होने से, रसादीना अलंकारता=रसादिको का अलंकारत्व माना गया है, यः पुनः अगी रसो भावो वा=जो फिर अगी रस या भाव है, सर्वाकारमलंकार्यः=वह सब प्रकार अलंकार्य, स ध्वनेरात्मेति=और ध्वनि का आत्मा है ।

अर्थ- इस प्रकार के विषय मे अचेतन पदार्थों के प्रधान होने पर भी चेतन वस्तु किंवा पदार्थ की योजना है ही । जहाँ, चेतन वस्तु के वृत्तान्त की योजना है, ऐसी स्थिति मे उपमा आदि अलकारो का निर्विषयत्व किंवा प्रविरल विषयत्व हो जायेगा क्योकि कोई ऐसा अचेतन वस्तु किंवा वृत्तान्त नही है, जहाँ चेतन वस्तु के वृत्तान्त की योजना नहीं है । अन्ततोगत्वा विभाव रूप में ही सही उसकी योजना बन ही जायेगी, इसलिये अंग होने से रसादि का अलंकारत्व माना गया है । जो फिर अगी रस किंवा भाव है, वह सब प्रकार अलकार्य और ध्वनि का आत्मा है ।

किञ्च—

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः ।
अंगाश्रितास्त्वलंकाराः मन्तव्या कटकादिवत् ॥६॥

ये तमर्थं रसादि लक्षणमङ्गिनं सन्तमवलम्बन्ते ते गुणाः शौर्यादिवत् । वाच्यवाचक लक्षणान्यङ्गानि ये पुनस्तदाश्रितास्तेऽलंकारामन्तव्या कटकादिवत् ।

श्रीधरी—किञ्च=और भी,

ये=जो, तमर्थं=उस अंगी रूप अर्थ का, अवलम्बन्ते=अवलम्बन करते है, ते=वे, गुणाः स्मृताः=गुण कहलाते है, कटकादिवत्=कटक कुण्डलादि की तरह, अंगाश्रिता=अंगो पर आश्रित रहने वाले वो, अलंकाराः मन्तव्या=अलंकार मानना चाहिए, ये=जो, तमर्थं=उस अर्थ को, रसादिलक्षणं अङ्गिनं=रसादि रूप अगी का, सन्ततमवलम्बन्ते=सर्वदा अवलम्बन करते हैं, ते=वे, शौर्यादिवत्=

शौर्य आदि की तरह, गुणा.=गुण है; ये=जो, वाच्यवाचकलक्षणानि=वाच्य वाचक लक्षण रूप, अंगानि अवलम्बन्ते=अंगो पर आश्रित होते है, ते=वे, कटकादिवत्=कटक कुण्डलादि की तरह, अलंकाराः मन्तव्या=अलंकार माने जाने चाहिए।

अर्थ—और भी, जो उस अंगी रूप अर्थ का अवलम्बन करते हैं, वे गुण कहलाते हैं और कटक-कुण्डलादि की तरह अंगो पर आश्रित रहने वालों को अलकार मानना चाहिए।

जो रसादि रूप उस अंगी अर्थ का अवलम्बन करते है, वे शौर्य आदि की तरह गुण है, और जो वाच्य वाचक रूप अंगो पर आश्रित रहते है, उन्हे कटक कुण्डलादि की तरह अलकार माना जाना चाहिए।

तथा च—

शृंगार एव मधुरः परः प्रह्लादनो रस।
तन्मयं काव्यमाश्रित्य माधुर्यं प्रतितिष्ठति ॥७॥

शृंगार एव रसान्तरापेक्षया मधुरः प्रह्लाद हेतुत्वात्। तत्प्रकाशन पर शब्दार्थतया काव्यस्य स माधुर्यं लक्षणोगुणः। श्रव्यत्वं पुनरोजसोऽपि साधारणमिति।

श्रीधरी—तथा च=और भी, शृंगार एव मधुर=शृंगार ही मधुर, परः प्रह्लादनः=अत्यन्त आह्लादकारी, रसः=रस है, तन्मयं काव्यमाश्रित्य=शृङ्गारमय काव्य का आश्रयण करके, माधुर्य प्रतितिष्ठति=माधुर्य प्रतिष्ठित होता है।

शृंगार एव=शृंगार ही, रसान्तरापेक्षया=दूसरे रसो की अपेक्षा, प्रह्लाद-हेतुत्वात्=आह्लादक होने के कारण, मधुर.=मधुर है, तत्प्रकाशन परशब्दार्थतया=शब्द और अर्थ शृंगार-रस के प्रकाशन मे तत्पर होते है। काव्यस्य=काव्य का, स=वह, माधुर्य लक्षणो गुण=माधुर्य रूप गुण है, श्रव्यत्वं=श्रव्यत्व, ओजसोऽपि साधारणम्=ओजस् का भी साधारण गुण है।

अर्थ-शृङ्गार ही मधुर तथा अत्यधिक आह्लादकारी रस है, शृङ्गारमय का आश्रयण करके माधुर्य प्रतिष्ठित होता है, शृंगार ही दूसरे रसों की अपेक्षा आह्लादक होने के कारण मधुर है, शब्द और अर्थ शृगार रस के प्रकाशन में तत्पर होते हैं, अत. शब्दार्थमय काव्य का वह माधुर्य रूप गुण है। श्रव्यत्व ओजस् का भी साधारण लक्षण है।

शृंगारे विप्रलम्भाख्ये करुणे च प्रकर्षवत्।
माधुर्यमार्द्रतां याति यतस्तत्राधिकं मनः ॥८॥

श्रीधरी—विप्रलम्भाख्ये=विप्रलम्भ नामक, शृङ्गारे=सिगार मे, करुणे च=और करुण रस मे, माधुर्य प्रकर्षवत्=माधुर्य उत्कर्षयुक्त होता है। यतः=

क्योंकि तत्र=करुण रस में, मनः=मन, अधिक आर्द्रतां याति=अधिक आर्द्रता को प्राप्त करता है।

अर्थ—विप्रलम्भ नामक शृंगार में और करुण रस में माधुर्य अधिक उत्कर्षाधायक होता है क्योंकि वहाँ मन अधिक आर्द्रता को प्राप्त करता है।

विप्रलम्भ शृंगार करुणयोस्तु माधुर्यमेव प्रकर्षवत्। सहृदयहृदयावर्जनातिशय निमित्तत्वादिति।

श्रीधरी विप्रलम्भशृंगार करुणयोस्तु=विप्रलम्भ शृंगार और करुण रस में, माधुर्यमेव माधुर्य ही, प्रकर्षवत्=उत्कर्षयुक्त होता है, सहृदयहृदयावर्जनातिशय निमित्तत्वात्=सहृदय हृदय को आवर्जित करने का उत्कृष्टनिमित्त होने से।

अर्थ विप्रलम्भ शृङ्गार और करुण रस में माधुर्य ही उत्कर्षयुक्त होता है, क्योंकि वह सहृदय हृदय को आवर्जित करने का उत्कृष्ट निमित्त है।

रौद्रादयो रसा दीप्त्या लक्ष्यन्ते काव्य वर्तिनः।
तद्व्यक्ति हेतू शब्दार्थावाश्रित्यौजो व्यवस्थितम्॥६॥

रौद्रादयो हि रसा परां दीप्तिमुज्ज्वलतां जनयन्तीति लक्षणया त एव दीप्तिरित्युच्यते, तत्प्रकाशन पर शब्दो दीर्घसमास रचनालंकृत वाक्यम्। यथा-

श्रीधरी काव्यवर्तिन=काव्य में रहने वाले, रौद्रादयो रसा=रौद्र आदि रस, दीप्त्यालक्ष्यन्ते=दीप्ति के कारण लक्षित होते हैं, तद्व्यक्ति हेतू=उस दीप्ति के व्यञ्जक, शब्दार्थ=शब्द और अर्थ को, आश्रित्य=आश्रयण करके, ओजो व्यवस्थितम्=ओजस् गुण व्यवस्थित है।

रौद्रादयो हि रसाः=रौद्र आदि रस, परां दीप्तिमुज्ज्वलता=अत्यन्त दीप्ति या उज्ज्वलता को, जनयन्ति=उत्पन्न करते हैं, इति=इसलिये, लक्षणया=लक्षणा से, त एव=उन्हें ही, दीप्तिरित्युच्यते=दीप्ति कहा जाता है, तत्प्रकाशन परः शब्दो=उसका प्रकाशन करने वाला शब्द, दीर्घसमासलंकृतं=दीर्घसमास की रचना से अलंकृत, वाक्यम्=वाक्य है, यथा=जैसे—

अर्थ—काव्य में रहने वाले रौद्र आदि रस दीप्ति के कारण लक्षित होते हैं, उस दीप्ति के व्यंजक शब्द और अर्थ का आश्रयण करके ओजस् गुण व्यवस्थित रहता है। रौद्र आदि रस अत्यन्त दीप्ति किंवा उज्ज्वलता को उत्पन्न करते हैं, इसीलिये लक्षणा से उन्हें ही दीप्ति कहा जाता है, उसका प्रकाशन करने वाला शब्द दीर्घ समास की रचना से अलंकृत वाक्य है, जैसे —

चञ्चद्भुज भ्रमित चण्डगदाभिघात-
सञ्चूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य।
स्त्यानावबद्धघनशोणित शोण पाणि-
रुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः॥

श्रीधरी—हे देवि=द्रौपदी, चञ्चद्भुजभ्रमित चण्डगदाभिघात - आवर्तन करती हुई दोनों भुजाओं से घुमाई हुई, प्रचण्ड गदा के प्रहार से, सञ्चूर्णितोरुयुगलस्य=अच्छी तरह चूर्णित उरु युगल वाले, सुयोधनस्य=दुर्योधन के, स्त्यानावबद्धघनशोणितशोणपाणि=निकल कर जमे हुए गाढे खून से लाल हाथों वाला, भीम=भीमसेन, तव=तुम्हारे, कचान्=बालों को, उत्तंसयिष्यति=सवारेगा।

अर्थ—हे देवि द्रौपदी, आवर्तन करती हुई दोनो भुजाओं से घुमाई हुई भयंकर गदा के प्रहार से चूर्णित उरुयुगल वाले दुर्योधन के निकल कर जमे हुए गाढ़े खून से लाल हाथों वाला भीमसेन तेरे बालों को सवारेगा।

तत्प्रकाशनपरश्चार्थोऽनपेक्षितदीर्घसमास रचनः प्रसन्न वाचकाभिधेयः। यथा—

यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमदः पाण्डवीनां चमूनां,
यो यः पाञ्चालगोत्रे शिशुरधिकवया गर्भशय्यां गतो वा।
यो यस्तत्कर्म साक्षी चरतिमयिरणे यश्च यश्च प्रतीपः,
क्रोधान्धस्तस्य तस्य स्वयमपि जगतामन्तकस्यान्तकोऽहम्।

श्रीधरी—तत्प्रकाशनपरः=उस ओज का प्रकाशक, अनपेक्षितदीर्घ समास रचनः=दीर्घ समास की अपेक्षा न करने वाला, प्रसन्नवाचकाभिधेय अर्थः=प्रसाद युक्त वाचकों द्वारा अभिहित अर्थ है, यथा=जैसे—

पाण्डवीनाचमूना=पाण्डवी सेनाओं मे, स्वभुज गुरुमदः अपनी भुजाओं पर अधिक गर्व करने वाला, यः य शस्त्रं बिभर्ति=जो-जो व्यक्ति शस्त्रों को धारण करता है, पाञ्चाल गोत्रे=पाञ्चाल के (धृष्टद्युम्न) गोत्र मे, यः यः=जो जो, शिशु, रधिकवया=छोटा-बडा, वा=अथवा, गर्भशय्या गतः=गर्भ मे पडा है, यः यः स्तत्कर्म साक्षी=जो-जो उस द्रोण वध रूप कर्म के साक्षी हैं, यश्च यश्च=जो जो, मयि रणे चरति=मेरे युद्ध भूमि मे विचरण करते समय, प्रतीपः=विरोधी होगा, तस्य-तस्य=उस-उसका, क्रोधान्धः अहम्=क्रोध से अन्धा मैं, अन्तकः=अन्त कर डालूगा, स्वयमपि जगता अन्तकः=चाहे वह ससार को नष्ट करने वाला यमराज ही क्यों न हो।

अर्थ—उस ओज का प्रकाशक दीर्घ समास की अपेक्षा न करने वाला प्रसाद युक्त वाचकों से अभिहित अर्थ है, जैसे—

पाण्डवी सेनाओं मे अपनी भुजाओं पर अधिक गर्व करने वाला जो-जो व्यक्ति शस्त्र धारण करता है, पाञ्चाल के गोत्र मे जो-जो बडा छोटा या गर्भ शैया मे पड़ा है तथा जो-जो उस द्रोण वध रूप कर्म के साक्षी है, जो-जो मेरे युद्ध भूमि मे विचरण करते समय विरोधी होगा, उस-उसका क्रोध मे अन्धा मैं अन्त कर डालूगा, चाहे वह सारे ससार का अन्त करने वाला स्वयं यमराज ही क्यों न हो।

इत्यादौ द्वयोरोजस्त्वम्

समर्पकत्वं काव्यस्य यत्तु सर्वरसान् प्रति ।
स प्रसादो गुणोज्ञेयः सर्वसाधारण क्रियः ॥१०॥

प्रसादस्तु स्वच्छता शब्दार्थयोः । स च सर्वरस साधारणो गुण. सर्व-रचना साधारणश्च व्यंग्यार्थापेक्षयैव मुख्यतया व्यवस्थितो मन्तव्यः ।

श्रीधरी—इत्यादौ = इत्यादि उदाहरणों में, द्वयो = दोनों शब्द और अर्थ, ओजस्त्वम् = ओजस् गुण से युक्त है ।

काव्यस्य = काव्य का, सर्वरसान् प्रति = सब रसों के प्रति, यत्तु समर्पकत्व = जो समर्पकत्व है, सर्वसाधारणक्रिय = सभी रसों और रचनाओं में सामान्य रूप से अवस्थित रहने वाले को, स प्रसादो गुणो ज्ञेय. = प्रसाद गुण समझना चाहिए ।

प्रसादस्तु = प्रसाद गुण तो, शब्दार्थयोः स्वच्छता = शब्द और अर्थ की स्वच्छता है, स च = और वह, सर्वरस साधारणो गुणः = सभी रसों में सामान्यतया रहने वाला गुण, सर्वरचना साधारणश्च = सब रचनाओं में सामान्यतया रहने वाला गुण है, व्यंग्यार्थापेक्षया एव = व्यंग्यार्थ की अपेक्षा से ही, मुख्यतया व्यवस्थितोमन्तव्य = मुख्य रूप से उसके समर्पक रूप में रहने वाला समझना चाहिए ।

अर्थ—इत्यादि उदाहरणों में शब्द अर्थ दोनों ही ओजस् गुण से युक्त है ।

काव्य का सब रसों के प्रति जो समर्पकत्व है, सभी रसों और रचनाओं में सामान्यतया रहने वाले उसे प्रसाद गुण समझना चाहिए । प्रसाद शब्द और अर्थ की स्वच्छता है, वह सभी रसों और रचनाओं में सामान्य रूप से रहने वाला है, उसे मुख्य रूप से व्यंग्य अर्थ के समर्पक रूप में ही समझना चाहिए ।

श्रुतिदुष्टादयो दोषा अनित्या ये च दर्शिताः ।
ध्वन्यात्मन्येव शृंगारे ते हेया इत्युदाहृताः ॥११॥

अनित्या दोषाश्च ये.

न च व्यंग्ये शृंगार व्यतिरेकि

ध्वन्यात्मन्येव शृंगारेऽङ्गितया व्यंग्ये ते हेया इत्युदाहृताः । अन्यथा हि तेषामनित्य दोषतैव न स्यात् । एवमयमसंलक्ष्यक्रमद्योतोध्वनेरात्मा प्रदर्शितः सामान्येन ।

श्रीधरी—ये श्रुतिदुष्टादयो = जो श्रुति दुष्ट आदि, अनित्या दोषा = अनित्य दोष, दर्शिताः = दिखाये गये है, ते = वे, ध्वन्यात्मन्येव शृङ्गारे = ध्वनिरूप शृंगार में ही, हेया इत्युदाहृताः = त्याज्य कहे गये है ।

अनित्या दोषाश्च = अनित्य दोष, ये श्रुतिदुष्टादय = श्रुतिदुष्ट आदि, सूचिताः = सूचित किये गये हैं, तेऽपि = वे भी, न वाच्ये अर्थमात्रे = न अर्थमात्र वाच्य मे, न च शृंगार व्यतिरेकिणि व्यंग्ये = और न शृंगार रहित व्यंग्य में, वा = अथवा, ध्वनेरनात्मभूते शृङ्गारे = न ध्वनि के अनात्मभूत शृङ्गार मे होते है, किं तर्हि ? ।

तब क्या होते है ? अंगितया = अंगी रूप से, व्यंग्ये = व्यंग्य में, ध्वन्यात्मन्येव शृंगारे = ध्वन्यात्मा शृंगार में ही, ते = वे, हेया इत्युदाहृता = त्याज्य कहे गये है, अन्यथा = नही तो, तेषां = उनका, 'अनित्य दोषत्वं न स्यात् = अनित्य दोषत्व ही नही होगा, एवं = इस प्रकार, सामान्येन = सामान्य रूप से, अयं = यह, असलक्ष्य क्रमोद्योतो = असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य रूप, ध्वनेः आत्मा प्रदर्शित = ध्वनि की आत्मा बताई गई है।

अर्थ—जो श्रुतिकटु आदि अनित्य दोष दिखाये गये हैं, वे ध्वनि रूप शृंगार में ही त्याज्य माने जाते है।

अनित्य दोष जो श्रुतिकटु आदि सूचित किये गये है, वे भी न अर्थमात्र वाच्य में, और न शृंगाररहित व्यंग्य में, अथवा न ध्वनि के अनात्मभूत शृंगार में होते है, तब क्या होते है ? अंगी रूप व्यग्य ध्वन्यात्मा शृङ्गार मे ही वे त्याज्य कहे गये है, ऐसा न माना जाय तो उनका अनित्य दोष ही नही बनेगा। इस तरह सामान्य रूप से यह असलक्ष्य क्रम व्यंग्य रूप ध्वनि की आत्मा बताई गई है।

तस्यांगानां प्रभेदा ये प्रभेदा स्वगताश्च ये।

तेषामानन्त्यमन्योन्य सम्बन्ध परिकल्पने ॥१२॥

अंगितया व्यंग्यो रसादिर्विवक्षितान्य पर वाच्यस्य ध्वनेरेक आत्मा य उक्तस्तस्यांगानां वाच्यवाचकानुपातिनामलंकाराणां ये प्रभेदा निरवधयो ये च स्वगतास्तस्यांगिनोऽर्थस्य रसभाव तदाभासतत्प्रशम लक्षणा विभावानुभावव्यभिचारी प्रतिपादन सहिता अनन्ताः स्वाश्रयापेक्षया नि सीमानो विशेषास्तेषामन्योन्य सम्बन्ध परिकल्पने क्रियमाणे कस्यचिदन्यतमस्यापि रसस्यप्रकाराः परिसंख्यातु न शक्यन्ते किमुत सर्वेषाम्। तथाहि शृंगारस्यांगिनस्तावदाद्यौ द्वौ भेदौ—सम्भोगो विप्रलम्भश्च, सम्भोगस्य च परस्पर प्रेम दर्शन सुरतविहरणादि लक्षणाः प्रकाराः। विप्रलम्भस्याप्यभिलाषेर्ष्या विरह प्रवास विप्रलम्भादयः। तेषां च प्रत्येकं विभावानुभावव्यभिचारि भेदः। तेषां च देशकालाद्याश्रयावस्थाभेद इति स्वगत भेदा पेक्षयैकस्य तस्या परिमेयत्वम्, किं पुनरंग प्रभेद कल्पनायाम्। ते ह्यंग प्रभेदाः प्रत्येकं मंगिप्रभेदसम्बन्ध परिकल्पने क्रियमाणे सत्यानन्त्यमेवोपयान्ति।

श्रीधरी—तस्याङ्गानां = उसके अंगो के, ये प्रभेदाः = जो प्रभेद है, ये स्वगताश्च प्रभेदा = जो स्वगत प्रभेद है, अन्योन्य सम्बन्ध परिकल्पने = परस्पर सम्बन्ध की परिकल्पना करने पर, तेषां = उनका, आनन्त्यम् = आनन्त्य हो जायेगा, अर्थात् वे अनन्त हो जायँगे।

अंगितया = अंगी होने से, व्यंग्यो = जो व्यंग्य, रसादि विवक्षितान्यपरवाच्यस्य = रसादिपरवाच्य, ध्वनेः = ध्वनि का, एक आत्मा उक्तः = एक आत्मा कहा गया है, तस्यांगानां = उसके अंग, वाच्यवाचकानुपातिनामलंकाराणां = वाच्यवाचक के

कारण होने वाले अलकारो के, ये प्रभेदा निरवधय = जो अनन्त प्रभेद है, ये च स्वगता = और जो स्वगत प्रभेद है, तस्याङ्गिनोऽर्थस्य = उस अंगीरूप अर्थ के, रसभावतदाभासतत्प्रशम लक्षणा - रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावप्रशम रूप, विभावानुभावव्यभिचारिप्रतिपादन सहिता = विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी के प्रतिपादन के साथ, अनन्ता = अनन्त, स्वाश्रयापेक्षया = अपने आश्रय की अपेक्षा, निःसीमानो विशेषा: = निःसीम विशेष है, तेषामन्योन्य सम्बन्ध परिकल्पने = उनके परस्पर सम्बन्ध की कल्पना करने पर, कस्यचिदन्यतमस्यापि = किसी एक भी रस के, प्रकारा: = प्रकार, परिसंख्यातु न शक्यन्ते = गिनाये नही जा सकते, किमुत सर्वेषाम् = सबकी, तो बात ही क्या है, तथाहि = जैसा कि, अंगिन· शृंगारस्य = अगी शृङ्गार के, आद्यौ द्वौ भेदौ = पहले दो भेद है, सम्भोगो विप्रलम्भश्च = सम्भोग और विप्रलम्भ, सम्भोगस्य च = सम्भोग के भी, परस्परप्रेमदर्शन = परस्पर प्रेम से देखना, सुरत = रति, विहरणादिलक्षणा = विहार रूप, प्रकारा: = प्रकार हैं, विप्रलम्भस्यापि = विप्रलम्भ के भी, अभिलाषेर्ष्या विरहप्रवास = अभिलाष, ईर्ष्या, विरह, प्रवास, विप्रलम्भादय: = विप्रलम्भ आदि प्रकार है, तेषा च = उनमे भी, विभावानुभाव व्यभिचारी = विभाव, अनुभाव और व्यभिचारि के भेद से, प्रत्येक भेद = प्रत्येक का अलग-अलग भेद है, तेषां च = उनका भी, देशकालाद्याश्रयावस्था-भेद इति = देश, काल, आदि आश्रय एव अवस्था के अनुसार भेद हैं, इति = इस प्रकार, स्वगत भेदापेक्षया = स्वगत भेद की अपेक्षा से ही, तस्य एकस्य अपरिमेय-त्वम् = उसका एक भेद ही अपरमित हो जाता है, कि पुनः अग प्रभेद कल्पनायाम् = अगों के भेद की कल्पना की तो बात ही क्या, तेह्यङ्ग प्रभेदा:=अगों के वे प्रभेद, प्रत्येक = अलग-अलग, अंगिप्रभेद सम्बन्ध परिकल्पने क्रियमाणे = अगी के प्रभेदो के सम्बन्ध की कल्पना की जाने पर, आनन्त्यमेवोपयान्ति = अनन्त ही हो जाते हैं।

अर्थ उसके अगो के जो प्रभेद है और जो स्वगत प्रभेद है, उनके परस्पर सम्बन्ध की परिकल्पना करने पर उनका आनन्त्य हो जायेगा।

अंगी होने के कारण व्यग्य जो रसादि विवक्षितान्य परवाच्य ध्वनि का एक आत्मा कहा गया है, उसके वाच्य वाचक के कारण होने वाले अगों के जो अनन्त प्रभेद हैं, और जो स्वगत प्रभेद है, उस अगी रूप अर्थ के रस, भाव, रसाभास भावाभास, भाव प्रशम रूप, विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव के प्रतिपादन के साथ अनन्त अपने आश्रय की अपेक्षा निःसीम विशेष हैं, उनके परस्पर सम्बन्ध की कल्पना करने पर किसी एक भी रस के प्रकार गिनाये नही जा सकते, सबकी तो बात ही क्या है ? जैसे कि अगी शृंगार के प्रथम दो भेद होते हैं —

(१) सम्भोग शृंगार।

(२) विप्रलम्भ शृंगार।

सम्भोग के परस्पर प्रेम से दर्शन, रति, विहरण रूप आदि अनेक प्रकार हैं। विप्रलम्भ शृंगार के भी अभिलाष, ईर्ष्या, विरह, प्रवास आदि अनेक प्रभेद हैं।

विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी के अनुसार उसका अलग-अलग भेद है। उनका भी देश, काल आदि आश्रय एवं अवस्था के अनुसार भेद है। इस प्रकार स्वगत भेद की अपेक्षा यह एक भेद ही उसका अपरिमेय हो जाता है, फिर अंगी के प्रभेद की कल्पना ही कैसे की जा सकती है? अंगी के वे प्रभेद अलग-अलग अंगी की कल्पना की जाने पर अनन्तता को ही प्राप्त करते है।

दिङ्मात्रं तूच्यते येन व्युत्पन्नानां सचेतसाम्।
बुद्धिरासादितालोका सर्वत्रैव भविष्यति ॥१॥

दिङ्मात्रकथनेन हि व्युत्पन्नानां सहृदयानामेकत्रापि रसभेदे सहालङ्कारैरङ्गाङ्गिभाव परिज्ञानादासादितालोका बुद्धिः सर्वत्रैव भविष्यति।

श्रीधरी—दिङ्मात्रं तु उच्यते = केवल दिङ्मात्र कहते है, येन जिससे, व्युत्पन्नानां सचेतसाम् = व्युत्पन्न सचेतस् लोगों की, बुद्धिः = बुद्धि, सर्वत्रैवरमादिना लोका = सर्वत्र प्राप्तालोक, भविष्यति = हो जायेगी।

दिङ्मात्र कथनेन हि = दिङ्मात्र कह देने से, व्युत्पन्नानां सहृदययाना = व्युत्पन्न सहृदय जनों की बुद्धि, एकत्रापि = एक भी, रसभेदे अलंकारैं सह = रस भेद मे अलंकारो के साथ, अगाङ्गिभाव परिज्ञानात् = अङ्गाङ्गि भाव के परिज्ञान से, सर्वत्रैव = सर्वत्र ही, बुद्धिरासादिता लोका भविष्यति = प्राप्तालोक हो जायेगी।

तत्र

शृंगारस्याङ्गिनो यत्नादेक रूपानुबन्धवान्।
सर्वेष्वेव हि प्रभेदेषु नानुप्रास प्रकाशकः ॥१४॥

अंगिनो हि शृंगारस्य ये उक्ता प्रभेदास्तेषु सर्वेष्वेक प्रकारानुबन्धितया प्रबन्धेन प्रवृत्तोऽनुप्रासो न व्यञ्जकः अंगिन इत्यनेनांगभूतस्य शृंगारस्यैक रूपानुबन्ध्यनुप्रासनिबन्धने कामचारमाह।

श्रीधरी—तत्र = वहाँ, अंगिनो शृंगारस्य = अंगी शृंगार के, सर्वेष्वेव प्रभेदेषु = सभी प्रभेदों में, यत्नात् = यत्नपूर्वक, एकरूपानुबन्धवान् = एक प्रकार के अनुबन्ध वाला, अनुप्रासः = अनुप्रास, न प्रकाशक = प्रकाशक नहीं होता।

अंगिनो हि शृंगारस्य = अंगी शृंगार के, ये प्रभेदाः उक्ताः = जो प्रभेद कहे गये है, तेषु सर्वेषु = उन सभी मे, एकप्रकारानुबन्धितया = एक प्रकार के अनुबन्धी रूप से, प्रबन्धेन प्रवृत्त अनुप्रास = प्रवृत्त अनुप्रास, न व्यञ्जकः = व्यञ्जक नहीं होता। अंगिन इत्यनेन = अगी इससे, अगभूतस्य शृंगारस्य = अंगभूत शृंगार के, एकरूपानुबन्ध्य = एक प्रकार के अनुबन्ध वाले, अनुप्रास निबन्धने = अनुप्रास के निबन्धन मे, कामचारमाह = स्वेच्छाचार कहा है।

अर्थ—वहाँ, अंगी शृंगार के सभी प्रभेदो मे यत्नपूर्वक एक प्रकार के अनुबन्ध वाला अनुप्रास प्रकाशक नहीं होता।

अंगी शृंगार के जो प्रभेद कहे गये हैं उन सभी में एक प्रकार के अनुबन्धी रूप से प्रवृत्त अनुप्रास व्यञ्जक नहीं होता। 'अंगी' इससे अंगभूत शृंगार एक प्रकार के अनुबन्ध वाले अनुप्रास के निबन्धन में स्वेच्छाचार कहा है।

ध्वन्यात्मभूते शृंगारे यमकादि निबन्धनम्।
शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषत ॥

ध्वनेरात्मभूत शृंगारस्तात्पर्येण वाच्यवाचकाभ्यां प्रकाश्यमानस्तस्मिन्यमकादीनां यमक प्रकाराणां निबन्धनं दुष्कर शब्दभंग श्लेषादीनां शक्तावपि प्रमादित्वम्। 'प्रमादित्व' मित्यनेनैतद्दर्श्यते—काकतालीयेन कदाचित्कस्यचिदेकस्य यमकादेर्निष्पत्तावपि भूम्नालङ्कारान्तरवद्रसाङ्गत्वेन निबन्धनो न कर्तव्य इति। 'विप्रलम्भे विशेषत' इत्यनेन विप्रलम्भे सौकुमार्यातिशय ख्याप्यते। तस्मिन्द्योत्येयमकादेरंगस्य निबन्धो नियमान्न कर्तव्य इति। अत्र युक्तिरभिधीयते—

श्रीधरी ध्वन्यात्मभूते शृंगारे=ध्वनि के आत्मभूत शृंगार में, यमकादि निबन्धनम्=यमक आदि का निबन्धन, शक्तावपि=शक्ति होने पर भी, प्रमादित्वं=प्रमादित्व का सूचक है, विशेषत:=विशेष रूप से, विप्रलम्भे=विप्रलम्भ में।

ध्वनेरात्मभूत शृंगार=ध्वनि का आत्मभूत शृंगार, तात्पर्येण=तात्पर्य रूप से, वाच्यवाचकाभ्यां प्रकाश्यमान=शब्द और अर्थ द्वारा प्रकाशित होता है, तस्मिन्=उसमें, यमकादीनां=यमक आदि, यमकप्रकाराणां निबन्धनं=यमक के भेदों का निबन्धन, दुष्कर=कठिन, शब्दभंगश्लेषादीनां=शब्द भंग श्लेष आदि की, शक्तावपि=शक्ति होने पर भी, प्रमादित्वं का सूचक है।

प्रमादित्वमित्यनेन=प्रमादित्व से, एतद्दर्श्यते=यह दिखाते हैं, काकतालीयेन=काकतालीय न्याय से, कदाचित्=कभी, कस्यचिदेकस्य=किसी एक, यमकादेर्निष्पत्तावपि=निष्पत्ति हो जाने पर भी, भूम्ना=बाहुल्य से, अलङ्कारान्तरवद्रसाङ्गत्वेन=दूसरे अलंकारों की तरह, साङ्गत्वेन=रस के अंग रूप से, निबन्धो न कर्तव्य इति=निबन्धन नहीं करना चाहिये, विशेषत:=विशेष रूप से, विप्रलम्भे=विप्रलम्भ शृंगार में, इत्यनेन=इस कथन से, विप्रलम्भे=विप्रलम्भ में, सौकुमार्यातिशय:=अत्यन्त सौकुमार्य, ख्याप्यते=व्यक्त किया गया है, तस्मिन्द्योत्ये=उस विप्रलम्भ का द्योतन करने पर, यमकादेरङ्गस्य=यमक आदि अंग का, निबन्ध:=निबन्धन, नियमात्=नियम से, न कर्तव्य:=नहीं करना चाहिए।

अर्थ—ध्वनि के आत्मभूत शृंगार में यमक आदि का निबन्धन शक्ति होने पर भी प्रमादित्व का सूचक है, विशेष रूप से विप्रलम्भ शृंगार में।

ध्वनि का आत्मभूत शृंगार तात्पर्य रूप से शब्द और अर्थ द्वारा प्रकाशित होता है, उसमें यमक आदि यमक के प्रकारों का निबन्धन, दुष्कर शब्द-भंग श्लेष आदि की शक्ति होने पर भी प्रमादित्व का सूचक है। प्रमादित्व से यह दिखाते हैं

कि काकतालीय न्याय से कभी किसी यमक आदि की निष्पत्ति हो जाने पर भी बाहुलयता के साथ दूसरे अलंकारों की तरह रस के अंग रूप से निबन्धन नहीं करना चाहिये। विशेष रूप से- विप्रलम्भ में इस कथन से विप्रलम्भ में सौकुमार्यातिशय व्यक्त किया गया है। जब विप्रलम्भ शृंगार का द्योतन किया जाए, तब यमक आदि अंग का निबन्धन नियमतः नहीं करना चाहिए। यहाँ युक्ति देते हैं—

रसाक्षिप्ततया तस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः ॥१६॥

निष्पत्तावाश्चर्य भूतोऽपि यस्यालंकारस्य रसाक्षिप्त तयैव बन्धः शक्य क्रियोभवेत्सो ऽस्मिन्नलक्ष्यक्रम व्यंग्ये ध्वनावलंकारो मतः। तस्यैव रसांगत्वं मुख्यमित्यर्थः। यथा—

श्रीधरी— ध्वनौ=ध्वनि में, स अलकारो मतः=वह अलकार माना गया है, यस्य बन्धः=जिसका प्रयोग, रसाक्षिप्ततया भवेत्=रसाक्षिप्त रूप में हो सके, अपृथग्यत्न निर्वर्त्यः=जो विना किसी भिन्न प्रयत्न के, शक्यक्रियः भवेत्=प्राप्त हो जाय।

निष्पत्तावाश्चर्यभूतोऽपि=निष्पत्ति में आश्चर्यभूत होने पर भी, यस्यालंकारस्य=जिस अलंकार का, रसाक्षिप्ततयैवबन्धः=रसाक्षिप्त रूप से ही निबन्धन, शक्य क्रियो भवेत्=किया जा सके, स अस्मिन्नलक्ष्यक्रमव्यंग्ये ध्वनौ=इस अलक्ष्यक्रम ध्वनि में, अलंकारो मत.=अलकार माना गया है, तस्यैव रसांगत्वं मुख्यमित्यर्थः= उसी का रसांगत्व मुख्य है, यह तात्पर्य है, यथा जैसे—

अर्थ— ध्वनि में वह अलकार माना गया है, जिसका प्रयोग रसाक्षिप्त रूप मे किया जा सके तथा जो किसी अलग प्रयत्न के प्राप्त हो जाय।

निष्पत्ति में आश्चर्यभूत होने पर भी जिस अलकार का निबन्धन रसाक्षिप्त रूप से ही किया जा सके, वह इस अलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि में अलंकार माना गया है। उसी का प्राधान्य है, यह तात्पर्य है। जैसे—

कपोले पत्राली करतल निरोधेन मृदिता,
निपीतो निःश्वासैरयममृतहृद्योऽधर रसः।
मुहुः कण्ठे लग्नस्तरलयति बाष्पस्तनतटी,
प्रियो मन्युर्जातस्तव निरनुरोधे न तु वयम् ॥

श्रीधरी—कपोले पत्राली=गालों पर बनी पत्रावली का, करतल- निरोधेन मृदिता=हाथ की रगड़ में मसल दिया है, नि श्वासैः=निश्वासों ने, अयममृतहृद्योऽधररसः=यह (तुम्हारा) अमृत के समान मधुर अधर रस, निपीत.=पी डाला है, कण्ठे लग्न.=कण्ठ का आलिङ्गन करते हुए, बाष्पः=आसू, स्तनतटीं मुहुः तरलयति= तुम्हारे स्तनों को कम्पित कर रहे है, निरनुरोधे=अरी निर्दय, मन्यु=क्रोध, तव प्रिय जात=तुम्हारा प्रिय हो गया है, न तु वयम्=हम नहीं।

अर्थ—गाल मे बनी पत्रावली को हाथ की रगड मे मसल दिया है, तुम्हारे निःश्वासों ने अमृत के समान मधुर अधर-रस को पी लिया है, तेरे कण्ठ का आलिंगन करते हुए आसुओ ने तेरे स्तनों को कम्पित कर दिया है, अरी निर्दय, तुम्हारा प्रिय तो शत्रु हो गया है, हम नही।

रसांगत्वे च तस्य लक्षणमपृथग्यत्न निर्वर्त्यत्व मिति यो रसं बन्धु मध्यवसितस्यकवेरलंकारस्तां वासनामत्यूह्य यत्नान्तरमास्थितस्य निष्पद्यते स न रसांगमिति। यमके च प्रबन्धेन बुद्धिपूर्वकं क्रियमाणे नियमेनैव यत्नान्तर परिग्रहआपतति शब्दविशेषान्वेषण रूपः। अलंकारान्तरेष्वपि तत्तुल्यमिति चेत्—नैवम्, अलंकारान्तराणि हि निरूप्यमाण दुर्घटनान्यपि-रससमाहितचेतसः प्रतिभानवतः कवेरह म्पूर्विकया परापतन्ति। यथा कादम्बर्याकादम्बरी दर्शनावसरे। यथा च मायारामशिरोदर्शनेन विह्वलायां सीतादेव्यांसेतौ। युक्तं चैतत्, यतोरसा वाच्य विशेषैरेवाक्षेप्तव्याः। तत्प्रतिपादकैश्च शब्दैस्तत्प्रकाशिनो वाच्य विशेषा एव रूपकादयोऽलंकाराः। तस्मान्नतेषां बहिरंगत्वं रसाभिव्यक्तौ। यमक दुष्करमार्गेषु तु तत्स्थितमेव। यत्तुरसवन्ति कानिचिद्यमकादीनि दृश्यन्ते, तत्र रसादीनामंगता यमकादीनांत्वंगितैव। रसाभासेचांगत्वमप्यविरुद्धम्। अंगितया तु व्यंग्येरसे नांगत्वम् पृथक्प्रयत्न निर्वर्त्यत्वाद्यमकादेः। अस्यैवार्थस्य संग्रहश्लोकाः—

श्रीधरी तस्य = उसका, रसाङ्गत्वे च = रस के अग होने मे, अपृथग्यत्न-निर्वर्त्यत्वं इति लक्षणम् = अपृथग्यत्न निर्वर्त्यत्व लक्षण है, इति = इस प्रकार, य = जो, रस बन्धुमध्यवसितस्य कवे = रस का निबन्धन करने के लिये प्रयत्नशील कवि की, ता वासना = उस वासना का, अत्यूह्य = अतिक्रमण करके, यत्नान्तरमास्थितस्य = अतिरिक्त प्रयत्न करने पर, निष्पद्यते = निष्पन्न होता है, स न रसाङ्गम् = वह रस का अंग नही है, बुद्धिपूर्वकं प्रबन्धेन = बुद्धिपूर्वक प्रबन्ध से, यमके क्रियमाणे = यमक के किये जाने पर, नियमेन = नियम से, यत्नान्तर परिग्रहः = यत्नान्तर का ग्रहण, शब्द विशेषान्वेषण रूपः आपतति = विशेष शब्द के अन्वेषण रूप मे करना पडता है, अलंकारान्तरेष्वपि = अन्य अलंकारों में भी, तत्तुल्यमितिचेत् नैवम् = वह बराबर है, यह कहना उचित नही है, हि = क्योंकि, अलंकारान्तराणि = अन्य अलकार, निरूप्यमाण = निरूपण की स्थिति मे, दुर्घटनान्यपि = दुर्घटना होने पर भी रससमाहित चेतसः = रस मे समाहित चित्त वाले, प्रतिभानवत = प्रतिभाशाली, कवे = कवि के पास, अहम्पूर्विकया परायतन्ति = अहमह करके दौड पड़ते है, यथा जैसे, कादम्बर्यां = कादम्बरी मे, कादम्बरी दर्शना-वसरे = कादम्बरी को देखने के समय, यथा च = और जैसे, सेतौ = सेतुबन्ध महाकाव्य मे, माया राम शिरोदर्शनेन = माया से बने हुए राम का सिर देखकर, विह्वलायां सीतादेव्याम् = सीता देवी के विह्वल होने पर, युक्त चैतत् = यह ठीक है, यतः = क्योंकि, रसाः = रस, वाच्यविशेषैरेवाक्षेप्तव्याः = वाच्यविशेष के द्वारा

ही आक्षिप्त होने चाहिए, तत् = उस वाच्य विशेष के प्रतिपादकैश्च शब्दैः = प्रतिपादक शब्दों से, तत्प्रकाशिनः – उनको प्रकाशित करने वाले, रूपकादयोऽलंकाराः = रूपक आदि अलंकार, वाच्य विशेषा एव = वाच्यविशेष ही है, तस्मात् = इसलिये, रसाभिव्यक्तौ = रस की अभिव्यक्ति में, न तेषां बहिरंगत्वम् = उनकी बहिरंगता नहीं है, यमकदुष्कर मार्गेषु तु = यमक और दुष्कर के मार्गों में तो, न तत्स्थितमेव = ऐसी बात नहीं है, यत्तु = जो कानिचित् = कुछ, यमकादीनि = यमक आदि, रसवन्ति दृश्यन्ते = रसयुक्त दिखाई देते है, तत्र = वहाँ, रसादीनां अंगता = रस आदि अंग है, यमकादीनां तु अंगिता एव = यमक आदि का तो अंगित्व ही है, रसाभास च = रसाभास में, अंगत्वमपि अविरुद्धम् = अंगत्व भी विरुद्ध नहीं है, अंगितया तु = अंगीरूप में, रसेव्यंग्ये = रस के व्यंग्य होने पर, यमकादेः = यमक आदि अलंकारों का, अंगत्वं न = अंगत्व नहीं है, पृथक्प्रयत्न निर्वर्त्यत्वात् = क्योंकि वे पृथक्यत्न निर्वर्त्य होते है। अस्यैवार्थस्य = इसी सम्बन्ध के, संग्रह श्लोकाः = ये संग्रह श्लोक है—

अर्थ—रस के अंग होने में अपृथक्यत्न निर्वर्त्यत्व ही उस अलंकार का लक्षण है। इस प्रकार जो कवि रस के निबन्धनार्थ प्रयत्नशील कवि की वासना को अतिक्रमण करके उसके अतिरिक्त यत्न करने पर निष्पन्न होता है, वह रस का अंग नहीं है। बुद्धिपूर्वक प्रबन्ध में यमक के लिये जाने पर नियमतः ही यत्नान्तर का ग्रहण, जिसमें विशेष शब्द का अन्वेषण होता है, करना पड़ता है, अन्य अलंकारों में भी वह बराबर है, यह बात नहीं है क्योंकि अन्य अलंकार निरूपण की स्थिति में दुर्घट होने पर भी रस में समाहित चित्त वाले एवं प्रतिभाशाली कवि के पास अहमहमिका के साथ दौड़ आते है, जैसे-कादम्बरी में कादम्बरी के दर्शन के समय पर, और जैसे सेतुबन्ध महाकाव्य में माया से बने राम के सिर को देखने से सीता देवी के विह्वल होने पर। यह ठीक भी है, क्योंकि रस वाच्य विशेष के द्वारा ही आक्षिप्त होते है। उस वाच्य-विशेष के प्रतिपादक शब्दों से उनको प्रकाशित करने वाले, रूपक आदि अलंकार वाच्य विशेष ही है, इसलिये रस की अभिव्यक्ति में वे बहिरंग नहीं है, यमक और दुष्कर के मार्गों में यह बात नहीं है। जो कुछ यमक आदि अलंकार रसयुक्त दीखते है। वहाँ रस आदि अंग है, और यमक आदि का तो अंगित्व ही है, रसाभास की स्थिति में उनका अंगित्व भी विरुद्ध नहीं है, अंगी रूप से रस के व्यंग्य होने पर यमक आदि अलंकार अंग नहीं होते, क्योंकि वे पृथक्यत्न निर्वर्त्य होते है। इसी सन्दर्भ में ये संग्रह श्लोक है—

रसवन्ति हि वस्तूनि सालंकाराणि कानिचित् ।
एकेनैव प्रयत्नेन निर्वर्त्यन्ते महाकवेः ॥
यमकादि निबन्धे तु पृथग्यत्नोऽस्य जायते ।
शक्तस्यापि रसेऽङ्गत्वं तस्मादेषां न विद्यते ॥
रसाभासांग भावस्तु यमकादेर्न वार्यते ।
ध्वन्यात्मभूते शृंगारे त्वंगता नोपपद्यते ॥

श्रीधरी—यमकादि निबन्धने तु = यमक आदि अलकारों के निबन्धन मे तो, शक्तस्यापि = समर्थ होने पर भी, अस्य = इसका, पृथग्यत्नो जायते = अलग यत्न होता है, तस्मात् = इसलिये, एषां = इनका, रसे अंगत्वं न विद्यते = रस मे अगत्व नहीं होता। कानिचित् = कुछ, सालङ्काराणि = अलकारयुक्त, रसवन्ति वस्तूनि = रसवान वस्तुएँ, महाकवे = महाकवि के, एकेनैव प्रयत्नेन = एक ही प्रयत्न से, निर्वर्त्यन्ते = सम्पन्न हो जाती है, यमकादे = यमक आदि का, रसाभासांगभावस्तु = रसाभास मे अंगत्व का भाव, न वार्यते = वारण नही है, ध्वन्यात्मभूते शृंगारे = ध्वनि के आत्मभूत शृंगार मे, अंगता = यमक आदि अलकारो की अगता न उपपद्यते = उपपन्न नहीं है।

अर्थ: कुछ अलंकारयुक्त रसवान् वस्तुएँ महाकवि के एक ही प्रयत्न मे सम्पन्न हो जाती है। यमकादि अलंकारो के निबन्धन मे समर्थ होने पर भी पृथग्यत्न होने के कारण इनका रस मे अगत्व नही होता। यमक आदि का रसाभास मे अगत्व का कारण नही है, किन्तु ध्वनि के आत्मभूत शृंगार मे यमक आदि अलकारो का अगत्व उपपन्न नही है।

इदानीं ध्वन्यात्मभूतस्य शृंगारस्य व्यञ्जको ऽलंकार वर्ग आख्यायते—

ध्वन्यात्मभूते शृंगारे समीक्ष्य विनिवेशितः।
रूपकादिरलंकारवर्ग एति यथार्थताम् ॥१७॥

अलंकारो हि वाह्यालंकारसाम्यादंगिनश्चारुत्व हेतुरुच्यते। वाच्यालंकारवर्गश्च रूपकादिर्यावानुक्तो वक्ष्यते च कैश्चित्, अलंकाराणामनन्तत्वात्।

स सर्वोऽपि यदि समीक्ष्य विनिवेश्यते तदलक्ष्यक्रम व्यंग्यस्य ध्वनेरंगिनः सर्वस्यैव चारुत्व हेतुर्निष्पद्यते।

श्रीधरी—इदानी = अब, ध्वन्यात्मभूतस्य = ध्वनि के आत्मभूत शृंगारस्य = शृंगार को, व्यञ्जको = व्यञ्जित करने वाला, अलंकारवर्ग = अलंकार वर्ग, आख्यायते = कहा जाता है।

ध्वन्यात्मभूते शृंगारे = ध्वनि के आत्मभूत शृंगार मे, समीक्ष्य विनिवेशित = समीक्षा करके विनिवेशित किया गया, रूपकादिरलंकार वर्ग = रूपक आदि अलंकार वर्ग, यथार्थताम् एति = यथार्थता को प्राप्त करता है।

अलकारो हि = अलकार, वाह्यालंकार साम्यात् = वाह्य अलकारों के समान, अंगिनश्चारुत्व हेतु रुच्यते = अंगी का शोभाधायक कहा जाता है, वाच्यालकार वर्गश्च = अर्थालंकारों का वर्ग, रूपकादिः = रूपक आदि, यावानुक्तो = जितना कहा गया है, वक्ष्यते च कैश्चित् = और कुछ लोगों के द्वारा कहा जायेगा, अनन्तत्वात् अलंकाराणाम् = क्योंकि अलंकार अनन्त है। स सर्वोऽपि यदि समीक्ष्य = वह सभी यदि समीक्षा करके, विनिवेश्यते = विनिवेशित किया जाय, तद् = तब, अलक्ष्यक्रम

व्यंग्यस्य सर्वस्यैव=सभी अलक्ष्यक्रम व्यंग्य, अंगिनः ध्वनेः=अंगी ध्वनि का, चारुत्व-हेतुर्निष्पद्यते=शोभाधायक होंगे।

अर्थ—अब ध्वनि के आत्मभूत शृंगार को व्यञ्जित करने वाला अलंकार वर्ग कहा जाता है—

ध्वनि के आत्मभूत शृंगार में, समीक्षा करके विनिवेशित किया हुआ रूपक आदि अलंकार वर्ग यथार्थता को प्राप्त करता है, अलंकार बाह्य अलंकारों के समान अंगी का शोभाधायक कहा गया है। अर्थालंकारों का वर्ग रूपक आदि जितना कहा गया है, और कुछ लोग कहेंगे, क्योंकि अलंकार अनन्त है। उन सभी को यदि समीक्षा करके विनिवेशित किया जाय तो सभी अंगी अलक्ष्य क्रम व्यंग्य ध्वनि का चारुत्व हेतु होंगे।

एषा चास्य विनिवेशने समीक्षा—

विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन।
काले च ग्रहण त्यागौ नाति निर्वहणैषिता ॥१८॥
निव्यूढावपि चाङ्गत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम्।
रूपकादिरलंकार वर्गस्याङ्गत्व साधनम् ॥१९॥

रसबन्धेष्वत्यादृतमनाः कविर्यमकालंकारं तदङ्गतया विवक्षति।

यथा—

श्रीधरी—अस्य=उसके, विनिवेशने=विनिवेशन में, एषा, समीक्षा=यह समीक्षा है, विवक्षा=रूपक आदि की विवक्षा, तत्परत्वेन=रस परत्वेन हो, कदाचन=कभी भी, अंगित्वेन न=अंगी रूप से विवक्षा न हो, काले च=समय से, ग्रहण त्यागौ=ग्रहण हो और समय से त्याग हो, अतिनिर्वहणैषिता=दूर तक निर्वाह करने की इच्छा, न=न हो, निव्यूढावपि=इस प्रकार निर्वाह हो जाने पर भी, यत्नेन=यत्न से, अंगत्वे=अंग रूप में ही, प्रत्यवेक्षणम्=देखना, रूपकादि अलंकार वर्गस्य=रूपक आदि अलंकार वर्ग का यही, अंगत्व साधनम्=अंग होने का साधन है, रसबन्धेषु=रस के निबन्धन में, अत्यादृतमना=आदरयुक्त मन वाला, कवि=कवि, यमकालंकारं=जिस अलंकार को, तदङ्गतया विवक्षति=उसके अंग के रूप में विवक्षा करता है, यथा=जैसे—

अर्थ—उसके विनिवेशन में यह समीक्षा है—रूपक आदि अलंकारों की विवक्षा रसपरत्वेन हो कभी प्रधान रूप से विवक्षा न हो, समय से ग्रहण और त्याग हो, दूर तक निर्वाह करने की इच्छा न हो, निर्वाह हो जाने पर यत्नपूर्वक अंग रूप में ही देखना, यही रूपक आदि अलंकार वर्ग के अंग होने का साधन है। रस के निबन्धन में आदरपूर्ण मन वाला कवि जिस अलंकार को उसके अंग के रूप में विवक्षा करता है। जैसे—

चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं।
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिक चरः।
करौ व्याधुन्वन्त्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं,
वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती ॥

श्रीधरी मधुकर=हे भौरे, चलापाङ्गां=चञ्चल अपांगों वाली, वेपथुमतीं=काँपती हुई प्रिया की, दृष्टिं=दृष्टि को, बहुशः स्पृशसि=बार-बार स्पर्श करता है, रहस्याख्यायीव=रहस्य की बात कहने वाले की तरह, कर्णान्तिकचर=उसके कान के पास जाकर, मृदुचरसि=मधुर आवाज करता है, करौ व्याधुन्वन्त्या=हाथों को झकझोरती हुई, रति सर्वस्व=उसके रति सर्वस्व, अधर पिबसि=अधर को पीता है, वय=हम तो, तत्त्वान्वेषात् हताः=तत्त्व के अन्वेषण मे ही मारे गये, त्व खलु कृती=तुम वास्तव मे कृतकार्य हो गये।

अर्थ—हे भ्रमर, तू चञ्चल अपांगों वाली और कांपती हुई प्रिया की दृष्टि का बार-बार स्पर्श करता है, रहस्य की बात कहने वाले के समान उसके कान के पास जाकर मधुर शब्द करता है, हाथों को इधर-उधर झकझोरती हुई उसके तू रतिसर्वस्व अधरामृत का पान करता है। हम तो तत्त्व के अन्वेषण मे ही अर्थात् यह ब्राह्मण कुमारी है या क्षत्रिय कुमारी है, इस बात का पता लगाने म ही मारे गये। तू निश्चय ही कृतकार्य हो गया।

अत्र हि भ्रमर स्वभावोक्तिरलंकारो रसानुगुणः। 'नांगित्वेनेति न प्राधान्येन। कदाचिद्रसादि तात्पर्येण विवक्षितोऽपि अलंकारः कश्चिदङ्गित्वेन विवक्षितो दृश्यते। यथा—

श्रीधरी—अत्र हि=यहाँ, भ्रमर स्वभावोक्तिरलकारो=भ्रमर स्वभावोक्ति अलकार, रसानुगुण.=रस के अनुकूल है, नागित्वेन इति न प्राधान्येन=अगिरूप मे नही अर्थात् प्रधान रूप से नही, कदाचित्=कभी, रसादि तात्पर्येण=रस आदि के तात्पर्य मे, विवक्षितोऽपि=विवक्षित भी, कश्चिदलकारः=कोई अलंकार, अगित्वेन विवक्षितो दृश्यते=अंगीरूप से विवक्षित देखा जाता है, यथा=जैसे—

अर्थ—यहाँ भ्रमर स्वभावोक्ति अलंकार रस के अनुरूप है। अगी रूप से नही अर्थात् मुख्य रूप से नही। कभी रस आदि के तात्पर्य से विवक्षित भी कोई अलकार अंगी रूप से विवक्षित देखा जाता है, जैसे—

चक्राभिघात प्रसभाज्ञयैव,
चकार यो राहु वधूजनस्य।
आलिंगनोद्दाम विलास वन्ध्यं,
रतोत्सवं चुम्बनमात्र शेषम् ॥

श्रीधरी—यः=जिस श्रीकृष्ण ने, चक्राभिघातप्रसभाज्ञयैव=चक्र के प्रहार रूपी अपनी शक्तिशाली आज्ञा से ही, राहुवधूजनस्य=राहु की स्त्रियों के, रतोत्सवं=

रतोत्सव को, आलिंगनोद्दामविलास वन्ध्यं=आलिंगन के उद्दाम विलास से रहित, चुम्बनमात्रशेषं चकार=और चुम्बन मात्र शेष कर दिया।

अर्थ जिस श्रीकृष्ण ने चक्र के प्रहार रूपी अपनी बलवती आज्ञा से शत्रु की स्त्रियों के रतोत्सव को आलिंगन के उद्दाम विलास से रहित और चुम्बन-मात्र शेष कर दिया।

अत्र हि पर्यायोक्तस्यांगित्वेन विवक्षा रसादितात्पर्ये सत्यपीति। अंगत्वेन विवक्षितमपि यमवसरे गृह्णाति नानवसरे। अवसरे गृहीतिर्यथा—

श्रीधरी—अत्र हि=यहाँ, रसादितात्पर्ये सत्यपि=रसादि के तात्पर्य होने पर भी, पर्यायोक्तस्य अंगित्वेन=पर्यायोक्त अलंकार की अंगी रूप से, विवक्षा=विवक्षा है, अंगत्वेन विवक्षितमपि=अंग रूप से विवक्षित भी, यमवसरे गृह्णाति=जिसको अवसर में ग्रहण करता है, नानवसरे=अनवसर में नहीं, अवसरे गृहीतिर्यथा=अवसर में ग्रहण जैसे—

अर्थ—यहाँ रसादि के तात्पर्य होने पर भी पर्यायोक्त अलंकार की अंगी रूप से विवक्षा है। अंग रूप से विवक्षित भी जिसको अवसर में ग्रहण करता है, अनवसर में नहीं, जैसे—

> **उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुररुचं प्रारब्धजृम्भां क्षणा-**
> **दायासं श्वसनोद्गमैरविरलैरातन्वतीमात्मनः।**
> **अद्योद्यान लतामिमां समदनां नारीमिवान्यां ध्रुवं**
> **पश्यन् कोप विपाटल द्युति मुखं देव्याः करिष्याम्यहम्॥**

श्रीधरी—उद्दामोत्कलिकां=प्रबल उत्कण्ठा से युक्त (लता पक्ष में) निकली हुई कलियों से युक्त, विपाण्डुररुचं=पाण्डुवर्ण (लता पक्ष में) कलियों के कारण सफेद लगती हुई, क्षणाद् प्रारब्धजृम्भा=क्षण में जंभाई लेती हुई, (लता पक्ष में) उसी समय विकसित होती हुई, आत्मनः=अपने, अविरलैः श्वासोद्गमैः=निरन्तर श्वासोच्छ्वास से, आयास आतन्वती=आयास प्रकट करती हुई, (लता के पक्ष में) वायु के कारण कांपती हुई, समदनां=कामभावना से युक्त, (लता पक्ष में) 'मदन' नामक वृक्ष से लिपटी हुई, अन्या नारीमिव=परकीया नारी की तरह, अद्य=आज, इमां=इस, उद्यानलतां पश्यन्=उद्यान लता को देखता हुआ, अहम्=मैं, ध्रुवं=निश्चय ही, देव्याः मुखं=देवी वासवदत्ता के मुख को, कोप विपाटलद्युति=क्रोध से आरक्त, करिष्यामि=कर दूंगा।

अर्थ—प्रबल उत्कण्ठा से युक्त (लता पक्ष में) निकली हुई कलियों से युक्त, पाण्डुवर्ण (लता पक्ष में) कलियों के कारण सफेद दिखाई देती हुई, क्षण में जंभाई लेती हुई (लता पक्ष में) उसी समय खिली हुई, अपने निरन्तर श्वास वायु से आयास प्रकट करती हुई (लता पक्ष में) वायु के कारण कांपती हुई, कामभावना से युक्त (लता पक्ष में) मदन नामक वृक्ष से लिपटी हुई, परकीया नारी की तरह इस

उद्यान लता को देखता हुआ मैं आज निश्चय ही देवी वासवदत्ता के मुख को आरक्त कर दूंगा।

इत्यत्र उपमा श्लेषस्य।

गृहीतमपि च यमवसरे त्यजति तद्रसानुगुणतयालंकारान्तरापेक्षया।

श्रीधरी—इत्यत्र=यहां, उपमाश्लेषस्य=उपमा और श्लेष का अवसर में ग्रहण है।

गृहीतमपि=ग्रहण किये हुए भी, तद्रसानुगुणतया=जिसको उस रस के अनुगुण होने के कारण, अलङ्कारान्तरापेक्षया च=और अलङ्कारान्तर की अपेक्षा से, अवसरे त्यजति=अवसर में छोड़ देता है, यथा=जैसे—

> रक्तस्त्वं नवपल्लवैरहमपि श्लाघ्यैः प्रियाया गुणै-
>
> स्त्वामायान्ति शिलीमुखाः स्मरधनुर्मुक्तास्तथामामपि।
>
> कान्तापादतलाहतिस्तव मुदे तद्वन्ममाप्यावयोः,
>
> सर्वं तुल्यमशोक केवलमहं धात्रा सशोकः कृतः॥

श्रीधरी—अशोक=हे अशोक, त्वं=तुम, नवपल्लवैरक्तः=नये पत्तों से लाल हो, अहमपि=मैं भी प्रियायाः=प्रिया के, श्लाघ्यैः गुणैः=प्रशंसनीय गुणों से अनुरक्त हूँ, त्वाम्=तुम पर, शिलीमुखाः आयान्ति=भौंरे आते हैं, मामपि=मुझ पर भी, स्मरधनुर्मुक्ता=कामदेव के धनुष से छूटे हुए, शिलीमुखाः आयान्ति=बाण आते हैं, कान्तापादतलाहतिः=प्रिया के पैरों का आघात, तव मुदे=तुम्हें प्रसन्न करता है, तद्वत् मामपि=मुझे भी उसी तरह प्रिया के पैरों का आघात प्रसन्न करता है, आवयोः=हम दोनों का, सर्वं तुल्यम्=सब बराबर है, केवलं=केवल, अहं=मुझको, धात्रा=विधाता ने, सशोकः कृतः=सशोक बना दिया है।

अर्थ—हे अशोक, तुम नवीन पत्तों से रक्त हो और मैं भी प्रिया के प्रशंसनीय गुणों से अनुरक्त हूँ, तुम पर भौंरे आते हैं और मुझ पर भी कामदेव के धनुष से छूटे हुए शिलीमुख (बाण) आते हैं, प्रिया के पैरों का आघात तुम्हें प्रसन्न करता है मुझे प्रिया के पैरों का ताडन प्रसन्न करता है। हम दोनों की सब स्थिति बराबर है, केवल तुम अशोक हो और मुझे विधाता ने सशोक बना दिया है।

अत्र हि प्रबन्ध प्रवृत्तोऽपि श्लेषो व्यतिरेक विवक्षया त्यज्यमानो रस विशेषं पुष्णाति। तत्रालङ्कारद्वय सन्निपातात् किं तर्हि? अलङ्कारान्तरमेव श्लेष व्यतिरेक लक्षणं। नरसिंह वदिति चेत्—न, तस्य प्रकारान्तरेण व्यवस्थापनात्। यत्र हि श्लेष विषय एव शब्दे प्रकारान्तरेण व्यतिरेक प्रतीतिर्जायते स तस्य विषयः। यथा-'संहरिर्नाम्ना देवः सहरिर्वरतुरगनिवहेन' इत्यादौ। अत्र ह्यन्य एव शब्दः श्लेषस्य विषयो

ऽन्यश्च व्यतिरेकस्य। यदि चैवं विधे विषयेऽलंकारान्तरत्व कल्पना क्रियते तत्संसृष्टेर्विषयापहार एव स्यात्। श्लेष मुखेनैवात्र व्यतिरेकस्यात्मलाभ इति नायं संसृष्टेर्विषय इति चेत् न, व्यतिरेकस्य प्रकारान्तरेणापि दर्शनात्। यथा—

श्रीधरी—यत्र हि=यहाँ, प्रबन्ध प्रवृत्तोऽपि=आद्यन्त से प्रवृत्त भी, श्लेष:=श्लेष, व्यतिरेक विवक्षया=व्यतिरेक की विवक्षा से, त्यज्यमान:=छोड़ा जाता हुआ, रस विशेषं पुष्णाति=रस विशेष को पुष्ट करता है, अत्र=यहाँ, अलङ्कार द्वय सन्निपात: न=दो अलंकारों का सन्निपात नहीं है, कि तर्हि=तो क्या है, नरसिंहवत्=आदमी और शेर की तरह, श्लेष व्यतिरेक लक्षणं=श्लेष व्यतिरेक रूप, अलंकारान्तर मेव=दूसरा अलंकार ही है, न=नहीं, ऐसा नहीं है, तस्य=उसकी, प्रकारान्तरेण व्यवस्थापनात्=दूसरे प्रकार से व्यवस्था की गई है, यत्र हि=जहाँ, श्लेष विषयभूत एव शब्दे=श्लेष के विषयभूत शब्द में, प्रकारान्तरेण=दूसरे प्रकार से, व्यतिरेक प्रतीतिर्जायते=व्यतिरेक की प्रतीति होती है, स तस्य विषय=वह उसका विषय है. यथा=जैसे, स हरिर्नाम्ना देव:=वह देव तो नाममात्र से स हरि हैं, सहरिर्वरतुरग निवहेन=(यह राजा) श्रेष्ठ घोड़ों के समूह से महरि है इत्यादौ=इत्यादि में, अत्र हि=यहाँ, श्लेषस्य विषय:=श्लेष का विषय, अन्यएव=अन्य है, व्यतिरेकस्य=व्यतिरेक का विषय, अन्यएव=अन्य ही है, यदि च एव विधे विषये=यदि इस प्रकार के विषय में, अलंकारान्तरत्व कल्पना क्रियते=अलंकारान्तरत्व की कल्पना करते हैं तत्=तब, संसृष्टेर्विषयापहार एव स्यात्=संसृष्टि का विषय ही नहीं रह जायेगा, श्लेषमुखेनात्र=श्लेष के प्रकार से ही यहाँ, व्यतिरेकस्यात्मलाभ इति=व्यतिरेक आत्मलाभ कर रहा है. नायं संसृष्टे: विषय इति चेत्=यह संसृष्टि का विषय नहीं है. यदि ऐसा कहो तो, न=ऐसा कहना उचित नहीं है व्यतिरेकस्य प्रकारान्तरेणापि दर्शनात्=व्यतिरेक प्रकारान्तर से भी देखा जाता है, यथा=जैसे।

अर्थ—जहाँ आद्यन्त की विवक्षा से भी श्लेष व्यतिरेक की विवक्षा से छोड़ा जाता हुआ रस विशेष को पुष्ट करता है, यहाँ दो अलंकारों का सन्निपात नहीं है, तो क्या है? नरसिंह अर्थात् आदमी और सिंह की तरह श्लेष व्यतिरेक रूप अन्य अलंकार ही है, ऐसा नहीं। उसकी दूसरे प्रकार से व्यवस्था की गई है। जहाँ श्लेष के विषयभूत शब्द में प्रकारान्तर से व्यतिरेक की प्रतीति होती है, वह उसका विषय है। जैसे—यह देव तो नाममात्र से स हरि है (और यह राजा) श्रेष्ठ घोड़ों के समूह से महरि है, इत्यादि में, यहाँ श्लेष का विषय दूसरा ही शब्द है और व्यतिरेक का विषय दूसरा ही, यदि इस प्रकार के विषय में अलंकारान्तरत्व की कल्पना करते है, तब तो संसृष्टि का विषयापहार ही हो जायेगा। श्लेष के प्रकार से ही यहाँ व्यतिरेक आत्म लाभ कर रहा है, अतः वह संसृष्टि का विषय नहीं, यदि ऐसा कहो तो यह कहना भी उचित नहीं है क्योंकि व्यतिरेक प्रकारान्तर से भी देखा जाता है। जैसे—

नो कल्पापायवायोरदयरयदलत्क्ष्माधरस्यापि शम्या,
गाढोद्गीर्णोज्ज्वलश्रीरहनि न रहिता नो तमःकज्जलेन।
प्राप्तोत्पत्तिः पतङ्गान्नपुनरुपगता मोषमुष्णत्विषो वो,
वर्तिः सैवान्यरूपा सुखयतु निखिलद्वीपदीपस्य दीप्तिः॥

श्रीधरी—निखिल=समग्र, द्वीपदीपस्य=द्वीपों के दीपक भगवान् सूर्य की, दीप्तिः=कान्ति, रूप, सैवान्यरूपा वर्ति=कोई विलक्षण वर्ति जो, अदयरयदलत्क्ष्माधरस्य=निर्दय वेग से पहाड़ों को उखाड़ देने वाले, कल्पापाय वायोऽपि=प्रलय काल की हवा से भी, नो शम्या=नहीं बुझती, अहनि=(जो) दिन में, गाढोद्गीर्णोज्ज्वल श्रीः=उज्ज्वल प्रकाश फैलाती है, तमः कज्जलेन=अन्धकार रूपी कज्जल से जो, न रहिता न=अरहित नहीं है, पतङ्गात् प्राप्तोत्पत्तिः=जो सूर्य से उत्पन्न होती है, पुनः=फिर भी, पतङ्गात्=पतिङ्गे से, न मोषमुष्णत्विषः=कान्ति-रहित नहीं होती, स एव=वह ही, वः सुखयतु=आप लोगों को सुखी करे।

अर्थ—सम्पूर्ण द्वीपों के दीपक भगवान् सूर्य की दीप्ति रूपी कोई लोकोत्तर वर्ति जो निर्दय वेग से पहाड़ों को भी उखाड़ देने वाले, प्रलयकालीन हवा से भी नहीं बुझ पाती जो दिन में भी अत्यन्त उज्ज्वल प्रकाश फैलाती है और अन्धकार रूपी कज्जल से जो रहित नहीं होती, जो पतङ्ग (सूर्य) से उत्पन्न होती है लेकिन फिर भी जो पतङ्ग (कीड़े) से नहीं बुझती, वह आप लोगों को सुखी करे।

अत्र हि साम्य प्रपञ्च प्रतिपादनं विनैव व्यतिरेको दर्शितः। नात्र श्लेषमात्राच्चारुत्व प्रतीतिरस्तीति श्लेषस्य व्यतिरेकाङ्गत्वेनैव विवक्षितत्वात् न स्वतो अलंकारतेत्यपि न वाच्यम् अत एवं विषये साम्य मात्रादपि सुप्रतिपादिताच्चारुत्वं दृश्यत एव। यथा—

श्रीधरी—अत्र हि=यहाँ, साम्य प्रपञ्च प्रतिपादनं विनैव=साम्य प्रपञ्च के प्रतिपादन के बिना ही, व्यतिरेको दर्शितः=व्यतिरेक दिखाया है, अत्र=यहाँ, श्लेषमात्राच्चारुत्व प्रतीतिः न अस्ति=श्लेष मात्र में चारुत्व की प्रतीति नहीं है, इति=इसलिये, श्लेषस्य व्यतिरेकाङ्गत्वेनैव विवक्षितत्वात्=श्लेष की, व्यतिरेक के अंग रूप से विवक्षा होने के कारण, न स्वतोऽलङ्कारता=उसका स्वयं अलङ्कारत्व नहीं है, इत्यपि न वाच्यम्=यह भी नहीं कह सकते, अतः=क्योंकि, एवं विधे विषये=इस प्रकार के विषय में, साम्यमात्रादपि सुप्रतिपादितात्=साम्य मात्र के सम्यक् प्रतिपादन में भी, चारुत्व दृश्यत एव=चारुत्व देखा ही जाता है, यथा=जैसे—

अर्थ—यहाँ साम्य प्रपञ्च के प्रतिपादन के बिना ही व्यतिरेक दिखाया गया है। यहाँ श्लेषमात्र में चारुत्व की प्रतीति नहीं है, इसलिये श्लेष की व्यतिरेक के अंग रूप से विवक्षा होने के कारण उसका स्वयं अलंकारत्व नहीं है, यह भी नहीं

रह सकते क्योकि इस प्रकार के विषय मे शब्द मात्र के सम्यक् प्रतिपादन मे भी माम्य दृष्टिगोचर होता ही है, जैसे—

आक्रन्दाः स्तनितैर्विलोचन जलान्यश्रान्त धाराम्बुभिः,
तद्विच्छेद भुवश्च शोक शिखिनस्तुल्यास्तडिद्विभ्रमैः।
अन्तर्मे दयितामुखं तव शशी वृत्तिः समैवावयो,
स्तत्किं मामनिशं सखे जलधर त्वं दग्धु मेवोद्यतः॥

श्रीधरी– सखे जलधर=हे मित्र मेघ, आक्रन्दा.=मेरे वियोगजनित आक्रन्दन, स्तनितैं=तुम्हारे गर्जनो के, विलोचन जलानि=मेरे अश्रुपात, अश्रान्त धाराम्बुभिः=तुम्हारे निरन्तर जल धाराओं के, तद्विच्छेदभुवश्च=उस प्रिया के बिछुड़ने से उत्पन्न हुए, शोकशिखिन:=मेरी शोकाग्नि, तडिद्विभ्रमैः तुल्या=तुम्हारे विद्युद्विलासो के समान है, मे अन्त: दयितामुखं=मेरे हृदय मे प्रिया का मुख है, तव शशी=तुम्हारे भीतर चन्द्रमा है, आवयो. वृत्तिः समैव=इस प्रकार हम दोनो की वृत्ति एक सी है, तत्किम्=फिर क्यो, त्वम्=तुम, अनिशं=निरन्तर, माम्=मुझे, दग्धमेवोद्यत:=जला डालने के लिये ही तत्पर हो।

अर्थ—हे मित्र मेघ. मेरे वियोगजनित आक्रन्दन, तुम्हारे गर्जनो के, मेरे अश्रुजल तुम्हारे निरन्तर प्रवाहित होने वाले धारा जलो के, उस प्रिया के बिछुड़ने मे उत्पन्न मेरी शोकाग्नि तुम्हारे विद्युद्विलासो के समान है, मेरे हृदय मे प्रिया का मुख है और तुम्हारे भीतर चन्द्रमा है, इस प्रकार मेरी और तुम्हारी वृत्ति एक सी है, फिर क्यो तुम निरन्तर मुझे जला डालने के लिये तत्पर हो।

इत्यादौ=इत्यादि मे।

रस निर्वहणैकतान हृदयो यं च नात्यन्तं निर्वोढुमिच्छति। यथा–

श्रीधरी– रस निर्वहणैकतान हृदयो=रस निर्वाह मे एकाग्र हृदय कवि, य च=और जिसका, नात्यन्त निर्वोढुमिच्छति=आदि से अन्त तक निर्वाह नही करना चाहता, यथा=जैसे—

अर्थ– रस निर्वाह मे दत्तचित्त कवि जिसका आदि से अन्त तक निर्वाह नही करना चाहता, जैसे—

कोपात्कोमल लोल बाहुलतिका पाशेन बद्ध्वादृढं,
नीत्वा वास निकेतनं दयितया सायं सखीनांपुरः।
भूयो नैवमिति स्खलत्कलगिरा संसूच्य दुश्चेष्टितं,
धन्यो हन्यत एव निह्नुति पर. प्रेयान्रुदत्या हसन्॥

अत्र हि रूपकमाक्षिप्तमनिर्व्यूढं च परं रसपुष्टये।

श्रीधरी– कोपात्=कोप से, कोमललोलबाहुलतिका पाशेन=कोमल और चञ्चल बाहुलता के पाश से, दृढ बद्ध्वा=जोर से बाँधकर, सखीनांपुरः=सखियों के सामने, सायं=सायकाल के समय, दयितया=प्रिया के द्वारा, वासनिकेतन नीत्वा=

वासगृह मे ले आ कर, दुश्चेष्टितं संसूच्य=प्रिय के परस्त्री गमन आदि दुश्चेष्टित को सूचित करके, भूयो नैवम्=फिर ऐसा नही करूंगा, इति=इस प्रकार, स्खलत्कलगिरा=लड़खड़ाती हुई अव्यक्त आवाज में कहते हुए, रुदत्या=रोती हुई, प्रेयान् निह्नुति परः=अपने नखक्षत आदि को छिपाने मे संलग्न, (नायिका के द्वारा) हसन्=हँसता हुआ, धन्य=धन्य प्रियतम, हन्यत एव=मार खाता है।

अत्र हि=यहाँ, रूपकमाक्षिप्तं=रूपक आक्षिप्त है, अनिर्व्यूढं च=उसका पूरा निर्वाह नहीं किया गया है, पर=फिर भी, रस पुष्टये=रस को पोषण करता है।

अर्थ–कोप के कारण अपने कोमल और चञ्चल बाहुलता के पाश मे जोर से बांधकर, सायंकाल के समय प्रिया के द्वारा सखियों के सामने वासगृह मे ले जाकर उसकी दुश्चेष्टाओ को सूचित करके, फिर ऐसा नहीं करूंगा, यह लड़खड़ाती हुई अव्यक्त आवाज में कहते हुए, रोती हुई नायिका के द्वारा अपने नखक्षत आदि को छिपाने मे लगी हुई हँसता हुआ धन्य प्रियतम मार खाता है।

यहाँ रूपक आक्षिप्त है और उसका पूरा निर्वाह नही किया गया है किन्तु फिर भी रस का पोषण करता है।

निर्वोढुमिष्टमपि यं यत्नादङ्गत्वेन प्रत्यवेक्षते यथा—

श्यामास्वङ्गं चकित हरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं,
गण्डच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान्।
उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रू विलासान्,
हन्तैकस्थं क्वचिदपि न ते हन्त सादृश्यमस्ति॥

श्रीधरी–निर्वोढुमिष्टमपि=निर्वाह के योग्य भी, यं=जिसको, यत्नात्=यत्न से, अंगत्वेन=अंग रूप में, प्रत्यवेक्षते=देखता है, यथा=जैसे—हे भीरु, श्यामासु=श्यामा लताओ मे, अङ्गम्=तेरे अङ्ग को, चकित हरिणी प्रेक्षणे=चौंकी हुई हिरनी के दृष्टिपात में, दृष्टिपातं=तेरे दृष्टिपात को, शशिनि=चन्द्रमा मे, गण्डच्छायां=तेरे गालों की कान्ति को, शिखिना=मोरो के, बर्हभारेषु=पुच्छ भार मे, केशान्=तेरे बालों को, प्रतनुषु=अत्यन्त पतली, नदी वीचिषु=नदी की तरंगों मे, भ्रू विलासान्=तेरे भ्रू विलासो को, उत्पश्यामि=देखता हूँ, हन्त=ओह, ते सादृश्यं=तेरा सादृश्य, क्वचिदपि=कही भी, एकस्थ न अस्ति=एक जगह नहीं है।

अर्थ—हे भीरु, श्यामा लताओं मे तेरे अंग को, चौंकी हुई हिरनी के दृष्टिपात मे तेरे दृष्टिपात को, चन्द्रमा में तेरे गालों की कान्ति को, मयूरो के पुच्छभार मे तेरे बालो को, तथा नदी की पतली लहरो मे तेरे भ्रू विलासो को देखता हूँ, किन्तु हाय, तेरा सादृश्य कही एक जगह नही है।

इत्यादौ ।

स एवमुपनिबध्यमानोऽलंकारो रसाभिव्यक्ति हेतुः कवेर्भवति । उक्तप्रकारातिक्रमे तु नियमेनैव रसभंग हेतुः सम्पद्यते । लक्ष्यं च तथाविधं महाकवि प्रबन्धेष्वपि दृश्यते बहुशः । तत्तु सूक्ति सहस्र द्योतितात्मनांमहात्मनां दोषोद्घोषणमात्मन एव दूषणं भवतीति न विभज्य दर्शितम् । किं तु रूपकादेरलंकार वर्गस्य येयं व्यञ्जकत्वे रसादि विषये लक्षण दिग्दर्शिता तामनुस्मरन्स्वयं चान्यलक्षणमुत्प्रेक्षमाणो यद्यलक्ष्यक्रमप्रतिभमनन्तरोक्तमेनं ध्वनेरात्मानमुपनिबध्नाति सुकविः समाहित चेतास्तदा तस्यात्मलाभो भवति महीयानिति ।

श्रीधरी—इत्यादौ=इत्यादि में । स एवं=वह इस प्रकार, कवे=कवि का, उपनिबध्यमानोऽलंकार=उपनिबध्यमान अलंकार, रसाभिव्यक्तेहेतु=रसाभिव्यक्ति का कारण होता है, उक्तप्रकारातिक्रमे तु=उपर्युक्त प्रकार का अतिक्रमण करने पर, नियमेनैव=नियम से ही, रसभंग हेतुः सम्पद्यते=रसभंग का हेतु हो जाता है, तथाविध लक्ष्य च=उस प्रकार का लक्ष्य, महाकवि प्रबन्धेष्वपि=महाकवियों के प्रबन्धो मे भी, बहुशः दृश्यते=बहुत देखा जाता है, तत्तु=वह सूक्तिसहस्रद्योतितात्मना=सहस्रो सूक्तियो से उद्योतित, महात्मना=महात्मा जनो का, दोषोद्घोषणम्=दोष प्रकट करना, आत्मन एव दूषणं भवतीति=अपना ही दोष प्रकट करने के समान है, इसलिये, न विभज्यदर्शितम्=विभाग करके नही दिखाया, किन्तु=लेकिन, रूपकादेरलकार वर्गस्य=रूपक आदि अलंकारो का, येयं=जो यह, रसादि विषये व्यञ्जकत्वे=रसादि विषय के व्यञ्जकत्व मे, लक्षणदिग्दर्शिता=लक्षण का प्रकार दिखाया है, तामनुस्मरन्=उसका अनुमरण करता हुआ, स्वय च अन्यलक्षणमुत्प्रेक्षमाणो=स्वयं अन्य लक्षण का उत्प्रेक्षण करता हुआ, समाहितचित्तः सुकवि=समाहित चित्त सुकवि, अनन्तरोक्तं=पहले कहे हुए, यदि अलक्ष्यक्रमप्रतिभ=अलक्ष्यक्रम व्यग्य के ममान, ध्वनरोत्मानं उपनिबध्नाति=ध्वनि की आत्मा का उपनिबन्धन करता है, तदा=तब, तस्य=उसको, महीयान् लाभो भवति=बहुत बड़ा लाभ होता है ।

अर्थ—वह इस प्रकार कवि द्वारा उपनिबध्यमान अलंकार रसाभिव्यक्ति का हेतु होता है, उक्त प्रकारों का अतिक्रमण करने पर नियमतः रसभंग का हेतु हो जाता है । उस प्रकार का लक्ष्य महाकवियो के प्रबन्धो मे भी बहुत देखा जाता है, किन्तु हजारों सूक्तियो से सुशोभित महात्मा जनो का दोष प्रकट करना अपना दोष प्रकट करने के ही समान है, इसलिये अलग करके नही दिखाया गया है ।

किन्तु रूपक आदि अलंकारों का जो इस रसादि के विषय मे व्यञ्जकत्व दिखाया है, उसका अनुसरण करता हुआ तथा स्वय अन्य लक्षण का उत्प्रेक्षण करता

हृग्रा, समाहित चित्त वाला सुकवि यदि पूर्वोक्त अलक्ष्यक्रम व्यंग्य सदृश ध्वनि की आत्मा का उपनिबन्धन करता है, तो उसे बहुत बड़ा लाभ होता है।

क्रमेण प्रतिभात्यात्मा योऽस्यानुस्वान सन्निभः ।
शब्दार्थ शक्तिमूलत्वात्सोऽपि द्वेधा व्यवस्थितः ॥२०॥

अस्य विवक्षितान्यपरवाच्यस्य ध्वनेः संलक्ष्यक्रमव्यंग्यत्वादनुरणन प्रख्यो य आत्मा सोऽपि शब्दशक्तिमूलोऽर्थशक्ति मूलश्चेति द्वि प्रकारः।

ननु शब्द शक्त्या यत्रार्थान्तरं प्रकाशते स यदि ध्वनेः प्रकार उच्यते तदानीं श्लेषस्य विषयएवापहृतः स्यात्, नापहृत इत्याह—

श्रीधरी—यः अस्या = जो इसका, आत्मा = आत्मास्वरूप, अनुस्वान-सन्निभः = घण्टानुरणन के समान, क्रमेण = क्रम से, प्रतिभाति = प्रतीत होता है, सोऽपि = वह भी, शब्दार्थ शक्तिमूलत्वात् = शब्द शक्तिमूल और अर्थ शक्तिमूल होने के कारण, द्वेधा व्यवस्थित = दो प्रकार से व्यवस्थित है।

अस्य विवक्षितान्यपरवाच्यस्य = इस, विवक्षितान्य परवाच्य, ध्वने. ध्वनि का, संलक्ष्यक्रम व्यंग्यत्वात् = क्रम से व्यंग्य के संलक्षित होने के कारण, अनुरणन प्रख्य = अनुरणन रूप, य आत्मा = जो आत्मा स्वरूप है, सोऽपि = वह भी, शब्दशक्तिमूलो = शब्दशक्ति मूल, अर्थशक्तिमूलश्च = और अर्थशक्ति मूल, इति = इस प्रकार, द्वि प्रकारः = दो प्रकार का होता है।

यत्र = जहाँ, शब्दशक्त्या = शब्दशक्ति से, अर्थान्तरं प्रकाशते = अर्थान्तर प्रकाशित होता है, स यदि ध्वनेः प्रकार उच्यते = उसे यदि ध्वनि का प्रकार कहते हैं, तदिदानी = तब तो अब, श्लेषस्य विषय एव = श्लेष का विषय ही, अपहृत स्यात् = अपहृत हो जायेगा, नापहृत इत्याह = अपहृत नहीं होगा, यह कहते हैं।

अर्थ—इसका जो आत्मा स्वरूप घण्टानुरणन के समान क्रम से प्रतीत होता है वह भी शब्दशक्ति मूल और अर्थशक्ति मूल होने के कारण दो प्रकार का होता है।

इस विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि का संलक्ष्य क्रम व्यंग्य होने के कारण शब्द-शक्ति मूल और अर्थशक्ति मूल ये दो प्रकार हो जाते है।

जहाँ शब्द शक्ति से अर्थान्तर प्रकट होता है उसे यदि ध्वनि का प्रकार कहते है, तब तो श्लेष का विषय ही अपहृत हो जायेगा, इस शंका का निवारण करते हुये कहते है कि नहीं होगा।

विशेष—ध्वनि के अविवक्षित वाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य के रूप में पहले दो भेद बताये जा चुके है। अविवक्षितवाच्य का ही दूसरा नाम लक्षणा-मूल ध्वनि और विवक्षितान्यपरवाच्य का अभिधामूल ध्वनि है।

अविवक्षित वाच्यध्वनि के भी दो भेद होते हैं—
(१) अर्थान्तर संक्रमित वाच्य।
(२) अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य।
विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के भी दो भेद होते हैं—
(१) शब्द शक्ति मूल।
(२) अर्थशक्ति मूल।

वस्तु और अलंकार ध्वनि के भेद से शब्दशक्ति मूल ध्वनि के फिर दो भेद होते हैं और अर्थ शक्तिमूल के बारह भेद होते है जो आगे बताये जायेंगे। इस प्रकार संलक्ष्यक्रम व्यंग्य के पन्द्रह भेद और असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य का एक भेद मिलाकर सोलह भेद होते हैं। अविवक्षितवाच्य के दोनो भेदो को मिलाकर ध्वनि के स्थूल रूप मे अठारह भेद होते है। सूक्ष्म भेद तो अत्यधिक हैं।

आक्षिप्तएवालंकारः शब्दशक्त्या प्रकाशते।
यस्मिन्ननुक्तः शब्देन शब्द शक्त्युद्भवो हि सः ॥२१॥

यस्मादलंकारो न वस्तुमात्रं यस्मिन् काव्ये शब्दशक्त्या प्रकाशते स शब्द शक्त्युद्भवो ध्वनिरित्यस्माकं विवक्षितम्। वस्तुद्वयेच शब्दशक्त्या प्रकाशमाने श्लेषः। यथा—

श्रीधरी— हि=क्योंकि, यस्मिन्=जहाँ, शब्दशक्त्या=शब्द शक्ति से अनुक्त=असकेतित, अलंकारः आक्षिप्तः प्रकाशते=अलंकार आक्षेप शक्ति से प्रकाशित होता है, स=वह, शब्द शक्त्युद्भवः=शब्द शक्त्युद्भव ध्वनि है।

यस्मात्=क्योंकि, अलंकारो=अलंकार, न वस्तुमान=वस्तुमात्र नहीं है यस्मिन् काव्ये=जिस काव्य मे, शब्दशक्त्या प्रकाशते=शब्द शक्ति से प्रकाशित होता है, स=वह, शब्द शक्त्युद्भवो ध्वनिः=वह शब्द शक्त्युद्भव ध्वनि है, इति अस्माक=यह हमारा, विवक्षितम्=विवक्षित है, वस्तु द्वये च=और दो वस्तुओ के, शब्दशक्त्या प्रकाशमाने=शब्दशक्ति द्वारा प्रकाशित होने पर, श्लेषः=श्लेष होता है, यथा=जैसे—

येन ध्वस्तमनोभवेन वलिजित्कायः पुरास्त्रीकृतो,
यश्चोद्वृत्त भुजंगहारवलयो गंगां च योऽधारयत्।
यस्याहुः शशिमच्छिरो हर इति स्तुत्यं च नामामराः,
पायात्सा स्वयमन्धकक्षयकर स्त्वां सर्वदो माधवः ॥

श्रीधरी— विष्णु पक्ष मे—येन अभवेन=जिस अभव अर्थात् विष्णु ने, ध्वस्त मनोभवं=शकटासुर का नाश किया, वलिजित्=दानवों को जीतने वाला, काय=अपने शरीर को, पुरा=पहले, स्त्रीकृतः=स्त्री रूप बनाया, यश्च=जिसने, उद्वृत्त भुजंग हर=उद्धत भुजग को मारा, यश्च लयः=जिसका लय, अकार=अकार मे

होना है, यः=जिसने, अगं गां च अधारयत्=पहाड़ और पृथ्वी को धारण किया, शशिमच्छिरो हर=चन्द्रमा का मन्थन करने वाले राहु के सिर को काटने वाला, यस्य=जिसके, स्तुत्यं च नाम=प्रशसनीय नाम को, अमराः आहुः=देवता लोग किंवा ऋषि लोग लिया करते है, स=वह, सर्वदः=सब कुछ देने वाला, माधवः= माधव, स्वयं=अपने आप ही जिसने, अन्धकः=अन्धक वशियो को, क्षयकर.= द्वारका मे वसाया, त्वा पायात्=तुम्हारी रक्षा करें।

शिव पक्ष मे—

ध्वस्तमनोभवेन=कामदेव को भस्म करने वाले, येन=जिस शंकर ने, पुरा= प्राचीन काल मे, बालिजित्काय = बलि को जीतने वाले के शरीर को, अस्त्रीकृतः= अस्त्र बनाया, उद्वृत्त भुजगहारवलयः= उद्धत सर्प ही जिनके हार और वलय है, य =जिसने, गगा च धारयत्= गगा को धारण किया, अमराः=देवता लोग, यस्य शिर.=जिसके शिर को, शशिमत् आहुः=चन्द्रयुक्त कहते है, हर इति स्तुत्य नाम आहु='हर' यह प्रशसनीय नाम बताते है, स उमाधवः=वह उमा (पार्वती) के पति, अन्धकक्षयकर=अन्धकासुर का नाश करने वाले भगवान् शकर, त्वा पायात् - तुम्हारी रक्षा करें।

अर्थ—विष्णु पक्ष मे—

जिस विष्णु ने शकटासुर का नाश किया, बली दानवो को जीतने वाले अपने शरीर को प्राचीन काल मे स्त्री रूप बनाया, जिसका लय अकार रूप शब्द मे है, जिसने उद्धत भुजग को मारा, जिसने पहाड़ और पृथ्वी को धारण किया, चन्द्रमा के शिर का मन्थन करने वाले राहु के शिर को काटने वाला, जिसके इस प्रशंसनीय नाम को देवता लोग लिया कहते है, वह सब कुछ देने वाला माधव, जिसने अन्धक जंनो को द्वारका वसाया, तुम्हारी रक्षा करें।

शिव पक्ष मे—

कामदेव को भस्म करने वाले जिस शकर ने प्राचीन काल मे बलि को जीतने वाले के शरीर को अस्त्र बनाया, उद्धत सर्प ही जिनके हार और वलय है, गंगा को जिसने धारण किया, देवता लोग जिसके शिर को चन्द्रयुक्त कहते है, 'हर' यह स्तुत्य नाम बताते है, वह उमा के पति अन्धकासुर का नाश करने वाले तुम्हारी रक्षा करें।

ननु अलंकारान्तरप्रतिभायामपि श्लेष व्यपदेश्यो भवतीति दर्शितं भट्टोद्भटेन, तत्पुनरपि शब्दशक्तिमूलो ध्वनिर्निरवकाश इत्याशङ्क्येद-मुक्तम् "आक्षिप्तः" इति। तदयमर्थः—यत्र शब्द शक्त्या साक्षादलंकारान्तरं वाच्यं सत्प्रतिभासते स सर्वः श्लेष विषयः। यत्र तु शब्द शक्त्या सामर्थ्या-क्षिप्तं वाच्य व्यतिरिक्तं व्यंग्यमेवालंकारान्तरं प्रकाशते स ध्वनेर्विषयः। शब्दशक्त्यासाक्षादलंकारान्तर प्रतिभा यथा—

**तस्या विभाति हारेण निसर्गादेव हारिणौ ।
जनयामासतुः कस्य विस्मयं न पयोधरौ ॥**

श्रीधरी—अलंकारान्तर प्रतिभायामपि=अलंकारान्तर की प्रतिभा में भी, श्लेष व्यपदेशो भवतीति=श्लेष का व्यपदेश होता है, इति भट्टोद्भट्टेन दर्शितम्=ऐसा उद्भट भट्ट ने दिखाया है, तत्पुनरपि=तब तो फिर, शब्दशक्तिमूलो ध्वनि.=शब्द शक्तिमूल ध्वनि का, निरवकाश.=कोई स्थान नहीं रह गया, इत्याशङ्क्य=यह आशंका करके, इदमुक्तम्=यह कहा है, आक्षिप्त इति=अर्थात् आक्षेप शक्ति से प्राप्त, तदयमर्थः=तो यह अर्थ है, यत्र=जहाँ शब्द शक्त्या=शब्द शक्ति से, साक्षात् अलकारान्तर=साक्षात् अलकारान्तर, वाच्यं सत्प्रतिभासते=वाच्य होता हुआ सा प्रतीत होता है, ससर्वः श्लेष विषयः=वह सब श्लेष का विषय है, यत्र तु=और जहाँ, शब्दशक्त्या=शब्द शक्ति के द्वारा, सामर्थ्याक्षिप्त=सामर्थ्य से आक्षिप्त, वाच्य व्यतिरिक्त=और वाच्य से अतिरिक्त, व्यंग्यमेव=व्यंग्य ही, अलकारान्तर प्रकाशते=अलंकारान्तर प्रकाशित होता है, स ध्वनेर्विषयः=वह ध्वनि का विषय है, शब्दशक्त्या=शब्द की शक्ति से, साक्षात् अलंकारान्तर प्रतिभा=अलंकारान्तर की प्रतिभा, यथा=जैसे—

तस्याः=उसके, पयोधरौ=दोनों पयोधर, हारेण विनापि=हार के बिना भी, निसर्गादेव हारिणौ=स्वभाव से ही हार को धारण करने वाले या मनोहर होने के कारण, कस्य विस्मयं न जनयामासतुः=किसको विस्मित नहीं करते ?

अर्थ—अलंकारान्तर की प्रतिभा में भी श्लेष का ही व्यपदेश होता है, ऐसा उद्भट भट्ट ने दिखाया है, तब तो फिर शब्द शक्ति मूल ध्वनि का कोई स्थान ही नहीं रह गया, यह आशंका करके 'आक्षेप सामर्थ्य से प्राप्त' ऐसा कहा है। तो यह अर्थ है कि—जहाँ शब्द शक्ति से साक्षात् अलंकारान्तर वाच्य होता हुआ प्रतीत होता है, वह सब श्लेष का विषय है और जहाँ शब्दशक्ति द्वारा सामर्थ्य से आक्षिप्त और वाच्य से अतिरिक्त व्यंग्य ही अलकारान्तर प्रकाशित होता है, वह ध्वनि का विषय है, शब्द शक्ति द्वारा साक्षात् अलंकारान्तर की प्रतिभा जैसे—

उसके दोनों पयोधर हार के बिना भी स्वभाव से ही हार का धारण करने वाले किंवा मनोहर होने के कारण किसको विस्मित नहीं कर देते ?

अत्र शृंगार व्यभिचारी विस्मयाख्यो भाव. साक्षाद्विरोधालंकारश्च प्रतिभासत इति विरोधच्छायानुग्राहिणः श्लेषस्यायं विषयः, नत्वनुस्वानोपमव्यंग्यस्य ध्वने.। अलक्ष्यक्रम व्यंग्यस्य तु ध्वनेर्वाच्येन श्लेषेण विरोधेन वा व्यञ्जितस्य विषय एव। यथा ममैव—

श्रीधरी—अत्र=यहाँ, शृंगार व्यभिचारी=शृंगार का व्यभिचारी, विस्मयाख्यो भाव=विस्मय नाम का भाव, साक्षाद्विरोधालकारश्च=और साक्षात्

विरोध अलंकार, प्रतिभासत = प्रतिभासित हो रहे हैं, इति = इस प्रकार, विरोधच्छायानुग्राहिण: = विरोध की छाया के अनुग्राहक, श्लेषस्य अयं विषय: = श्लेष का यह विषय है, न तु अनुस्वानोपम व्यंग्यस्य ध्वने: = अनुरणन सदृश व्यंग्य रूप ध्वनि का नहीं, अलक्ष्यक्रम व्यंग्यस्य तु ध्वने = अलक्ष्य क्रम व्यंग्य ध्वनि का, वाच्येन श्लेषेण = वाच्य श्लेष, वा = अथवा, विरोधेन = विरोध से, व्यञ्जितस्य = व्यजित होकर, विषय एव = विषय ही है।

अर्थ—यहाँ शृंगार का व्यभिचारी विस्मय नाम का भाव और साक्षात् विरोध अलंकार प्रतिभासित हो रहे हैं, इस प्रकार विरोध की छाया के अनुग्राहक श्लेष का यह विषय है, अनुरणन सदृश व्यंग्य रूप ध्वनि का नहीं। वाच्य श्लेष या विरोध से व्यजित अलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि का तो विषय है ही। जैसे मेरा ही—

श्लाघ्याशेषतनुं सुदर्शनकर सर्वाङ्गलीलाजित-
त्रैलोक्यां चरणारविन्द ललितेनाक्रान्त लोकोहरिः।
बिभ्राणां मुखमिन्दुरूपमखिलंचन्द्रात्मचक्षुर्दध-
त्स्थाने मां स्वतनोरपश्यदधिकां सा रुक्मिणी वोऽवतात् ॥

श्रीधरी—सुदर्शन कर: = जिनका केवल हाथ ही देखने में सुन्दर है, या हाथ में सुदर्शन चक्र को धारण करने वाले, चरणारविन्द ललितेन = जिन्होंने अपने सुन्दर चरणारविन्द से या चरण के विक्षेप से, त्रैलोक्या आक्रान्त: = तीनों लोकों में आक्रमण किया है, चन्द्रात्मचक्षुर्दधत् = जो चन्द्रमा के रूप में अपना नेत्र धारण करते हैं, स हरि = वह भगवान् विष्णु, श्लाघ्याशेषतनु = प्रशसनीय समस्त शरीर वाली, सर्वाङ्गीण लीलाजित त्रैलोक्या = समस्त अगों की लीला मात्र में त्रैलोक्य को जीत लेने वाली, इन्दुरूप अखिल मुख बिभ्राणां = समग्र चन्द्र रूप मुख को धारण करने वाली, मां = जिस रुक्मिणी को, स्वतनोरधिका = अपने शरीर से भी अधिक, स्थाने अपश्यत् = उचित ही देखा, सा रुक्मिणी = वह रुक्मिणी, व: अवतात् = आप लोगों की रक्षा करें।

अर्थ—जिनका केवल हाथ ही देखने में सुन्दर है अथवा जो हाथ में सुदर्शन चक्र को धारण करते हैं, जिन्होंने अपने सुन्दर चरणारविन्द से या चरण विक्षेप से तीनों लोकों पर आक्रमण किया है, और जो चन्द्रमा के रूप में नेत्र को धारण करते हैं, उस भगवान् विष्णु ने प्रशंसनीय समस्त शरीर वाली, समग्र अङ्गों की लीला मात्र से त्रैलोक्य को जीत लेने वाली और समग्र चन्द्र रूप मुख को धारण करने वाली जिस रुक्मिणी को अपने शरीर में अधिक उचित ही देखा, वह रुक्मिणी आप लोगों की रक्षा करें।

अत्र वाच्यतयैव व्यतिरेकच्छायानुग्राही श्लेषः प्रतीयते।
यथा च—

श्रीधरी—अत्र = यहाँ, वाच्यतयैव = वाच्य रूप में ही 'व्यतिरेकच्छायानु-

ग्राही=व्यतिरेक की छाया का अनुग्राहक, श्लेषः प्रतीयते=श्लेष प्रतीत होता है, यथा च=जैसे—

अर्थ—यहाँ वाच्यरूप से ही व्यतिरेक की छाया का अनुग्राहक श्लेष प्रतीत होता है, जैसे—

भ्रमिमरतिमलसहृदयतां,
प्रलयं मूर्च्छां तमः शरीर सादम्।
मरणं च जलद भुजगजं,
प्रसह्य कुरुते विषं वियोगिनीनाम्॥

श्रीधरी—जलद भुजगज विषं=जलद रूप भुजग से उत्पन्न विष अर्थात् जल और जहर, वियोगिनीनाम्=वियोगिनियों के, भ्रमिः=चक्कर, भरतिः=उदासीनता, अलसहृदयतां=हृदय की घबड़ाहट, प्रलय=बेचैनी, मूर्च्छा=बेहोशी, तमः=अंधेरा, शरीरं सादम्=शरीर का कष्ट, मरणं च=और मरण, प्रसह्य कुरुते=हठपूर्वक करता है।

अर्थ—बादल रूप सर्प से उत्पन्न विष वियोगिनियों को चक्कर, उदासीनता, हृदय की घबड़ाहट, बेचैनी, मूर्च्छा, अंधेरा, शरीर का कष्ट और मृत्यु बलपूर्वक करता है।

यथा वा=जैसे यह—

चमहिअमाणसकञ्चण पङ्कअणिम्महि अपरिमला जस्स,
अखण्डिअदाण पसारा वाहुप्पलिहा व्विअ गइन्दा॥
[खण्डित मानस काञ्चनपङ्कज निर्मथित परिमला यस्य।
अखण्डितदान प्रसरा वाहु परिधा इव गजेन्द्राः॥]

श्रीधरी—खण्डितमानस काञ्चन पङ्कज निर्मथित=निराश शत्रुओं के मानस रूपी सुवर्ण कमल को निर्मथित करने वाले, परिमला=यश रूप सौरभ से युक्त, अखण्डित-दानप्रसरा=निरन्तर दान देने वाले, यस्य=जिस राजा के वाहु दण्ड, खण्डित-मानसकाञ्चनपङ्कजनिर्मथित परिमला=मानसरोवर के सुवर्ण कमलों को खण्डित करने से उनके सौरभ से सुरभित, अखण्डितदान प्रसरा=निरन्तर मदजल को प्रवाहित करने वाले, गजेन्द्राइव=हाथियों के समान हैं।

अर्थ—निराश शत्रुओं के मानस रूपी सुवर्ण कमल को निर्मथित करने वाले अपने यश रूप सौरभ से सुरभित और निरन्तर दान देने वाले जिस राजा के वाहुदण्ड मानसरोवर के सुवर्ण कमलों को खण्डित करने से सुरभित और निरन्तर मद-जल को प्रवाहित करने वाले हाथियों के समान हैं।

अत्र रूपकच्छायानुग्राही श्लेषो वाच्यतयैवावभासते।
स चाक्षिप्तोऽलंकारो यत्र पुनः शब्दान्तरेणाभिहितःस्वरूपस्तत्र

न शब्द शक्त्युद्भवानुरणन रूप व्यंग ध्वनि व्यवहारः। तत्र वक्रोक्त्यादि वाच्यालंकार व्यवहार एव। यथा—

श्रीधरी—अत्र=यहाँ, रूपकच्छायानुग्राही=रूपक की छाया का अनुग्राहक, श्लेष=श्लेष, वाच्यतयैव=वाच्य रूप में ही, अवभासते=अवभासित होता है। न च=और वह, आक्षिप्तोऽलंकारो=आक्षिप्त अलंकार, यत्रपुनः=जहाँ फिर, शब्दान्तरेणाभिहितस्वरूपः=शब्दान्तर से अभिहित हो जाता है, तत्र=वहाँ, न शब्दशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यंग्यध्वनि व्यवहार. = शब्दशक्त्युद्भव अनुरणन रूप ध्वनि का व्यवहार नहीं होता, तत्र=वहा, वक्रोक्त्यादि=वक्रोक्ति आदि, वाच्यालंकार व्यवहार एव - वाच्य अलंकार का व्यवहार होता है, यथा=जैसे—

अर्थ—यहाँ रूपक की छाया का अनुग्राहक श्लेष वाच्य रूप से ही अवभासित होना है और वह आक्षिप्त अलंकार जहाँ शब्दान्तर मे लक्षित हो जाता है, वहाँ शब्द शक्त्युद्भव अनुरणन रूप ध्वनि का व्यवहार नहीं होता है, वहाँ वक्रोक्ति आदि वाच्य अलंकार का व्यवहार होता है। जैसे—

दृष्ट्या केशव गोपरागहृतया किञ्चिन्न दृष्टं मया,
तेनैव स्खलितास्मि नाथ पतितां किं नाम नावलम्बसे।
एकस्त्वं विषमेषु खिन्न मनसां सर्वावलानां गति-
र्गोप्यैवं गदितः सलेशमवताद्गोष्ठे हरिर्वश्चिरम्॥

एवञ्जातीयकः सर्व एव भवतु कामं वाच्यश्लेषस्य विषयः। यत्र तु सामर्थ्याक्षिप्तं सदलंकारान्तरं शब्द शक्त्या प्रकाशते स सर्वएव ध्वनेर्विषयः यथा—

श्रीधरी—हे केशव=हे कृष्ण, गोपरागहृतया=गायो की उड़ाई हुई धूल मे, दृष्ट्या=दृष्टि के ढँप जाने के कारण, मया=मैंने, किञ्चित् न दृष्टम्=कुछ भी नही देखा, तेनैव=उसी से, स्खलितास्मि=रास्ते मे गिर पड़ी हूँ, हे नाथ=हे स्वामी, पतिता किं नाम न अवलम्बसे=गिरी हुई मुझको क्यो नही उठाते हो, विषमेषु खिन्नमनसा=ऊंच-नीच के कारण खिन्न मन वाले, सर्वावलानां=सभी निर्बलों के, एकस्त्व=एक तुमही, गतिः=सहारे हो, एवं=इस प्रकार, गोप्या=गोपी के द्वारा, गोष्ठे=गोशाला मे, सलेश=लेश के साथ, गदितः=कहे गये, हरिः=कृष्ण, व=आप लोगों की, चिरं अवतात्=चिरकाल तक रक्षा करें।

दूसरा अर्थ—

हे केशव, हे गोप, राग हृतया दृष्ट्या=अनुराग के कारण हरी हुई दृष्टि मे, या कृष्ण मे गये उपराग के कारण हरी हुई दृष्टि से, स्खलितास्मि=मेरा चरित्र खण्डित हो चुका है, पतिता कि नाम न अवलम्बसे=अन पतिभाव से मुझे क्यो स्वीकार नही करते, विषमेषु खिन्नमनसा=कामभाव से खिन्नमन वाली, सर्वावलाना=सभी अबलाओं के, एकस्त्वं गतिः=एक तुमही जीवित रक्षा का उपाय हो, एवं=

इस प्रकार, गोप्या=गोपी के द्वारा, गोष्ठे=गोशाला में, सलेशगदितः=श्लेष के साथ कहे हुए, हरिः= कृष्ण, वः चिरं अवतात्=आप लोगों की चिरकाल तक रक्षा करें।

अर्थ—हे केशव, गायों के द्वारा उड़ाई हुई धूल से दृष्टि के ढंक जाने के कारण मैंने कुछ नहीं देखा और गिर पड़ी हूँ, हे नाथ गिरी हुई मुझको क्यों नहीं उठाते हो क्योंकि ऊंच-नीच स्थानों पर खिन्नमन वाले सभी अबलाओं के तुम्हीं एक सहारे हो। इस प्रकार गोपी के द्वारा गोशाला मे लेश के साथ कहे गये कृष्ण आप लोगों की चिरकाल तक रक्षा करें।

दूसरा अर्थ —

हे केशव, हे गोप अनुराग के कारण हरी हुई दृष्टि से या केशव में मन उपराग के कारण हरी हुई दृष्टि से मैंने कुछ नहीं देखा, मैं गिर पड़ी, मेरा चरित्र खण्डित हो चुका है, अतः पति भाव से मुझे क्यों नहीं स्वीकार करते? क्योंकि काम भावना से विधुर मन वाली अबलाओं के तुम्ही जीवित रक्षा का उपाय हो। इस प्रकार गोपी के द्वारा गोशाला में श्लेष के द्वारा कहे गये कृष्ण आप लोगों की रक्षा करें।

श्रीधरी—एवञ्जातीयकः=इस प्रकार का, सर्वएव काम=सभी चाहे जितना, वाच्यश्लेषस्य विषयः भवतु=वाच्य श्लेष का विषय हो, यत्र तु सामर्थ्याक्षिप्त सत्=जहाँ सामर्थ्य से आक्षिप्त होता हुआ, अलंकारान्तर=अलंकारान्तर, शब्द शक्त्या प्रकाशते=शब्द शक्ति से प्रकाशित होता है, ससर्व एव ध्वनेर्विषय=वह सब ध्वनि का विषय है, यथा=जैसे—

अर्थ – इस प्रकार का सभी चाहे जितना वाच्यश्लेष का विषय हो। जहाँ सामर्थ्य से आक्षिप्त होता हुआ अलंकारान्तर शब्द शक्ति से प्रकाशित होता है, वह सभी ध्वनि का विषय है। जैसे—

"अत्रान्तरे कुसुमसमय युगमुप संहरन्नजृम्भत ग्रीष्माभिधानः फुल्लमल्लिकाधवलाट्टहासोमहाकालः।"

यथा च—

उन्नत प्रोल्लसद्धारः कालागुरुमलीमसः।
पयोधरभरस्तन्व्याः कं न चक्रेऽभिलाषिणम्॥

श्रीधरी—अत्रान्तरे = इस बीच, कुसुमसमययुगमुपसंहरन् = दो पुष्प समयों अर्थात् वसन्त ऋतु के दो महीनों का उपसंहार करता हुआ, फुल्लमल्लिकाधवलाट्टहासः=विकसित मल्लिकाओं रूपी अट्टालिकाओं को धवलित करने वाले अट्टहास ने, ग्रीष्माभिधानः महाकाल, अजृम्भत – ग्रीष्मनामक महाकाल ने जभाई ली।

तथा च = और जैसे—

उन्नत, प्रोल्लसद्धारः = उन्नत उल्लसित होते हुए हार से (मेघपक्ष में) प्रोल्लसित होती हुई जल धारा से युक्त, कालागुरुमलीमसः = कालागुरु

के समान मलिन, तन्व्याः = रमणी के, पयोधर भर = स्तनभार (मेघपक्ष में) मेघ भार, क = किसको, अभिलाषिणं न चक्रे = अभिलाषी नहीं बनाते या किसको सकाम नहीं बनाते ?

अर्थ इस बीच दो पुष्प समयों अर्थात् वसन्त ऋतु के दो महीनों का उपसंहार करता हुआ विकसित मल्लिकाओं के अट्टालिकाओं को उल्लसित करने वाले हासयुक्त ग्रीष्म नामक महाकाल ने जमुहाई ली।

और जैसे—

उन्नत प्रोल्लसित होते हुए हार से (मेघ पक्ष में) प्रोल्लसित होती हुई जलधारा से युक्त, कालागुरु के समान मलिन, तन्वङ्गी रमणी के स्तन भार (मेघ पक्ष मे) मेघ भार ने किसको अभिलाषी नहीं बनाया या किसको सकाम नहीं बनाया ?

विशेष—जहाँ एक शब्द से दो अर्थों का ज्ञान होता है, वहाँ मुख्यतः श्लेष अलकार होता है, किन्तु जब ध्वनन व्यापार आदि सामर्थ्य से आक्षिप्त होकर अलंकारान्तर शब्दशक्ति से प्रकाशित होता है, वह सभी शब्दशक्ति मूल ध्वनि का विषय होता है। इसके उदाहरण में आचार्य ने उपर्युक्त तीन उदाहरण दिये हैं। लोचनकार अभिनवगुप्त ने कहा है कि यद्यपि प्रथम उदाहरण मे दूसरा शिव रूप अर्थ रूढ है और ग्रीष्म के पक्ष का अर्थ यौगिक है क्योंकि 'महान् चासौ काल समय.' के अनुसार अर्थ किया गया है, नियम यह है कि योग से रूढि बलीयसी होती है, ऐसी स्थिति मे मुख्यता दूसरे अर्थ को मिलनी चाहिए थी, किन्तु यहाँ ऋतु वर्णन का प्रसग होने के कारण अभिधा शक्ति का ग्रीष्म के पक्ष मे ही नियमन हो जाता है और महाकाल आदि शब्द इसी अर्थ को बताकर कृतकार्य हो जाते हैं, इसके बाद दूसरे अर्थ का ज्ञान ध्वनन व्यापार से होता है।

इसके सम्बन्ध में लोचनकार ने चार मतों का उल्लेख किया है जो इस प्रकार है—

पहले मत वालों का कथन है कि पहले ज्ञाता को अभिधा शक्ति से दूसरे अर्थ का ग्रहण हुआ रहता है, तभी वह प्रकरण के कारण अभिधा शक्ति के नियन्त्रित हो जाने पर ध्वनन व्यापार से उस अर्थ का वह ज्ञान करता है, यदि पहले मे उस द्वितीय अप्रस्तुत अर्थ मे अभिधा शक्ति से वह अर्थ ज्ञाता को विदित नहीं होता तो उसे प्रस्तुत में दूसरे अर्थ का ज्ञान हो ही नहीं सकता। इसीलिये वह शब्द शक्ति मूल या अभिधा सहकृत ध्वनि कही जाती है। शब्द शक्ति या अभिधा उसके मूल मे रहती है और व्यजना व्यापार से वह ध्वन्यर्थ ज्ञात होता है। इसलिये उसे शब्द शक्ति मूल ध्वनि कहते हैं।

दूसरे मत के अनुसार ग्रीष्म का भीषण देवता विशेष के साथ सादृश्य रूप अर्थ सामर्थ्य के सहकारी होने के कारण दूसरी अभिधा शक्ति को ही ध्वनन व्यापार रूप कहते है।

इस मत को मानने वालों का स्पष्टीकरण यह है कि जब भी किसी शब्द के अर्थ की प्रतीति होती है, वह अभिधा शक्ति से ही होती है, जैसे—शब्द श्लेष किंवा सभंग श्लेष में दोनों अर्थों के लिये दो प्रकार के शब्द है, उसी तरह अर्थ श्लेष या अभंग श्लेष में भी 'शक्ति भेदात् शब्द भेदः' इस नियम के अनुसार दूसरा शब्द वहाँ लाया जाता है और वह अभिधा शक्ति से बोधित होता है। 'श्वेतोधावति' जैसे प्रश्नोत्तर में भी द्वितीय शब्द की अभिधा व्यापार से उपस्थित होती है, किन्तु जहाँ प्रकरण के कारण ध्वनन व्यापार से द्वितीय शब्द की उपस्थिति होती है और तब अभिधा से बोध होता है, वहाँ यद्यपि शब्दान्तर के बल से उसका अर्थान्तर ज्ञात होता है, तथापि उस अर्थान्तर को प्रतीयमान मूल होने के कारण प्रतीयमान ही कहते हैं। इस प्रकार जहाँ अभिधा व्यापार से द्वितीय शब्द की उपस्थिति होती है वह श्लेष आदि का विषय है, और जहाँ ध्वनन व्यापार से होती है, वहाँ शब्द शक्ति मूल ध्वनि है।

तीसरे मत वाले लोग कहते है कि द्वितीय अर्थ का बोध सादृश्यादि अर्थ सामर्थ्य के कारण पुनः उत्पन्न द्वितीय अभिधा शक्ति से ही होता है, अतः यह अभिहित ही होता है, न कि ध्वनित। तब दोनों प्राकरणिक और अप्राकरणिक अर्थों का परस्पर अभेद या उपमानोपमेय भाव प्रतीत होता है, वह ध्वनन व्यापार का विषय है, वहाँ किसी अभिधा शक्ति की प्रवृत्ति सम्भव नहीं है, दूसरी शब्द शक्ति के उस उपमानोपमेय भाव या परस्पर अभेद में मूल होने के कारण वह शब्द शक्ति मूल ध्वनि का विषय है।

आलंकारिकों ने सर्वथा शब्द शक्ति मूल ध्वनि को स्वीकार किया है। द्वितीय अप्राकरणिक अर्थ में व्यंजना व्यापार ही उन्हें मान्य है, जहाँ तक उपमेयोपमान भाव आदि के व्यंग्य होने की बात है और उसके आधार पर 'शब्द शक्ति मूल' ध्वनि की कल्पना है, वह तो ठीक है, परन्तु द्वितीय अप्राकरणिक अर्थ को लेकर उसे अभिधा शक्ति का विषय न मानकर व्यंजना का विषय मानना और शब्द शक्ति मूल ध्वनि का विषय मानना विवादास्पद है, अस्तु।

यथा वा—

> दत्तानन्दाः प्रजानां समुचित समयाकृष्ट सृष्टैः पयोभिः,
> पूर्वाह्णे विप्रकीर्णा दिशिदिशि विरमत्यह्नि संहार भाजः।
> दीप्तांशोर्दीर्घदुःख प्रभव भव भयोदन्वदुत्तार नावो,
> गावो वः पावनानां परमपरिमितां प्रीतिमुत्पादयन्तु॥

दीधिति—सूर्य पक्ष में—

समुचितसमयाकृष्टसृष्टैः पयोभिः = ग्रीष्म काल में समुद्र से खींचे हुए जलों से, प्रजानां = प्रजाओं को, दत्तानन्दा = आनन्द देने वाली, पूर्वाह्णे = दिन के आरम्भ में, दिशि दिशि विप्रकीर्णा = दिशाओं में फैली हुई, अह्निविरमति = दिन के विराम लेने

पर अर्थात् सन्ध्याकाल में, संहार भाजः = एकत्र हो जाने वाली, दीर्घदुःखप्रभवभव-भयोदन्वदुत्तारनावः = प्रबल दुःख के कारणभूत संसार के भय रूप समुद्र से पार उतारने में नौका रूप, पावनाना परमपरिमितां = पवित्र पदार्थों में श्रेष्ठ, दीप्तांशो-गावः = सूर्य की किरणें, वः = आप लोगों में, प्रीतिमुत्पादयन्तु = आनन्द उत्पन्न करें।

(गायों के पक्ष में)

समुचितसमयाकृष्टसृष्टैः पयोभिः = दूध दुहने से पहले अयन में चढाये हुए दूध से, प्रजानां दत्तानन्दा = लोगों को आनन्द देने वाली, पूर्वाह्णे = प्रातःकाल के समय, दिशि-दिशि विप्रकीर्णा = चरने के लिये दिशाओं में फैली हुई, अह्नि विरमति = सूर्यास्त के समय, संहारभाज = एकत्रित हो जाने वाली, दीर्घदुःख प्रभवभवभयोदन्व दुत्तारनावो = प्रबल दुःख के कारणभूत संसार से पार उतारने में नाव के समान, दीप्तांशो. गाव. = सूर्य की किरणें गायों की तरह, पावनाना परम = जो पवित्र पदार्थों में श्रेष्ठ हैं वे, वः = आप लोगों में, अपरिमिता प्रीति = अत्यधिक आनन्द को, उत्पादयन्तु = उत्पन्न करें।

अर्थ—सूर्य किरणों के पक्ष में—

ग्रीष्म काल में समुद्र से सींचे हुए जल को अर्पित करके प्रजाजनों को आनन्द प्रदान करने वाली, प्रात काल के समय दिशाओं में फैली हुई और दिन के विराम लेने पर एकत्रित हो जाने वाली, प्रबल दुःख के कारणभूत संसार के भय रूप समुद्र से पार करने के लिये नौका के समान सूर्य की किरणे, जो पवित्र पदार्थों में सर्वश्रेष्ठ है, आप लोगों को अपरिमित आनन्द प्रदान करें।

गायों के पक्ष में—

दोहन से पहले अयन में चढाये हुए दूध को अर्पित करके प्रजाजनों को आनन्द प्रदान करने वाली, प्रातःकाल के समय दिशाओं में चरने के लिये बिखरी हुई और सायंकाल के समय एकत्रित हो जाने वाली, अत्यधिक दुःख के कारणभूत संसार के भय से पार उतारने के लिये नौका के समान, पवित्र पदार्थों से भी श्रेष्ठ सूर्य किरणों की तरह गायें आप लोगों को अत्यधिक आनन्द प्रदान करें।

एषूदाहरणेषु शब्दशक्त्या प्रकाशमाने सत्यप्राकरणिकेऽर्थान्तरे वाक्यस्यासम्बद्धार्थाभिधायित्वं मा प्रसांक्षीदित्य प्राकरणिकप्राकरणिकार्थयो-रूपमानोपमेयभावः कल्पयितव्यः सामर्थ्यादित्यर्थाक्षिप्तोऽयं श्लेषो न शब्दोपारूढ इति विभिन्न एव श्लेषादनुस्वानोपमव्यंग्यस्य ध्वनेर्विषयः, अन्येऽपि चालङ्काराः शब्दशक्तिमूलानुस्वानरूपव्यंग्ये ध्वनौ सम्भवन्त्येव। तथा हि विरोधोऽपि शब्दशक्तिमूलानुस्वान रूपो दृश्यते। यथा स्थाण्वी-श्वराख्य जनपद वर्णने भट्टबाणस्य—

"यत्र च मातङ्ग गामिन्य: शीलवत्यश्च गौर्यो विभवरताश्च श्यामाः पद्मरागिण्यश्च धवल द्विज शुचिवदना मदिरामोदिश्वसनाश्च प्रमदा: ।"

चौधरी—एषु उदाहरणेषु = इन उदाहरणों में, अप्राकरणिके अर्थान्तरे = अप्राकरणिक अर्थान्तर के, शब्दशक्त्या प्रकाशमाने = शब्द शक्ति के द्वारा प्रकाशित होने पर, वाक्यस्य = वाक्य का, असम्बद्धार्थाभिधायित्वं = असम्बद्धार्थाभिधायित्व, मा प्रसाक्षीत् = प्रसिद्ध न हो, इति = इसलिये, अप्राकरणिक प्राकरणिकार्थयो: = अप्राकरणिक और प्राकरणिक अर्थ के, उपमानोपमेय भाव: कल्पयितव्य: = उपमानोपमेय भाव की कल्पना करनी चाहिए, सामर्थ्यात् = सामर्थ्य के कारण, इति अर्थाक्षिप्तोऽयं श्लेष: = इस प्रकार यह श्लेष आक्षिप्त रूप में उपस्थित होता है, न शब्दोपारूढ: = न कि शब्दनिष्ठ होता है, इति = इसलिये, श्लेषादनुस्वानोपमव्यंग्यस्य ध्वने: विषय: = श्लेष से अनुस्वानोपम व्यंग्य ध्वनि का विषय, विभिन्न एव = अलग ही है, अन्येऽपि = और भी, अलंकारा: = अलंकार, शब्दशक्तिमूलानुस्वान रूप व्यंग्ये ध्वनौ = शब्दशक्ति मूल अनुस्वान रूप व्यंग्य ध्वनि में, सम्भवन्त्येव = हो सकते है, तथाहि = जैसा कि, विरोधोऽपि = विरोध भी, शब्दशक्तिमूलानुस्वान रूपो दृश्यते = शब्दशक्तिमूल अनुस्वान रूप देखा जाता है, यथा = जैसे, स्थाण्वीश्वराख्यजनपद वर्णने = स्थाण्वीश्वर नामक जनपद के वर्णन मे, भट्ट बाणस्य = भट्ट बाण का—

यत्र च = जहाँ, मातङ्ग गामिन्य: = गजगामिनी, शीलवत्यश्च और शीलवती, (मातङ्गगामिनी अर्थात् चाण्डाल के साथ रमण करने वाली और शीलवती यह विरोध है, किन्तु गजगामिनी अर्थ करने से विरोध का परिहार हो जाता है) गौर्य: = गौर वर्ण, विभव रताश्च = विभव अर्थात् ऐश्वर्य सम्पन्न, (विरोध यह है कि जो गौरी अर्थात् पार्वती है, वह विभव अर्थात् शिव भिन्न मे अनुरक्त कैसे होगी) श्यामा: = जवान, पद्मरागिण्यश्च = पद्मराग वाली, (श्याम वर्ण और कमल के समान राग वाली यह विरोध है) धवल द्विजशुचिवदना = निर्मल दांतो से पवित्र मुख वाली (विरोध यह है कि निर्मल ब्राह्मणों के समान पवित्र मुख वाली) मदिरामोदिश्वसनाश्च = मदिरा के गन्ध से युक्त श्वास वाली, (विरोध यह है कि जो निर्मल ब्राह्मण के समान पवित्र मुख वाली है, वह मदिरा के गन्ध से युक्त श्वास वाली कैसे हो सकती है ?) प्रमदा: = स्त्रियां है ।

अर्थ—इन उदाहरणों मे अप्राकरणिक अर्थान्तर के शब्द शक्ति द्वारा प्रकाशित होने पर यह बात न प्रसिद्ध हो कि वाक्य असम्बद्ध अर्थ का अभिधान करने वाला है, इसलिये अप्राकरणिक और प्राकरणिक अर्थ के उपमानोपमेय भाव की कल्पना करनी चाहिए । सामर्थ्य के कारण इस प्रकार यह श्लेष आक्षिप्त रूप मे उपस्थित होता है न कि शब्दनिष्ठ होता है, इसलिये श्लेष से अनुस्वानोपम व्यंग्य ध्वनि का विषय अलग ही है और भी अन्य अलकार शब्द शक्ति मूल अनुस्वान रूप व्यग्य ध्वनि में हो सकते है । जैसा कि विरोध भी शब्द शक्तिमूल अनुस्वान रूप देखा जाता है । जैसे स्थाण्वीश्वर नाम के जनपद के वर्णन में भट्ट बाण का—

जहाँ गज की चाल चलने वाली और शीलवती (मातङ्ग गामिनी अर्थात् चाण्डाल के साथ रमण करने वाली और शीलवती यह विरोध है, 'गजगामिनी' इस अर्थ से विरोध का परिहार हो जाता है) गौरवर्ण और ऐश्वर्य सम्पन्न (विरोध यह है कि जो गौरी अर्थात् पार्वती है, वह शिव भिन्न में अनुरक्त कैसे हो सकती है ?) श्यामा (युवती) और पद्मराग वाली, (विरोध यह है कि जो श्यामवर्ण है वह कमल के समान रंग वाली कैसे हो सकती है ?) निर्मल द्विजो अर्थात् दांतो से युक्त पवित्र मुख वाली (विरोध यह है कि निर्मल ब्राह्मणो के समान पवित्र मुख वाली) और मदिरा की गन्ध से युक्त श्वास वाली (विरोध यह है कि जो निर्मल ब्राह्मण के समान पवित्र मुख वाली है, वह मदिरा की गन्ध से युक्त श्वास वाली कैसे हो सकती है ?) स्त्रिया है।

अत्र वाच्यो विरोधस्तच्छायानुग्राही वा श्लेषोऽयमिति न शक्य वक्तुम्। साक्षाच्छब्देन विरोधालङ्कारस्याप्रकाशितत्वात्। यत्र हि साक्षाच्छब्दावेदितो विरोधालङ्कारस्तत्र हि श्लिष्टोक्तौ वाच्यालङ्कारस्य विरोधस्य श्लेषस्य वा विषयत्वम्। यथा तत्रैव –

'समवाय इव विरोधिनां पदार्थानाम्। तथाहि—सन्निहित बालान्धकारापि भास्वन्मूर्तिः' इत्यादौ।

श्रीधरी - अत्र हि=यहाँ, विरोध वाच्य=विरोध वाच्य है, वा=अथवा, अयं श्लेषः=यह श्लेष, तच्छायानुग्राही=उसकी छाया का अनुग्राहक है, इति न शक्य वक्तुम्=यह नही कहा जा सकता, साक्षाच्छब्देन=साक्षात् शब्द से, विरोधालंकारस्याप्रकाशितत्वात्=विरोध अलंकार प्रकाशित नही होता, यत्र हि=जहाँ, साक्षाच्छब्दावेदितो विरोधालंकारः=विरोध अलंकार साक्षात् शब्द से आवेदित होता है, तत्र हि श्लिष्टोक्तौ=वहाँ श्लिष्ट उक्ति मे, वाच्यालंकारस्य विरोधस्य श्लेषस्य वा विषयत्वम्=वाच्यालंकार विरोध या श्लेष का विषय होता है, यथा तत्रैव=जैसे वही पर—

विरोधिना पदार्थानाम्=विरोधी पदार्थों के, समवाय इव=समवाय के समान, तथाहि सन्निहित बालान्धकारापि भास्वन्मूर्तिः=बाल रूप अन्धकार के सन्निहित होते हुए भी, सूर्य की मूर्ति के समान (इस विरोध का परिहार) अन्धकार रूप काले बालो से युक्त होने पर भी चमकती हुई मूर्ति वाले थे, यह परिहार हुआ, इत्यादौ=इत्यादि मे।

अर्थ—यहाँ विरोध वाच्य है या यह श्लेष उसकी छाया का अनुग्राहक है, यह नही कहा जा सकता क्योंकि साक्षात् शब्द द्वारा विरोध अलंकार प्रकाशित नही है, जहाँ विरोध अलकार साक्षात् शब्द से आवेदित होता है, वहाँ श्लिष्ट उक्ति मे वाच्यालकार विरोध या श्लेष का विषय होता है। जैसे वही पर—

विरोधी पदार्थों के समवाय की तरह, जैसे—जाल रूप अन्धकार के सन्निहित होने पर भी सूर्य की मूर्ति के समान देदीप्यमान (इस विरोध का) अन्धकार रूप काले बालों से युक्त भी चमकती हुई मूर्ति वाले, यह परिहार हुआ, इत्यादि स्थलों पर

यथा वा ममैव—

सर्वैकशरणमक्षयमधीशमीशं धियां हरिं कृष्णम् ।
चतुरात्मानं निष्क्रियमरिमथनं नमत चक्रधरम् ॥

अत्र हि शब्दशक्तिमूलानुस्वानरूपो विरोधः स्फुटमेव प्रतीयते । एवं विधो व्यतिरेकोऽपि दृश्यते । यथा ममैव—

श्रीधरी—यथा ममैव=जैसे मेरा ही ।

सर्वैकशरणम्=सबका एकमात्र शरण, अक्षयं=अविनाशी, (शरण और क्षय ये दोनों शब्द गृहवाची हैं । यहाँ पर विरोध यह है कि जो सबका शरण अर्थात् गृह है, वह क्षय अर्थात् घर से रहित कैसे है ?) अधीशं=स्वामी, धियां ईशम्=बुद्धियों के ईश, (यहाँ विरोध यह है कि जो बुद्धियों के धीश है वे अधीश अर्थात् बुद्धियों के स्वामी कैसे नहीं है ?) हरिं=विष्णु, कृष्णं=कृष्ण (विरोध यह है कि जो हरि अर्थात् हरे वर्ण के हैं वे कृष्ण अर्थात् काले वर्ण के कैसे हैं ?) निष्क्रियम्=निष्क्रिय, चतुरात्मानम्=पराक्रमयुक्त हैं, (विरोध यह है कि जो निष्क्रिय है वे पराक्रमयुक्त कैसे हैं ?) अरिमथनं=शत्रुओं का नाश करने वाले, चक्रधरम्=चक्रधारी, (यहाँ विरोध यह है कि जो चक्रवाकों का मंथन करने वाले हैं, वे चक्रधारी कैसे है ?) नमत=प्रणाम करो ।

अत्र=यहाँ, शब्दशक्तिमूलानुस्वानरूपो=शब्दशक्ति मूल अनुस्वान रूप, विरोधः=विरोध, स्फुटमेव प्रतीयते=स्पष्ट ही परिलक्षित होता है, एवं विधः=इस प्रकार का, व्यतिरेकोऽपि=व्यतिरेक भी, दृश्यते=दृष्टिगोचर होता है, यथा=जैसे, ममैव=मेरा ही—

अर्थ—अथवा जैसे मेरा ही—

सबका एकमात्र शरण अविनाशी (यहाँ पर शरण और क्षय गृह वाची है अतः विरोध यह है कि जो सबका एकमात्र शरण अर्थात् गृह है, वह गृह से रहित कैसे है ?) अधीश, बुद्धियों के ईश (विरोध यह है कि जो बुद्धियों के धीश है वह बुद्धियों का स्वामी कैसे नहीं है ?) हरि अर्थात् विष्णु, कृष्ण (विरोध यह है कि जो हरि अर्थात् हरित वर्ण के है वे कृष्ण अर्थात् काले वर्ण के कैसे है ?) निष्क्रिय और पराक्रमयुक्त है, (विरोध यह है कि जो निष्क्रिय है वह पराक्रमयुक्त कैसे है ?) अरियों का मथन करने वाले चक्रधारी, (विरोध यह है कि जो अरों अर्थात् चक्रों का मथन करने वाले है वे चक्रधारी कैसे हैं) ऐसे भगवान् विष्णु को, आप लोग प्रणाम करें ।

यहाँ शब्दशक्ति मूल अनुस्वान रूप विरोध स्पष्ट ही परिलक्षित होता है। इस प्रकार का व्यतिरेक अलंकार भी दृष्टिगोचर होता है। जैसे मेरा ही—

रवं येऽत्युज्ज्वलयन्ति लून तमसो ये वा नखोद्भासिनो,
ये पुष्णन्ति सरोरुहं श्रियमपि क्षिप्ताब्जभासश्च ये,
ये मूर्धस्ववभासिनः क्षितिभृतां ये चामराणां शिरां,
स्याक्रामन्त्युभयेऽपि ते दिनपतेः पादाः श्रिये सन्तु वः॥

एवमन्येऽपि शब्द शक्तिमूलानुस्वानरूप व्यंग्य ध्वनि प्रकाराः सन्ति ते सहृदयैः स्वयमनुसर्तव्याः। इह तु ग्रन्थविस्तरभयात्त तत्प्रपञ्चः कृतः।

श्रीधरी—ये=जो, लून तमस=अन्धकार को नष्ट करने वाले, दिनपते पादाः=सूर्य के किरण रूप पाद, रवं=आकाश को, उज्ज्वलयन्ति=उज्ज्वल करते हैं, ये=जो चरण रूप, नखोद्भासिन=पाद नखों से शोभित हैं, (व्यतिरेक यह है कि जो आकाश को उद्भासित नही करते) ये=जो किरण रूप पाद, सरोजश्रियमपि पुष्णन्ति=कमलों की शोभा को बढ़ाते हैं, ये=जो किरण रूपी पाद, क्षिप्ताब्जभासः=कमलों की शोभा को तिरस्कृत करते है, ये=जो किरण रूपी पाद, क्षितिभृतां मूर्धसु अवभासिनः=पर्वतों के शिखरों पर आक्रमण करते है या राजाओं के सिर पर अवभासित होते है, ये च=और जो किरण रूप पाद, अमराणां=देवताओं के, शिरासि आक्रामन्ति=शिरों पर आक्रमण करते हैं; उभयेऽपि ते=दोनो ही वे, सूर्यस्य=सूर्य के, पादाः=किरण रूप और चरण रूप पाद, वः=आप लोगों का, श्रियं सन्तु=कल्याण करें।

एव=इस प्रकार, शब्दशक्तिमूलानुस्वानरूपव्यंग्यध्वनिप्रकाराः=शब्द शक्ति मूल अनुस्वानरूप व्यंग्य ध्वनि के, अन्येऽपि प्रकाराः सन्ति=दूसरे भी प्रकार है, ते सहृदयैः स्वयमनुसर्तव्याः=सहृदयों के द्वारा स्वयं ही उनका अनुसरण करना चाहिए, इह तु=यहाँ तो, ग्रन्थविस्तरभयात्=ग्रन्थ के विस्तार के भय से, तत्प्रपञ्चः न कृतः=उसका विशद निरूपण नहीं किया है।

अर्थ—सूर्य के जो अन्धकार का नाश करने वाले किरण रूप पाद आकाश को उज्ज्वल करते है और जो चरण रूप पाद नखों से शोभित है, (व्यतिरेक यह है कि जो आकाश को उद्भासित नहीं करते) जो किरण रूप पाद कमलों की शोभा को बढ़ाते हैं और जो चरण रूप पाद कमलो की शोभा को तिरस्कृत करते है, जो किरण रूप पाद पर्वतों के शिखरो पर आक्रमण करते हैं या राजाओं के सिर पर अवभासित होते हैं, जो चरण रूप पाद देवताओं के भी शिरो पर आक्रमण करते है, इस प्रकार सूर्य के दोनों ही अर्थात् किरण रूप और चरण रूप पाद आप लोगों का कल्याण करें।

इस तरह शब्द शक्तिमूल अनुस्वान रूप व्यंग्य ध्वनि के दूसरे भी प्रकार हैं, उनका सहृदय लोग स्वयं अनुसरण करें। यहाँ ग्रन्थ के विस्तार के भय से उनका विशद विवेचन नहीं किया गया है।

अर्थ शक्त्युद्भवस्त्वन्यो यत्रार्थः स प्रकाशते ।
यस्तात्पर्येण वस्त्वन्यद् व्यनक्त्युक्तिं विना स्वतः ॥२२॥

श्रीधरी—अर्थशक्त्युद्भवस्तु = अर्थ शक्त्युद्भव ध्वनि तो, अन्यः = अन्य है, यत्र = जहाँ, स अर्थः प्रकाशते = वह अर्थ प्रकाशित होता है, यः = जो, उक्तिं विना = उक्ति के बिना, तात्पर्येण = तात्पर्य रूप से, स्वतः = अपने आप ही, अन्यद् वस्तु = अन्य वस्तु को, व्यनक्ति = प्रकाशित करता है।

अर्थ—अर्थ शक्त्युद्भव ध्वनि तो दूसरी है, जहाँ वह अर्थ प्रकाशित होता है जो उक्ति के बिना तात्पर्य रूप से स्वतः अन्य वस्तु को प्रकाशित करता है।

यत्रार्थः स्व सामर्थ्यादर्थान्तरमभिव्यनक्ति शब्द व्यापारं विनैव सोऽर्थ शक्त्युद्भवो नामानुस्वानोपम व्यंग्यो ध्वनिः।

श्रीधरी—यत्र = जहाँ, अर्थः = अर्थ, शब्द व्यापारं विनैव = शब्द व्यापार के बिना ही, स्वसामर्थ्यात् = अपने सामर्थ्य से, अर्थान्तरमभिव्यनक्ति = अर्थान्तर को अभिव्यक्त करता है, स = वह, अर्थ शक्त्युद्भवोनाम = अर्थ शक्त्युद्भव नाम का, अनुस्वानोपम व्यंग्यो ध्वनिः = अनुस्वानोपम व्यंग्य ध्वनि है।

अर्थ—जहाँ अर्थ शब्द व्यापार के बिना ही अपने सामर्थ्य से अर्थान्तर को अभिव्यक्त करता है, वह अर्थशक्त्युद्भव नाम को अनुस्वानोपम व्यंग्य ध्वनि है। जैसे—

एवं वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी ।
लीला कमल पत्राणि गणयामास केवलम् ॥

अत्र हि लीलाकमलपत्र गणनमुपसर्जनीकृत स्वरूपं शब्द व्यापारं विनैवार्थान्तरं व्यभिचारि भावलक्षणं प्रकाशयति। न चायमलक्ष्यक्रम व्यंग्यस्यैव ध्वनेर्विषयः, यतो यत्र साक्षाच्छब्द निवेदितेभ्यो विभावानुभाव-व्यभिचारिभ्यो रसादीनां प्रतीतिः, स तस्य केवलस्य मार्गः। यथा कुमार-संभवे मधुप्रसंगे वसन्त पुष्पाभरणं वहन्त्या देव्या आगमनादि वर्णनं मनोभव शरसन्धान पर्यन्तं शम्भोश्च परिवृत्त धैर्यस्य चेष्टाविशेष वर्णनादि साक्षाच्छब्द निवेदितम्। इह तु सामर्थ्याक्षिप्त व्यभिचारिमुखेन रस प्रतीतिः। तस्मादयमन्यो ध्वने प्रकारः।

श्रीधरी—एवं वादिनी देवर्षौ = देवर्षि के ऐसा कहने पर, पितुः पार्श्वे = पिता के बगल में, अधोमुखी = नीचे की ओर मुख किये हुए पार्वती, केवलम् लीला-कमल पत्राणि गणयामास = केवल लीलाकमल के पत्तों को गिनने लगी।

अत्र हि = यहाँ, लीलाकमलपत्रगणनमुपसर्जनीकृतस्वरूपं = लीला कमल के पत्तों को गिनना (यह अर्थ) अपने स्वरूप को गुणीभूत करके, शब्द व्यापारं विनैव = शब्द व्यापार के बिना ही, व्यभिचारिभावलक्षण अर्थान्तर प्रकाशयति = व्यभिचारी भाव रूप अर्थान्तर को प्रकट करता है, न चायमलक्ष्यक्रम व्यंग्यस्यैव ध्वनेर्विषय. = यह अलक्ष्यक्रम व्यंग्य ही ध्वनि का विषय नहीं है, यतः = क्योंकि, यत्र = जहाँ साक्षाच्छब्द निवेदितेभ्यो = साक्षात् शब्द द्वारा निवेदित, विभावानुभाव व्यभिचारिभ्यो = विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों से, रसादीना प्रतीति = रस आदि की प्रतीति होती है, स तस्य केवलस्य मार्ग = वह केवल उसका मार्ग है, यथा = जैसे, कुमारसम्भवे = कुमारसम्भव मे, मधुप्रसगे वसन्तपुष्पाभरणं वहन्त्या = वसन्त ऋतु मे पुष्पों का आभरण धारण किये हुए, देव्या = पार्वती का, आगमनादि वर्णन = आगमन आदि वर्णन, मनोभव शरसन्धान पर्यन्त = कामदेव के शरसन्धान पर्य न, परिवृत्त धैर्यस्य शम्भोश्च = समाप्त धैर्य वाले शङ्कर के, चेष्टाविशेष वर्णनादि = चेष्टा विशेष का वर्णन आदि, साक्षाच्छब्द निवेदितम् = साक्षात् शब्द द्वारा निवेदन किया गया, इह तु = यहाँ, सामर्थ्याक्षिप्त व्यभिचारि मुखेन = यहाँ सामर्थ्य से आक्षिप्त व्यभिचारी के द्वारा, रस प्रतीति. = रस की प्रतीति होती है, तस्मात् = इसलिये, अयम् अन्योध्वनेः प्रकारः = यह ध्वनि का दूसरा प्रकार है।

अर्थ—इस प्रकार देवर्षि के कहने पर पिता के पास में बैठी हुई पार्वती नीचे की ओर मुंह करके लीला कमल के पत्तों को गिनने लगी।

यहाँ लीला कमल के पत्तो का गणन यह अर्थ अपने स्वरूप को गुणीभूत करके शब्द व्यापार के बिना ही व्यभिचारी भाव रूप अर्थान्तर को प्रकाशित करता है। यह अलक्ष्यक्रम व्यंग्य ही ध्वनि का विषय नहीं है क्योंकि जहाँ साक्षात् शब्द द्वारा निवेदित विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों से रस आदि की प्रतीति होती है, वह केवल उसका मार्ग है। जैसे कुमारसम्भव मे वसन्त ऋतु मे फूलों का आभरण धारण किये हुए देवी पार्वती का आगमन आदि वर्णन और कामदेव के शरसन्धान पर्यन्त धैर्य के समाप्त प्रायः हो जाने के कारण शङ्कर के चेष्टा विशेष का वर्णन आदि साक्षात् शब्द द्वारा कहा गया है। यहाँ सामर्थ्य से आक्षिप्त व्यभिचारी के द्वारा रस की प्रतीति होती है। इसलिये यह ध्वनि का दूसरा प्रकार है।

यत्र च शब्दव्यापार सहायोऽर्थोऽर्थान्तरस्य व्यञ्जकत्वेनोपादीयते स नास्य ध्वनेर्विषयः। यथा—

श्रीधरी—यत्र च = जहाँ, शब्द व्यापार सहायोऽर्थो = शब्द व्यापार की सहायता से अर्थ, अर्थान्तरस्य = अर्थान्तर के, व्यञ्जकत्वेनोपादीयते = व्यञ्जक रूप से उपादान किया जाता है, स अस्य ध्वने: विषय. न = वह इस ध्वनि का विषय नहीं है, यथा = जैसे—

अर्थ—जहाँ शब्द व्यापार की सहायता से अर्थ अर्थान्तर के व्यञ्जक रूप से उपादान किया जाता है वह इस ध्वनि का विषय नहीं है, जैसे—

सङ्केतकालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया ।
हसन्नेत्रार्पिताकूतं लीलापद्मं निमीलितम् ॥

श्रीधरी—विदग्धया=विदग्धा नायिका ने, विटं=विट को, संकेतकालमनसं=संकेत स्थल पर पहुँचने का समय जानना चाहता है, इति ज्ञात्वा=यह जानकर, हसन्=हँसते हुए, नेत्रार्पिताकूतं=नेत्र द्वारा अभिप्राय प्रकट करके, लीलापद्म=हाथ में स्थित लीला कमल को, निमीलितम्=ढँक दिया।

अर्थ—विदग्धा नायिका ने यह जानकर कि विट संकेत के स्थान पर पहुँचने का समय जानना चाहता है, हँसते हुए नेत्र द्वारा अभिप्राय प्रकट करके, अपने हाथ में स्थित लीला कमल को ढँक दिया।

अत्र लीला कमल निमीलनस्य व्यञ्जकत्वं मुक्त्यैव निवेदितम्। तथा च—

श्रीधरी—अत्र=यहाँ, लीला कमल निमीलनस्य=लीला कमल के निमीलन का, व्यञ्जकत्वं=व्यञ्जकत्व, उक्त्यैव निवेदितम्=उक्ति द्वारा ही निवेदन किया गया है, तथा च=और उस प्रकार=

अर्थ—यहाँ लीलाकमल के निमीलन का व्यञ्जकत्व उक्ति द्वारा ही निवेदन किया गया है और उस प्रकार—

शब्दार्थ शक्त्या क्षिप्तोऽपि व्यंग्योऽर्थः कविना पुन ।
यत्राविष्क्रियते स्वोक्त्या सान्यैवालंकृतिर्ध्वनेः ॥२३॥

श्रीधरी—शब्दार्थ शक्त्या=शब्दार्थ की शक्ति से, क्षिप्तोऽपि=आक्षिप्त भी, व्यंग्योऽर्थः=व्यंग्य अर्थ, यत्र=जहाँ, कविना=कवि के द्वारा, स्वोक्त्या पुनः आविष्क्रियते=अपनी उक्ति से पुन आविष्कृत किया जाता है, सा अन्यैव ध्वनेः अलंकृतिः=वह ध्वनि का अन्य ही अलंकार है।

अर्थ—शब्दार्थ की उक्ति से आक्षिप्त भी व्यंग्य अर्थ जहाँ कवि के द्वारा पुन. अपनी उक्ति से आविष्कृत किया जाता है, वह ध्वनि का अन्य ही अलकार है।

शब्द शक्त्यार्थशक्त्या शब्दार्थशक्त्या वाक्षिप्तोऽपि व्यंग्योऽर्थः कविना पुनर्यत्रस्वोक्त्या प्रकाशीक्रियते सोऽस्मादनुस्वानोपमव्यंग्याद् ध्वनेरन्यएवालंकार. । अलक्ष्यक्रम व्यंग्यस्य वा ध्वनेः सतिसम्भवे स तादृगन्योऽलंकारः। तत्र शब्द शक्त्या यथा—

श्रीधरी—शब्दशक्त्या=शब्द शक्ति से, अर्थशक्त्या=अर्थ शक्ति से, शब्दार्थशक्त्या वा=या शब्दार्थ शक्ति से, आक्षिप्तोऽपि=आक्षिप्त भी, व्यंग्योऽर्थः=व्यंग्य अर्थ, कविना=कवि के द्वारा, स्वोक्त्या यत्र पुन. प्रकाशीक्रियते=अपनी उक्ति से पुनः जहाँ प्रकाशित किया जाता है, सः=वह, अस्मात्=इस, अनुस्वानोपम व्यंग्यात्=अनुस्वानोपम व्यंग्य से, ध्वनेः=ध्वनि का, अन्य एवा लंकारः=अन्य ही

अलंकार है, वा = अथवा, असंलक्ष्यक्रम व्यंग्यस्य ध्वनेः = असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि के, सतिसम्भवे = सम्भव होने पर, स तादृगन्यो अलंकारः = वह उस प्रकार का अन्य अलंकार है, तत्र = उनमें, शब्द शक्त्या यथा = शब्द शक्ति से जैसे—

अर्थ—शब्द शक्ति से, अर्थ शक्ति से या शब्दार्थ शक्ति से आक्षिप्त भी व्यंग्य अर्थ कवि के द्वारा पुनः जहाँ अपनी उक्ति में प्रकाशित किया जाता है, वह इस अनुस्वानोपम व्यंग्य ध्वनि से अन्य ही अलंकार है अथवा असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि के सम्भव होने पर वह उस प्रकार का अन्य अलंकार है। उनमें शब्द शक्ति से जैसे—

वत्से मा गा विषादं श्वसनमुरुजवं सन्त्यजोर्ध्वप्रवृत्तं
कम्पः को वा गुरुस्ते भवतु बलभिदा जृम्भितेनात्र याहि।
प्रत्याख्यानं सुराणामिति भयशमनच्छद्मना कारयित्वा,
यस्मै लक्ष्मीमदाद्वः स दहतु दुरितं मन्थ मूढां पयोधिः॥

श्रीधरी—वत्से = बेटी, विषादं मा गाः = दुःख का अनुभव मत कर, या विषादं अर्थात् विष का भक्षण करने वाले शंकर के पास मत जा, उरु जवं श्वसनं सन्त्यज = वेग से ऊपर की सांस न ले या वायु और अग्नि को छोड़ दे, ते गुरुः कम्पः कः = तुझे अधिक कम्प क्यों है, या जलपति वरुण या ब्रह्मा तेरे गुरु हैं, बलभिदा जृम्भितेनभवतु = बल तोड़ देने वाले जृम्भित को रोक, बलभिदा जृम्भितेनात्र याहि = या ऐश्वर्य मदमस्त इन्द्र को जाने दे, इति = इस प्रकार, भय शमनच्छद्मना = भयशमन के व्याज से, सुराणां प्रत्याख्यानंकारयित्वा = देवताओं का निराकरण कराकर, मन्थमूढां = समुद्रमन्थन से डरी हुई, पयोधिः = समुद्र ने, यस्मैलक्ष्मीमदात् = जिस विष्णु को लक्ष्मी को अर्पित किया, सः = वह विष्णु, वः = आप लोगों के, दुरितं दहतु = पापों को नाश करें।

अर्थ—हे बेटी, दुःख का अनुभव मत कर (विषाद अर्थात् विष का भक्षण करने वाले शंकर के पास न जा) वेग से ऊपर की श्वास न ले (वायु और अग्नि को छोड़ दे) अधिक कम्पित क्यों है ? (जलपति वरुण या ब्रह्मा तेरे गुरु हैं) बल तोड़ देने वाले जृम्भित को रोक (ऐश्वर्य-मदमस्त इन्द्र को जाने दे) इस प्रकार भय शमन के व्याज से देवताओं का निराकरण करके समुद्र ने मन्थन से डरी हुई लक्ष्मी को जिस विष्णु को अर्पित किया, वह विष्णु भगवान् आप लोगों के पापों को शान्त करे।

अर्थशक्त्या यथा—

अम्बा शेतेऽत्र वृद्धा परिणत वयसामग्रणीरत्र तातो,
निःशेषागारकर्म श्रमशिथिलि तनुः कुम्भदासी तथात्र।
अस्मिन् पापाहमेका कतिपय दिवस प्रोषित प्राणनाथा,
पान्थायेत्थं तरुण्या कथितमवसर व्याहृति व्याजपूर्वम्॥

उभयशक्त्या यथा—'दृष्ट्या केशव गोपराग हृतया'—इत्यादौ।

श्रीधरी—अत्र=यहाँ, वृद्धा=बूढ़ी, अम्बात्रशेते=माँ सोती है, परिणत वयसामग्रणी=बूढ़ों में अग्रगण्य, तातः=पिता, अत्र शेते=यहाँ सोते हैं, निःशेषागारकर्मश्रमशिथिलतनुः=घर के सारे कामों से थककर बेखबर होकर अत्र कुम्भदासी=यहाँ पनिहारिन सोती है, कतिपयदिवस प्रोषितप्राणनाथा=कुछ ही दिनों से जिसके प्राणनाथ परदेश चले गये है, अह=ऐसी मैं, एका=अकेली, अस्मिन्=यहाँ सोती हूँ, इत्थं=इस प्रकार, तरुण्या=तरुणी ने, पान्थाय=पथिक से, अवसर व्याहृतिव्याजपूर्वम्=मौके के बहाने, कथितम्=कहा।

उभयशक्त्या यथा=उभय शक्ति से जैसे, दृष्ट्या केशव गोप रागहृतया० इत्यादि में।

अर्थ—अर्थ शक्ति से जैसे—

यहाँ बूढ़ी माँ सोती है, बूढ़ों में अग्रगण्य पिता यहाँ सोते है, और घर के सारे कामों से थककर बेखबर होकर पनिहारिन यहाँ पर सोती है, कुछ ही दिनों से जिसके प्राणनाथ परदेश चले गये हैं ऐसी मैं पापिन यहाँ सोती हूँ। इस प्रकार तरुणी ने पथिक से मौके के बहाने कहा।

उभय शक्ति से जैसे—'दृष्ट्या केशव गोपराग हृदयता० इत्यादि में।

प्रौढोक्तिमात्र निष्पन्न शरीरः सम्भवी स्वतः।
अर्थोऽपि द्विविधो ज्ञेयो वस्तुनोऽन्यस्य दीपकः॥२४॥

श्रीधरी—अन्यस्य वस्तुनः=अन्य वस्तु का, दीपक अर्थोऽपि=दीपक अर्थ भी, द्विविधोज्ञेयो=दो प्रकार का जानना चाहिए, प्रौढोक्तिमात्र निष्पन्न शरीरः=प्रौढोक्ति मात्र में निष्पन्न शरीर वाला, स्वत. सम्भवी=और स्वत सम्भवी।

अर्थ—अन्य वस्तु का दीपक अर्थ भी दो प्रकार का समझना चाहिए-एक प्रौढोक्ति से निष्पन्न शरीर वाला और दूसरा स्वतः सम्भवी।

अर्थशक्त्युद्भवानुरणन रूप व्यंग्ये ध्वनौ योव्यञ्जकोऽर्थ उक्तस्तस्यापि द्वौ प्रकारौ—कवेः कवि निबद्धस्य वा वक्तुः प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्न शरीर एकः, स्वतस्सम्भवी च द्वितीयः।

श्रीधरी—अर्थशक्त्युद्भवानुरणन रूप व्यंग्येध्वनौ=अर्थ शक्त्युद्भव अनुरणन रूप व्यंग्य ध्वनि में, यो व्यञ्जकोऽर्थ उक्त=जो व्यञ्जक अर्थ कहा है, तस्य अपि=उसके भी, द्वौप्रकारौ=दो प्रकार हैं, कवेः=कवि की, कवि निबद्धस्य वा वक्तुः=या कवि निबद्ध वक्ता की, प्रौढोक्तिमात्र निष्पन्न शरीर एकः=प्रौढ़ उक्ति मात्र से निष्पन्न शरीर वाला एक, स्वतः सम्भवी च द्वितीय;=और स्वतः सम्भवी दूसरा।

अर्थ– अर्थशक्त्युद्भव अनुरणन रूप व्यंग्य ध्वनि मे जो व्यञ्जक अर्थ कहा है उसके भी दो प्रकार हैं—कवि की अथवा कवि निबद्ध वक्ता की प्रौढ उक्तिमात्र से निष्पन्न शरीर वाला एक और स्वतः सम्भवी दूसरा।

कवि प्रौढोक्तिमात्र निष्पन्न शरीरो यथा—

सज्जेहि सुरहिमासो ण दाव अप्पेइ जुअइजण लक्ख मुहे।
अहिण वसह आरमुहे णवपल्लवपत्तले अणङ्गस्स शरे॥
[सज्जयति सुरभिमासो,
न तावदर्पयति युवतिजन लक्ष्य मुखान्।
अभिनब सहकार मुखात्,
नव पल्लव पत्र लाननङ्गस्य शरान्॥]

श्रीधरी—कविप्रौढोक्तिमात्र निष्पन्न शरीर.=कवि की प्रौढ उक्तिमात्र से निष्पन्न शरीर वाला, यथा= जैसे, सुरभिमास =वसन्तमास, युवतिजनलक्ष्य-मुखान्=युवति जनों को लक्ष्य करने वाले मुखो से युक्त किंवा बाण के फल, नव पल्लव= नये पत्तो से युक्त, पत्रलान=पत्रो से युक्त, अभिनव सहकार मुखान् = अभिनव सहकार प्रभृति, अनङ्गस्य शरान्= कामदेव के वाणो को, न तावत् अर्पयति= प्रहार करने के लिये अर्पित नही कर रहा है।

अर्थ—कवि की प्रौढ उक्ति मात्र से निष्पन्न शरीर वाला जैसे—

वसन्तमास युवति जनो को लक्ष्य करने वाले मुखों अर्थात् बाण के फल से युक्त नये पल्लवो के पत्तों से युक्त, नये सहकार प्रभृति कामदेव के वाणों को तैयार कर रहा है, अभी प्रहार करने के लिये उन्हे कामदेव को अर्पित नही कर रहा है।

कवि निबद्ध वक्तृ प्रौढोक्ति मात्र निष्पन्नशरीरो यथोदाहृतमेव—
'शिखरिणित०' इत्यादि। यथा वा—

साअर विइण्ण जोव्वण हत्थालम्बं समुण्णमन्तेहिम्।
अब्भुट्ठाणं विअ मम्महस्स दिण्णं तुह थणेहिम्॥

श्रीधरी—कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्र निष्पन्नशरीरो=कवि के द्वारा निबद्ध वक्ता की प्रौढ उक्तिमात्र से निष्पन्न शरीर वाला, यथोदाहृतमेव=जैसे पहले ही उदाहरण दे दिया है—'शिखरिणि'० इत्यदि, यथा वा=अथवा जैसे—

सादर वितीर्णयौवन हस्तालम्बं= आदर के साथ यौवन द्वारा हस्तावलम्ब दिये जाने पर, समुन्नमद्भ्याम्=उठते हुए, तव स्तनाभ्याम्=तुम्हारे स्तनो ने, मन्मथस्य=कामदेव के, अभ्युत्थानमिव दत्तम्=(स्वागत मे) अभ्युत्थान सा दिया है।

अर्थ—आदर के साथ यौवन द्वारा हस्तावलम्ब दिये जाने पर उठते हुए तुम्हारे स्तनो ने कामदेव को स्वागत में अभ्युत्थान सा प्रदान किया है।

स्वतः सम्भवी य औचित्येन बहिरपि सम्भाव्यमानसद्भावो न केवल भणितिवशेनैवाभिनिष्पन्नशरीरः । यथोदाहृतम्—'एवं वादिनि' इत्यादि । यथा वा—

सिहिपिच्छकण्णपूरा जाआ वाहस्स गव्विरी भमइ ।
मुत्ताफलरइअपसाहणाणं— मज्झे —सवत्तीणम् ॥

श्रीधरी—स्वतः सम्भवी यः=स्वतः सम्भवी वह है, औचित्येन बहिरपि=औचित्य से बाहर भी, सम्भावित सद्भावो=जिसका सद्भाव सम्भावित हो रहा है, न केवल भणिति वशेनैवाभिनिष्पन्न शरीरः=न केवल उक्ति द्वारा ही जिसका शरीर अभिनिष्पन्न है, यथोदाहृतम्='एवं वादिनी' इत्यादि जैसा कि उदाहृत है—'एवं वादिनि' इत्यादि ।

शिखिपिच्छ कर्णपूरा=मोर पंखों के कर्ण फूल पहने हुए, व्याधस्य जाया=व्याध की पत्नी, मुक्ताफलरचित प्रसाधनानां=मोतियों के गहने पहने हुई, सपत्नीनां मध्ये=अपनी सौतों के बीच, गर्विणी भ्रमति=गर्वीली होकर घूम रही है ।

अर्थ—स्वतः सम्भवी वह है, औचित्य के बाहर भी जिसका सद्भाव सम्भावित हो रहा हो न केवल उक्ति द्वारा ही जिसका शरीर अभिनिष्पन्न है । जैसे—उदाहरण दिया जा चुका है—'एवं वादिनि०' इत्यादि । अथवा जैसे—

मोर परों के कर्णफूल पहनी हुई व्याध की पत्नी मोतियों के गहने पहनी हुई अपनी सौतों के बीच गर्व से घूम रही है ।

अर्थ शक्तेरलंकारो यत्राप्यन्यः प्रतीयते ।
अनुस्वानोपम व्यंग्यः स प्रकारोऽपरो ध्वनेः ॥२५॥

वाच्यालंकार व्यतिरिक्तो यत्रान्योऽलंकारोऽर्थ सामर्थ्यात्प्रतीयमानो-ऽवभासते सोऽर्थ शक्त्युद्भवो नामानुस्वानरूप व्यंग्योऽन्यो ध्वनिः ।

श्रीधरी—अर्थ शक्तिः=अर्थ शक्ति के द्वारा, यत्र अन्यः अपि अलंकारो प्रतीयते=जहाँ अन्य भी अलंकार प्रतीत होता है, सः=वह, अनुस्वानोपम व्यंग्य ध्वनेः=अनुस्वानोपम व्यंग्य ध्वनि का, अपरः प्रकारः=दूसरा प्रकार है ।

वाच्यालंकार व्यतिरिक्तो=वाच्यालंकार से अतिरिक्त, यत्र=जहाँ, अन्यः अलंकारः=अन्य अलंकार, ... हुआ, अवभासते=अवभासित ... नाम का, अनुस्वानरूप व्यंग्यो=अनुस्वान रूप व्यंग्य, अन्यो ध्वनिः=अन्य ध्वनि है ।

अर्थ—अर्थ शक्ति से जहाँ भी अन्य अलंकार प्रतीत होता है, वह अनुस्वानोपम व्यंग्य का अन्य प्रकार है ।

वाच्य अलंकार के अतिरिक्त जहाँ अन्य अलंकार अर्थ सामर्थ्य से प्रतीत होता हुआ अवभासित होता है, वह अर्थ शक्त्युद्भव नाम का अनुस्वान रूप व्यंग्य ध्वनि है।

तस्य प्रविरलविषयत्वमाशङ्क्येदमुच्यते —

रूपकादिरलंकार वर्गो यो वाच्यतां श्रितः।
स सर्वो गम्यमानत्वं बिभ्रद् भूम्ना प्रदर्शितः॥२६॥

अन्यत्र वाच्यत्वेन प्रसिद्धो यो रूपकादिरलंकारः सोऽन्यत्र प्रतीयमानतया बाहुल्येन प्रदर्शितस्तत्र भवद्भिर्भट्टोद्भटादिभिः। तथा च ससन्देहादिषूपमारूपातिशयोक्तीनां प्रकाशमानत्वं प्रदर्शितमित्यलंकारान्तरस्यालंकारान्तरे व्यंग्यत्वं न यत्न प्रतिपाद्यम्—

श्रीधरी—तस्य=उसके, प्रविरलविषयमाशङ्क्य=प्रविरल विषय होने की आशङ्का करके, इदमुच्यते=यह कहते हैं—

रूपकादिरलंकारवर्गः=रूपक आदि अलंकार वर्ग, यः=जो, वाच्यता श्रितः=वाच्यता का आश्रयण करता है, स सर्वो=वह सब, गम्यमानत्वं बिभ्रद्=गम्यमान रूप में, भूम्ना=विस्तार के साथ, प्रदर्शितः=दिखाया गया है।

अन्यत्र वाच्यत्वेन प्रसिद्धो=अन्यत्र वाच्यत्व रूप से प्रसिद्ध, य रूपकादिरलंकारः=जो रूपक आदि अलंकार है, सः=वह, अन्यत्र प्रतीयमानतया=प्रतीयमान रूप से, बाहुल्येन=अधिक रूप में, तत्रभवद्भिर्भट्टोद्भट्टादिभिः=आदरणीय भट्टोद्भट्ट प्रभृति आचार्यों के द्वारा, प्रदर्शितः=दिखाया गया है, तथा च=जैसा कि, ससन्देहादिषु=ससन्देह आदि अलंकारों में, उपमारूपकातिशयोक्तीनां=उपमा रूपक और अतिशयोक्ति का, प्रकाशमानत्वं प्रदर्शितं=प्रकाशित होना दिखाया गया है, इति=इस प्रकार, अलंकारान्तरस्य=अलंकारान्तर का, अलंकारान्तरे=अलंकारान्तर में, व्यंग्यत्व=व्यंग्यत्व, यत्नप्रतिपाद्यं न=यत्न प्रतिपाद्य नहीं है।

अर्थ—उसके अविरल विषय होने की आशंका करके कहते हैं—

रूपक आदि अलंकार वर्ग जो वाच्यता का आश्रयण करता है, वह सब गम्यमान रूप में बहुत विस्तार से दिखाया गया है।

अन्यत्र वाच्य रूप से प्रसिद्ध जो रूपक आदि अलंकार हैं, वह अन्यत्र प्रतीयमान रूप से बाहुल्य के साथ आदरणीय उद्भट आदि आचार्यों के द्वारा दिखाये गये हैं। जैसा कि ससन्देह आदि अलंकारों में उपमा रूपक, अतिशयोक्ति का प्रकाशित होना दिखाया गया है। इस प्रकार अलंकारान्तर का अलंकारान्तर में व्यंग्य होना यत्न प्रतिपाद्य नहीं है।

इयत्पुनरुच्यत एव—

अलंकारान्तरस्यापि प्रतीतौ यत्र भासते।
तत्परत्वं न वाच्यस्य नासौ मार्गो ध्वनेर्मतः॥२७॥

अलंकारान्तरेषु त्वनुरणनरूपालंकार प्रतीतौ सत्यामपि यत्र वाच्यस्य व्यंग्य प्रतिपादनोन्मुख्येन चारुत्वं न प्रकाशते नासौ ध्वनेर्मार्गः। तथा च दीपकादावलंकारे उपमायागम्यमानत्वेऽपि तत्परत्वेन चारुत्वस्या व्यवस्थानान्न ध्वनि व्यपदेशः।

श्रीधरी—इयत्पुन रुच्यत एव=इतना तो फिर कहते ही हैं—

अलंकारान्तरस्यापि=अलंकारान्तर की भी, प्रतीतौ=प्रतीति में, यत्र=जहां, वाच्यस्य=वाच्य का, तत्परत्वं न भासते=तत्परत्व भासित नहीं होता, असौ मार्गः=यह मार्ग ध्वनेर्नमतः=ध्वनि का नहीं माना गया है।

अलकारान्तरेषु तु=अलंकारान्तरों में, अनुरणनरूपालंकार प्रतीतौ सत्यामपि=अनुरणन रूप अलकार की प्रतीति के होने पर भी, यत्र=जहां, वाच्यस्य=वाच्य का, व्यंग्य प्रतिपादनोन्मुख्येन=व्यंग्य के प्रतिपादन के औन्मुख्य से, चारुत्व न प्रकाशते=चारुत्व प्रकट नहीं होता, नासौ ध्वनेर्मार्गः=वह ध्वनि का मार्ग नहीं है, तथा च=जैसा कि, दीपकादावलंकारे=दीपक आदि अलंकार में, उपमायागम्यमानत्वेऽपि=उपमा के गम्यमान होने पर भी, तत्परत्वेन=तत्पर रूप से, चारुत्वस्या व्यवस्थानात्=चारुत्व के न होने पर, न ध्वनि व्यपदेशः=ध्वनि का व्यपदेश नहीं होता।

अर्थ—इतना तो फिर कहते ही हैं अलंकारान्तर की भी प्रतीति में अनुरणन रूप अलकार की प्रतीति के होने पर भी जहां वाच्य का व्यंग्य के प्रतिपादन के औन्मुख्य से चारुत्व प्रकट नहीं होता, वह ध्वनि का मार्ग नहीं है। जैसा कि दीपक आदि अलकार में उपमा के गम्यमान होने पर भी तत्पर रूप से चारुत्व के न होने पर ध्वनि का व्यपदेश नहीं होता।

यथा—

चन्द मऊएहि णिसा णलिनी कमलेहि कुसुमगुच्छेहि लआ।
हंसेहि सरअ सोहा कव्वकहा सज्जनेहि करइ गरुई॥
[चन्द्रमयूखैर्निशा नलिनी कमलैः कुसुम गुच्छैर्लता।
हंसैश्शारदशोभा काव्यकथा सज्जनैः क्रियते गुर्वी॥]

श्रीधरी—यथा=जैसे, चन्द्रमयूखैः=चन्द्रमा की किरणों से, निशा=रात्रि, कमलैः=कमलों से नलिनी, कुसुमगुच्छैं लता=फूलों के गुच्छों से लता, हंसैः शारद शोभा=हंसों से शरद की शोभा, काव्यकथा=काव्यकथा, सज्जनैः=सज्जनों से, गुर्वी कियते=गौरवान्वित की जाती है।

अर्थ—जैसे, चन्द्रमा की किरणों से-रात्रि, कमलिनी से नलिनी, फूल के गुच्छों से लता, हंसों से शरत्काल की शोभा और काव्य कथा सज्जनों से गौरवान्वित की जाती है।

इत्यादिषूपमागर्भत्वेऽपि सति वाच्यालंकार मुखेनैव चारुत्वं व्यवतिष्ठते न व्यंग्यालंकार तात्पर्येण । तस्मात्तत्र वाच्यालंकार मुखेनैव काव्यव्यपदेशो न्याय्यः । यत्र तु व्यंग्य परत्वेनैव वाच्यस्य व्यवस्थानं तत्र व्यंग्य मुखेनैव व्यपदेशो युक्तः । यथा—

श्रीधरी—इत्यादिषु = इत्यादि में, उपमागर्भत्वेऽपि = उपमागर्भित होने पर भी, वाच्यालंकार मुखेनैव चारुत्व = वाच्य अलंकार के प्रकार से ही चारुत्व, व्यवतिष्ठते = व्यवस्थित होता है, न व्यंग्यालंकार तात्पर्येण = व्यंग्य अलंकार के तात्पर्य से नहीं, तस्मात् = इसलिये, तत्र = वहाँ, वाच्यालंकारमुखेनैव = वाच्य अलंकार के प्रकार से ही, काव्य व्यपदेशो न्याय्यः = काव्य व्यपदेश उचित है, यत्र तु = जहाँ, व्यंग्यपरत्वेनैव = व्यंग्यपर रूप से ही, वाच्यस्य व्यवस्थान = वाच्य का व्यवस्थान हो, तत्र = वहाँ, व्यंग्य मुखेनैव = व्यंग्य के प्रकार से ही, व्यपदेशो युक्तः = व्यपदेश उचित है, यथा = जैसे —

अर्थ इत्यादि के उपमा से गर्भित होने पर भी वाच्य अलङ्कार के प्रकार से ही चारुत्व व्यवस्थित होता है, व्यंग्य अलंकार के तात्पर्य से नहीं। इसलिये वहाँ वाच्य अलंकार के प्रकार से ही काव्य व्यपदेश समीचीन है, किन्तु जहाँ व्यंग्यपरक ही वाच्य का व्यवस्थान हो वहाँ व्यंग्य के प्रकार से ही व्यपदेश उचित है। जैसे —

प्राप्तश्रीरेष कस्मात्पुनरपि मयि तं मन्थखेदं विदध्या,
न्निद्रामप्यस्यपूर्वामनलसमनसो नैव सम्भावयामि।
सेतुं बध्नाति भूयः किमिति च सकलद्वीपनाथानुयात,
स्त्वय्यायाते वितर्कानिति दधत इवाभाति कम्पः पयोधेः॥

श्रीधरी—एष प्राप्तश्रीः = इसे लक्ष्मी प्राप्त हो गई है, पुनः मयि कस्मात् = फिर क्यों मुझे, मन्थखेदं विदध्यात् = मन्थन करने का कष्ट करेगा, अनलसमनसः = आलस्य रहित मन वाले, अस्य = इसकी, पूर्वां निद्रामपि = पहली निद्रा की भी, नैव सम्भावयामि = सम्भावना नहीं ही करता हूँ, किम् = क्या, सकलद्वीपनाथानुयातः = समस्त द्वीपनाथों से युक्त यह, भूयः = फिर से, सेतुं बध्नाति = पुल बनायेगा, इति = इस प्रकार, त्वय्यायाते = तुम्हारे आने पर, वितर्कान् दधत इव = वितर्कों को मानो धारण करते हुए, पयोधेः = समुद्र का, कम्पः आभाति = कम्प प्रतीत होता है।

अर्थ—जबकि इसे लक्ष्मी प्राप्त हो गई है, तब फिर यह क्यों मेरा मन्थन करने का कष्ट करेगा? आलस्यरहित मन वाले इसकी पहली निद्रा की भी सम्भावना नहीं ही करता हूँ। क्या समस्त द्वीपपतियों युक्त होकर यह फिर से पुल बनायेगा? इस प्रकार तुम्हारे आने पर वितर्कों को मानो धारण करते हुए समुद्र का कम्प सा प्रतीत होता है

यथा या ममैव—

लावण्य कान्ति परिपूरित दिङ्मुखेऽस्मिन्,
स्मेरेऽधुना तव मुखे तरलायताक्षि।
क्षोभं यदेति न मनागपि तेन मन्ये,
सुव्यक्तमेव जलराशिरयं पयोधिः ॥

इत्येवं विधे विषयेऽनुरणन रूपकाश्रयेण काव्यचारुत्वव्यवस्थानाद्रूपक ध्वनिरितिव्यपदेशो न्याय्यः।

श्रीधरी—यथा वा=अथवा जैसे, ममैव=मेरा ही, तरलायताक्षि=हे चञ्चल और दीर्घ नेत्रों वाली, लावण्यकान्ति परिपूरित दिङ्मुखे=लावण्य और कान्ति से दिशाओं को भर देने वाले, तव अस्मिन् मुखे=तुम्हारे इस मुख के, अधुना स्मेरे=इस समय कुछ विकसित होने पर, अयं पयोधिः=यह समुद्र, य=जो, मनागपि=जरा भी, क्षोभ न एति=क्षोभ को प्राप्त नहीं करता, तेन=इससे, सुव्यक्तमेव मन्ये=स्पष्ट ही सोचता हूँ, अयं जलराशिः=यह जलराशि अर्थात् जड राशि है।

इत्येव विधे विषये=इस प्रकार के विषय में, अनुरणनरूप रूपकाश्रयेण=अनुरणन रूप रूपक के आश्रयण से, काव्यचारुत्वव्यवस्थानात्=काव्य के चारुत्व के व्यवस्थित होने के कारण, रूपक ध्वनिरिति व्यपदेशो न्याय्यः=रूपक ध्वनि यह व्यपदेश ठीक है।

अर्थ—अथवा जैसे मेरा ही—

हे चञ्चल और दीर्घ नेत्रों वाली, लावण्य और कान्ति से दिशाओं को भर देने वाले तुम्हारे इस मुख के इस समय कुछ विकसित होने पर यह समुद्र जो जरा भी क्षुब्ध नहीं होता स्पष्ट ही जलराशि अर्थात् जडराशि प्रतीत होता है।

इस प्रकार के विषय में अनुरणन रूप रूपक के आश्रयण से काव्य के चारुत्व के व्यवस्थित होने के कारण 'रूपक ध्वनि' यह व्यपदेश उचित है।

उपमा ध्वनिर्यथा—

वीराणं रमइ घुसिण रुणम्मि,
ण तदा पिआथणुच्छङ्गे।
दिठ्ठी रिउगअ कुम्भत्थलम्मि,
जह बहल सिन्दूरे॥

[वीराणां रमते घुसृणारुणे न तथा प्रियास्तनोत्सङ्गे।
दृष्टीरिपुगजकुम्भस्थले यथा बहल सिन्दूरे॥]

श्रीधरी—उपमा ध्वनिर्यथा=उपमा ध्वनि जैसे, वीराणां दृष्टी=वीरों की दृष्टि, यथा=जिस प्रकार, घुसृणारुणे=सिन्दूर से भरे, रिपुगज कुम्भस्थले=

शत्रुओं के हाथियों के कुम्भस्थलों में, रमते=रमण करते हैं, तथा=उस प्रकार, वहल सिन्दूरे=सिन्दुर से लाल, प्रिया स्तनोत्सङ्गे=प्रिया के स्तनोत्सङ्ग में, न रमते=रमण नहीं करती।

अर्थ—उपमा ध्वनि जैसे—

वीरों की दृष्टि जिस तरह सिन्दूर से भरे हुए शत्रुओं के हाथियों के कुम्भ-स्थलों में रमण करती है, उस प्रकार कुसुम से लाल प्रिया के स्तनोत्सङ्ग में रमण नहीं करती।

यथा वा ममैव विपमवाण लीलायामसुर पराक्रमणे कामदेवस्य—

त ताण सिरिसहो अरर अणाहरणम्मि हिअअ मेक्करसम्।
विम्बाहरे पिआण णिवेसिअं कुसुमवाणेन॥
[तत्तेषां श्रीसहोदर रत्नाहरणे हृदय मेवरसम्।
विम्बाधरे प्रियाणां निवेशितं कुसुम वाणेन॥]

श्रीधरी—यथा वा ममैव=अथवा जैसे मेरा ही, विपमवाण लीलायां=विपम वाण लीला में, असुर पराक्रमणे=असुरों पर पराक्रम करने के अवसर पर, कामदेवस्य=कामदेव का।

तेपां=उन असुरों के, श्रीसहोदर रत्नाहरणे=लक्ष्मी के साथ पैदा होने वाले रत्नों के लूटने में, एकरसं हृदयं=एकरस हृदय को, कुसुमवाणेन=कामदेव ने, प्रियाणां=प्रियाओं के, विम्बाधरे=विम्बाधर में, निवेशितम्=संलग्न कर दिया।

अर्थ—अथवा जैसे मेरे ही विपमवाण लीला में असुरों पर पराक्रम के अवसर में कामदेव का—

उन असुरों के लक्ष्मी के साथ पैदा होने वाले रत्नों के लूटने में एक रस हृदय को कामदेव ने प्रियाओं के विम्बाधर में संलग्न कर दिया।

आक्षेप ध्वनिर्यथा—

स वक्तुमखिलाञ्शक्तो हयग्रीवाश्रितान् गुणान्।
योऽम्बुकुम्भैः परिच्छेदं ज्ञातुं शक्तो महोदधेः॥

अत्रातिशयोक्त्या हयग्रीव गुणानामवर्णनीयता प्रतिपादनरूपस्य साधारण तद्विशेषप्रकाशनपरस्याक्षेपस्य प्रकाशनम्।

श्रीधरी—आक्षेप ध्वनिर्यथा=आक्षेप ध्वनि जैसे, हयग्रीवाश्रितान्=हयग्रीव भगवान् के आश्रित, अखिलान्=समस्त, गुणान्=गुणों को, स=वह, वक्तु शक्त=वह सकता है, यः=जो, अम्बुकुम्भैः=जल के घड़ों से, महोदधेः=महासमुद्र के, परिच्छेदं=परिमाण को, ज्ञातु शक्त=जान सकता है।

अत्र=यहाँ, अतिशयोक्त्या=अतिशयोक्ति से, हयग्रीव गुणानां=हयग्रीव के गुणों की, अवर्णनीयता प्रतिपादनरूपस्य=अवर्णनीयता प्रतिपादन रूप, असाधारण-

तद्विशेष प्रकाशन परस्य = असाधारण रूप उसकी विशेषता प्रकाशन परक, आक्षेपस्य = आक्षेप का, प्रकाशनम् = प्रकाशन है।

अर्थ—आक्षेप ध्वनि जैसे—

हयग्रीव भगवान् के समस्त गुणों को वह कह सकता है, जो जल के घड़ों में महासमुद्र के परिमाण को जान सकता है।

यहाँ अतिशयोक्ति से हयग्रीव के गुणों की अवर्णनीयता प्रतिपादन रूप और उन गुणों की विशेषता प्रकाशन परक आक्षेप का प्रकाशन है।

अर्थान्तरन्यास ध्वनिः शब्द शक्तिमूलानुरणन रूप व्यंग्योऽर्थ शक्तिमूला नुरणन रूप व्यंग्यश्च सम्भवति। तत्राद्यस्योदाहरणम्—

देव्वाएत्तम्मि फले किं कीरइ एत्तिअं पुणो भणिमो।
कङ्किल्लपल्लवाः पल्लवाण अण्णाण ण सरिच्छा॥
[देवायत्ते फले किं क्रियतामेतावत्पुनर्भणामः।
रक्ताशोक पल्लवाः पल्लवानामन्येषां न सदृशाः॥]

श्रीधरी—अर्थान्तरन्यास ध्वनिः=अर्थान्तरन्यास ध्वनि, शब्दशक्तिमूलानुरणनरूप व्यंग्य = शब्दशक्तिमूलानुरणनरूप व्यंग्य, अर्थशक्तिमूलानुरणन रूप व्यंग्यश्च = अर्थशक्तिमूलानुरणनरूप व्यंग्य (इन दो प्रकारों से), सम्भवति = सम्भव है, तत्र = इनमें, आद्यस्य = प्रथम का, उदाहरणम् = उदाहरण, देवायत्तेफले = फल दैवाधीन है, किं क्रियताम् = क्या किया जाय, एतावत् पुनर्भणाम: = इतना फिर भी कहते हैं, रक्ताशोक पल्लवा = रक्त अशोक के पत्ते, अन्येषां पल्लवानां = और पत्तों के, सदृशाः = समान, न = नहीं होते।

अर्थ—अर्थान्तरन्यास ध्वनि शब्दशक्तिमूल अनुरणन रूप व्यंग्य और अर्थशक्ति मूल अनुरणन रूप व्यंग्य इन दो प्रकारों में सम्भव है। इसमें प्रथम प्रकार का उदाहरण जैसे—

फल विधाता के अधीन है, क्या किया जाय? फिर भी इतना कहते हैं कि रक्ताशोक के पत्ते अन्य पत्तों के समान नहीं होते।

पदप्रकाशश्चायं ध्वनिरिति वाक्यस्यार्थान्तर तात्पर्येऽपि सति न विरोधः। द्वितीयस्योदाहरणं यथा—

हिअअट्ठाविअमण्णुं अवरुण्ण मुहं हि मं पसाअन्त।
अवरद्धस्स वि ण हु दे पहुजाणअ रोसिउं सक्कम्॥
[हृदयस्थापितमन्युमपरोषमुखीमपि मां प्रसादयन्।
अपराद्धस्यापि न ते बहुज्ञ रोषितुं शक्यम्॥]

अत्र हि वाच्य विशेषण सापराधस्यापि बहुज्ञस्य कोपः कर्तुमशक्य इति समर्थकं सामान्यमन्वित मन्यत्तात्पर्येण प्रकाशते।

श्रीधरी—अयं = यह ध्वनि, पदप्रकाशश्च = पद प्रकाश है, इति इस लिए वाक्यस्य = वाक्य के अर्थान्तर तात्पर्येऽपि = अर्थान्तर में तात्पर्य होने पर भी, न

विरोधः=विरोध नहीं है, द्वितीयस्योदाहरणं यथा=दूसरे का उदाहरण जैसे—

हृदयस्थापित मन्युं=हृदय में क्रोध को स्थापित करके, अपरोष मुखीमपि=मुख पर क्रोध प्रकट न करके भी, मां प्रसादयन्=मुझे प्रसन्न कर रही हो, बहुज्ञ=हे बहुत समझदार, ते अपराद्धस्यापि=तुम्हारे अपराधी होने पर भी, रोषितु न शक्यम्=तुम पर क्रोध नहीं किया जा सकता।

अर्थ—यह ध्वनि पद प्रकाश्य है, इसलिये वाक्य के अर्थान्तर में तात्पर्य होने पर भी, विरोध नहीं है। दूसरे का उदाहरण जैसे—

हृदय में क्रोध स्थापित करके मुख पर क्रोध प्रकट न करने वाली मुझे तुम प्रसन्न कर रही हो। इसलिये हे बहुत समझदार, तुम्हारे अपराधी होने पर भी तुम पर क्रोध नहीं किया जा सकता।

यहाँ वाच्य विशेष से अपराधी होने पर भी बहुत समझदार पर क्रोध नहीं किया जा सकता, यह समर्थक सामान्य तात्पर्य से अन्वित अन्य विशेष को प्रकाशित करता है।

व्यतिरेक ध्वनिरप्युभय रूपः सम्भवति। तत्राद्यस्योदाहरणं प्राक्प्रदर्शित मेव।

द्वितीयस्योदाहरणं यथा—

जाएज्ज वणुद्दे से खुज्ज ब्विअ पाअवो गडिअवत्तो।
मा माणुसम्मि लोए ताएक्करसो दरिद्दो अ॥
[जायेय वनोद्देशे कुब्जएव पादपो गलित पत्रः।
मा मानुषे लोके त्यागैक रसो दरिद्रश्च॥

श्रीधरी व्यतिरेक ध्वनिरपि=व्यतिरेक ध्वनि भी, उभय रूपः सम्भवति=दो प्रकार की सम्भव है, तत्र=उनमें, आद्यस्य उदाहरण=पहले का उदाहरण, प्राक्प्रदर्शित मेव=पहले दिखा ही दिया है, द्वितीयस्य=दूसरे का, उदाहरण यथा=उदाहरण जैसे—

वनोद्देशे=जंगल के प्रदेश में, गलित पत्रः=पत्तों से रहित, कुब्जएव=कुबड़ा ही, पादपः जायेय=वृक्ष बनकर पैदा हो, मानुषे लोके=(परन्तु) मनुष्यलोक में, त्यागैकरसः=त्याग परायण, दरिद्र, मा जायेय=दरिद्र मत पैदा हो।

अर्थ—व्यतिरेक ध्वनि भी दो प्रकार की सम्भव है। उनमें प्रथम का उदाहरण पहले दिया ही जा चुका है, दूसरे का उदाहरण जैसे—

गहन जंगल में ही पत्तों से रहित कुबड़ा वृक्ष बनकर भले ही पैदा हो, पर मनुष्य लोक में त्यागपरायण और दरिद्र न हो।

अत्र हि त्यागैक रसस्य दरिद्रस्य जन्मानभिनन्दनं त्रुटितपम कुब्जपादप जन्माभिनन्दन च साक्षाच्छब्द वाच्यम्। तथाविधादपिपादपात्तादृशस्य पुंस

उपमानोपमेयत्वप्रतीतपूर्वकं शोच्यता यामाधिक्यं तात्पर्येण प्रकाशयति, उत्प्रेक्षा ध्वनिर्यथा—

चन्दनासक्त भुजगनिःश्वासानिल मूर्च्छितः।
मूर्च्छयत्येष पथिकान्मधौ मलय मारुतः॥

श्रीधरी—अत्र हि=यहाँ, त्यागैक रसस्य=त्याग परायण, दरिद्रस्य=दरिद्र पुरुष के, जन्म=जन्म का, अनभिनन्दन=अनभिनन्दन, त्रुटितपत्रकुब्जपादप ज म=पत्तों से रहित एवं कुबडे वृक्ष के जन्म का, अभिनन्दन च=अभिनन्दन भी, साक्षात् शब्दवाच्यम्=साक्षात् शब्द का वाच्य है, तथाविधादपि=उस प्रकार के भी, पादपात्=वृक्ष से, तादृशस्य पुंसः=उस प्रकार के पुरुष की, उपमानोपमेयत्व प्रतीतिपूर्वक = उपमानोपमेयत्वसम्बन्ध की प्रतीतिपूर्वक, शोच्यतायामाधिक्यं = शोचनीयता का आधिक्य, तात्पर्येण प्रकाशयति=तात्पर्य से प्रकाशित करता है, उत्प्रेक्षा ध्वनिर्यथा=उत्प्रेक्षा ध्वनि जैसे—

मधौ=वसन्त ऋतु में, चन्दनासक्त=चन्दन मे लिपटे हुए, भुजग निःश्वासानिलमूर्च्छितः=सर्पो की सास की हवा से बढी हुई, एष मलय मारुतः=यह दक्षिणी हवा, पथिकान्=पथिक जनों को, मूर्च्छयति=मूर्छित कर देती है।

अर्थ—यहाँ त्यागपरायण दरिद्र पुरुष के जन्म का अनभिनन्दन और पत्र-रहित तथा कुबड़े वृक्ष का अभिनन्दन साक्षात् शब्द का वाच्य है। उस प्रकार के भी व्यक्ति से उस प्रकार के वृक्ष की उपमानोपमेय सम्बन्ध की प्रतीतिपूर्वक तात्पर्यतः शोचनीयता का आधिक्य प्रकाशित करता है। उत्प्रेक्षा ध्वनि जैसेः—

वसन्त समय मे चन्दन मे लिपटे हुए सर्पो की मास की हवा से बढी हुई यह दक्षिणी हवा पथिक जनों को मूर्छित करती है।

अत्र हि मधौ मलयमारुतस्य पथिकमूर्च्छाकारित्वं मन्मथोन्माथदायित्वेनैव। तत्तु चन्दनासक्त भुजगनिःश्वासानिलमूर्च्छितत्वेनोत्प्रेक्षितमित्युत्प्रेक्षा साक्षादनुक्तापि वाक्यार्थ सामर्थ्यादनुरणनरूपा लक्ष्यते। न चैवं विधे विषये इवादिशब्दप्रयोगमन्तरेणासंबद्धतैवेति शक्यते वक्तुम्। गमकत्वादन्यमापि तदप्रयोगे तदर्थावगति दर्शनात्। यथा—

श्रीधरी—अत्र हि=यहाँ, मधौवसन्त समय में, मलयमारुतस्य=दक्षिणी हवा का, पथिक मूर्च्छाकारित्वं=पथिक मूर्च्छाकारी होना, मन्मथोन्माथदायित्वेनैव=काम के उन्माथदायी होने के कारण ही है, तत्तु=लेकिन उसे, चन्दनासक्त-भुजग निश्वासानिल=चन्दन मे लिपटे हुए सर्पों की सांस की हवा से, मूर्च्छितत्वेनोत्प्रेक्षितम्=बढे होने के कारण उत्प्रेक्षा की है, इति=इस प्रकार, साक्षात् अनुक्तापि उत्प्रेक्षा=साक्षात् अनुक्त भी उत्प्रेक्षा, वाक्यार्थ सामर्थ्यात्=वाक्यार्थ की सामर्थ्य से, अनुरणन रूपा लक्ष्यते=अनुरणन रूप मे लक्षित होती है, एवं विधे विषये=

अन्य अलंकार के अतिरिक्त जहाँ अन्य अलंकार अर्थ सामर्थ्य से प्रतीत होता हुआ प्रकाशित होता है, वह अर्थ शक्त्युद्भव नाम का अनुस्वान रूप व्यङ्ग्य अन्य ध्वनि है।

तस्य प्रविरलविषयत्वमाशङ्क्येदमुच्यते —

रूपकादिरलंकार वर्गो यो वाच्यतां श्रितः।

स सर्वो गम्यमानत्वं बिभ्रद् भूम्ना प्रदर्शितः॥२६॥

अन्यत्र वाच्यत्वेन प्रसिद्धो यो रूपकादिरलंकारः सोऽन्यत्र प्रतीयमानतया बाहुल्येन प्रदर्शितस्तत्र भवद्भिर्भट्टोद्भटादिभिः। तथा च ससन्देहादिषूपमारूपकातिशयोक्तीनां प्रकाशमानत्वं प्रदर्शितमित्यलंकारान्तरस्यालंकारान्तरे व्यंग्यत्वं न यत्न प्रतिपाद्यम्—

श्रीधरी—तस्य=उसके, प्रविरलविषयमाशङ्क्य=प्रविरल विषय होने की आशङ्का करके, इदमुच्यते=यह कहते हैं—

रूपकादिरलंकारवर्गः=रूपक आदि अलंकार वर्ग, यः=जो, वाच्यतां श्रितः=वाच्यता का आश्रयण करता है, स सर्वो=वह सब, गम्यमानत्वं बिभ्रद्=गम्यमान रूप से, भूम्ना=विस्तार के साथ, प्रदर्शितः=दिखाया गया है।

अन्यत्र वाच्यत्वेन प्रसिद्धो=अन्यत्र वाच्यत्व रूप से प्रसिद्ध, यः रूपकादिरलंकारः=जो रूपक आदि अलंकार है, सः=वह, अन्यत्र प्रतीयमानतया=प्रतीयमान रूप से, बाहुल्येन=अधिक रूप से, तत्रभवद्भिर्भट्टोद्भटादिभिः=आदरणीय भट्टोद्भट प्रभृति आचार्यों के द्वारा, प्रदर्शितः=दिखाया गया है, तथा च=जैसा कि, ससन्देहादिषु=ससन्देह आदि अलंकारों में, उपमारूपकातिशयोक्तीनां=उपमा रूपक और अतिशयोक्ति का, प्रकाशमानत्वं प्रदर्शितं=प्रकाशित होना दिखाया गया है, इति=इस प्रकार, अलंकारान्तरस्य=अलंकारान्तर का, अलंकारान्तरे=अलंकारान्तर में, व्यंग्यत्वं=व्यंग्यत्व, यत्नप्रतिपाद्य न=यत्न प्रतिपाद्य नहीं है।

अर्थ—उसके प्रविरल विषय होने की आशंका करके कहते हैं—

रूपक आदि अलंकार वर्ग जो वाच्यता का आश्रयण करता है, वह सब गम्यमान रूप से बहुत विस्तार से दिखाया गया है।

अन्यत्र वाच्य रूप से प्रसिद्ध जो रूपक आदि अलंकार है, वह अन्यत्र प्रतीयमान रूप से बाहुल्य के साथ आदरणीय उद्भट आदि आचार्यों के द्वारा दिखाये गये हैं। जैसा कि ससन्देह आदि अलंकारों में उपमा, रूपक, अतिशयोक्ति का प्रकाशित होना दिखाया गया है। इस प्रकार अलंकारान्तर का अलंकारान्तर में व्यंग्य होना यत्न प्रतिपाद्य नहीं है।

इयत्पुनरुच्यत एव—

अलंकारान्तरस्यापि प्रतीतौ यत्र भासते।

तत्परत्वं न वाच्यस्य नासौ मार्गो ध्वनेर्मतः॥२७॥

अलंकारान्तरेषु त्वनुरणनरूपालंकार प्रतीतौ सत्यामपि यत्र वाच्यस्य व्यंग्य प्रतिपादनोन्मुख्येन चारुत्वं न प्रकाशते नासौ ध्वनेर्मार्गः। तथा च दीपकादावलंकारे उपमायागम्यमानत्वेऽपि तत्परत्वेन चारुत्वस्या व्यवस्थानान्न ध्वनि व्यपदेशः।

श्रीधरी—इयत्पुन रुच्यत एव=इतना तो फिर कहते ही हैं—

अलंकारान्तरस्यापि=अलंकारान्तर की भी, प्रतीतौ=प्रतीति मे, यत्र=जहाँ, वाच्यस्य=वाच्य का, तत्परत्वं न भासते=तत्परत्व भासित नही होता, असौ मार्गः=यह मार्ग ध्वनेर्नमतः=ध्वनि का नहीं माना गया है।

अलकारान्तरेषु तु=अलंकारान्तरों मे, अनुरणनरूपालंकार प्रतीतौ सत्यामपि=अनुरणन रूप अलकार की प्रतीति के होने पर भी, यत्र=जहाँ, वाच्यस्य=वाच्य का, व्यंग्य प्रतिपादनोन्मुख्येन=व्यग्य के प्रतिपादन के औन्मुख्य से, चारुत्व न प्रकाशते=चारुत्व प्रकट नही होता, नासौ ध्वनेर्मार्गः=वह ध्वनि का मार्ग नही है, तथा च=जैसा कि, दीपकादावलंकारे=दीपक आदि अलंकार मे, उपमायागम्यमानत्वेऽपि=उपमा के गम्यमान होने पर भी, तत्परत्वेन=तत्पर रूप से, चारुत्वस्या व्यवस्थानात्=चारुत्व के न होने पर, न ध्वनि व्यपदेशः=ध्वनि का व्यपदेश नही होता।

अर्थ—इतना तो फिर कहते ही हैं अलकारान्तर की भी प्रतीति मे अनुरणन रूप अलंकार की प्रतीति के होने पर भी जहाँ वाच्य का व्यग्य के प्रतिपादन के औन्मुख्य से चारुत्व प्रकट नही होता, वह ध्वनि का मार्ग नही है। जैसा कि दीपक आदि अलंकार मे उपमा के गम्यमान होने पर भी तत्पर रूप से चारुत्व के न होने पर ध्वनि का व्यपदेश नही होता।

यथा—

चन्द मऊएहि णिसा णलिनी कमलेहि कुसुमगुच्छेहि लआ।
हंसेहि सरअ सोहा कव्वकहा सज्जनेहि करइ गरुई॥
[चन्द्रमयूखैर्निशा नलिनी कमलैः कुसुम गुच्छैर्लता।
हंसैश्शारदशोभा काव्यकथा सज्जनैः क्रियते गुर्वी॥]

श्रीधरी—यथा=जैसे, चन्द्रमयूखैः=चन्द्रमा की किरणों से, निशा=रात्रि, कमलैः=कमलो से नलिनी, कुसुमगुच्छैः लता=फूलों के गुच्छों से लता, हंसैः शारद शोभा=हंसों से शरद की शोभा, काव्यकथा=काव्यकथा, सज्जनैः=सज्जनों से, गुर्वी क्रियते=गौरवान्वित की जाती है।

अर्थ—जैसे, चन्द्रमा की किरणों से रात्रि, कमलिनी से नलिनी, फूल के गुच्छों से लता, हंसों से शरत्काल की शोभा और काव्य कथा सज्जनो से गौरवान्वित की जाती है।

इत्यादिषूपमागर्भत्वेऽपि सति वाच्यालंकार मुखेनैव चारुत्वं व्यवतिष्ठते न व्यंग्यालंकार तात्पर्येण। तस्मात्तत्र वाच्यालंकार मुखेनैव काव्यव्यपदेशो न्याय्यः। यत्र तु व्यंग्य परत्वेनैव वाच्यस्य व्यवस्थानं तत्र व्यंग्य मुखेनैव व्यपदेशो युक्तः। यथा—

श्रीधरी—इत्यादिषु=इत्यादि मे, उपमागर्भत्वेऽपि=उपमागर्भित होने पर भी, वाच्यालंकार मुखेनैव चारुत्वं=वाच्य अलंकार के प्रकार से ही चारुत्व, व्यवतिष्ठते=व्यवस्थित होना है, न व्यंग्यालंकार तात्पर्येण=व्यंग्य अलंकार के तात्पर्य से नही, तस्मात्=इसलिये, तत्र=वहाँ, वाच्यालंकारमुखेनैव=वाच्य अलंकार के प्रकार से ही, काव्य व्यपदेशो न्याय्यः=काव्य व्यपदेश उचित है, यत्र तु=जहाँ, व्यंग्यपरत्वेनैव=व्यंग्यपर रूप से ही, वाच्यस्य व्यवस्थान=वाच्य का व्यवस्थान हो, तत्र=वहाँ, व्यंग्य मुखेनैव=व्यंग्य के प्रकार से ही, व्यपदेशो युक्तः=व्यपदेश उचित है, यथा=जैसे—

अर्थ—इत्यादि के उपमा से गर्भित होने पर भी वाच्य अलङ्कार के प्रकार से ही चारुत्व व्यवस्थित होना है, व्यंग्य अलंकार के तात्पर्य से नहीं। इसलिये वहाँ वाच्य अलंकार के प्रकार से ही काव्य व्यपदेश समीचीन है, किन्तु जहाँ व्यंग्यपरक ही वाच्य का व्यवस्थान हो वहाँ व्यंग्य के प्रकार से ही व्यपदेश उचित है। जैसे—

प्राप्तश्रीरेष कस्मात्पुनरपि मयि तं मन्थखेदं विदध्या,
न्निद्रामप्यस्यपूर्वामनलसमनसो नैव सम्भावयामि।
सेतुं बध्नाति भूयः किमिति च सकलद्वीपनाथानुयात,
स्त्वय्यायाते वितर्कानिति दधत इवाभाति कम्पः पयोधेः॥

श्रीधरी—एष प्राप्तश्रीः=इसे लक्ष्मी प्राप्त हो गई है, पुनः मयि कस्मात्=फिर क्यो मुझे, मन्थखेदं विदध्यात्=मन्थन करने का कष्ट करेगा, अनलसमनसः=आलस्य रहित मन वाले, अस्य=इसकी, पूर्वां निद्रामपि=पहली निद्रा की भी, नैव सम्भावयामि=सम्भावना नही ही करता हूं, किम्=क्या, सकलद्वीपनाथानुयातः=समस्त द्वीपनाथो से युक्त यह, भूयः=फिर से, सेतुं बध्नाति=पुल बनायेगा, इति=इस प्रकार, त्वय्यायाते=तुम्हारे आने पर, वितर्कान् दधत इव=वितर्कों को मानो धारण करते हुए, पयोधेः=समुद्र का, कम्पः आभाति=कम्प प्रतीत होता है।

अर्थ—जबकि इसे लक्ष्मी प्राप्त हो गई है, तब फिर यह क्यो मेरा मन्थन करने का कष्ट करेगा? आलस्यरहित मन वाले इसकी पहली निद्रा की भी सम्भावना नही ही करता हूँ। क्या समस्त द्वीपपतियों युक्त होकर यह फिर से पुल बनायेगा? इस प्रकार तुम्हारे आने पर वितर्कों को मानो धारण करते हुए समुद्र का कम्प सा प्रतीत होता है।

यथा वा ममैव—

लावण्य कान्ति परिपूरित दिङ्मुखेऽस्मिन्,
स्मेरेऽधुना तव मुखे तरलायताक्षि।
क्षोभं यदेति न मनागपि तेन मन्ये,
सुव्यक्तमेव जलराशिरयं पयोधिः ॥

इत्येवं विधे विषयेऽनुरणन रूपकाश्रयेण काव्यचारुत्वव्यवस्थानाद्रूपक ध्वनिरितिर्व्यपदेशो न्याय्यः।

श्रीधरी— यथा वा=अथवा जैसे, ममैव=मेरा ही, तरलायताक्षि=हे चञ्चल और दीर्घ नेत्रों वाली, लावण्यकान्ति परिपूरित दिङ्मुखे=लावण्य और कान्ति से दिशाओं को भर देने वाले, तव अस्मिन् मुखे=तुम्हारे इस मुख के, अधुना स्मेरे=इस समय कुछ विकसित होने पर, अयं पयोधिः=यह समुद्र, य.=जो, मनागपि=जरा भी, क्षोभं न एति=क्षोभ को प्राप्त नहीं करता, तेन=इससे, सुव्यक्तमेव मन्ये=स्पष्ट ही सोचता हूँ, अयं जलराशिः=यह जलराशि अर्थात् जड राशि है।

इत्येवं विधे विषये=इस प्रकार के विषय में, अनुरणनरूप रूपकाश्रयेण=अनुरणन रूप रूपक के आश्रयण से, काव्यचारुत्वव्यवस्थानात्=काव्य के चारुत्व के व्यवस्थित होने के कारण, रूपक ध्वनिरिति व्यपदेशो न्याय्य=रूपक ध्वनि यह व्यपदेश ठीक है।

अर्थ— अथवा जैसे मेरा ही—

हे चञ्चल और दीर्घ नेत्रों वाली, लावण्य और कान्ति से दिशाओं को भर देने वाले तुम्हारे इस मुख के इस समय कुछ विकसित होने पर यह समुद्र जो जरा भी क्षुब्ध नहीं होता स्पष्ट ही जलराशि अर्थात् जडराशि प्रतीत होता है।

इस प्रकार के विषय में अनुरणन रूप रूपक के आश्रयण से काव्य के चारुत्व के व्यवस्थित होने के कारण 'रूपक ध्वनि' यह व्यपदेश उचित है।

उपमा ध्वनिर्यथा—

वीराणं रमइ घुसिण रुणम्मि,
ण तदा पिआथणुच्छङ्गे।
दिठ्ठी रिउगअ कुम्भत्थलम्मि,
जह वहल सिन्दूरे ॥

[वीराणां रमते घुसृणारुणे न तथा प्रियास्तनोत्सङ्गे।
दृष्टोरिपुगजकुम्भस्थले यथा वहल सिन्दूरे ॥]

श्रीधरी— उपमा ध्वनिर्यथा=उपमा ध्वनि जैसे, वीराणां दृष्टी=वीरों की दृष्टि, यथा=जिस प्रकार, घुसृणारुणे=सिन्दूर से भरे, रिपुगज कुम्भस्थले=

शत्रुओं के हाथियों के कुम्भस्थलो मे, रमते=रमण करते है, तथा=उस प्रकार, बहल सिन्दूरे=सिन्दुर से लाल, प्रिया स्तनोत्सङ्गे=प्रिया के स्तनोत्सङ्ग मे, न रमते=रमण नहीं करती ।

अर्थ—उपमा ध्वनि जैसे—

वीरों की दृष्टि जिस तरह सिन्दूर से भरे हुए शत्रुओं के हाथियो के कुम्भस्थलो मे रमण करती है, उस प्रकार कुसुम से लाल प्रिया के स्तनोत्सङ्ग मे रमण नहीं करती ।

यथा वा ममैव विपमवाण लीलायामसुर पराक्रमणे कामदेवस्य—

त ताण सिरिसहो अरर अणाहरणम्मि हिअअ मेक्करसम् ।
बिम्बाहरे पिआण णिवेसिअं कुसुमवाणेन ॥
[तत्तेषां श्रीसहोदर रत्नाहरणे हृदय मेकरसम् ।
बिम्बाधरे प्रियाणां निवेशितं कुसुम वाणेन ॥]

श्रीधरी—यथा वा ममैव=अथवा जैसे मेरा ही, विपमवाण लीलायां=विपय वाण लीला मे, असुर पराक्रमणे=असुरो पर पराक्रम करने के अवसर पर, कामदेवस्य=कामदेव का ।

तेषां=उन असुरों के, श्रीसहोदर रत्नाहरणे=लक्ष्मी के साथ पैदा होने वाले रत्नों के लूटने मे, एकरसं हृदय=एकरस हृदय को, कुसुमबाणेन=कामदेव ने, प्रियाणा=प्रियाओं के, बिम्बाधरे=बिम्बाधर मे, निवेशितम्=सलग्न कर दिया ।

अर्थ—अथवा जैसे मेरे ही विपमवाण लीला मे असुरों पर पराक्रम के अवसर मे कामदेव का—

उन असुरो के लक्ष्मी के साथ पैदा होने वाले रत्नो के लूटने मे एक रस हृदय को कामदेव ने प्रियाओं के बिम्बाधर मे संलग्न कर दिया ।

आक्षेप ध्वनिर्यथा—

स वक्तुमखिलाञ्, शक्तो हयग्रीवा श्रितान् गुणात् ।
योऽम्बुकुम्भैः परिच्छेदं ज्ञातुं शक्तो महोदधेः ॥

अत्रातिशयोक्त्या हयग्रीव गुणानामवर्णनीयता प्रतिपादनरूपस्य साधारण तद्विशेषप्रकाशनपरस्याक्षेपस्य प्रकाशनम् ।

श्रीधरी—आक्षेप ध्वनिर्यथा=आक्षेप ध्वनि जैसे, हयग्रीवाश्रितान्=हयग्रीव भगवान् के आश्रित, अखिलान्=समस्त, गुणान्=गुणों को, स=वह, वक्तुं शक्त.=कह सकता है, यः=जो, अम्बुकुम्भैः=जल के घड़ों से, महोदधेः=महासमुद्र के, परिच्छेदं=परिमाण को, ज्ञातुं शक्त.=जान सकता है ।

अत्र=यहाँ, अतिशयोक्त्या=अतिशयोक्ति से, हयग्रीव गुणाना=हयग्रीव के गणो की, अवर्णनीयता प्रतिपादनरूपस्य=अवर्णनीयता प्रतिपादन रूप, असाधारण-

तद्विशेष प्रकाशन परस्य = असाधारण रूप उसकी विशेषता प्रकाशन परक, आक्षेपस्य = आक्षेप का, प्रकाशनम् = प्रकाशन है ।

अर्थ—आक्षेप ध्वनि जैसे —

हयग्रीव भगवान् के समस्त गुणों को वह कह सकता है, जो जल के घड़ों से महासमुद्र के परिमाण को जान सकता है ।

यहाँ अतिशयोक्ति से हयग्रीव के गुणों की अवर्णनीयता प्रतिपादन रूप और उन गुणों की विशेषता प्रकाशन परक आक्षेप का प्रकाशन है ।

अर्थान्तरन्यास ध्वनिः शब्द शक्तिमूलानुरणन रूप व्यंग्योऽय शक्तिमूला नुरणन रूप व्यंग्यश्च सम्भवति । तत्राद्यस्योदाहरणम्—

देव्वाएत्तम्मि फले किं कीरइ एत्तिअं पुणा भणिमो ।
कङ्किल्लपल्लवाः पल्लवाण अण्णाण ण सरिच्छा ।।
[देवायत्ते फले किं क्रियतामेतावत्पुनर्भणामः ।
रक्ताशोक पल्लवाः पल्लवानामन्येषां न सदृशाः ।।]

श्रीधरी—अर्थान्तरन्यास ध्वनिः = अर्थान्तरन्यास ध्वनि, शब्दशक्तिमूलानुरणनरूप व्यंग्य = शब्दशक्तिमूलानुरणनरूप व्यंग्य, अर्थशक्तिमूलानुरणन रूप व्यंग्यश्च = अर्थशक्तिमूलानुरणनरूप व्यंग्य (इन दो प्रकारों से), सम्भवति = सम्भव है, तत्र = इनमें, आद्यस्य = प्रथम का, उदाहरणम् = उदाहरण, दैवायत्तेफले = फल दैवाधीन है, किं क्रियताम् = क्या किया जाय, एतावत् पुनर्भणाम = इतना फिर भी कहते हैं, रक्ताशोक पल्लवाः = रक्त अशोक के पत्ते, अन्येषां पल्लवानां = और पत्तों के, सदृशाः = समान, न = नहीं होते ।

अथ—अर्थान्तरन्यास ध्वनि शब्दशक्तिमूल अनुरणन रूप व्यंग्य और अर्थशक्ति मूल अनुरणन रूप व्यंग्य इन दो प्रकारों से सम्भव है । इसमें प्रथम प्रकार का उदाहरण जैसे—

फल विधाता के अधीन है, क्या किया जाय ? फिर भी इतना कहते हैं कि रक्ताशोक के पत्ते अन्य पत्तों के समान नहीं होते ।

पदप्रकाशश्चायं ध्वनिरिति वाक्यस्यार्थान्तर तात्पर्येऽपि सति न विरोधः । द्वितीयस्योदाहरणं यथा—

हिअअट्ठाविअमण्णुं अवरुण्ण मुहं हि मं पसाअन्त ।
अवरद्धस्स वि ण हु दे पहुजाणअ रोसिउं सक्कम् ।।
[हृदयस्थापितमन्युमपरोषमुखीमपि मां प्रसादयन् ।
अपराद्धस्यापि न ते बहुज्ञ रोषितुं शक्यम् ।।]

अत्र हि वाच्य विशेषेण सापराधस्यापि बहुज्ञस्य कोपः कर्तुमशक्य इति समर्थकं सामान्यमन्वित मन्यत्तात्पर्येण प्रकाशते ।

श्रीधरी—अयं = यह ध्वनि, पदप्रकाशश्च = पद प्रकाश है, इति इसलिए वाक्यस्य = वाक्य के अर्थान्तर तात्पर्येऽपि = अर्थान्तर में तात्पर्य होने पर भी, न

विरोधः=विरोध नही है, द्वितीयस्योदाहरण यथा=दूसरे का उदाहरण जैसे—

हृदयस्थापित मन्युं=हृदय में क्रोध को स्थापित करके, अपरोष मुखीमपि=मुख पर क्रोध प्रकट न करके भी, मां प्रसादयन्=मुझे प्रसन्न कर रही हो, बहुज्ञ=हे बहुत समझदार, ते अपराद्धस्यापि=तुम्हारे अपराधी होने पर भी, रोषितु न शक्यम्=तुम पर क्रोध नही किया जा सकता।

अर्थ—यह ध्वनि पद प्रकाश है, इसलिये वाक्य के अर्थान्तर मे तात्पर्य होने पर भी, विरोध नही है। दूसरे का उदाहरण जैसे—

हृदय मे क्रोध स्थापित करके मुख पर क्रोध प्रकट न करने वाली मुझे तुम प्रसन्न कर रही हो। इसलिये हे बहुत समझदार, तुम्हारे अपराधी होने पर भी तुम पर क्रोध नही किया जा सकता।

यहाँ वाच्य विशेष से अपराधी होने पर भी बहुत समझदार पर क्रोध नही किया जा सकता, यह समर्थक सामान्य तात्पर्य से अन्वित अन्य विशेष को प्रकाशित करता है।

व्यतिरेक ध्वनिरप्युभय रूपः सम्भवति। तत्राद्यस्योदाहरणं प्राक्प्रदर्शित मेव।

द्वितीयस्योदाहरणं यथा—

जाएज्ज वणुद्दे से खुज्ज च्चिअ पाअवो गडिअवत्तो।
मा माणुसम्मि लोए ताएक्करसो दरिद्दो अ॥
[जायेय वनोद्देशे कुब्जएव पादपो गलित पत्रः।
मा मानुषे लोके त्यागैक रसो दरिद्रश्च॥

श्रीधरी - व्यतिरेक ध्वनिरपि=व्यतिरेक ध्वनि भी, उभय रूपः सम्भवति=दो प्रकार की सम्भव है, तत्र=उनमे, आद्यस्य उदाहरण=पहले का उदाहरण, प्राक्प्रदर्शित मेव=पहले दिखा ही दिया है, द्वितीयस्य=दूसरे का, उदाहरण यथा=उदाहरण जैसे—

वनोद्देशे=जगल के प्रदेश मे, गलित पत्रः=पत्तो से रहित, कुब्जएव=कुबड़ा ही, पादपः जायेय=वृक्ष बनकर पैदा हो, मानुषे लोके=(परन्तु) मनुष्यलोक मे, त्यागैकरसः=त्याग परायण, दरिद्रः मा जायेय=दरिद्र मत पैदा हो।

अर्थ—व्यतिरेक ध्वनि भी दो प्रकार की सम्भव है। उनमें प्रथम का उदाहरण पहले दिया ही जा चुका है, दूसरे का उदाहरण जैसे—

गहन जंगल मे ही पत्तों से रहित कुबड़ा वृक्ष बनकर भले ही पैदा हो, पर मनुष्य लोक मे त्यागपरायण और दरिद्र न हो।

अत्र हि त्यागैक रसस्य दरिद्रस्य जन्मानभिनन्दनं त्रुटितपत्र कुब्जपादप जन्माभिनन्दन च साक्षाच्छब्द वाच्यम्। तथाविधादपिपादपात्तादृशस्य पुंस

उपमानोपमेयत्वप्रतीतपूर्वकं शोच्यता मामाधिक्यं तात्पर्येण प्रकाशयति उत्प्रेक्षा ध्वनिर्यथा—

चन्दनासक्त भुजगनिःश्वासानिल मूर्च्छितः।
मूर्च्छयत्येष पथिकान्मधौ मलय मारुतः ॥

श्रीधरी—अत्र हि=यहाँ, त्यागैक रसस्य=त्याग परायण, दरिद्रस्य=दरिद्र पुरुष के, जन्म=जन्म का, अनभिनन्दन=अनभिनन्दन, त्रुटितपत्रकुब्जपादप जन्म=पत्तों से रहित एवं कुबड़े वृक्ष के जन्म का, अभिनन्दन च=अभिनन्दन भी, साक्षात् शब्दवाच्यम्=साक्षात् शब्द का वाच्य है, तथाविधादपि=उस प्रकार के भी, पादपात्=वृक्ष से, तादृशस्य पुंसः=उस प्रकार के पुरुष की, उपमानोपमेयत्व प्रतीतिपूर्वक = उपमानोपमेयत्वसम्बन्ध की प्रतीतिपूर्वक, शोच्यतायामाधिक्य = शोचनीयता का आधिक्य, तात्पर्येण प्रकाशयति=तात्पर्य से प्रकाशित करता है, उत्प्रेक्षा ध्वनिर्यथा=उत्प्रेक्षा ध्वनि जैसे—

मधौ=वसन्त ऋतु में, चन्दनासक्त=चन्दन में लिपटे हुए, भुजग निःश्वासानिलमूर्च्छितः=सर्पों की सांस की हवा से बढ़ी हुई, एष मलय मारुत=यह दक्षिणी हवा, पथिकान्=पथिक जनों को, मूर्च्छयति=मूर्छित कर देती है।

अर्थ—यहाँ त्यागपरायण दरिद्र पुरुष के जन्म का अनभिनन्दन और पत्ररहित तथा कुबड़े वृक्ष का अभिनन्दन साक्षात् शब्द का वाच्य है। उस प्रकार के भी व्यक्ति से उस प्रकार के वृक्ष की उपमानोपमेय सम्बन्ध की प्रतीतिपूर्वक तात्पर्यतः शोचनीयता का आधिक्य प्रकाशित करता है। उत्प्रेक्षा ध्वनि जैसे:—

वसन्त समय मे चन्दन में लिपटे हुए सर्पों की सांस की हवा से बढ़ी हुई यह दक्षिणी हवा पथिक जनों को मूर्छित करती है।

अत्र हि मधौ मलयमारुतस्य पथिकमूर्च्छाकारित्वं मन्मथोन्माथदायित्वेनैव। तत्तु चन्दनासक्त भुजगनिःश्वासानिलमूर्च्छितत्वेनोत्प्रेक्षितमित्युत्प्रेक्षा साक्षादनुक्तापि वाक्यार्थ सामर्थ्यादनुरणनरूपा लक्ष्यते। न चैवं विधे विषये इवादिशब्दप्रयोगमन्तरेणासंबद्धतैवेति शक्यते वक्तुम्। गमकत्वादन्यमापि तदप्रयोगे तदर्थावगति दर्शनात्। यथा—

श्रीधरी—अत्र हि=यहाँ, मधौवसन्त समय में, मलयमारुतस्य=दक्षिणी हवा का, पथिक मूर्च्छाकारित्वं=पथिक मूर्च्छाकारी होना, मन्मथोन्माथदायित्वे नैव=काम के उन्माथदायी होने के कारण ही है, तत्तु=लेकिन उसे, चन्दनासक्तभुजग निश्वासानिल=चन्दन में लिपटे हुए सर्पों की सांस की हवा से, मूर्च्छितत्वेनोत्प्रेक्षितम्=बढ़े होने के कारण उत्प्रेक्षा की है, इति=इस प्रकार, साक्षात् अनुक्तापि उत्प्रेक्षा=साक्षात् अनुक्त भी उत्प्रेक्षा, वाक्यार्थ सामर्थ्यात्=वाक्यार्थ की सामर्थ्य से, अनुरणन रूपा लक्ष्यते=अनुरणन रूप में लक्षित होती है, एवं विधे विषये=

इस प्रकार के विषय में, इवादि शब्द प्रयोगमन्तरेण=इव-आदि शब्दों के प्रयोग के बिना, असम्बद्धता एव=असम्बद्धता ही है, इति=यह, न शक्यते वक्तुम्=नहीं कहा जा सकता, गमकत्वात्=गमक होने के कारण, अन्यत्रापि तदप्रयोगे=अन्यत्र भी उनका प्रयोग न होने पर, तदर्थावगतिदर्शनात्=उनके अर्थ का ज्ञान देखा जाता है, यथा=जैसे—

अर्थ—यहाँ वसन्त समय में मलय मारुत के पथिक का मूर्च्छाकारी होना काम के उद्दीपन देने वाला होने के कारण ही है, किन्तु उसे, चन्दन में लिपटे हुए सर्पों की श्वास की हवा से बढ़े होने के कारण उत्प्रेक्षा की है। इस प्रकार साक्षात् अनुक्त होने पर भी उत्प्रेक्षा वाच्यार्थ की सामर्थ्य से अनुरणन रूप में लक्षित होती है। इस प्रकार के विषय में इव आदि शब्दों के प्रयोग के बिना असम्बद्धता ही है, यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि गमक होने से अन्यत्र भी उनका प्रयोग न होने पर उनके अर्थ का ज्ञान देखा जाता है। जैसे—

ईसाऽकलुसस्स वि तुह मुहस्स णं एस पुण्णिमाचन्दो।
अज्ज सरिसत्तणं पाविअण अंगे विअ ण माइ॥
[ईर्ष्याकलुषस्यापि तव मुखस्य नन्वेष पूर्णिमा चन्द्रः।
अद्य सदृशत्वं प्राप्याङ्ग एव न भाति॥]

श्रीधरी—एष पूर्णिमा चन्द्रः=यह पूर्णिमा का चन्द्र, ईर्ष्या कलुषस्यापि=ईर्ष्या से कलुष भी, तव मुखस्य=तुम्हारे मुख का, अद्य सदृशत्वं प्राप्य-आज सादृश्य पाकर, अंग एव=अपने अंग में ही, न माति=नहीं समाता।

अर्थ-यह पूर्णिमा चन्द्र ईर्ष्या से कलुष भी तुम्हारे मुख का आज सादृश्य पाकर मानो अपने अंग में ही नहीं समाता है।

यथा वा—

त्रासाकुलः परिपतन् परितो निकेतान्,
पुंभिर्न कैश्चिदपि धन्विभिरन्वबन्धि।
तस्थौ तथापि न मृगः क्वचिदङ्गनाभि-
राकर्णपूर्ण नयनेषु हतेक्षण श्रीः॥

श्रीधरी—यथा वा=अथवा जैसे, त्रासाकुलः=भय से व्याकुल, परितः=चारों ओर, निकेतान्=घरों में दौड़ते हुए, (मृग का) कैश्चिदपि धन्विभि पुम्भिः=किन्हीं धनुर्धारी पुरुषों के द्वारा, न अन्व बन्धि=पीछा नहीं किया गया, तथापि=तो भी, मृगः=हिरन, क्वचिद्=कहीं, अंगनाभिः=स्त्रियों के द्वारा, आकर्णपूर=कानों तक खींचे हुए, नयनेषु=नेत्रों के बाण से, हतेक्षण श्रीः=आँखों की शोभा के नष्ट हो जाने के कारण, न तस्थौ=नहीं ठहरा।

अर्थ—अथवा जैसे—

भय से व्याकुल, चारों ओर घरों में दौड़ते हुए हिरन को किन्हीं धनुर्धारी पुरुषों के द्वारा पीड़ा नहीं किया गया, तो भी वह मानों कहीं स्त्रियों के द्वारा कान तक खींचे हुए नेत्र रूपी बाण से आँखों की शोभा को नष्ट हो जाने से कहीं नहीं ठहरा।

शब्दार्थ व्यवहारे च प्रसिद्धिरेव प्रमाणम्। श्लेष ध्वनिर्यथा—

रम्या इति प्राप्तवती पताका,
रागं विविक्ता इति वर्धयन्तीः।
यस्यामसेवन्त नमद्वलीकाः,
समं वधूभिर्वलभीर्युवानः॥

अत्र वधूभिः सह वलभीरसेवन्तेति वाक्यार्थ प्रतीते रनन्तरं वध्व इव वलभ्य इतिश्लेष प्रतीतिरशब्दाप्यर्थसामर्थ्यान्मुख्यत्वेन वर्तते।

श्रीधरी—शब्दार्थ व्यवहारे=शब्द और अर्थ के व्यवहार में, प्रसिद्धिरेव प्रमाणम्=प्रसिद्धि ही प्रमाण है. श्लेष ध्वनिः=श्लेष ध्वनि, यथा=जैसे, यस्या=जिस द्वारका नगरी में, युवानः=युवक लोग, रम्या. इति प्राप्तवतीः=सुन्दर होने के कारण प्रसिद्धि को प्राप्त, विविक्ता इति=एकान्त या पवित्र होने के कारण, रागं वर्धयन्ती=राग को बढ़ाने वाली, नमद्वलीकाः=झुकी जाती हुई त्रिवलि वाली, वधूभिः समं=वधुओं के साथ, रम्या इति=रम्य होने के कारण, पताका प्राप्तवतीः=पताकाओं से युक्त, विविक्ता इति=एकान्त होने के कारण, रागं=सम्भोगेच्छा को, वर्धयन्ती=बढ़ाने वाली, नमद्वलीका=झुके हुए छज्जों वाली, वलभीः=निजी वास गृहों का असेवन्त=सेवन करते थे।

अर्थ—शब्द और अर्थ के व्यवहार में प्रसिद्धि ही प्रमाण है। श्लेष ध्वनि जैसे—

जिस द्वारका नगरी में युवक लोग सुन्दर होने के कारण प्रसिद्धि को प्राप्त, एकान्त या पवित्र होने के कारण राग को बढ़ाने वाली, एवं झुकी जाती हुई त्रिवलि वाली वधुओं के साथ, रम्य होने के कारण पताकाओं से युक्त, एकान्त होने से सम्भोगेच्छा को बढ़ाने वाली, झुके हुए छज्जो वाली वलभियों अर्थात् निजीवास गृहो का सेवन करते थे।

यहाँ वधुओं के साथ वलभियो की सेवा की इस वाक्यार्थ की प्रतीति के अनन्तर 'वधुओं के समान वलभी' इस श्लेष की प्रतीति शब्दजनित न होकर भी अर्थ सामर्थ्य से मुख्य रूप में होती है।

यथा संख्य ध्वनिर्यथा—

अंकुरितः पल्लवितः कोरकितः पुष्पितश्च सहकारः।
अंकुरितः पल्लवितः कोरकितः पुष्पितश्च हृदिमदनः॥

श्रीधरी — यथासंख्य ध्वनिः = यथासंख्य ध्वनि, यथा = जैसे —

सहकार = आम्रवृक्ष, पल्लवितः कोरकितः पुष्पितश्च = पल्लवित, कोरकित और पुष्पित हुआ, हृदि मदनः = हृदय में मदन भी, अंकुरितः पल्लवित कोरकितः पुष्पितश्च = अंकुरित, पल्लवित, कोरकित और पुष्पित हुआ।

अर्थ - यथासंख्य ध्वनि जैसे—

आम्रवृक्ष अंकुरित, पल्लवित, कोरकित और पुष्पित हुआ तथा हृदय में मदन भी अंकुरित, पल्लवित, कोरकित और पुष्पित हुआ।

अत्र हि यथोद्देशमनूद्देशे यच्चारुत्वमनुरणन रूपं मदन विशेषण-भूताङ्कुरितादि शब्दगतं [illegible] [illegible]लक्षणाद्वाच्यादतिरिच्यमानमालक्ष्य[illegible] । [illegible] योजनीयाः ।

श्रीधरी - अत्र हि = यहाँ, यथोद्देशमनूद्देशे = पहले क्रम के अनुसार दूसरे क्रम में, अनुरणन रूप = अनुरणन रूप, यच्चारुत्वं = जो चारुत्व, मदन विशेषणभूता - - मदन के विशेषण भूत, अंकुरितादि शब्दगतं = अंकुरित आदि शब्द में प्रतीत होता है तद् = वह, मदन सहकारयो = मदन और आम्रवृक्ष के, तुल्ययोगिता समुच्चय लक्षणात् तुल्ययोगिता या समुच्चय रूप वाच्यादतिरिच्यमानमालक्ष्यते = वाच्य से अधिक चारुत्वपूर्ण दिखाई देता है, एवं = इस प्रकार, अन्ये अपि अलंकाराः = अन्य अलंकार भी, यथायोगं = जहाँ जैसा उचित हो, योजनीया = उनका वहाँ वैसा संयोजन कर लेना चाहिए।

अर्थ यहाँ पहले क्रम के अनुसार दूसरे क्रम में जो अनुरणन रूप चारुत्व मदन के विशेषणभूत अंकुरित आदि शब्द से प्रतीत होता है, वह मदन और आम्रवृक्ष के तुल्ययोगिता या समुच्चय रूप वाच्य से अधिक चारुत्वपूर्ण दिखाई देता है। इस प्रकार अन्य अलंकार भी जहाँ जैसा उचित हो, उनका वहाँ वैसा संयोजन कर लेना चाहिए।

एवमलङ्कार ध्वनिमार्गं व्युत्पाद्यतस्य प्रयोजनवत्तां ख्यापयितुमिद-मुच्यते।

श्रीधरी — एवं = इस प्रकार, अलंकार ध्वनि मार्गं = अलंकार ध्वनि के मार्ग को, व्युत्पाद्य = बताकर, तस्य = उसकी, प्रयोजनवत्ता ख्यापयितुं = प्रयोजनवत्ता को बताने के लिये, इदमुच्यते = यह कहते हैं—

अर्थ — इस प्रकार अलंकार ध्वनि का मार्ग बताकर उसे सप्रयोजन बताने के लिये यह कहते हैं —

शरीरी करणं येषां,
वाच्यत्वे न व्यवस्थितम् ।

तेऽलंकाराः परां छायां,
यान्ति ध्वन्यङ्गतां गताः॥

श्रीधरी—वाच्यत्वे=वाच्य रूप से, येषां=जिन अलंकारों का, शरीरी करण न व्यवस्थितम्=शरीर रूप होना नहीं माना जाता, तेऽलंकाराः=वे अलंकार, ध्वन्यङ्गतां गताः=ध्वनि के अंग होकर, परां छायां यान्ति=उत्कृष्ट शोभा को प्राप्त करते हैं।

अर्थ—वाच्य रूप से जिन अलंकारों का शरीर रूप होना माना जाता है, वे अलकार ध्वनि के अंग होकर उत्कृष्ट शोभा को प्राप्त करते हैं।

ध्वन्याङ्गता चोभाभ्यां प्रकाराभ्यां व्यञ्जकत्वेन व्यंग्यत्वेन च। तत्रेह प्रकरणाद् व्यंग्य त्वेनेत्यगन्तव्यम्। व्यंग्यत्वेऽप्यलङ्काराणां प्राधान्य विवक्षायामेव सत्यां ध्वनावन्तः पातः। इतरथा तु गुणीभूत व्यंग्यत्व प्रतिपादयिष्यते।

श्रीधरी—ध्वन्याङ्गता=ध्वन्यङ्गता, उभाभ्यां प्रकाराभ्यां=दो प्रकार से, व्यञ्जकत्वेनव्यग्यत्वेन च=व्यञ्जक होने से तथा व्यग्य होने से (होती है) तत्र=, उनमे, इह=यहाँ, प्रकरणात्=प्रकरणवश, व्यङ्ग्यत्वेनेत्यवगन्तव्यम्=व्यग्यत्व होने से ध्वन्यङ्गता होती है, यह समझना चाहिए, व्यंग्यत्वेऽपि=व्यंग्य होने पर भी, अलंकाराणां=अलंकारों को, प्राधान्य विवक्षायामेव सत्यां=प्राधान्य की विवक्षा होने पर ही, ध्वनावन्तः पात.=ध्वनि मे उनका अन्त. पात होगा, इतरथा तु=अन्यथा तो, गुणीभूत व्यंग्यत्व प्रतिपादयिष्यते=गुणीभूत व्यङ्ग्य का प्रतिपादन करेंगे।

अर्थ—ध्वन्यङ्गता दो प्रकार से होती है—व्यञ्जक होने से और व्यंग्य होने से। उनमें जहाँ प्रकरणवश व्यंग्य होने से ध्वन्यङ्गता समझनी चाहिए। व्यंग्य होने पर भी जब अलंकारों की प्रधानता होगी, तभी ध्वनि में उनका अन्त.पात होगा, अन्यथा गुणीभूत व्यंग्यत्व का प्रतिपादन करेंगे।

अङ्गित्वेन व्यंग्यतायामपि, अलंकाराणां द्वयी गतिः-कदाचिद्वस्तु-मात्रेण व्यज्यन्ते, कदाचिदलंकारेण।

श्रीधरी—अंगित्वेन=प्रधान रूप से, व्यंग्यतायामपि=व्यंग्य होने पर भी, अलंकाराणां द्वयी गतिः=अलकारो की दो ही गति है, कदाचित्=कभी, वस्तुमात्रेण व्यज्यन्ते=वस्तुमात्र से व्यञ्जित होते हैं, कदाचित्=कभी, अलंकारेण=कभी अलंकार से।

अर्थ—प्रधान रूप से व्यंग्य होने पर भी अलंकारो की दो ही गति है—कभी वस्तुमात्र से व्यञ्जित होते है और कभी अलकार से।

उक्तं ह्येतत्—'चारुत्वोत्कर्षं निबन्धना वाच्य व्यंग्ययो प्राधान्य विवक्षा' इति। वस्तुमात्र व्यंग्यत्वे चालंकाराणामनन्तरो दर्शितेभ्य एवो दाहरणेभ्यो विषय उन्नेयः। तदेवमर्थ-मात्रेणालंकार विशेष रूपेण-वार्थेनार्थान्तरस्यालंकारस्य वा प्रकाशने चारुत्वोत्कर्ष निबन्धने सति प्राधान्येऽर्थ शक्त्युद्भवानुरणन रूप व्यंग्यो निरवगन्तव्यः।

श्रीधरी – हि = क्योंकि, एतत् उक्तम् = यह कहा जा चुका है, वाच्य व्यंग्ययोः = वाच्य और व्यंग्य के, प्राधान्य विवक्षा = प्राधान्य की विवक्षा, चारुत्वोत्कर्ष निबन्धना = चारुत्व के उत्कर्ष के कारण होती है, अलंकाराणां = अलंकारों के, वस्तुमात्र व्यङ्ग्यत्वे = वस्तुमात्र से व्यंग्य होने पर, अनन्तरोपदर्शितेभ्यः = अभी दिखाये हुए, उदाहरणेभ्यएव = उदाहरणों से ही विषयः उन्नेयः = विषय समझ लेना चाहिए, तदेवं = तो इस प्रकार, अर्थमात्रेण = अर्थ मात्र से, अलंकार विशेष रूपेण वाऽर्थेन = या अलंकार विशेष रूप अर्थ से, अर्थान्तरस्यालंकारस्य वा = या अर्थान्तर से या अलंकार से, प्रकाशने = प्रकाशन मे, चारुत्वोत्कर्ष निबन्धने सति = चारुत्व के उत्कर्ष के कारण, प्राधान्ये = प्राधान्य होने पर, अर्थ शक्त्युद्भवानुरणन रूप व्यंग्यो = अर्थ शक्त्युद्भव अनुरणन रूप व्यंग्य, ध्वनिरवगन्तव्यः = ध्वनि समझनी चाहिए।

अर्थ—क्योंकि यह पहले कह चुके हैं कि वाच्य और व्यंग्य के प्राधान्य की विवक्षा चारुत्व के उत्कर्ष के कारण होती है। अलंकारों के वस्तु मात्र से व्यंग्य होने पर अभी दिखाये हुए उदाहरणों से विषय समझ लेना चाहिए, तो इस प्रकार अर्थ मात्र से या अलंकार विशेष रूप अर्थ से, अर्थान्तर के या अलंकार के प्रकाशन में चारुत्व के उत्कर्ष के कारण प्राधान्य होने पर अर्थ शक्त्युद्भव अनुरणन रूप व्यंग्य को ध्वनि समझना चाहिए।

एवं ध्वनेः प्रभेदान् प्रतिपाद्य तदाभास विवेकं कर्तु मुच्यते —

यत्र प्रतीयमानोऽर्थः प्रम्लिष्टत्वेन भासते।

वाच्यस्याङ्गतया वापि नास्यासौ गोचरो ध्वनेः॥३१॥

श्रीधरी—एवं = इस प्रकार, ध्वनेः = ध्वनि के, प्रभेदान् प्रतिपाद्य = प्रभेदों का प्रतिपादन करके, तदाभास विवेकं कर्तुं = उसके आभास का विवेक करने के लिये, उच्यते = कहते हैं—

यत्र = जहाँ, प्रतीयमानोऽर्थः = प्रतीयमान अर्थ, प्रम्लिष्टत्वेन: = प्रम्लिष्ट रूप से, वा = अथवा, वाच्यस्य अंग तयापि = वाच्य के अंग रूप से भी, भासते = भासित होता है, असौ = यह, ध्वनेः = ध्वनि का, गोचरः न = गोचर नहीं है।

अर्थ—इस प्रकार ध्वनि के प्रभेदों का प्रतिपादन करके उसके आभास का विवेक करने के लिये कहते हैं—

जहाँ प्रतीयमान अर्थ प्रम्लिष्ट रूप में या, वाच्य के अंग रूप मे भासित होता है, वह इस ध्वनि का विषय नहीं है।

द्विविधोऽपि प्रतीयमानः स्फुटोऽस्फुटश्च। तत्र य एव स्फुटः शब्द शक्त्यार्थशक्त्या वा प्रकाशते स एव ध्वनेर्मार्गो नेतरः। स्फुटोऽपि यो ऽभिधेयस्याङ्गत्वेन प्रतीयमानो ऽवभासते सोऽस्याऽनुरणन रूप व्यंग्यस्य ध्वनेरगोचरः।

श्रीधरी—प्रतीयमान अपि – प्रतीयमान भी, द्विविधः=दो प्रकार का है, स्फुटा अस्फुटश्च=स्फुट और अस्फुट, तत्र=उनमे, य एव स्फुटः=स्फुट होकर, शब्द शक्त्यार्थ शक्त्या वा=शब्द शक्ति या अर्थ शक्ति से, प्रकाशते=प्रकाशित होता है, स एव=वही, ध्वनेर्मार्गो=ध्वनि का मार्ग है, नेतरः=दूसरा नही, स्फुटोऽपि=स्फुट होकर भी, यः प्रतीयमानः=जो प्रतीयमान, अभिधेयस्य अगत्वेन=अभिधेय के अग रूप से, अवभासते=अवभासित होता है, स=वह, अस्य=इस, अनुरणनरूप व्यंग्यस्य ध्वनेः=अनुरणनरूप व्यंग्य ध्वनि का, अगोचरः=अगोचर है।

अर्थ—प्रतीयमान भी दो प्रकार का है—स्फुट और अस्फुट, उनमे जो स्फुट होकर शब्द शक्ति या अर्थ शक्ति से प्रकाशित होता है, वही ध्वनि का मार्ग है, दूसरा नही। स्फुट होकर भी जो प्रतीयमान वाच्य के अंग रूप से भासित होता है, वह इस अनुरणन रूप व्यंग्य ध्वनि का गोचर नहीं है।

यथा—

कमलाअरा ण मलिआ हंसा उड्डाविआ ण अपिउच्छा।
केण वि गामतडाए अब्भं उत्ताणअं फलिहम्॥
[कमलाकरा न मलिता हंसा उड्डायिता न च सहसा।
केनापि ग्रामतडागेऽभ्रमुत्तानितं क्षिप्तम्॥]

श्रीधरी—कमलाकरा=तालाव, न मलिता=न गन्दे हुए, च=और, सहसा=अचानक, हंसा उड्डायिता=न हंस ही उड़ाये गये, केनापि=किसी ने, ग्रामतडागे=गाँव के तालाव मे, अभ्र=मेघ को, उत्तानितं क्षिप्तम्=उल्टा करके डाल दिया है।

अर्थ—न तालाव गन्दा हुआ है और न ही अचानक हंस उड़ा दिये, किसी ने गाँव के तालाव में मेघ को उल्टा करके फैंक दिया है।

अत्र हि प्रतीयमानस्य मुग्धवध्वा जलधर प्रतिविम्ब दर्शनस्य वाच्याङ्गत्वमेव। एवं विधे विषयेऽन्यत्रापि यत्र व्यंग्यापेक्षया वाच्यस्य चारुत्वोत्कर्ष प्रतीत्या प्राधान्यमवसीयते, तत्र व्यंग्यस्याङ्गत्वेन प्रतीतेर्ध्वनेर-विषयत्वम्। यथा—

श्रीधरी—अत्र हि=यहां, प्रतीयमानस्य=प्रतीयमान, मुग्धवध्वा=अनजान वधू द्वारा, जलधर प्रतिविम्व दर्शनस्य=मेघ की छाया का दर्शन, वाच्याङ्गत्वमेव=वाच्य का अंग ही है, एवं विधे विषये=इस प्रकार के विषय मे, अन्यत्रापि=अन्यत्र

भी, यत्र=जहाँ, व्यंग्यापेक्षया=व्यंग्य की अपेक्षा, वाच्यस्य चारुत्वोत्कर्ष प्रतीत्या= वाच्य के चारुत्वोत्कर्ष की प्रतीति से, प्राधान्यमवसीयते=प्राधान्य प्रतीत होता है, तत्र=वहाँ, व्यग्यस्याङ्गत्वेन=व्यंग्य के अंग रूप से, प्रतीतेः=प्रतीत होने के कारण, ध्वनेरविषयत्वम्=ध्वनि का विषय नहीं है, यथा=जैसे—

अर्थ—यहाँ प्रतीयमान मुग्धा वधू द्वारा मेघ की छाया का दर्शन वाच्य का अंग हो है। इस प्रकार के विषय में अन्यत्र भी जहाँ व्यग्य की अपेक्षा वाच्य के चारुत्वोत्कर्ष की प्रतीति से प्राधान्य प्रतीत होता है वहाँ व्यंग्य के अग रूप में प्रतीत होने के कारण ध्वनि का विषय नहीं है। जैसे—

वाणीरि कुडङ्गोड्डीणसउणि कोलाहलं सुणन्तीए।
घरकम्मवावडए वहुए सीअन्ति अगाइं॥

श्रीधरी—वेतस कुञ्ज गहनोड्डीन=वेंत की घनी झाडी से उड़े हुए, शकुनि कोलाहल=पक्षियों के कोलाहल को, शृण्वन्त्या=सुनती हुई, गृहकर्म-व्यावृताया वध्वा=घर के काम मे लगी हुई वधू के, अगानि=अंग, सीदन्ति=अग शिथिल पड रहे है।

अर्थ—वेंत की घनी झाड़ी से उडे हुए पक्षियों का कोलाहल सुनकर घर के काम मे लगी हुई वधू के अंग शिथिल पड रहे है।

एवं विधो हि विषयः प्रायेण गुणीभूत व्यंग्यस्योदाहरणत्वेन निर्देक्ष्यते। यत्र तु प्रकरणादि प्रतिपत्त्या निर्धारित विशेषो वाच्योऽर्थः पुनः प्रतीयमानाङ्गत्वेनैवावभासते सोऽस्यैवानुरणनरूप व्यंग्यस्य ध्वनेर्मार्गः। यथा—

श्रीधरी—एवं विधो हि विषयः=इस प्रकार का विषय, प्रायेण=प्राय, गुणीभूत व्यग्यस्य उदाहरणत्वेन=गुणीभूत व्यंग्य के उदाहरण के रूप मे, निर्देक्ष्यते= निर्देश करेंगे, तु=किन्तु, यत्र=जहाँ, प्रकरणादि प्रतिपत्त्या=करण आदि के ज्ञान मे, निर्धारित विशेषः=विशेष निर्धारित होने पर, वाच्यो अर्थः=वाच्य अर्थ, पुनः प्रतीयमानाङ्गत्वेनैव=प्रतीयमान के अग रूप मे ही, अवभासते=प्रतीत होता है, स=वह, अस्यैव=इसी, अनुरणन रूप व्यग्यस्य ध्वनेः=अनुरणन रूप व्यग्य ध्वनि का, मार्गः=मार्ग है, यथा=जैसे—

अर्थ—इस प्रकार का विषय प्रायः गुणीभूत व्यंग्य के उदाहरण के रूप मे निर्देश करेंगे, किन्तु जहाँ प्रकरण आदि के ज्ञान से विशेष निर्धारित होने पर वाच्य अर्थ पुनः प्रतीयमान के अग रूप मे ही भासित होता है, वह इसी अनुरणन रूप व्यग्य ध्वनि का मार्ग है। जैसे—

उच्चिणसु पडिअ कुसुमं मा धुण सेहालिअं हलिअसुह्ण।
अह दे विसमविरावो ससुरेण सुणो वलअसद्दो॥

[उच्चिनु पतितं कुसुमं माधुनीहि शेफालिकां हालिकस्नुषे।
एष ते विषमविपाकः श्वशुरेण श्रुतो वलयशब्दः॥]

श्रीधरी—यथा = जैसे, हालिकस्नुषे - अरी हलवाले की पतोहू, पतित कुसुमं उच्चिनु = गिरे हुए फूल चुन, शेफालिकां = हरसिंगार को, मा धुनीहि = मत हिला, विषम विपाकः = अनिष्टजनक, एष ते वलयशब्दः = इस कगन की आवाज को, श्वशुरेण श्रुत = ससुर ने सुन लिया है।

अर्थ—जैसे—अरी हलवाहे की पतोहू, गिरे हुए फूल चुन, हरसिंगार को मत हिला, अनिष्ट परिणाम वाली, तेरे वलय के शब्द को ससुर ने सुन लिया है।

अत्र हि अविनय पतिना सह रममाणा सखी बहिः श्रुत वलय कल कलया सख्या प्रतिबोध्यते। एतदपेक्षणीयं वाच्यार्थ प्रतिपत्तये। प्रतिपन्ने च वाच्येऽर्थे तस्याविनयप्रच्छादनतात्पर्येणाभिधीयमानत्वात्पुनर्व्यंग्याङ्गत्वमेवेत्यस्मिन्ननुरणनरूप व्यंग्य ध्वनावन्तर्भावः।

एवं विवक्षित वाच्यस्य ध्वनेस्तदाभास विवेके प्रस्तुते सत्य विवक्षित-वाच्यस्यापि तं कर्तुमाह–

श्रीधरी—अत्र हि = यहाँ, अविनय पतिना सह—पर पुरुष के साथ, रममाणा = रमण करती हुई, सखी = नायिका को, बहिः श्रुतवलयकलकलया = बाहर से कगन की आवाज सुनकर, सख्या प्रतिबोध्यते = सखी सावधान करती है, एतत् = यह व्यंग्य अर्थ, वाच्यार्थ प्रतिपत्तये = वाच्य अर्थ को समझने के लिये, अपेक्षणीयम् = अपेक्षित है. च = और, वाच्येऽर्थे = वाच्य अर्थ के, प्रतिपन्ने = मालूम हो जाने पर, तस्याविनयप्रच्छादनः तात्पर्येण = उसके अविनय को छिपाने के लिये कहे जाने के कारण, पुनः व्यङ्ग्याङ्गत्व मेव = पुनः व्यंग्य का अग ही है, इति = इस प्रकार, अस्मिन् अनुरणन रूप व्यंग्यध्वनावन्तर्भावः = इस अनुरणन रूप व्यंग्य ध्वनि मे अन्तर्भाव है।

अर्थ—यहाँ परपुरुष के साथ रमण करती हुई नायिका को बाहर से वलय की आवाज सुनकर सावधान करती है। वह व्यंग्य अर्थ वाच्यार्थ को समझने के लिये अपेक्षित है और वाच्य अर्थ के ज्ञात हो जाने पर उस वाच्यार्थ के अविनय के प्रच्छादन के लिये कहे जाने के कारण पुनः व्यंग्य का अग ही है, इस प्रकार इस व्यग्य रूप ध्वनि मे अन्तर्भाव है।

इस प्रकार विवक्षित वाच्य ध्वनि के और उसके आभास के विवेक प्रस्तुत होने पर अविवक्षित वाच्य का भी वह करने के लिये कहते है—

अव्युत्पत्तेरशक्तेर्वा निबन्धो यः स्खलद्गतेः।
शब्दस्य स च न ज्ञेयः सूरिभिर्विषयो ध्वनेः॥३२॥

श्रीधरी—अव्युत्पत्तेः = अव्युत्पत्ति, अशक्तेर्वा = या अशक्ति के कारण, स्खलद्गतेः = स्खलद्गति, शब्दस्य = शब्द का, यः निबन्धः = जो प्रयोग है, स =

उसे, सूरिभि:=विद्वानों को, ध्वनेर्विषय:=ध्वनि का विषय, न ज्ञेय:=नहीं समझना चाहिए।

अर्थ—अव्युत्पत्ति या अशक्ति के कारण स्खलद्गति शब्द का जो प्रयोग है उसे विद्वानों को ध्वनि का विषय नहीं समझना चाहिए।

स्खलद्गतेरुपचरितस्य शब्दस्याव्युत्पत्तेरशक्तेर्वा निबन्धोः य स च न ध्वनेर्विषयः।

श्रीधरी—स्खलद्गतेरुपचरितस्य=स्खलद्गति किंवा उपचरित, शब्दस्य=शब्द का, अव्युत्पत्तेः अशक्तेः वा=अव्युत्पत्ति या अशक्ति से, यः निबन्धः—जो प्रयोग है, स च न ध्वनेर्विषयः=वह ध्वनि का विषय नहीं है।

यत:—

सर्वेष्वेव प्रभेदेषु, स्फुटत्वेनावभासनम्।
यद्व्यङ्ग्यस्यांगि भूतस्य तत्पूर्णं ध्वनिलक्षणम्॥३३॥
तच्चोदाहृत विषय मेव।

श्रीधरी—सर्वेष्वेव प्रभेदेषु=सभी प्रभेदों में, स्फुटत्वेन=स्फुट रूप से, यद्=जो, अगिभूतस्य व्यंग्यस्य=अंगीभूत व्यंग का, अवभासनं=अवभासन होता है, तत्=वह, ध्वनिलक्षणं पूर्णम्=पूर्ण ध्वनि का लक्षण है। तच्च उदाहृत विषयमेव=उसका विषय उदाहृत ही है।

अर्थ—क्योंकि सभी प्रभेदों में स्फुट रूप से जो अगिभूत व्यंग्य का अवभासित होना है, वह ध्वनि का पूर्ण लक्षण है। उसका विषय कहा ही जा चुका है।

[इति श्री राजानकानन्दवर्धनाचार्य विरचिते ध्वन्यालोके द्वितीय उद्योतः]

———०———

ध्वन्यालोकः

तृतीय उद्योतः

एवं व्यंग्य मुखेनैव ध्वनेः प्रदर्शिते स प्रभेदे स्वरूपे पुनर्व्यञ्जकमुखेनै तत्प्रकाश्यते –

> अविवक्षित वाच्यस्य पदवाक्य प्रकाशता ।
> तदन्यस्यानुरणनरूप व्यंग्यस्य च ध्वनेः ॥१॥

श्रीधरी—एवं=इस प्रकार, व्यंग्यमुखेनैव=व्यंग्य के प्रकार से ही, ध्वनेः= ध्वनि के, सप्रभेदे स्वरूपे प्रदर्शिते=सप्रभेद स्वरूप के प्रदर्शित करने पर, पुनः=फिर, व्यञ्जक मुखेन=व्यञ्जक के प्रकार से, तत्प्रकाश्यते=इसे प्रकाशित करते हैं—

अविवक्षित वाच्यस्य=अविवक्षित वाच्य, च=और, तदन्यस्य=उससे अन्य अर्थात् विवक्षितान्यपर वाच्य का भेद, अनुरणन रूप व्यंग्यस्य=अनुरणन रूप व्यंग्य अर्थात् सलक्ष्यक्रम व्यंग्य, ध्वनेः=ध्वनि के, पदवाक्य प्रकाशता=पद प्रकाश और वाक्य प्रकाश होते हैं ।

अर्थ—इस प्रकार व्यंग्य के प्रकार से ही ध्वनि के सप्रभेद स्वरूप के प्रदर्शित करने पर पुनः व्यञ्जक के प्रकार से इसे प्रकाशित करते है—

अविवक्षित वाच्य और उससे अन्य अर्थात् विवक्षितान्यपर वाच्य का भेद, अनुरणन रूप व्यंग्य अर्थात् सलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि पद प्रकाश और वाक्यप्रकाश होते है ।

अविवक्षितवाच्यस्यात्यन्त तिरस्कृतवाच्ये प्रभेदे पदप्रकाशता यथा महर्षेर्व्यासस्य–"सप्तैताः समिधः श्रियः," यथा वा कालिदासस्य–'कः सन्नद्धे विरह विधुरां त्वय्युपेक्षेत जायाम्', यथा वा–"किमिवहि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्", एतेषूदाहरणेषु 'समिध' इति 'सन्नद्ध' इति, 'मधुराणामिति' च पदानि व्यञ्जकत्वाभिप्रायेणैव कृतानि ।

श्रीधरी—अविवक्षित वाच्यस्यात्यन्त तिरस्कृतवाच्ये प्रभेदे=अविवक्षित वाच्य के अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य प्रभेद में, पदप्रकाशता यथा=पद प्रकाशता जैसे, महर्षेर्व्यासस्य=महर्षि व्यास का, एताः=ये, सप्त=सात, श्रियः=सम्पत्ति की, समिधः=समिधाएँ हैं, यथा वा=या जैसे, कालिदासस्य=कालिदास का,

सन्नद्धे=तुम्हारे सन्नद्ध होने पर, विरह विधुरां जायां=विरह विधुरा पत्नी की, कः उपेक्षेत=कौन उपेक्षा करता है, यथा वा=अथवा जैसे, मधुराणा आकृतीनाम्=मधुर आकृतियों के लिये, किमिव मण्डनं न=क्या शोभादायक नहीं है, एतेषु उदाहरणेषु=इन उदाहरणों में, समिधा इति=समिधा पद, सन्नद्ध इति=सन्नद्धपद, मधुराणामिति=मधुर पद, व्यञ्जकत्वाभिप्रायेणैव=व्यञ्जकत्व के अभिप्राय से ही, कृतानि=किये गये हैं।

अर्थ—अविवक्षित वाच्य के अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य प्रभेद में पद प्रकाशता जैसे महर्षि व्यास का—'ये सात सम्पत्ति की समिधाएँ हैं', या जैसे कालिदास का—'तुम्हारे सन्नद्ध होने पर विरह विधुरा पत्नी की कौन उपेक्षा करता है, अथवा 'मधुर आकृतियों के लिये कौन सी वस्तु अच्छी नहीं लगती', इन उदाहरणों में समिधा, सन्नद्ध और मधुर ये पद व्यञ्जकत्व के अभिप्राय से ही किये गये हैं।

तस्यैवार्थान्तर सङ्क्रमित वाच्ये यथा—"रामेण प्रियजीवितेन तु कृतं प्रेम्णः प्रिये नो चितम्।" अत्र रामेणेत्येतत्पदं समसाहसैक रसत्वादि व्यंग्याभिसङ्क्रमित वाच्यं व्यञ्जकम्।

श्रीधरी—तस्यैव=उसी के ही, अर्थान्तर संक्रमित वाच्ये=अर्थान्तर संक्रमित वाच्य में, यथा=जैसे, प्रिये=प्रियतमे, प्रिय जीवितेन=जीवित रहने के लोभी, रामेण=राम ने, प्रेम्णः उचितम् न कृतम्=प्रेम के योग्य कार्य नहीं किया, अत्र=यहाँ, रामेणेत्येतत्पदं=राम यह पद, समसाहसैक रसत्वादि=साहसैक रसत्वादि, व्यंग्याभिसङ्क्रमित वाच्यं=व्यंग्य में संक्रमित वाच्य रूप, व्यञ्जकम्=व्यञ्जक है।

अर्थ—उसी के ही अर्थान्तर संक्रमित वाच्य में जैसे—'हे प्रिये, जीवित रहने के लोभी राम ने प्रेम के योग्य कार्य नहीं किया'। यहाँ राम यह पद साहसैक रसत्वादि व्यंग्य में संक्रमित वाच्य रूप में व्यञ्जक है।

यथा वा—

एमेअ जणो तिस्सा देउ,
कवोलोपमाइ ससिविम्वम्।
परमत्थ विआरे उण,
चन्दो चन्दो विअ वराओ॥
[एवमेव जनस्तस्या ददाति,
कपोलोपमायां शशिविम्वम्।
परमार्थ विचारे पुनश्चन्द्र-
चन्द्र इव वराकः॥]

अत्र द्वितीयश्चन्द्रशब्दोऽर्थान्तर संक्रमित वाच्यः।

श्रीधरी—यथा वा=अथवा जैसे, एवमेव जनः=इसी प्रकार लोग, तस्याः=

उसके, कपोलोपमायां=कपोलों की उपमा, शशिबिम्ब ददाति=चन्द्रमण्डल से देते है, परमार्थ विचारे=वास्तविक रूप से विचार करने पर, चन्द्रः चन्द्र इव वराकः=चन्द्रमा तो चन्द्रमा के समान बेचारा है, अत्र=यहाँ, द्वितीय चन्द्रशब्दो=दूसरा चन्द्रशब्द, अर्थान्तर संक्रमित वाच्यः=अर्थान्तर संक्रमित वाच्य है।

अर्थ—अथवा जैसे—

इसी प्रकार लोग उसके कपोलो की उपमा, चन्द्रबिम्ब से दिया करते है, वास्तव मे विचार करने पर चन्द्रमा तो चन्द्रमा के समान बेचारा है। यहां दूसरा चन्द्र शब्द अर्थान्तर संक्रमित वाच्य है।

अविवक्षित वाच्यस्यात्यन्त तिरस्कृत वाच्ये प्रभेदे वाक्य प्रकाशता यथा-

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

श्रीधरी—अविवक्षित वाच्यस्य=अविवक्षित वाच्य के, अत्यन्त तिरस्कृत वाच्ये, प्रभेदे=अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य नामक प्रभेद मे, वाक्य प्रकाशता यथा=वाक्य प्रकाशता जैसे –

या = जो, सर्वभूताना=सब प्राणियों की, निशा=रात है, तस्या=उसमे, सयमी जागर्ति=सयमी पुरुष जागता रहता है, यस्या=जिसमे, भूतानि=प्राणिमात्र, जाग्रति=जागते रहते है, स=वह, पश्यत देखते हुए, मुनेः=मुनि की, निशा=रात है।

अर्थ—अविवक्षित वाच्य के अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य नामक प्रभेद मे वाक्य प्रकाशता जैसे—

जो सब प्राणियों की रात है उसमे संयमी पुरुष जागता रहता है और जिसमे प्राणीमात्र जागते है, वह देखते हुए मुनि की रात्रि है।

अनेन हि वाक्येन निशार्थो न च जागरणार्थः कश्चिद्विवक्षित। किं तर्हि ? तत्व ज्ञानावहितत्वमतत्वपराङ्मुखत्वं च मुनेः प्रतिपाद्यत इति तिरस्कृत वाच्यस्यास्य व्यञ्जकत्वम्।

श्रीधरी—अनेन हि वाक्येन=इस वाक्य मे, निशार्थो न च जागरणार्थ.=न रात्र्यर्थ और न जागरण अर्थ, कश्चिद्=कोई भी, न विवक्षित=कोई भी विवक्षित नही है, किं तर्हि=तो क्या है, तत्वज्ञानावहितत्व=तत्वज्ञान में अवहित होना, अतत्वपराङ्मुखत्वं=अतत्व से पराङ्मुख होना, मुनेः=मुनि का, प्रतिपाद्यत=प्रतिपादन किया है, इति=इस, तिरस्कृत वाच्यस्य=तिरस्कृत वाच्य को, व्यञ्जकत्वम्=व्यञ्जकत्व है।

अर्थ—इस वाक्य से न तो रात्रिरूप अर्थ विवक्षित है और न जागरण का अर्थ अभिप्रेत है। तो क्या है ? मुनि का तत्वज्ञान मे दत्त चित्त होना और अतत्व

से पराङ्मुख होना प्रतिपादन किया गया है, वह निरस्कृत वाच्य का व्यञ्जकत्व है।

तस्यैवार्थान्तर संक्रमित वाच्यस्य वाक्य प्रकाशता यथा—

विसमइश्रो काण विकाण बालेइ श्रमिश्र णिम्माश्रो ।
काणवि विसामिश्रमश्रो काणवि श्रविसामश्रो कालो ।।
[विषम पतितः केषामपि केषामपि प्रत्यामृत निर्माणः ।
केषामपि पियामृतमयः केषामप्य विपामृतः कालः ।।]

श्रीधरी—तस्यैव=उसी, अर्थान्तर संक्रमित वाच्यस्य=अर्थान्तर संक्रमित वाच्य की, वाक्य प्रकाशता यथा=वाक्य प्रकाशता जैसे—

कालः=समय, केषामपि=किन्हीं के लिये, विषमयित.=विषमय हो जाता है, केषामपि=किन्हीं के लिये, अमृत निर्माणः प्रयाति=अमृतमय हो जाता है, केषामपि=किन्ही के लिये, विषामृतमयः=विषमय और अमृतमय दोनों होता है, केषामपि=किन्ही के लिये, अविषामृत =न विषमय होता है और न अमृतमय ।

अर्थ—उसी अर्थान्तर सक्रमित वाच्य की वाच्य प्रकाशता जैसे—
समय किन्ही के लिये विषमय हो जाता है, किन्हीं के लिये अमृतमय बन जाता है, किन्ही के लिये विषमय और अमृतमय दोनों ही हो जाता है और किन्ही के लिये *न विषमय होता है और न अमृतमय ।*

अत्र हि वाक्ये विषादमृतशब्दाभ्यां दुःखसुखरूप संक्रमितवाच्याभ्यां व्यवहार इति अर्थान्तर संक्रमित वाच्यस्य व्यञ्जकत्वम् । विवक्षिताभिधेयस्यानुरणन रूप व्यंग्यस्य शब्द शक्त्युद्भवे प्रभेदे पद प्रकाशता यथा—

श्रीधरी—अत्र हि वाक्ये=इस वाक्य में, सुख-दुःखरूपसङ्क्रमित वाच्याभ्याम्=सुख और दुःख रूप में सङ्क्रमित वाच्य वाले, विषामृत शब्दाभ्याम्=विष और अमृत शब्दों से, व्यवहारः=व्यवहार है, इति=इस प्रकार, अर्थान्तर सङ्क्रमित वाच्यस्य=अर्थान्तर सङ्क्रमित वाच्य का, व्यञ्जकत्वम्=व्यञ्जकत्व है, विवक्षिताभिधेयस्य=विवक्षित वाच्य के, अनुरणन रूप व्यंग्यस्य=अनुरणन रूप व्यंग्य ध्वनि के, शब्द शक्त्युद्भवे प्रभेदे=शब्द शक्त्युद्भव प्रभेद में, पदप्रकाशता यथा=पद प्रकाशता जैसे—

अर्थ—इस वाक्य में सुख और दुःख रूप में सङ्क्रमित वाच्य वाले विष और अमृत शब्दों से व्यवहार है, इस प्रकार अर्थान्तर संक्रमित वाच्य का व्यञ्जकत्व है। विवक्षित वाच्य के अनुरणन रूप व्यंग्य ध्वनि के शब्दशक्त्युद्भव प्रभेद में पद प्रकाशता जैसे—

प्रातुं धनैरर्थि जनस्य वाञ्छां,
दैवेन सृष्टो यदि नाम नास्मि।
पथि प्रसन्नाम्बुधरस्तडागः,
कूपोऽथवा किं न जड़ः कृतोऽहम् ॥

श्रीधरी—दैवेन यदि=दैव ने यदि, अस्मि=मुझे, अर्थिजनस्य वाञ्छा=याचक जनों की इच्छा, धनैः प्रातुं न सृष्टः=धन से पूरी करने के लिये नहीं बनाया, पथि=रास्ते में, किं=क्यों, प्रसन्नाम्बुधरः तडागः=स्वच्छ जल वाला तालाब, अथवा=या, जड़ः कूपः=जड़ कुंआ, अहं किं न कृतः=मुझे क्यों नहीं बनाया ?

अर्थ—यदि विधाता ने मुझे याचकजनों की इच्छा धनों से पूरी करने के लिये नहीं बनाया तो क्यों नहीं मुझे मार्ग में स्वच्छ जल वाला तालाब अथवा जड़ कुआं क्यों नहीं बना दिया ?

अत्र हि जड इति पदं निर्विण्णेन वक्त्रात्मसमानाधिकरणतया प्रयुक्तमनुरणन रूपतया कूप समानाधिकरणतां स्वशक्त्या प्रतिपद्यते। तस्यैव वाक्यप्रकाशता यथा हर्षचरिते सिंहनाद वाक्येषु—'वृत्तेऽस्मिन्महाप्रलये धरणीधारणायाधुना त्वं शेषः'। एतद्धि वाक्यमनुरणनरूपमर्थान्तरं शब्दशक्त्या स्फुटमेव प्रकाशयति। अस्यैव कविप्रौढोक्तिमात्र निष्पन्न-शरीरस्यार्थ शक्त्युद्भवे प्रभेदे पदप्रकाशता यथा हरिविजये—

श्रीधरी—अत्र हि=यहाँ, वक्त्रात्मसमानाधिकरणतया=वक्ता द्वारा स्व-समानाधिकरण रूप से, प्रयुक्तं=प्रयुक्त, जड इति पदं=जड पद, स्वशक्त्या=अपनी शक्ति से, निर्विण्णेन=निर्वेदयुक्त, अनुरणनरूपतया=अनुरणन रूप से, कूप समानाधिकरणतां=कूप समानाधिकरणता को, प्रतिपद्यते=प्राप्त करता है, तस्यैव=उसी की, वाक्यप्रकाशता यथा=वाक्य प्रकाशता जैसे, हर्षचरिते सिंहनाद वाक्येषु=हर्षचरित में सिंहनाद के वाक्यों में, अधुना=इस समय, अस्मिन् महाप्रलये=इस महाप्रलय की, वृत्ते=स्थिति में, धरणी धारणाय=पृथ्वी को धारण करने के लिये, त्वं शेषः=तुम शेष हो।

एतद्धिवाक्यं=यह वाक्य, अनुरणनरूपं अर्थान्तरं=अनुरणन रूप अर्थान्तर को, शब्दशक्त्या=शब्द शक्ति से, स्फुटमेवप्रकाशयति=स्पष्ट ही प्रकाशित करता है, अस्यैव=इसी के, कवि प्रौढोक्तिमात्र निष्पन्न शरीरस्य=कवि प्रौढोक्ति मात्र से निष्पन्न शरीर वाले, अर्थशक्त्युद्भवे प्रभेदे=अर्थ शक्त्युद्भव प्रभेद में, पदप्रकाशता यथा=पदप्रकाशता जैसे, हरिविजये=हरिविजय में—

अर्थ—यहाँ निर्वेदयुक्त वक्ता द्वारा स्वसमानाधिकरण रूप से प्रयुक्त 'जड' पद अपनी शक्ति से कूप समानाधिकरण्य भाव को प्राप्त करता है। उसी की वाक्य प्रकाशता जैसे—हर्षचरित में सिंहनाद के वाक्यों में 'इस महाप्रलय की स्थिति में पृथ्वी को धारण करने के लिये तुम शेष हो।'

यह वाक्य अनुरणन रूप अर्थान्तर को शब्दशक्ति से स्पष्ट ही प्रकाशित करता है। कवि प्रौढोक्तिमात्र से निष्पन्न शरीर वाले इसी के अर्थ शक्त्युद्भव प्रभेद में पद प्रकाशता जैसे हरि विजय में—

चूअंकुरावअंसं छणमप्पसरमहग्घणमणहरसुरामोअम् ।
असप्पिअं पि गहिअं कुसुमसरेण महुमासलच्छिमुहम् ॥
[चूतांकुरावतंसं क्षणप्रसर महार्घमनोहर सुरामोदम् ।
असमर्पितमपिगृहीतं कुसुमशरेण मधुमास लक्ष्मी मुखम् ॥]

श्रीधरी—चूतांकुरावतम=आम्रमञ्जरी के अवतस वाले, क्षण=क्षण, प्रसरमहार्घमनोहरसुरामोदम्=वसन्तोत्सव के प्रसार से मनोहर कामदेव के चमत्कार से भरे, या बहुमूल्य सुरा की सुगन्धि से युक्त, मधुमास लक्ष्म्या मुखम्=वसन्त लक्ष्मी के मुख को, कुसुमशरेण=कामदेव ने, असमर्पितमपि=विना समर्पित किये हुए भी, गृहीतम्=ग्रहण किया।

अर्थ—आम्रमञ्जरी के अवतस वाले क्षण, वसन्तोत्सव के प्रसार के मनोहर कामदेव के, चमत्कार से भरे हुए या बहुमूल्य शराब की सुगन्ध से सुगन्धित वसन्त लक्ष्मी के मुख को कामदेव ने बिना अर्पित किये हुए भी ग्रहण किया।

अत्र हि असमर्पितमपि कुसुमशरेण मधुमासलक्ष्म्यामुखं गृहीतमित्य-समर्पितमपीत्येतदवस्थाभिधायिपदमर्थशक्त्या कुसुमशरस्य बलात्कारं प्रकाशयति ।

श्रीधरी—अत्र हि=यहाँ, असमर्पितमपि=विना समर्पित किये ही, कुसुमशरेण=कामदेव के द्वारा, मधुमास लक्ष्म्यामुख=मधुमास लक्ष्मी के मुख को, गृहीतम्=ग्रहण किया; इति=इसमें, असमर्पितमपि=विना समर्पण किये हीं, इत्येतदवस्थाभिधायि=इस अवस्था का अभिधान करने वाला, पद=पद, अर्थशक्त्या=अर्थ शक्ति से, बलात्कार=कामदेव के बलात्कार को; प्रकाशयति=प्रकाशित करता है।

अर्थ—यहाँ विना समर्पित किये ही कामदेव ने वसन्त लक्ष्मी के मुख को ग्रहण किया, इसमें 'विना समर्पित किये ही' इस अवस्था का अभिधान करने वाला पद अर्थ शक्ति से कामदेव का बलात्कार प्रकाशित करता है।

अत्रैव प्रभेदे वाक्यप्रकाशता यथोदाहृतं प्राक्—'सज्जेहि सुरहिमासो' इत्यादि । अत्र सज्जयति सुरभिमासो न तावदर्पयत्यनङ्गाय शरानित्ययं कविप्रौढोक्तिमात्र निष्पन्न शरीरो मन्मथोन्माथकदनावस्थां वाक्यार्थः वसन्तसमयस्य सूचयति ।

श्रीधरी—अत्रैव प्रभेदे=इसी प्रभेद में, वाक्यप्रकाशता यथोदाहृत प्राक्=वाक्य प्रकाशता जैसे पहले उदाहरण दिया जा चुका है सज्जेहि सुरहिमासो इत्यादि=

वसन्त माम सुसज्जित हो रहा है, इत्यादि, अत्र=यहाँ, सुरभिमासो सज्जयति=वसन्त माम् बाणों को तैयार कर रहा है, अनङ्गाय=कामदेव को, शरान्=बाणों को, न तावत् अर्पयति=अर्पित नहीं कर रहा है, इति=यह, कवि प्रौढोक्तिमात्र निष्पन्न शरीर:=कवि प्रौढोक्ति मात्र से निष्पन्न शरीर, वाक्यार्थ=वाक्यार्थ वसन्तसमयस्य=वसन्त समय की, मन्मथोन्माथकदनावस्थां=कामोद्दीपन से उत्पन्न दुरवस्था को, सूचयति=सूचित करता है।

अर्थ इसी प्रभेद में वाक्य प्रकाशना जैसे—पहले उदाहरण दे चुके हैं—'सज्जेहि सुरभिमासो' इत्यादि। यहाँ सुरभि मास बाणों को तैयार करता है, कामदेव को बाण अर्पित नहीं कर रहा है, यह कवि प्रौढोक्ति मात्र से निष्पन्न शरीर वाक्यार्थ वसन्त समय की प्रतिशय कामोद्दीपन जनित दुरवस्था को सूचित करता है।

स्वत सम्भविशरीरार्थशक्त्युद्भवेप्रभेदे पद प्रकाशता यथा—

वणिजअ हत्थिदन्ता कुत्तो अह्माण बाघकित्ती अ।
जाव लुलिआलअमुही घरम्मि परिसक्काए सुह्ना॥
[वणिजक हस्तिदन्ता कुतोऽस्माकं व्याघ्रकृत्तयश्च।
यावल्लुलितालकमुखी गृहे परिष्वक्कते स्नुषा॥]

श्रीधरी—स्वत सम्भविशरीरार्थ शक्त्युद्भवे=स्वत. सम्भवि शरीर अर्थ शक्त्युद्भव प्रभेदे=प्रभेद में, पदप्रकाशता यथा=पद प्रकाशता जैसे, वणिजक=भो वणिक्, अस्माक=हमारे यहाँ, हस्तिदन्ता: कुत:=हाथी के दाँत कहाँ, व्याघ्रकृत्तयश्च=और बाघ की खाल कहाँ, यावत्=जब तक, लुलितालक मुखी=चञ्चल लटों से युक्त मुख वाली, स्नुषा=पतोहू, गृहे=घर में, परिष्वक्कते=चमक चमक कर चलती है।

अर्थ—स्वत: सम्भवी शरीर अर्थ शक्त्युद्भव प्रभेद में पद प्रकाशता जैसे—हे वणिक् हमारे यहाँ हाथी के दाँत और बाघ की खाल कहाँ, जब तक चञ्चल लटों से युक्त मुख वाली पतोहू घर में चमक-चमक कर चलती है।

अत्र लुलितालकमुखीत्येतत्पदं व्याधवध्वा स्वत: सम्भावित शरीरार्थशक्त्या सुरतक्रीडासक्तिं सूचयंस्तदीयस्य भर्तुः सततसम्भोगक्षामतां प्रकाशयति।

श्रीधरी अत्र=यहाँ, लुलितालक मुखीत्येतत्पदं—चंचल लटों से युक्त मुख वाली यह पद, स्वत. सम्भावित शरीरार्थशक्त्या=स्वत. सम्भावित शरीर अर्थ शक्ति से, व्याधवध्वा=व्याध वधू की, सुरतक्रीडासक्तिं सूचयन्=सुरत क्रीडा में आसक्ति सूचित करता हुआ, तदीयभर्तुः=उसके पति की, सततसम्भोग क्षामता=निरन्तर सम्भोग के कारण दुर्बलता को, प्रकाशयति=प्रकाशित करता है।

अर्थ—यहाँ चंचल लटों से युक्त मुख वाली यह पद स्वत सम्भावित शरीर

अर्थ शक्ति से व्याधवधू की सुरत क्रीड़ा में आसक्ति को सूचित करता हुआ, उसके पति की निरन्तर सम्भोग करने के कारण दुर्बलता को प्रकाशित करता है।

तस्यैव वाक्य प्रकाशता यथा—

सिहिपिच्छकण्णऊरा वहुआ वाहस्स गव्विरी भमइ ।
मुक्ताफलरइअ पसाहणाअं मज्झे सवत्तीणम् ॥
[शिखिपिच्छकर्णपूरा व्याधस्य गर्विणी भ्रमति ।
मुक्ताफलरचित प्रसाधनानां मध्ये सपत्नीनां ॥]

श्रीधरी—तस्यैव—उसकी ही, वाक्य प्रकाशता यथा=वाक्यप्रकाशता जैसे—

शिखिपिच्छकर्णपूरा=मोरपंख के कर्णफूल पहने हुए, व्याधस्य वधू=व्याध की पत्नी, मुक्ताफलरचित प्रसाधनानां=मोतियों के गहनों वाली, सपत्नीनां मध्ये=सौतों के बीच, गर्विणी भ्रमति=गर्वीली होकर घूमती है।

अर्थ—उसी की वाक्यप्रकाशता जैसे—

मोरपंखों के कर्णफूल पहने व्याध की पत्नी मोतियों के आभूषण धारण की हुई सौतों के बीच गर्वीली होकर घूम रही है।

अनेनापि वाक्येन व्याधवध्वाः शिखिपिच्छ कर्णपूराया नवपरिणीतायाः कस्याश्चित सौभाग्यातिशयः प्रकाश्यते। तत्सम्भोगैकरतो मयूरमात्रमारण समर्थः पतिजात इत्यर्थ प्रकाशनात् तदन्यासां चिरपरिणीतानां मुक्ताफल रचित प्रसाधनानां दौर्भाग्यातिशयः रव्याप्यते। तत्सम्भोग काले स एव व्याधः करिवरवधव्यापार समर्थ आसीदित्यर्थ प्रकाशनात्।

श्रीधरी—*अनेनापि वाक्येन*=इस वाक्य से भी, *शिखिपिच्छकर्णपूराया*=मोरपंखों के कर्णफूल वाली, *नवपरिणीतायाः*=नव परिणीता, व्याध वध्वाः=व्याध पत्नी का, *सौभाग्यातिशयः*=अतिशय सौभाग्य, *प्रकाश्यते*=प्रकाशित होता है, *तत्सम्भोगैकरतो*=उसके साथ एकमात्र सम्भोग में रत, *मयूरमात्रमारण समर्थ*=पति केवल मोर को मारने में ही समर्थ रह गया, इति अर्थप्रकाशनात्=इस अर्थ के प्रकाशन से, *तदन्यासां*=उसके अतिरिक्त, *चिरपरिणीतानां*=चिर परिणीता, मुक्ताफल रचितप्रसाधनानां=मोतियों के गहनों वाली सौतों का, दौर्भाग्यातिशयः रव्याप्यते=अतिशय दौर्भाग्य प्रकट किया है, तत्सम्भोग काले=उनके साथ सम्भोग करते समय, स एव व्याधः=वही व्याध, करिवरवधव्यापार समर्थ आसीत्=बड़े-बड़े हाथियों को मार सकने की सामर्थ्य रखता था, इत्यर्थ प्रकाशनात्=यह अर्थ प्रकाशित *होता है।*

अर्थ—इस वाक्य से भी मोरपंखों के कर्णफूल वाली नव परिणीता किसी व्याध पत्नी का अतिशय सौभाग्य प्रकाशित होता है, उसके साथ एकमात्र सम्भोग में रत पति केवल मोर को मारने में समर्थ रह गया, इस अर्थ के प्रकाशन से

उसके अतिरिक्त चिरपरिणीता मोतियो के आभूषणों वाली सौतो का अतिशय दौर्भाग्य सूचित होता है, क्योंकि वही व्याध उनसे सम्भोग करते समय बड़े-बड़े हाथियों को मार डालने की सामर्थ्य रखता था, यह अर्थ प्रकाशित होता है।

ननु ध्वनिः काव्य-विशेष इत्युक्तं तत्कथं पदप्रकाशता। काव्य विशेषोहि विशिष्टार्थप्रतिपत्ति हेतुः शब्दसन्दर्भ विशेषः। तद्भावश्च पदप्रकाशत्वे नोपपद्यते। पदानां स्मारकत्वेना वाचकत्वात्। उच्यते— स्यादेव दोषः यदि वाचकत्वं–प्रयोजकं ध्वनिव्यवहारे स्यात्। न त्वेवम्, तस्य व्यञ्जकत्वेन व्यवस्थानात्। किं च काव्यानां शरीराणामिव संस्थान विशेषावच्छिन्न समुदाय साध्यापि चारुत्वप्रतीतिरन्वय व्यतिरेकाभ्यां भागेषु कल्प्यत इति पदानामपि व्यंजकत्वमुखेन व्यवस्थितो ध्वनि व्यवहारो न विरोधी।

श्रीधरी—ननु ध्वनिः काव्यविशेष इत्युक्तं=जब कि ध्वनि काव्य विशेष है ऐसा कह चुके, तत्कथ तस्य पदप्रकाशता=तो उसकी पद प्रकाशता कैसे, हि= क्योंकि, विशिष्टार्थ प्रतिपत्ति हेतुः=विशिष्ट अर्थ की प्रतिपत्ति हेतु, शब्द सन्दर्भ विशेषः=शब्दसन्दर्भ विशेष, काव्य विशेषः=काव्य विशेष है, तद्भावश्च=और उसका भाव, पदप्रकाशत्वे=पदप्रकाश होने पर, नोपपद्यते=उपपन्न नही होता, पदानां स्मारकत्वेन=(क्योंकि) पदों के स्मारक होने से, अवाचकत्वात्=अवाचक होते है, उच्यते=(इसके समाधान मे) कहते हैं, यदि वाचकत्वं ध्वनि व्यहारे प्रयोजक स्यात्=यदि वाचकत्व ध्वनि के व्यवहार मे प्रयोजक होता, तब, दोष स्याद्=दोष होता, न तु एवम्=परन्तु ऐसा नही है, तस्य=उसका, व्यञ्जकत्वेन=व्यञ्जक रूप से, व्यवस्थानात्=व्यवस्थान है किञ्च=और भी, काव्याना=काव्यो की, शरीराणामिव=शरीरो की तरह, चारुत्व प्रतीतिः=चारुत्व प्रतीति, संस्थान विशेषावच्छिन्नसमुदाय साध्यापि=संस्थान विशेष रूप समुदाय साध्य होने पर भी, अन्वय व्यतिरेकाभ्या=अन्वय व्यतिरेक से, भागेषु=भागो मे, कल्प्यत=मानी जाती है इति=इस प्रकार, पदानामपि=पदों का भी, व्यञ्जकत्व मुखेन व्यञ्जकत्व के प्रकार से, व्यवस्थितो ध्वनि व्यवहारो=व्यवस्थित ध्वनि व्यवहार, न विरोधी= विरोधी नही है।

अर्थ जबकि ध्वनि काव्य विशेष है ऐसा कह चुके, तब उसकी पद प्रकाशता कैसे? क्योंकि विशिष्ट अर्थ की प्रतिपत्ति का हेतु शब्द सन्दर्भ विशेष काव्य विशेष है और उसका भाव पद प्रकाश होने पर नहीं उत्पन्न होता है, क्योंकि स्मारक होने के कारण पद अवाचक होते हैं। (इसके समाधान में) कहते हैं—यह दोष तब होता जब वाचक रूप ध्वनि के व्यवहार में प्रयोजक होता, किन्तु है नहीं [illegible] उसका व्यञ्जकत्व मे व्यवस्थान है। और [illegible] काव्यों की [illegible] प्रतीति संस्थान विशेष रूप समुदाय साध्य होने पर भी अन्वय व्यतिरेक से [illegible]

मानी जाती है। इस प्रकार पदों का भी व्यञ्जकत्व के प्रकार से व्यवस्थित ध्वनि व्यवहार विरोधी नही है।

'अनिष्टस्य श्रुतिर्यद्वदापादयति दुष्टताम्।
श्रुतिदुष्टादिषु व्यक्तं तद्वदिष्ट स्मृतिर्गुणम्।
पदानां स्मारकत्वेऽपि पदमात्रावभासिनः।
तेन ध्वनेः प्रभेदेषु सर्वेष्वेवास्ति रम्यता॥
विच्छित्ति शोभिनैकेन भूषणेनेव कामिनी।
पदद्योत्येन सुकवेर्ध्वनिना भाति भारती॥'

श्रीधरी अनिष्टस्य श्रुतिः = अनिष्ट का श्रवण, श्रुतिदुष्टादिषु = श्रुतिदुष्ट आदि मे, यद्वत् = जैसे, दुष्टताम् आपादयति = दुष्टता ला देता है, तद्वत् = उसी प्रकार, इष्टस्मृति = इष्ट अर्थ की स्मृति, गुणम् व्यक्तम् = स्पष्ट ही गुण हो जाती है, तेन = इसलिए, पदानां = पदों के, स्मारकत्वेऽपि = स्मारक होने पर भी, पदमात्रावभासिनः = पदमात्र से प्रतीत होने वाले, ध्वनेः = ध्वनि के, सर्वेषुप्रभेदेषु = सभी प्रभेदो मे, रम्यता अस्ति = रम्यता रह सकती है, कामिनी = रमणी जैसे, विच्छित्ति शोभिना = विशेष शोभा वाले, एकेनैव भूषणेन = एक ही आभूषण से, भाति = शोभित होने लगती है, (उसी तरह) सुकवेः भारती = सुकवि की वाणी, पदद्योत्येन ध्वनिना = पद से द्योतित होने वाली ध्वनि से, भाति = शोभित होने लगती है।

अर्थ—अनिष्ट का श्रवण श्रुतिदुष्ट आदि मे जैसे दुष्टता ला देता है उसी प्रकार इष्ट अर्थ की स्मृति भी गुण हो जाती है। इसलिये पदों के स्मारक होने पर भी पदमात्र से प्रतीत होने वाले ध्वनि के सभी प्रभेदों मे रम्यता रह सकती है। जिस तरह कामिनी विशेष शोभा वाले एक ही आभूषण से शोभित होने लगती है उसी प्रकार सुकवि की वाणी पद से शोभित होने वाली ध्वनि से शोभित होने लगती है। इति परिकर श्लोकाः = ये परिकर श्लोक हैं।

यस्त्वलक्ष्यक्रमव्यंग्यो ध्वनिर्वर्ण पदादिषु।
वाच्ये सङ्घटनायां च स प्रबन्धेऽपि दीप्यते॥२॥

श्रीधरी—यस्तु = जो, अलक्ष्यक्रमव्यंग्योध्वनिः = अलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि, वर्णपदादिषु = वर्ण पद आदि मे होती है, स = वह, वाक्ये = वाक्य में, सङ्घटनायां = सङ्घटना मे, प्रबन्धेऽपि च = और प्रबन्ध में भी, दीप्यते = दीप्त होता है।

अर्थ—जो अलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि वर्ण, पद आदि में होती है, वह वाक्य मे सङ्घटना मे और प्रबन्ध में भी दीप्त होता है।

तत्र वर्णानामनर्थकत्वाद्योतकत्वमसम्भवीत्याशङ्क्येदमुच्यते—

शषौ सरेफसंयोगो ढकारश्चापि भूयसा।
विरोधिनः स्युः शृङ्गारे ते न वर्णा रसच्युतः॥३॥

स एव तु निवेश्यन्ते बीभत्सादौ रसे यदा ।
तदा तं दीपयन्त्येव ते न वर्णा रसच्युतः ॥४॥

श्रीधरी - तत्र = उनमें, वर्णानामनर्थकत्वात् = वर्णों के अनर्थक होने के कारण, द्योतकत्वमसम्भवी - द्योतकत्व असम्भव है, इति = यह, आशङ्क्य = आशङ्का करके, उच्यते = कहते हैं –

शषौ = श और ष, सरेफ संयोगो = रेफ के साथ संयोग, ढकारश्चापि भूयसा = ढकार के भी बहुत बार प्रयुक्त होने पर, शृंगारे = शृङ्गार में, विरोधिन: स्युः = विरोधी हो जायेंगे, ते वर्णा: = ये वर्ण, रसच्युतः न = रस को प्रवाहित करने वाले नहीं सिद्ध होते, तु = परन्तु, त एव = वे ही, यदा = जब, बीभत्सादौ रसे = बीभत्स आदि रस में, निवेश्यन्ते = निवेशित किये जाते है, तदा = तब, तं = उस रस को, दीपयन्त्येव = दीपित करते ही है, ते वर्णा = (अतः) वे वर्ण, रसच्युतः न = रस को प्रवाहित करने वाले नहीं होते ।

अर्थ—उनमें वर्णों के अनर्थक होने के कारण द्योतकत्व असम्भव है, यह आशङ्का करके कहते हैं—

श, ष, रेफ के साथ संयोग और ढकार बहुत बार प्रयुक्त होने पर शृंगार में विरोधी है, इसलिये वर्ण रस को प्रवाहित करने वाले सिद्ध नहीं होते, परन्तु वे ही जब बीभत्स आदि रस में निवेशित किये जाते है, तब उस रस को दीपित ही करते है, इसलिये वर्ण रस को प्रवाहित करने वाले नहीं होते ।

श्लोकद्वयेनान्वय व्यतिरेकाभ्यां वर्णानां द्योतकत्वं दर्शितं भवति । पदे चालक्ष्यक्रम व्यंग्यस्य द्योतनं भवति । यथा–

श्रीधरी—श्लोक द्वयेन = दो श्लोकों से, अन्वय व्यतिरेकाभ्यां = अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा, वर्णानां द्योतकत्वं = वर्णों का द्योतकत्व, दर्शित भवति = मालूम होता है, पदे = पद में, अलक्ष्यक्रम व्यंग्यस्य = अलक्ष्यक्रम व्यंग्य का, द्योतन यथा = द्योतन जैसे—

अर्थ—श्लोक द्वय से अन्वय व्यतिरेक के द्वारा वर्णों का द्योतकत्व मालूम होता है। पद में अलक्ष्यक्रम व्यंग्य का द्योतन जैसे—

उत्कम्पिनी भयपरिस्खलितांशु कान्ता,
ते लोचने प्रतिदिशं विधुरे क्षिपन्ती ।
क्रूरेण दारुणतया सहसैव दग्धा,
धूमान्धितेन दहनेन न वीक्षितासि ॥

श्रीधरी—भयपरिस्खलितांशु = भय से विशिथिल वस्त्र वाली, ते उत्कम्पिनी = वे उत्कम्प शील, विधुरे लोचने = विधुर नेत्रों को, प्रतिदिश क्षिपन्ती = चारो ओर दौड़ाती हुई, दारुणतया = दारुण होने के कारण, क्रूरेण दहनेन = क्रूर अग्नि में

(तुझे) सहसा एव=सहसा ही, दग्धा=जला डाला, धूमान्धितेन=धुयें से अन्धे (इस अग्नि ने), न वीक्षितासि=तुम्हें नहीं देखा।

अर्थ—पद में असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य का द्योतन जैसे—

भय के कारण विशिथिल वस्त्र वाली, उन उत्कम्प शील विधुर नेत्रों को चारों ओर दौड़ाती हुई तुझे दारुण होने के कारण क्रूर अग्नि ने सहसा ही जला डाला, धुएँ से अन्धे अग्नि ने तुझे नहीं देखा।

अत्र हि ते इत्येतत्पदं रसमयत्वेन स्फुटमेवावभासते सहृदयानाम्, पदावयवेन द्योतनं यथा—

श्रीधरी—अत्र हि=यहाँ, ते इत्येतत्पदं='उन' यह पद, सहृदयानां=सहृदयों को, रस मयत्वेन=रसमय रूप में, स्फुटमेव=स्पष्ट ही, अवभासते=प्रतीत होता है। पदावयवेन=पद के अवयव से, द्योतन यथा=द्योतन जैसे—

अर्थ—यहाँ 'उन' यह पद सहृदयों को रसमय रूप में स्पष्ट ही प्रतीत होता है। पद के अवयव से द्योतन जैसे—

व्रीडायोगान्नतवदनया सन्निधाने गुरूणाम्,
बद्धोत्कम्पं कुचकलशयोर्मन्युमन्तर्निगृह्य।
तिष्ठेत्युक्तं किमिव न तया यत्समुत्सृज्य वाष्पं,
मय्यासक्तश्चकित हरिणीहारिनेत्रत्रिभागः॥

श्रीधरी—गुरूणां सन्निधाने=गुरुजनों के समीप, व्रीडायोगान्नत वदनया=लज्जा के कारण सिर झुकाये, कुचकलशयोः बद्धोत्कम्पं=स्तन रूपी कलशों में कम्प उत्पन्न कर देने वाले, मन्यु अन्तर्निगृह्य=भीतर ही रोककर, वाष्पं उत्सृज्य=आँसू टपकाकर, चकित हरिणी हारिनेत्रत्रिभाग=चकित हरिणी की तरह मनोहर नेत्रों का तीसरा भाग अर्थात् कटाक्ष, मयि=मुझमें, आसक्तः=लगा दिया, किमिव=तो क्या, तया=उसने, तिष्ठ इति=ठहरो, ऐसा, न उक्तम्=नहीं कहा।

अर्थ—अपने गुरुजनों के समक्ष लज्जा के कारण सिर झुकाये, स्तन रूपी कलशों को कँपा देने वाले क्रोध को अन्दर ही दबाकर और आँसू टपका कर उसने चकित हरिणी के समान मनोहर नेत्रों का तीसरा भाग अर्थात् कटाक्ष मुझमें लगा दिया, तो क्या उसने 'ठहरो' यह नहीं कहा?

इत्यत्र त्रिभाग शब्दः।

वाक्यरूपश्चालक्ष्यक्रम व्यंग्यो ध्वनिः शुद्धालङ्कार सङ्कीर्णश्चेति द्विधामतः। तत्र शुद्धस्योदाहरणं यथा रामाभ्युदये—'कृतक कुपितैः' इत्यादि श्लोकः। एतद्धि वाक्यं परस्परानुरागं परिपोष प्राप्तं प्रदर्शयत्सर्वत एव परं रसतत्त्वं प्रकाशयति।

श्रीधरी—इत्यत्र=यहाँ, त्रिभाग शब्दः=त्रिभाग शब्द। वाक्य रूपश्चालक्ष्यलक्ष्य क्रमव्यंग्यः=वाक्य रूप अलक्ष्यक्रम व्यंग्य, ध्वनि=ध्वनि, शुद्धा अलंकारान्तर सकीर्णश्चेति=शुद्ध और अलकारान्तर से संकीर्ण, इति=इस प्रकार, द्विधा मतः=दो प्रकार की मानी गई है, तत्र=उनमे, शुद्धस्य उदाहरण यथा=शुद्ध का उदाहरण जैसे, रामाभ्युदये=रामाभ्युदय मे, 'कृतक कुपितं०" इत्यादि, श्लोकः, एतद्धि वाक्य=यह वाक्य, परिपोषप्राप्त=परिपुष्ट, परस्परानुरागं प्रदर्शयत्=परस्परानुराग को प्रदर्शित करता हुआ, सर्वत एव=सब तरफ से, परं रसतत्व=उत्कृष्ट रसतत्व को, प्रकाशयति=प्रकाशित करता है।

अर्थ—यहाँ त्रिभाग शब्द। वाक्य रूप अलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि शुद्ध और अलंकार से संकीर्ण, इस प्रकार दो प्रकार की मानी जाती है, उनमें शुद्ध का उदाहरण जैसे रामाभ्युदय में 'कृतक कुपितैः०' इत्यादि श्लोक, यह वाक्य परिपुष्ट परस्परानुराग को प्रदर्शित करता हुआ सब ओर से उत्कृष्ट रसतत्व को प्रकाशित करता है।

अलङ्कारान्तर सङ्कीर्णो यथा—'स्मरनवनदीपूरेणोढा:', इत्यादि श्लोकः। अत्र हि रूपकेण यथोक्त व्यंजक लक्षणानुगतेन प्रसाधितो रस सुतरामभिव्यंज्यते।

श्रीधरी—अलकारान्तर सकीर्णो यथा=अलंकारान्तर सकीर्ण जैसे, 'स्मर नव नदी पूरेणोढाः' इत्यादि श्लोक, अत्र हि रूपकेण=यहाँ रूपक के द्वारा, यथोक्त-व्यञ्जकलक्षणानुगतेन=यथोक्त लक्षणों से युक्त, प्रसाधितो रसः=अलकृत रस, सुतरा=अच्छे ढग से, अभिव्यंज्यते=अभिव्यक्त होता है।

अर्थ—अलंकारान्तर संकीर्ण जैसे—'स्मरनवनदी पूरेणोढाः' इत्यादि श्लोक, यहाँ व्यञ्जक यथोक्त लक्षणों से युक्त रूपक से अलंकृत रस अच्छी प्रकार से अभिव्यक्त होता है।

अलक्ष्य क्रमव्यंग्यः संघटनायां भासते ध्वनिरित्युक्तं तत्र सङ्घटना स्वरूपमेव तावन्निरूप्यते—

असमा सा समासेन मध्यमेन च भूषिता।
तथा दीर्घ समासेति त्रिधा सङ्घटनोदिता॥५॥

श्रीधरी—अलक्ष्यक्रम व्यंग्यः=अलक्ष्यक्रम व्यंग्य, ध्वनि सङ्घटनायां=ध्वनि सङ्घटना मे, भासते=भासित होता है, इति उक्त=यह कह चुके, तत्र=वहाँ, सङ्घटना स्वरूपमेव=सङ्घटना का स्वरूप ही, तावन्निरूप्यते=पहले निरूपण करते है।

सङ्घटना त्रिधा उदिता=सङ्घटना तीन प्रकार की कही गई है, असमासा=समास रहित, मध्यम समासा=मध्यम समास, दीर्घ समासा=लम्बे समास से युक्त।

अर्थ—असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्य ध्वनि संघटना में भी भासित होती है, यह कह चुके हैं, यहां संघटना का स्वरूप ही पहले निरूपित करते हैं—संघटना तीन प्रकार की कही गई है—असमासा, मध्यम समासा और दीर्घ समासा।

कैश्चित्—तां केवल मनूद्येदमुच्यते—
गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन्व्यनक्ति सा।
रसान्—

सा संघटना रसादीन् व्यनक्ति गुणानाश्रित्य तिष्ठन्तीति। अत्र च विकल्प्यं गुणानां सङ्घटनायाश्चैक्यं व्यतिरेको वा। व्यतिरेकेऽपि द्वयी गतिः। गुणाश्रया सङ्घटना, सङ्घटनाश्रया वा गुणा इति। तत्रैक्य पक्षे सङ्घटनाश्रय गुणपक्षे च गुणानात्मभूतानाधेय भूतान्वाश्रित्य तिष्ठन्ती सङ्घटना रसादीन् व्यनक्तीत्ययमर्थः। यदा तु नानात्वपक्षे गुणाश्रय सङ्घटना पक्षः तदा गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती गुणपरतन्त्र स्वभावा न तु गुण रूपैवेत्यर्थः। किं पुनरेवं विकल्पनस्य प्रयोजनमिति।

धीधरी—कैश्चित्=कुछ लोग, तां=उसको, केवलमनूद्य=केवल अनुवाद करके, इदमुच्यते=यह कहते हैं, माधुर्यादीन्=माधुर्य आदि, गुणान्=गुणों को, आश्रित्य=आश्रयण करके, तिष्ठन्ती=रहती हुई, सा=वह, रसान्=रसों को, व्यनक्ति=प्रकट करती है, अत्र च=यहां, विकल्प्य=विकल्प करना चाहिए कि, गुणाना सङ्घटनायाश्च=गुणों का और सङ्घटना का, ऐक्यं व्यतिरेको वा=ऐक्य है या व्यतिरेक अर्थात् भेद है, व्यतिरेकेऽपि=व्यतिरेक में भी, द्वयी गतिः=दो ढंग हैं, गुणाश्रया सङ्घटना=गुणों के आश्रित संघटना है, सङ्घटनाश्रया वा गुणा=या संघटना के आश्रय गुण हैं, तत्र=वहां, ऐक्य पक्षे=अभेद पक्ष, में, सङ्घटनाश्रय गुण पक्षे च=और संघटना के आश्रित गुणों के पक्ष में, आत्मभूतान् गुणान्=आत्मभूत गुणों का, आधेय भूतान्=या आधेयभूत गुणों का, आश्रित्य तिष्ठन्ती=आश्रय करके रहती हुई, सङ्घटना रसादीन् व्यनक्ति=सङ्घटना रस आदि को व्यक्त करती है, अयमर्थः=यह अर्थ होता है, तु=परन्तु, नानात्वपक्षे=भेद पक्ष में, गुणाश्रय संघटनापक्षः=गुणों के आश्रित संघटना का पक्ष मानते हैं, तदा=तब, गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती=गुणों के आश्रयण से रहती हुई, गुणपरतन्त्र स्वभावा=गुणों के आधीन स्वभाव वाली है, न तु गुण रूपैव=न कि गुण रूप ही है, इति अर्थः=यह अर्थ होता है, किम् पुनरेवं विकल्पनस्य प्रयोजनम्=इस प्रकार विकल्प करने का क्या प्रयोजन है?

अर्थ—कुछ लोगों ने उसका केवल अनुवाद करके यह कहा है—

माधुर्य आदि गुणों का आश्रयण करके रहती हुई रस आदि को व्यक्त करती है, वह संघटना रस आदि को व्यक्त करती हुई गुणों का आश्रयण करके रहती है।

यहाँ विकल्प करना चाहिए कि गुणों का और संघटना का अभेद है या भेद। अभेद में भी दो ढंग है, गुणों के आश्रित संघटना है या संघटना के आश्रित गुण है? यहाँ भेद पक्ष में और संघटना के आश्रित गुणों के पक्ष में अर्थ यह होता है कि आत्मभूत या आधेयभूत गुणों का आश्रयण करके रहती हुई संघटना रस आदि को व्यक्त करती है, किन्तु भेद पक्ष में गुणों के आश्रित संघटना का पक्ष मानने पर अर्थ होता है कि संघटना गुणों का आश्रयण करके रहती हुई, गुणों के परतन्त्र स्वभाव वाली है, न कि गुण रूप ही है, फिर इस प्रकार विकल्प करने का प्रयोजन क्या है?

अभिधीयते यदि गुणाः संघटना चेत्येकं तत्वं संघटनाश्रया वा गुणाः, तदा संघटनायाइव गुणानामनियत विषयत्व प्रसंगः। गुणानां हि माधुर्य प्रसाद प्रकर्षः करुणविप्रलम्भ शृंगार विषय एव रौद्राद्भुतादिविषय-मोजः। माधुर्य प्रसादौ रसभावतदाभासविषयावेवेति विषय नियमो व्यवस्थितः, संघटनायास्तु स विघटते। तथा हि शृङ्गारेऽपि दीर्घ समासा दृश्यते रौद्रादिष्व समासा चेति।

श्रीधरी—अभिधीयते = बताते है, यदि गुणाः = यदि गुण, संघटना च = और संघटना, एक तत्वं चेत् = एक तत्व है, संघटनाश्रया वा गुणाः = या संघटना के आश्रय गुण है, तदा = तब, संघटनायामिव = संघटना की तरह, गुणानामनियत-विषयत्व प्रसंगः = गुणों की अनियतता का प्रसंग होगा, हि = क्योंकि, गुणानां = गुणों का, माधुर्यप्रसाद प्रकर्षः = माधुर्य प्रसाद प्रकर्ष, करुण विप्रलम्भ शृङ्गार एव = करुण और विप्रलम्भ शृङ्गार में ही होता है, ओजः = ओज का विषय, रौद्राद्भुतादि विषयः = रौद्र और अद्भुत आदि है, माधुर्य प्रसादौ = माधुर्य और प्रसाद गुण, रस भाव तदाभास विषयावेवेति = रस, भाव, और भावाभास को ही विषय बनाते है, इति विषय नियमो व्यवस्थितः = इस प्रकार विषय का नियम व्यवस्थित है, संघटनायास्तु = किन्तु संघटना में, स विघटते = वह नियम विघटित हो जाता है, तथाहि = जैसा कि, शृङ्गारेऽपि = शृङ्गार में भी, दीर्घसमासा दृश्यते = दीर्घ समासा संघटना दृष्टिगत होती है, च = और, रौद्रादिषु = रौद्र आदि मे, असमासा = असमासा संघटना दिखाई देती है।

अर्थ बताते है। यदि गुण और संघटना एक तत्व है, तब संघटना की तरह गुणों की अनियमितता हो जायेगी क्योंकि गुणों का माधुर्य-प्रसाद प्रकर्ष करुण और विप्रलम्भ शृंगार में ही होता है। ओज के विषय रौद्र अद्भुत आदि हैं। माधुर्य और प्रसाद गुण रस, भाव और भावाभास को ही अपना विषय बनाते हैं, इस प्रकार विषय का नियम व्यवस्थित है, किन्तु संघटना में यह नियम विघटित हो जाता है। जैसा कि शृंगार मे भी दीर्घ समासा और रौद्र आदि मे असमासा संघटना दृष्टिगत होती है।

तत्र शृङ्गारे दीर्घ समासा यथा-'मन्दार कुसुमरेणु पिञ्जरितालका' इति । यथा वा—

अनवरतनयन जललवनिपतनपरिमुषित पत्रलेखं ते ।
करतल निषण्णमवले वदनमिदं कं न तापयति ॥

इत्यादौ । तथा रौद्रादिष्वप्य समासा दृश्यते । यथा— 'यो यः शस्त्रं बिभर्त्ति स्वभुज गुरुमदः' इत्यादौ । तस्मान्न संघटना स्वरूपः न च संघटनाश्रया गुणाः ।

श्रीधरी तत्र शृङ्गारे=वहाँ शृङ्गार मे, दीर्घसमासा यथा=दीर्घ समासा जैसे—

मन्दारकुसुमरेणु=मन्दार पुष्प के पराग से, पिञ्जरितालका= पीले अलकों वाली, इत्यादौ= इत्यादि में, यथा वा= अथवा जैसे =

अवले=हे अवले, ते=तुम्हारा, अनवरतनयनजललवनिपतन परिमुषित पत्र लेखं=निरन्तर अश्रुकणों के गिरते रहने से मिटे हुए पत्र लेखों वाला, करतल निषण्णं=हाथ पर रखा हुआ, इदं वदन= यह मुख, कं न तापयति=किसे दु:खी नहीं करता, इत्यादौ= इत्यादि में, तथा=उसी तरह, रौद्रादिषु अपि=रौद्र आदि में भी, असमासा दृश्यते=असमासा संघटना देखी जाती है, यथा= जैसे, यो यः शस्त्रं बिभर्ति=जो कोई शस्त्र धारण करता है, स्वभुजगुरुमदः=जिसे अपने बाहुओं का घमण्ड है, इत्यादौ=इत्यादि मे, तस्मात्=इसलिये, न सङ्घटना स्वरूपाः=गुण सङ्घटना के समान नहीं हैं, न च=और नहीं, सङ्घटनाश्रया गुणाः=गुण संघटना के आश्रित हैं।

अर्थ— वहाँ शृङ्गार में दीर्घ समासा जैसे— 'मन्दार पुष्प के पराग से पीले अलकों वाली' इत्यादि में, अथवा जैसे—

हे अवले, तेरा यह निरन्तर अश्रुकणों के गिरते रहने से मिटे हुए पत्र लेखों वाला एवं हाथ पर रखा हुआ मुख किसको सन्तप्त नहीं करता ? इत्यादि में । उसी प्रकार रौद्र आदि में भी असमासा संघटना दृष्टिगत होती है । जैसे— यो यः शस्त्रं बिभर्त्ति०' इत्यादि में । इसलिये गुण सङ्घटना स्वरूप नहीं हैं और संघटना के आश्रित भी नहीं हैं ।

ननु यदि सङ्घटना गुणानां नाश्रयस्तत्किमालम्बना एते परिकल्प्यताम् । उच्यते-प्रतिपादितमेवैषामालम्बनम् ।

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः ।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत् ॥इति॥

श्रीधरी—ननु यदि सङ्घटना गुणानां नाश्रयः=यदि संघटना गुणों का आश्रय नहीं है, तत्=तब, किमालम्बना एते परिकल्प्यन्ताम्=इनका आलम्बन किसे माना

जाय, उच्यते=कहते हैं, एषामालम्बनम्=इनका आलम्बन, प्रतिपादितमेव=प्रतिपादित हो ही चुका है।

तमर्थं=उस अङ्गी रूप अर्थ को अर्थात् रस रूप अर्थ को, ये अवलम्बन्ते=जो आश्रयण करते हैं, ते=वे, गुणाः स्मृताः=गुण कहे जाते हैं, अङ्गाश्रित.=अङ्गों के आश्रित रहने वाले, कटकादिवत्=कटक आदि के समान, अलङ्काराः मन्तव्याः=अलंकार मानना चाहिए।

अर्थ—यदि सङ्घटना गुणों का आश्रय नहीं है तो इनका आलम्बन किसे माना जाय ? इस आशङ्का पर कहते हैं—इनका आलम्बन प्रतिपादित हो चुका है।

उसी अङ्गी रस रूप अर्थ को जो आश्रयण करते हैं वे गुण कहे जाते हैं, और कटक आदि की तरह अंगों के आश्रित रहने वालों को अलंकार मानना चाहिए।

अथवा भवन्तु शब्दाश्रया एव गुणाः, न चैषामनुप्रासादि तुल्यत्वम्। यस्मादनुप्रासादयोऽनपेक्षितार्थ शब्द धर्मा एव प्रतिपादिताः। गुणास्तु व्यंग्य विशेषावभासिवाच्य प्रतिपादनसमर्थ शब्द धर्मा एव। शब्दधर्मत्वं चैषामन्याश्रयत्वेऽपि शरीराश्रयत्वमिव शौर्यादीनाम्।

दीधरी—अथवा गुणाः शब्दाश्रया एव भवन्तु=अथवा गुण शब्दाश्रय ही हों, न चैषां अनुप्रासादि तुल्यत्वम्=इनकी अनुप्रास आदि से समानता नहीं है, यस्मात्=क्योंकि, अनुप्रासादयो=अनुप्रास आदि, अनपेक्षितादि शब्द धर्मा एव=अर्थ की अपेक्षा न रखने वाले शब्द मात्र के धर्म ही, प्रतिपादिता.=प्रतिपादित किये गये हैं, तु=किन्तु, गुणाः=गुण, व्यंग्यविशेषावभासि=व्यंग्य विशेष को अवभासित करने वाले, वाच्य प्रतिपादन समर्थ=वाच्य का प्रतिपादन करने में समर्थ, शब्दधर्मा एव=शब्द के ही धर्म हैं, च=और, एषां शब्द धर्मत्वं=इनका शब्द धर्मत्व, शौर्यादीनां=शौर्य आदि को तरह, अन्याश्रयत्वेऽपि=अन्य के आश्रित होने पर भी, शरीराश्रयित्वमिव=शरीर के आश्रित होना माना गया है।

अर्थ अथवा गुण शब्द के आश्रित ही है, ऐसी स्थिति में इनकी अनुप्रास आदि में समानता नहीं है क्योंकि अनुप्रास आदि अर्थ की अपेक्षा न रखने वाले शब्द मात्र के धर्म ही प्रतिपादित किये गये हैं, किन्तु गुण व्यंग्य विशेष को अवभासित करने वाले वाच्य के प्रतिपादन में समर्थ शब्द के ही धर्म प्रतिपादन किये गये हैं और इनका शब्द धर्मत्व शौर्य आदि की तरह अन्य के आश्रित होने पर भी शरीर के आश्रित होना माना गया है।

ननु यदि शब्दाश्रया गुणास्तत्संघटना स्वरूपत्वं तदाश्रयत्वं वा तेषां प्राप्तमेव। न ह्यसंघटिता शब्दा अर्थविशेष प्रतिपाद्यरसाद्याश्रितानां गुणानामवाचकत्वादाश्रया भवन्ति। नैवम्, वर्णपद व्यंग्यत्वस्य रसादीनां प्रतिपादितत्वात्।

श्रीधरी– ननु यदि शब्दाश्रया गुणाः = यदि गुण शब्द के आश्रित है, तत् = तब, संघटना रूपत्वं = तब वे संघटना रूप, तदाश्रयत्वं वा = या उनके आश्रित, तेषां प्राप्तमेव = वे हो ही जायेंगे, हि = क्योंकि, असङ्घटिता शब्दाः = असङ्घटित शब्द, अर्थविशेष = अर्थ विशेष के द्वारा, प्रतिपाद्य रसाद्याश्रितानां = प्रतिपाद्य रस आदि के आश्रित, गुणानां = गुणो के, अवाचकत्वादाश्रयान भवन्ति = अवाचक होने से आश्रय नही होते, नैवम् = ऐसा नही, रसादीनां = रस आदि का, वर्णपद व्यंग्यत्वम् = वर्ण और पद से व्यंग्यत्व, प्रतिपादितत्वात् = प्रतिपादित हो चुका है।

अर्थ - यदि गुण शब्द के आश्रित है तब वे संघटना रूप या उसके आश्रित हो ही जायेंगे क्योंकि असंघटित शब्द अर्थ विशेष द्वारा प्रतिपाद्य रस आदि के आश्रित गुणों के अवाचक होने के कारण आश्रय नही होते, ऐसा नही क्योंकि रस आदि का वर्ण और पद से व्यंग्यत्व प्रतिपादित हो चुका है।

अभ्युपगमे वा वाक्य व्यंग्यत्वे रसादीनां न नियता काचित्सङ्घटना तेषामाश्रयत्वं प्रतिपद्यत इत्यनियत संघटनाः शब्दा एव गुणानां व्यंग्यविशेषानुगता आश्रयाः।

श्रीधरी—वा = अथवा, रसादीनां = रस आदि को, वाक्य व्यंग्यत्वे वाक्य व्यंग्य, अभ्युपगते = मान लेने पर, काचित् संघटना = कोई सघटना, नियता = नियत रूप से, तेषां = उन गुणो का, आश्रयत्व प्रतिपद्यत = आश्रय नही होती, इति = इसलिये, अनियत संघटना शब्दा एव = जिनकी सघटना नियत नही है ऐसे शब्द ही, व्यंग्य विशेषानुगता = व्यंग्य विशेष से अनुगत होकर, आश्रयाः = गुणो के आश्रय हैं।

अर्थ—अथवा रस आदि को वाक्य व्यंग्य मान लेने पर कोई नियत संघटना उन गुणों का आश्रय नही होती है, इसलिये जिनकी संघटनाविषय नही है, ऐसे शब्द ही व्यंग्य विशेष से अनुगत होकर गुणों के आश्रय हैं।

ननु माधुर्ये यदि नामैव मुच्यतेतदुच्यताम्, ओजसः पुनः कथमनियतसंघटना शब्दाश्रयत्वम्, न ह्यसमासा संघटना कदाचिदोजस आश्रयतां प्रतिपद्यते। उच्यते यदि न प्रसिद्धिमात्र ग्रह दूषितं चेतस्तदत्रापि न न ब्रूमः। ओजसः कथमसमासा संघटना नाश्रयः। यतो रौद्रादीन् हि प्रकाशयतः काव्यस्य दीप्तिरोज इति प्राक्प्रतिपादितम्। तच्चौजोयद्यसमासायामपि संघटनायां स्यात्कोदोषो भवेत्। न चाचारुत्वं सहृदयहृदय संवेद्यमस्ति। तस्मादनियत संघटन शब्दाश्रयत्वे गुणानां न काचित् क्षतिः। तेषां तु चक्षुरादीनामिव यथास्वं विषय नियमितस्य स्वरूपस्य न कदाचिद्व्यभिचारः। तस्मादन्ये गुणा अन्या च संघटना। न च संघटनामाश्रिता गुणा इत्येकं दर्शनम्। अथवा संघटना रूपा एव गुणाः।

श्रीधरी- ननु माधुर्ये यदि= यदि माधुर्य के विषय मे, एवं उच्यते=इस प्रकार कहते है, तद् उच्यताम्= तो कह सकते है, ओजसः पुनः=किन्तु ओज का, कथमनियत संघटन शब्दाश्रयत्वम्= नियत संघटना से रहित शब्दाश्रयत्व कैसे बन सकता है, हि= क्योंकि, असमासा सघटना= असमासा सघटना, कदाचित्=कभी, ओजस् आश्रयता न प्रतिपद्यते= ओजस् का आश्रयण नही बन सकती, उच्यते=कहते है, यदि न प्रसिद्धिमात्रग्रह दूषितं चेतः=यदि प्रसिद्धिमात्र के प्रति आग्रह से मन दूषित नही है, तद् अत्रापि न न ब्रूमः= तो यहाँ भी हम नहीं कहते, असमासा सघटना= असमासा सघटना, ओजसः कथ नाश्रय = ओजस् की आश्रय कैसे नही है, यतः= क्योंकि, रौद्रादीन् हि प्रकाशयत.=रौद्र आदि को प्रकाशित करते हुए, काव्यस्य दीप्तिरोज इति= काव्य की दीप्ति ओजस् है, यह, प्राक्प्रतिपादितम्= पहले प्रतिपादन कर चुके है, तच्चौजो= और वह ओजस्, यदि असमासायामपि संघटनाया=यदि असमासा संघटना मे भी, स्यात्=हो, तत् को दोषो भवेत्= तो क्या दोष होगा, सहृदयहृदय सवेद्यं= सहृदय द्वारा सवेद्य, न चाचारुत्व अस्ति=कोई अचारुत्व भी नही है, तस्मात्= इसलिये, गुणाना= गुणो के, अनियत संघटन शब्दाश्रयत्वे= नियत संघटना से रहित शब्दो के आश्रय होने से, न काचित्क्षतिः=कोई क्षति नही है, तु=परन्तु, तेषा=उन गुणो का, चक्षुरादीनामिव=चक्षु आदि की तरह, यथास्व-विषय नियमितस्य स्वरूपस्य= अपने-अपने विषय नियमित स्वरूप का, न कदाचिद्व्यभिचार =कभी व्यभिचार नही है, तस्मात्=इसलिये, अन्ये गुणा अन्या च सङ्घटना=इसलिये गुण अलग है और सङ्घटना अलग है, च=और, न सङ्घटनाश्रिता गुणाः= गुण सङ्घटना के आश्रित नही है, इति एक दर्शनम्=यह एक सिद्धान्त है, अथवा सङ्घटना रूप एव गुणाः= अथवा संघटना रूप ही गुण है।

अर्थ - यदि माधुर्य के बारे मे इस प्रकार कहें तो कह सकते है, किन्तु ओजस् का नियत सघटना से रहित शब्दो का आश्रयत्व कैसे बन सकता है ? क्योंकि असमासा सघटना कभी ओजस् का आश्रय नही बन सकती। कहते है—यदि प्रसिद्धिमात्र के प्रति मन दूषित नही है तो हम यहाँ भी नही कहते, असमासा सघटना ओजस् आश्रय कैसे नही है ? क्योंकि रौद्र आदि को प्रकाशित करते हुए काव्य की दीप्ति ओजस् है, यह बात पहले ही बता चुके है और वह ओजस् यदि असमसा संघटना मे भी हो तो क्या दोष होगा ? सहृदय द्वारा संवेद्य कोई अचारुत्व भी तो नही, इसलिये गुणों के नियत सघटना से रहित शब्दो के आश्रय होने से कोई क्षति नही, किन्तु उन गुणो का चक्षु आदि की तरह अपने-अपने विषय नियमित स्वरूप का कभी व्यभिचार नही है। इसलिये गुण अन्य है, और सघटना अलग है। गुण सघटना के आश्रित नही हैं, यह एक सिद्धान्त है। या सघटना रूप ही गुण है।

यत्तूक्तम् –'संघटनावद्गुणानामपि अनियत विषयत्वं प्राप्नोति। लक्ष्ये व्यभिचार दर्शनात्' इति। तत्राप्येतदुच्यते यत्र लक्ष्ये परिकल्पित विषय व्यभिचारस्तद्विरूप मेवास्तु। कथमचारुत्वं तादृशेविषये सहृदयानां

नावभातीति चेत्? कविशक्ति तिरोहितत्वात्। द्विविधो हि दोषः कवे रव्युत्पत्तिकृतोऽशक्ति कृतश्च। तत्राव्युत्पत्ति कृतो दोषः शक्ति तिरस्कृतत्वात् कदाचिन्नलक्ष्यते। यस्त्वशक्ति कृतो दोषः स झटिति प्रतीयते। परिकर श्लोकश्चात्र—

अव्युत्पत्तिकृतो दोष. शक्त्या संव्रियते कवेः।
यस्त्व शक्तिकृतस्तस्य स झटित्यवभासते॥

श्रीधरी—यत्तूक्तम्=जो कि कहा है. संघटनावत्=सघटना की तरह, गुणानामपि=गुणों का भी अनियत विषयत्वं प्राप्नोति=अनियत विषयत्व प्राप्त होगा लक्ष्ये=लक्ष्य मे, व्यभिचार दर्शनात्=व्यभिचार देखा जाता है, तत्रापि= वहाँ भी, एतदुच्यते=यह कहते हैं, यत्र लक्ष्ये=जिस लक्ष्य मे, परिकल्पित विषय व्यभिचार:=परिकल्पित विषय का व्यभिचार है तद्विरूप मेवास्तु=वह दूषित ही होगा, तादृशे विषये=उस प्रकार के विषय मे, सहृदयाना=सहृदयों को, अचारुत्व कथ नावभातीति चेत्=अचारुत्व कैसे नही होगा, यह कहते हो तो, कविशक्ति तिरोहितत्वात्=(उत्तर है) कवि शक्ति के द्वारा दोष के तिरोहित हो जाने से, हि=क्योंकि, दोषः द्विविधः=दोष दो प्रकार का होता है, कवेः अव्युत्पत्तिकृतो= कवि की अव्युत्पत्ति के द्वारा किया हुआ, अशक्ति कृतश्च=अशक्ति के द्वारा किया हुआ, तत्र=उनमे, अव्युत्पत्ति कृतो दोषः=अव्युत्पत्तिकृत दोष, शक्ति तिरस्कृत त्वात्=शक्ति के द्वारा तिरस्कृत हो जाने के कारण, कदाचित् न लक्ष्यते=कभी लक्षित नही होता, तु=परन्तु, यः अशक्तिकृतो दोषः=जो अशक्तिकृत दोष है, स=वह, झटिति प्रतीयते=शीघ्र प्रतीत हो जाता है, अत्र=यहाँ, परिकर श्लोकश्च= यहाँ परिकर श्लोक भी है—

कवे=कवि की, अव्युत्पत्तिकृतो दोष=अव्युत्पत्ति द्वारा कृत दोष, शक्त्या= शक्ति से, संव्रियते=ढक जाता है, तु=किन्तु, य.=जो, तस्य अशक्ति कृत.=उसकी अशक्ति के द्वारा किया जाता है, स=वह, झटिति अवभासते=शीघ्र अवभासित हो जाता है।

अर्थ—जो कि कहा है संघटना की तरह गुणों का भी अनियत विषयत्व प्राप्त होगा, क्योंकि लक्ष्य मे व्यभिचार दृष्टिगत होता है, यहाँ भी कहते हैं—जिस लक्ष्य मे परिकल्पित विषय का व्यभिचार है, वह दूषित ही होगा। यदि यह कहो कि उस प्रकार के विषय मे सहृदयों को अचारुत्व कैसे प्रतीत नहीं होता? तो उत्तर है कि कवि की शक्ति के द्वारा दोष के छिप जाने के कारण, क्योंकि दोष दो प्रकार का है—कवि की अव्युत्पत्ति के द्वारा किया हुआ और अशक्ति के द्वारा किया हुआ। उनमें अव्युत्पत्तिकृत दोष शक्ति से तिरस्कृत हो जाने के कारण कभी लक्षित नही होता, किन्तु जो अशक्तिकृत दोष है, वह सहज ही मे प्रतीत हो जाता है। यहाँ परिकर श्लोक भी है—

कवि की अव्युत्पत्ति के द्वारा किया हुआ दोष शक्ति से छिप जाता है, किन्तु कवि की अशक्ति के द्वारा किया हुआ दोष झट से प्रतीत हो जाता है।

तथाहि महाकवीनामप्युत्तम देवतादि विषय प्रसिद्धि संभोग शृङ्गार-निबन्धनात् अनौचित्यं शक्ति तिरस्कृत त्वात् ग्राम्य त्वेन न प्रतिभासते। यथा कुमारसम्भवे देवीसम्भोग वर्णनम्। एवमादौ च विषये यथौचित्यात्याग-स्तथा दर्शितमेवाग्रे। शक्तितिरस्कृतत्वं चान्वयव्यतिरेकाभ्यामवसीयते। तथाहि शक्ति रहितेन कविना एवं विधे विषये शृङ्गार उपनिबध्यमानः स्फुटमेव दोषत्वेन प्रतिभासते। नन्वस्मिन् पक्षे 'यो यः शस्त्रं बिभर्ति' इत्यादौ किमचारुत्वम्? अप्रतीयमानमेवा रोपयामः। तस्मात् गुण व्यतिरिक्तत्वे गुण रूपत्वे च संघटनाया अन्यऽकश्चिन्नियमहेतुर्वक्तव्य इत्युच्यते।

श्रीधरी - तथाहि = क्योंकि, महाकवीनामपि = महाकवियों की भी, उत्तम देवतादि विषय = उत्तम देवता के सबध मे, प्रसिद्ध सभोग शृङ्गार निबन्धनाद्यनौचित्य = प्रसिद्ध सम्भोग शृङ्गार का निबन्धन आदि अनौचित्य, शक्ति तिरस्कृतत्वात् = शक्ति से तिरस्कृत होने के कारण, ग्राम्यत्वेन न प्रतिभासते = ग्राम्य रूप से प्रतिभासित नहीं होता, यथा = जैसे, कुमारसम्भवे = कुमारसभव में, देवी सम्भोग वर्णनम् = पार्वती का सम्भोग वर्णन, एवमादौ च विषये = और इस प्रकार के विषय में, यथा = जैसा, यथा = जैसे, औचित्या त्यागः = औचित्य का त्याग है, तथा दर्शित-मेवाग्रे = वैसा पहले दिखलाया ही है, च = और, शक्ति तिरस्कृतत्वं = शक्ति द्वारा तिरस्कृतत्व, अन्वय व्यतिरेकाभ्या = अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा, अवसीयते = निश्चित होता है, तथाहि = जैसा कि, शक्ति रहितेन कविना = शक्ति रहित कवि के द्वारा, एवं विधे विषये = इस प्रकार के विषय मे, उपनिबध्यमानः शृगारः = उपनिबध्यमान शृङ्गार, स्फुटमेव = स्पष्ट ही, दोषत्वेन = दोष रूप से, प्रतिभासते = मालूम पडता है; ननु अस्मिन् पक्षे = इस पक्ष मे, 'यो: यः शस्त्र बिभर्ति' इत्यादौ = इत्यादि मे, अचारुत्वम् किम् = अचारुत्व क्या है, अप्रतीयमानमेव = प्रतीयमान न होते हुए ही, आरोपयामः = अचारुत्व का आरोप करते है, तस्माद् = इसलिये, गुण व्यतिरिक्तत्वे = गुण से व्यतिरिक्त होने, गुणरूपत्वे च = और गुण रूप होने मे, सघटनायाः = सघटना का, अन्यः कश्चित् = और कोई, नियमहेतुर्वक्तव्यः = कोई नियम हेतु कहना चाहिये इति = इसलिये, उच्यते = कहते है।

अर्थ – जैसा कि महाकवियों को भी उत्तम देवता के सम्बन्ध में प्रसिद्ध सम्भोग शृङ्गार का निबन्धन आदि अनौचित्य शक्ति से तिरस्कृत होने के कारण ग्राम्य रूप मे प्रतिभासित नही होता, जैसे — कुमारसम्भव में पार्वती का सम्भोग वर्णन, और इस प्रकार के विषय मे जैसा औचित्य का त्याग नही है, इस प्रकार आगे दिखाया ही है। और शक्ति द्वारा तिरस्कृतत्व अन्वय, व्यतिरेक द्वारा निश्चित

होता है। जैसा कि शक्तिरहित कवि के द्वारा इस प्रकार के विषय में उपनिबध्यमान शृङ्गार स्पष्ट ही दोष रूप से ज्ञात होता है। इस पक्ष में 'यो यः शस्त्रं बिभर्ति' इत्यादि में अचारुत्व क्या है? प्रतीत न होते हुए अचारुत्व का आरोप करते हैं। इसलिये गुण से व्यतिरिक्त होने किंवा गुण रूप होने में संघटना का और कोई नियम हेतु कहना चाहिए, इसलिये कहते हैं—

तन्नियमे हेतु रौचित्यं वक्तृवाच्ययोः ॥६॥

तत्र वक्ता कविः कविनिबद्धो वा, कविनिबद्धश्चापि रसभाव रहितो रसभाव समन्वितो वा, रसोऽपि कथा नायकाश्रयस्तद्विपक्षाश्रयो वा, कथा नायकश्चधीरोदात्तादि भेद भिन्नः पूर्वस्तदनन्तरोवेति विकल्पाः।

श्रीधरी—तन्नियमे=उसके नियमन में, वक्तृवाच्ययोः=वक्ता और वाच्य का औचित्य हेतुः=औचित्य हेतु है, तत्र=उनमें, वक्ता कविः—वक्ता कवि, कवि निबद्धो वा=या कवि निबद्ध हो सकता है, कवि निबद्धश्चापि=कवि निबद्ध भी, रसभावरहितो=रसभाव रहित, रसभाव समन्वितो वा=या रस भाव से युक्त हो सकता है।

रसोऽपि=रस भी, कथानायकाश्रय=कथानायक के आश्रित, तद्विपक्षाश्रयो वा=या उसके विपक्ष के आश्रित हो सकता है, च=और, कथानायकः=कथा का नायक, धीरोदात्तादि भेद भिन्न=धीरोदात्त आदि के भेद से भिन्न, पूर्वस्तदनन्तरो वेति विकल्पाः=पूर्व या उसके बाद का हो सकता है इस प्रकार विकल्प हैं।

अर्थ—उसके नियमन में हेतु वक्ता और वाच्य का औचित्य है।

उनमें से वक्ता कवि या कवि निबद्ध हो सकता है, और कविनिबद्ध भी रसभाव रहित या रसभाव सहित हो सकता है। रस भी कथानायक के आश्रित या उसके विपक्ष के आश्रित हो सकता है, और कथानायक धीरोदात्त आदि के भेद से भिन्न पूर्व और उसके बाद का हो सकता है, इस प्रकार विकल्प है।

वाच्यं च ध्वन्यात्मरसांगं रसाभासांगं वा, अभिनेयार्थमनभिनेयार्थं वा, उत्तम प्रकृत्याश्रयं तदितराश्रयं वेति बहुप्रकारम्, तत्र यदा कविरपगत रसभावो वक्ता रचनायाः कामचारः। यदापि कविनिबद्धो वक्ता रसभावरहितस्तदा स एव, यदा तु कवि कवि निबद्धो वा वक्ता रसभाव समन्वितो रसश्च प्रधानाश्रितत्वात् ध्वन्यात्मभूतस्तदा नियमेनैव तत्रासमासा मध्य समासे एव संघटने। करुण विप्रलम्भ शृङ्गारयोस्त्वसमासैव संघटना। कथमिति चेत्; उच्यते—रसो यदा प्राधान्येन प्रतिपाद्यस्तदा तत्प्रतीतौ व्यवधायका विरोधिनश्च सर्वात्मनैव परिहार्याः।

श्रीधरी—वाच्य च=वाच्य भी, ध्वन्यात्मरसांगं=ध्वनि रूप रस का अंग, रसाभासांगं वा=या रसाभास का अंग, अभिनेयार्थं अनभिनेयार्थं वा =

अभिनेयार्थं या अनभिनेयार्थ, उत्तम प्रकृत्याश्रयं=उत्तम प्रकृति के आश्रित, तदितराश्रय वेति=या उससे भिन्न प्रकृति के आश्रित, बहुप्रकार=बहुत प्रकार का हो सकता है, तत्र= उनमे, यदा=जब, कविरपगतरसभावोवक्ता=कवि रसभाव रहित वक्ता हो, तदा=तब, रचनायाः कामचारः=रचना की स्वतन्त्रता है, यदापि=और जब, कविनिबद्धो वक्ता रसभावरहितः=कवि निबद्धवक्ता रसभाव रहित हो, तदा=तब, स एव= वही है, तु=किन्तु, यदा=जब, कविः कविनिबद्धो वा वक्ता=कवि या कविनिबद्ध वक्ता, रसभाव समन्वितो=रसभाव समन्वित हो, रसश्च प्रधानाश्रितत्वात् =रस भी प्रधान के आश्रित होने के कारण, ध्वन्यात्मभूतः=ध्वनि रूप हो गया हो, तदा=तब, नियमेनैव=नियम से ही, तत्र=वहाँ, असमासा मध्यम समासे एव संघटने=असमासा और मध्यम समासा ही संघटनाएँ होगी, कथमिति चेत=यदि कहो कैसे, उच्यते=तो कहते है, रसो यदा=रस जब, प्राधान्येन =प्राधान्य से, प्रतिपाद्य=प्रतिपाद्य होता है, तदा=तब, तत्प्रतीतौ=उसकी प्रतीति मे, व्यवधायका=व्यवधायक, विरोधिनश्च=और विरोधी, सर्वात्मनैव=सब प्रकार से ही, परिहार्याः=त्याज्य होते है।

अर्थ—वाच्य भी ध्वनि रूप रस का अंग या रसाभास का अंग, अभिनेयार्थ अनभिनेयार्थ, उत्तम प्रकृति के आश्रित, या दूसरी प्रकार की प्रकृति के आश्रित, बहुत प्रकार का हो सकता है। उनमे से जब कवि रसभाव रहित वक्ता हो तो वह रचना की स्वतन्त्रता है, और जब कविनिबद्ध वक्ता रसभाव रहित हो तब भी वही है, किन्तु जब कवि या कविनिबद्ध वक्ता रसभाव समन्वित हो और रस प्रधान के आश्रित होने के कारण ध्वनि रूप हो चुका हो, तब नियमत हाँ वहा असमासा और मध्यम समासा ही संघटनाएँ होंगी, किन्तु करुण तथा विप्रलम्भ शृङ्गार में असमासा ही संघटना होगी, यदि कहो कैसे? तो कहते है—रस जब प्राधान्य से प्रतिपाद्य होता है, तब उसकी प्रतीति में व्यवधायक और विरोधी सब प्रकार से ही त्याज्य होते है।

एवं च दीर्घसमासा संघटना समासानामनेक प्रकार सम्भावनया कदाचिद्रस प्रतीतिं व्यवदधातीति तस्यां नात्यन्तमभिनिवेशः शोभते। विशेषतोऽभिनेयार्थे काव्ये, ततोऽन्यत्र च विशेषतः करुणविप्रलम्भ शृङ्गारयोः। तयोर्हि सुकुमारतरत्वात् स्वल्पायामप्यस्वच्छन्दतायां शब्दार्थयोः प्रतीतिर्मन्थरी भवति।

श्रीधरी—एव च=और इस प्रकार, दीर्घसमासा संघटना=दीर्घ समास वाली संघटना, समासानां=समासों के, अनेक प्रकार सम्भावनया=अनेक प्रकार की सम्भावना के कारण, कदाचित्=कदाचित्, रस प्रतीतिं व्यवदधातीति=रस की प्रतीति का व्यवधान करती है, तस्यां नात्यन्तमभिनिवेशः शोभते=(इसलिए) उसमें अत्यन्त अभिनिवेश शोभा नही देता, विशेषतः=विशेष रूप से, अभिनेयार्थे काव्ये=

अभिनेयार्थ काव्य मे, ततोऽन्यत्र=उससे अतिरिक्त, विशेषतः करुण विप्रलम्भ शृङ्गारयोः=करुण और विप्रलम्भ शृंगार में, हि=क्योंकि, तयोः सुकुमारतरत्वात्=उन दोनों के सुकुमारतर होने के कारण, स्वल्पायामपि अस्वच्छतायां=थोडी भी अस्वच्छता होने पर, शब्दार्थयोर्प्रतीतिर्मन्थरी भवति=शब्द और अर्थ की प्रतीति शिथिल हो जाती है।

अर्थ—और इस प्रकार दीर्घ समासा संघटना समासों के अनेक प्रकारों की सम्भावना के कारण कदाचित् रस की प्रतीति का व्यवधान करती है, इसलिये उसमें *अत्यन्त अभिनिवेश शोभा नही देता*, विशेपतः अभिनेयार्थ काव्य में, और उससे अतिरिक्त में विशेषतः करुण और विप्रलम्भ शृंगार मे, क्योंकि उन दोनों के सुकुमारतर होने के कारण थोडी भी अस्वच्छता होने पर शब्द अर्थ की प्रतीति शिथिल हो जाती है।

रसान्तरे पुनः प्रतिपाद्ये रौद्रादौ मध्यम समासा संघटना कदाचिद्धीरोद्धत नायक सम्बन्धव्यापाराश्रयेण दीर्घ समासामपि वा तदाक्षेपाविनाभावि रसोचित वाच्यापेक्षया न विगुणा भवतीति सापि नात्यन्तं परिहार्या। सर्वासु च संघटनासु प्रसादाख्यो गुणो व्यापी। स हि सर्व रस साधारणः सर्व संघटना साधारणश्चेत्युक्तम्। प्रसादातिक्रमे ह्यसमासापि संघटना करुण विप्रलम्भ शृङ्गारौ न व्यनक्ति। तदपरित्यागे च मध्यम समासापि न न प्रकाशयति। तस्मात्सर्वत्र प्रसादोऽनुसर्तव्यः।

श्रीधरी—रौद्रादौ पुनः प्रतिपाद्ये रसान्तरे=रौद्र आदि दूसरे रसो के प्रतिपादन में, मध्यमसमासासंघटना=मध्यमसमासा संघटना, दीर्घ समासापि वा=*या दीर्घ समासा भी, कदाचित् धीरोद्धत नायक सम्बन्ध व्यापाराश्रयेण=कभी* धीरोद्धत नायक के सम्बन्ध या व्यापार के आश्रय से, तदाक्षेपविनाभावि=उसके आक्षेप के विना न हो सकने वाले, रसोचित वाच्यापेक्षया=रसोचित वाच्य को अपेक्षा से, न विगुणा भवतीति=प्रतिकूल नहीं होती, इति=इसलिये, सापि=वह भी, नात्यन्तं परिहार्या=अत्यन्त परिहार्य नही है, च=और, सर्वासु संघटनासु=सभी संघटनाओं मे, प्रसादाख्यो गुणो=प्रसाद नामक गुण, व्यापी=व्याप्त रहने वाला है, सहि=वह, सर्वरस साधारणः=सर्वरसो में सामान्य रूप से रहने वाला, सर्वसंघटना साधारणश्चेति=सब सघटनाओं मे सामान्य रूप से रहने वाला, इत्युक्तम्=कहा गया है, प्रसादातिक्रमे=प्रसाद गुण के विना, असमासापि संघटना=असमासा संघटना भी, करुण विप्रलम्भ शृंगारौ=करुण और विप्रलम्भ शृंगार को, न व्यनक्ति=*व्यक्त नहीं* करती, तदपरित्यागे च=उसके होने पर भी, मध्यम समासापि=मध्यम समासा संघटना भी, न प्रकाशयति इति न=नहीं प्रकाशित करती, यह बात नही है, तस्मात्सर्वत्र=इसलिये सर्वत्र, प्रसादोऽनुसर्तव्यः=प्रसाद गुण का अनुसरण करना चाहिए।

अर्थ—रौद्र आदि दूसरे रसों के प्रतिपादन में मध्यम समासा संघटना अथवा दीर्घ समासा भी कभी धीरोद्धत नायक के सम्बन्ध या व्यापार के सहारे उसके आक्षेप के बिना न हो सकने वाले रस के उचित वाच्य की अपेक्षा से प्रतिकूल नहीं होती, इसीलिये वह भी अत्यन्त परिहार्य नहीं है और सभी संघटनाओं में प्रसाद नामक गुण व्याप्त रहने वाला है क्योंकि वह सर्वसाधारण और सर्वसंघटना साधारण कहा गया। प्रसाद के बिना असमासा भी संघटना करुण और शृंगार को व्यक्त नहीं करती। उसके होने पर मध्यम समासा भी संघटना प्रकाशित नहीं करती है, यह बात नहीं है। इसलिये सर्वत्र ही प्रसाद गुण का अनुसरण करना चाहिए।

अतएव च 'यो यः शस्त्रं बिभर्ति' इत्यादौ यद्योजसः स्थितिर्नेष्यते तत्प्रसादाख्य एव गुणो न माधुर्यम्। न चाचारुत्वम्, अभिप्रेत रस प्रकाशनात्। तस्माद्गुणाव्यतिरिक्तत्वे गुणव्यतिरिक्तत्वे वा संघटनायायथोक्तादौचित्याद्विषय नियमोऽस्तीति तस्या अपि रस व्यञ्जकत्वम्। तस्याश्च रसाभिव्यक्तिनिमित्तभूताया योऽयमनन्तरोक्तोनियम हेतुः स एव गुणानां नियतो विषय इति गुणाश्रयेण व्यवस्थापनमप्यविरुद्धम्।

श्रीधरी—अतएव च = और इसलिये, यो यः शस्त्रं बिभर्ति इत्यादौ = इत्यादि में, यदि ओजसः स्थितिः = यदि ओज की स्थिति, नेष्यते = अभिमत नहीं है, तत् = तब, प्रसादाख्य एव गुणो न माधुर्यम् = तो प्रसाद ही गुण है, माधुर्य नहीं, अभिप्रेत रस प्रकाशनात् = अभिप्रेत रस के प्रकाशन हो जाने से, न च अचारुत्वम् = अचारुत्व भी नहीं है, तस्मात् = इसलिये, गुणा व्यतिरिक्तत्वे = गुण से अतिरिक्त न होने, गुण व्यतिरिक्तत्वे वा = या गुण से अतिरिक्त होने में, संघटनाया यथोक्तादौचित्यात् = संघटना का यथोक्त औचित्य के कारण, विषय नियमोऽस्ति = विषय नियम है, इति = इसलिये, तस्या अपि रस व्यञ्जकत्वम् = उसका भी रस व्यञ्जकत्व है, रसाभिव्यक्त निमित्त भूताया = रस की अभिव्यक्ति में निमित्तभूत, तस्याश्च = उस संघटना का, योऽयं अनन्तरोक्तो नियम हेतुः = जो यह नियम हेतु अभी कहा गया है, स एव गुणानां नियतो विषय इति = वही गुणों का नियत विषय है, इति = इसलिये, गुणाश्रयेण = गुण के आश्रित रूप से, व्यवस्थापनमपि = संघटना के व्यवस्थापन में भी, अविरुद्धम् = विरोध नहीं है।

अर्थ—इसलिये 'यो यः शस्त्रं बिभर्ति' इत्यादि में यदि ओजस् की स्थिति अभिमत नहीं है, तो वहां प्रसाद गुण ही है, माधुर्य नहीं। अभिप्रेत रस के प्रकाशन हो जाने से अचारुत्व भी नहीं है। इसलिये गुण से अतिरिक्त होने में संघटना का यथोक्त औचित्य के कारण विषय नियम है, अतः उसका भी रस व्यञ्जकत्व है, और रस की अभिव्यक्ति में निमित्तभूत उस संघटना का जो अभी नियम हेतु कहा गया है, वही गुणों का नियत विषय है। इसलिये गुण के आश्रित रूप से संघटना के व्यवस्थापन में भी दोष नहीं है।

विषयाश्रयमप्यन्यदौचित्यं तां नियच्छति ।
काव्य प्रभेदाश्रयतः स्थिता भेदवती हि सा ॥७॥

श्रीधरी—विषयाश्रयमपि=विषय के आश्रित भी, अन्यद्=दूसरा, औचित्यं=औचित्य, तां नियच्छति=उसका नियमन करता है, काव्य प्रभेदाश्रयतः=काव्य के प्रभेदों के अनुसार, सा भेदवती स्थिता=वह भिन्न होती है।

अर्थ—विषय के आश्रित भी दूसरा औचित्य उसका नियमन करता है, काव्य के प्रभेदों के अनुसार वह भिन्न होती है।

वक्तृवाच्य गतौचित्ये सत्यपि विषयाश्रयमन्यदौचित्यं सङ्घटनां नियच्छति, यतः काव्यस्य प्रभेदा मुक्तकं संस्कृत प्राकृतापभ्रंश निबद्धम् । सन्दानितकविशेषक कलापक कुलानि । पर्यायबन्धः परिकथा खण्डकथा–सकलकथे सर्गबन्धोऽभिनेयार्थमाख्यायिका–कथे इत्येव मादयः । तदाश्रयेणापि सङ्घटना विशेषवती भवति । तत्र मुक्तकेषु रसबन्धाभिनिवेशिनः कवेस्तदाश्रयमौचित्यम् । तच्च दर्शित मेव । अन्यत्र कामचारः ।

श्रीधरी—वक्तृवाच्यगतौचित्ये=वक्तृगत और वाच्यगत औचित्य के, सत्यपि=होने पर भी, विषयाश्रयं=विषय के आश्रय, अन्यदौचित्यं=दूसरा औचित्य, संघटनां नियच्छति=संघटना को नियमन करता है, यतः=क्योंकि, काव्यस्य प्रभेदाः=काव्य के भेद, संस्कृत प्राकृतापभ्रंश निबद्धम्=संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश मे निबद्ध, मुक्तकं सन्दानितक विशेषक कलापक कुलकानि=मुक्तक, सन्दानितक, विशेषक, कलापक, कुलक, पर्यायबन्धः परिकथा खण्डकथा-सकलकथे सर्गबन्धोऽभिनेयार्थमाख्यायिका-कथेइत्येवमादयः=पर्यायबन्ध, परिकथा, खण्ड कथा, सकल कथा, सर्गबन्ध, अभिनेयार्थ, आख्यायिका, कथा आदि इस प्रकार हैं, तदाश्रयेणापि=उनके आश्रय से भी, संघटना विशेषवती भवति=विशेष प्रकार की होती है तत्र=उनमें मुक्तकेषु=मुक्तकों में, रसबन्धाभिनिवेशिनः=रस के निबन्धन मे अभिनिवेश रखने वाले, कवेः=कवि का, तदाश्रयं औचित्यम्=रस के आश्रित औचित्य है, तच्च=उसे, दर्शितमेव=दिखा ही चुके हैं, अन्यत्र कामचारः=और जगह स्वतन्त्रता है।

अर्थ—वक्तृगत और वाच्यगत औचित्य के होने पर भी विषय के आश्रित दूसरा औचित्य संघटना को नियमन करता है, क्योंकि काव्य के प्रभेद संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश में निबद्ध मुक्तक, सन्दानितक, विशेषक, कलापक, कुलक, पर्यायबन्ध, परिकथा, खण्डकथा, सकलकथा, सर्गबन्ध, अभिनेयार्थ, आख्यायिका, कथा आदि इस प्रकार हैं, उनके आश्रय से भी संघटना विशेष प्रकार की होती है, उनमे से रस के निबन्धन में अभिनिवेश रखने वाले, कवि का रस के आश्रित औचित्य है, उसे दिखा ही चुके हैं, अन्यत्र स्वतन्त्रता है।

मुक्तकेषु प्रबन्धेष्विव रसबन्धाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते । यथा ह्यमरुकस्य कवेर्मुक्तकाः शृङ्गाररसस्यन्दिनः प्रबन्धायमानाः प्रसिद्धा एव ।

सन्दानितकादिषु तु विकटनिबन्धनौचित्यान् मध्यमसमासा दीर्घसमासे एव रचने। प्रबन्धाश्रयेषु यथोक्त प्रबन्धौचित्यमेवानुसर्तव्यम्। पर्यायबन्धे पुनरसमासामध्यम समासे एव-सङ्घटने। कदाचिदर्थौचित्याश्रयेण दीर्घ समासायामपि सङ्घटनायां परुषा ग्राम्या च वृत्तिः परिहर्तव्या। परिकथायां कामचारः। तत्रेतिवृत्तमात्रोपन्यासेन नात्यन्तं रसबन्धाभिनिवेशात्। खण्डकथा सकल कथयोस्तु प्राकृत प्रसिद्धयोः कुलकादिनिबन्धनभूयस्त्वाद्दीर्घ समासायामपि न विरोधः। वृत्त्यौचित्यं तु यथा रस मनुसर्तव्यम्। सर्गबन्धे तु रसतात्पर्ये यथारसमौचित्यमन्यथा तु कामचारः। द्वयोरपि मार्गयोः सर्गबन्ध विधायिनां दर्शनाद्रसतात्पर्यं साधीयः। अभिनेयार्थे तु सर्वथा रसबन्धेऽभिनिवेशः कार्यः। आख्यायिकाकथयोस्तु गद्य निबन्धन बाहुल्याद्गद्ये च छन्दो बन्धभिन्न प्रस्थानत्वादिह नियमे हेतुरकृत पूर्वोऽपि मनाक्क्रियते।

श्रीधरी—प्रबन्धेष्विव=प्रबन्धो की तरह, मुक्तकेषु=मुक्तको मे, कवयः=कवि लोग, रसबन्धाभिनिवेशिनः दृश्यन्ते=रस के निबन्धन का अभिनिवेश रखने वाले दिखाई देते है, यथा हि=जैसे, अमरुकस्य कवेः=अमरुक कवि के, मुक्तकाः=मुक्तक, शृङ्गार रसस्यन्दिनः=शृंगार रस की वर्षा करने वाले, प्रबन्धायमानाः=प्रबन्ध काव्य के समान, प्रसिद्धा एव=प्रसिद्ध ही हैं, तु=किन्तु, सन्दानितकादिषु=सन्दानितक आदि मे, विकट निबन्धनौचित्यान्मध्यमसमासा दीर्घ समासे एव रचने=किन्तु सन्दानितक आदि मे विकट निबन्धन के औचित्य से मध्यम समासा और दीर्घ समासा ही रचनाएं हैं, प्रबन्धाश्रयेषु=प्रबन्ध के आश्रित काव्यों में यथोक्त प्रबन्धौचित्यमेवा नुसर्तव्यम्=यथोक्त प्रबन्ध के औचित्य का ही अनुसरण करना चाहिए, पर्याय बन्धे पुनः=पर्याय बन्ध में, असमासामध्यम समासे एव सङ्घटने=[illegible] और मध्यम समासा संघटनाएँ हैं, कदाचित्=कभी, [illegible]=[illegible] के औचित्य के आश्रय से, दीर्घ समासायामपि=[illegible] में, परुषा ग्राम्या च वृत्तिः=परुषा और [illegible] [illegible] चाहिए, परिकथायां=परिकथा में, कामचारः=[illegible] है। [illegible] मात्रोपन्यासेन=केवल इतिवृत्त का [illegible] अत्यन्त रसबन्ध का अभिनिवेश नहीं [illegible]

निर्माता देखे जाते हैं, रसतात्पर्यं साधीयः=(किन्तु) रस मे तात्पर्य अच्छा होता है, अभिनेयार्थे तु=अभिनेय अर्थ में तो, सर्वथा रसबन्धेऽभिनिवेशः कार्यः=हर तरह मे रस के निबन्धन मे प्रयत्न करना चाहिए. आख्यायिकाकथयोस्तु=आख्यायिका और कथाओं में, गद्य निबन्धन बाहुल्यात्=गद्य के निबन्धन का बाहुल्य होने से, गद्ये च=और गद्य मे, छन्दोबद्धभिन्नप्रस्थानत्वात्=छन्दोबद्ध से अतिरिक्त प्रस्थान होने से, अकृत पूर्वाऽपि इह नियमे हेतुः=पहले नियामक हेतु न दिये जाने से, मनाक्क्रियते=थोड़ा निर्देश करते है।

अर्थ—प्रबन्धों की तरह मुक्तको में भी कवि लोग रस के निबन्धन मे प्रयत्नशील देखे जाते हैं। जैसा कि कवि अमरुक के मुक्तक श्रृङ्गार रस की वर्षा करने वाले और प्रबन्ध काव्य के समान प्रसिद्ध ही हैं, किन्तु सन्दानितक आदि में विकट निबन्धन के औचित्य से मध्यम समासा और दीर्घ समासा ही रचनाएँ हैं। प्रबन्ध के आश्रित काव्यों में यथोक्त प्रबन्ध के औचित्य का ही अनुसरण करना चाहिए। पर्यायबन्ध मे असमासा और मध्यम समासा ही संघटनाएँ हैं। कभी अर्थ के औचित्य के आश्रय से दीर्घ समासा भी सघटना मे परुषा और ग्राम्या वृत्ति को छोड देना चाहिए। परिकथा में स्वतन्त्रता है क्योंकि उसमे केवल इतिवृत्त के वर्णन होने से रस के निबन्धन का अभिनिवेश अत्यन्त रूप से नही होता, लेकिन प्राकृत मे प्रसिद्ध खण्ड कथा और सकल कथा मे कुलक आदि के निबन्धन के औचित्य के कारण दीर्घ समासा सघटना होने पर भी कोई विरोध नही है, किन्तु इसके अनुसार वृत्तियों का औचित्य अनुसरण करना चाहिये, परन्तु रस मे तात्पर्य वाले सर्गबन्ध मे रस के अनुसार औचित्य है, अन्यथा स्वतन्त्रता है। सर्गबन्ध के निर्माता दोनो मार्गों मे दृष्टिगत होते है किन्तु रस में तात्पर्य अच्छा होता है, परन्तु अभिनेयार्थ मे सर्वथा रस के निबन्धन मे अभिनिवेश होना चाहिए। आख्यायिका और कथा मे तो गद्य के निबन्धन का बाहुल्य होने से और गद्य मे छन्दोबन्ध से अतिरिक्त प्रस्थान होने से पहले नियामक हेतु न दिये जाने पर भी थोड़ा निर्देश करते है—

एतद्यथोक्तमौचित्यमेव तस्या नियामकम्।
सर्वत्र गद्यबन्धेऽपि छन्दोनियम वर्जिते ॥८॥

श्रीधरी—एतद्=यही, यथोक्तमौचित्य=यथोक्त औचित्य, सर्वत्र=सब जगह, छन्दोनियम वर्जिते=छन्द के नियमों से वर्जित, गद्यबन्धेऽपि=गद्यबन्ध मे भी, तस्या=उस संघटना का, नियामकम्=नियामक होता है।

अर्थ—यही यथोक्त औचित्य सर्वत्र छन्द के नियमों से रहित गद्यबन्ध मे भी उस संघटना का नियामक होता है।

यदेतदौचित्यं वक्तृवाच्यगतं सङ्घटनाया नियामकमुक्तमेतदेव गद्ये छन्दोनियम वर्जितेऽपि विषयापेक्षं नियम हेतु। तथाह्यत्रापि यदा कवि

कवि निबद्धो वा वक्ता रसभावरहितस्तदा कामचारः। रसभाव समन्विते तु वक्तरि पूर्वोक्तमेवानुसर्तव्यम्, तत्रापि च विषयौचित्यमेव। आख्यायिकां तु भूम्ना मध्यमसमासा दीर्घ समासे एव सङ्घटने। गद्यस्य विकटबन्धाश्रयेण छायावत्वात्। तत्र च तस्य प्रकृष्यमाणत्वात्। कथायां तु विकटबन्ध प्राचुर्येऽपि गद्यस्य रसबन्धोक्तमौचित्यमनुसर्तव्यम्।

श्रीधरी—यदेतद्=जो यह, वक्तृगतवाच्यगतं=वक्तृगत और वाच्यगत, औचित्यं=औचित्य, संघटनाया नियामक उक्तं=संघटना का नियामक कहा गया है, एतदेव=वही, छन्दोनियम वर्जितेऽपि गद्ये=छन्द के नियमों से रहित गद्य मे भी, विषयापेक्षं नियम हेतुः=विषय गत औचित्य सहित नियामक होता है, तथाहि=जैसा कि, अत्रापि=यहाँ भी, यदा कविः=जब कवि, कविनिबद्धो वा वक्ता=या कवि निबद्धा, रसभाव रहित=रस भाव से रहित होता है, तदाकामचारः=तब स्वतन्त्रता होती है, रसभाव समन्विते तु वक्तरि=रसभाव से युक्त वक्ता के होने पर, पूर्वोक्तमेवानुसर्तव्यम्=पूर्वोक्त का ही अनुसरण करना चाहिए, तत्रापि च=उसमे भी, विषयौचित्यमेव=विषयगत औचित्य ही होता है, आख्यायिकाया तु=किन्तु आख्यायिका मे, भूम्ना=अधिकांश रूप मे, मध्यम समासा दीर्घसमासे एव सघटने=मध्यम समासा और दीर्घ समासा ही संघटना होती हैं, गद्यस्य विकट बन्धाश्रयेण=गद्य विकट रचना के कारण, छायावत्वात्=सुन्दर होता है, तत्र च=और उसमे, तस्य प्रकृष्यमाणत्वात् = उसका प्रकर्ष होता है, तु =परन्तु, कथायां=कथा मे, विकटबन्ध प्राचुर्येऽपि गद्यस्य=गद्य की विकट रचना के प्राचुर्य होने पर भी, रसबन्धोक्तं औचित्यं अनुसर्तव्यम्=रस निबन्धन के योग्य औचित्य का अनुसरण करना चाहिए।

अर्थ—यह जो वक्तृगत और वाच्यगत औचित्य संघटना का नियामक कहा गया है, वही छन्द के नियमों से रहित गद्य मे भी विषयगत औचित्यसहित नियामक होता है। जैसा कि यहाँ भी जब कवि अथवा कवि निबद्ध वक्ता रसभाव से रहित होता है, तब स्वतन्त्रता होती है किन्तु रसभाव से समन्वित वक्ता के होने पर पूर्वोक्त का ही अनुसरण करना चाहिये। उसमे भी विषयगत औचित्य ही होता है, परन्तु आख्यायिका मे अधिकांश मध्यमसमासा और दीर्घसमासा सघटनाएँ ही होती हैं। गद्य विकट रचना के कारण सुन्दर होता है, उसका उसमे उत्कर्ष होता है, कथा मे गद्य की विकट रचना के प्राचुर्य के होने पर भी रस के निबन्धन के उक्त औचित्य का अनुसरण करना चाहिए।

रसबन्धोक्त मौचित्यं भाति सर्वत्र संश्रिता।
रचना विषयापेक्षं तत्तु किञ्चिद्विभेदवत् ॥९॥

अथवा पद्यवद्गद्य बन्धेऽपि रसबन्धोक्तमौचित्यं सर्वत्र संश्रिता रचना भवति। तत्तु विषयापेक्षं किञ्चिद्विशेषवद्भवति, न तु सर्वाकारम्।

तथाहि गद्य बन्धेऽप्यति दीर्घसमासा रचना न विप्रलम्भ शृंगार करुणयोराख्यायिकायामपि शोभते । नाटकादावप्यसमासैव न रौद्र वीरादि वर्णने । विषयापेक्षं त्वौचित्यं प्रमाणतोऽपकृष्यते प्रकृष्यते च । तथा ह्याख्यायिकायां नात्यन्तमसमासा स्वविषयेऽपि नाटकादौ नातिदीर्घ समासा चेति संघटनाया दिगनुसर्तव्या ।

श्रीधरी—रसबन्धोक्त=रसबन्ध में कहे हुए, औचित्यं सश्रिता=औचित्य के आश्रित, सर्वत्र=सर्वत्र ही, भाति=शोभा देती है, तत्तु=वह, रचना=रचना, विषयापेक्ष=विषयगत औचित्य के अनुसार, किञ्चिद्विभेदवत्=कुछ भिन्न हो जाती है ।

अथवा पद्यवद्गद्य बन्धेऽपि=अथवा पद्य की तरह गद्यबन्ध में भी, रसबन्धोक्तमौचित्य=रसबन्ध में कहे गये औचित्य के, सर्वत्र सश्रिता रचना=सर्वत्र आश्रित रचना, भाति=शोभा देती है, तु=किन्तु, तत्=उसमें, विषयापेक्षं=विषयगत औचित्य के अनुसार, किञ्चिद्विशेषवद्भवति=कुछ विशेष हो जाता है, न तु सर्वप्रकाराणाम्=सब प्रकार से नहीं, तथाहि=जैसा कि, गद्यबन्धेऽप्यतिदीर्घसमासा रचना=गद्यबन्ध में भी दीर्घ समासा रचना, विप्रलम्भशृंगारकरुणयोः=विप्रलम्भ, शृंगार और करुण में, आख्यायिका मपि=आख्यायिका में भी, शोभते=शोभित होती है, नाटकादावप्यसमासैव=नाटक आदि में असमासा ही होती है, न रौद्र वीरादि वर्णने=रौद्र, वीर आदि के वर्णन में नहीं, तु=परन्तु, विषयापेक्ष त्वौचित्यं=विषयगत औचित्य, प्रमाणतो=प्रमाण के अनुसार, अपकृष्यते प्रकृष्यते च=घट और बढ जाता है, तथाहि=जैसाकि, आख्यायिकायां=आख्यायिका में, स्वविषयेऽपि=अपने विषय में भी, अत्यन्तमसमासा=अत्यन्त असमासा, अतिदीर्घ समासा च=और अत्यन्त दीर्घ समासा, नाटकादौ=नाटक आदि में, न=नहीं होनी चाहिए, इति=इस प्रकार, संघटनायाः=संघटना की, दिग्=दिशा का, अनुसर्तव्या=अनुसरण करना चाहिए ।

अर्थ—रस बन्ध में कहे गये औचित्य के सर्वत्र आश्रित रचना शोभित होती है, परन्तु विषयगत औचित्य के अनुसार उसमें कुछ भेद हो जाता है ।

अथवा पद्य की तरह गद्यबन्ध में भी रसबन्ध में कहे गये औचित्य के सर्वत्र आश्रित रचना शोभित होती है, लेकिन उसमें विषयगत औचित्य के अनुसार कुछ विशेष हो जाता है, सब प्रकार से नहीं । जैसा कि गद्य में भी दीर्घ समासा रचना, विप्रलम्भ शृंगार रचना, विप्रलम्भ शृंगार और करुण में आख्यायिका में भी नहीं शोभित होती । नाटक आदि में असमासा ही होती है, रौद्र, वीर आदि के वर्णन में नहीं पर, विषयगत औचित्य प्रमाण के अनुसार घट-बढ़ जाता है, जैसा कि आख्यायिका में अपने विषय में भी अत्यन्त असमासा और नाटक आदि में अतिदीर्घ समासा नहीं होनी चाहिए । इस प्रकार संघटना की दिशा का अनुसरण करना चाहिए ।

इदानीमलक्ष्यक्रम व्यंग्यो ध्वनिः प्रबन्धात्मा रामायणमहाभारतादौ प्रकाशमान. प्रसिद्ध एव । तस्य तु यथो प्रकाशनं तत्प्रतिपाद्यते—

श्रीधरी—इदानीं=अब, प्रबन्धात्मा=प्रबन्ध रूप, अलक्ष्यक्रम व्यंग्यो ध्वनि.=अलक्ष्य क्रम व्यंग्य ध्वनि, रामायणमहाभारतादौ=रामायण महाभारत आदि मे, प्रकाशमान.=प्रकाशमान, प्रसिद्ध एव=प्रसिद्ध ही है, तु=परन्तु, तस्य=उसका, यथा=जैसे प्रकाशनं=प्रकाशन है, तत्प्रतिपाद्यते=उसका प्रतिपादन करते है—

अर्थ—अब प्रबन्ध रूप अलक्ष्य क्रम व्यंग्य ध्वनि रामायण, महाभारत आदि में प्रकाशन प्रसिद्ध ही है, किन्तु उसका जैसे प्रकाशन है, उसे प्रतिपादन करते है—

विभावभावानुभाव सञ्चार्यौचित्य चारुणः ।
विधिः कथा शरीरस्य वृत्तस्योत्प्रेक्षितस्य वा ॥१०॥

इतिवृत्तवशायातां त्यक्त्वा ऽननुगुणां स्थितिम् ।
उत्प्रेक्ष्याऽप्यन्तराभीष्ट रसोचित कथोन्नयः ॥११॥

सन्धि सन्ध्यङ्ग घटनं रसाभिव्यक्त्यपेक्षया ।
न तु केवलया शास्त्र स्थिति सम्पादनेच्छया ॥१२॥

उद्दीपन प्रशमने यथावसर मन्तरा ।
रसस्यारब्धविश्रान्ते रनु सन्धानमंगिनः ॥१३॥

अलंकृतीनां शक्तावप्यानुरूप्येण योजनम् ।
प्रबन्धस्य रसादीनां व्यञ्जकत्वे निबन्धनम् ॥१४॥

श्रीधरी—विभावभावानुभावसञ्चार्यौचित्य चारुणः=स्थायी भाव, अनुभाव, एव सञ्चारी के औचित्य से सुन्दर, वृत्त=कथानक, (ऐतिहासिक) उत्प्रेक्षितस्य वा=या उत्प्रेक्षित, कथाशरीरस्य विधिः=कथा शरीर का निर्माण ।

इतिवृत्तवशायाता=इतिवृत्त के कारण आई हुई, अननुगुणां स्थिति त्यक्त्वा=इसके प्रतिकूल स्थिति को छोड़कर, उत्प्रेक्ष्या अपि=कल्पना करके भी, अन्तराभीष्ट रसोचित=बीच मे अभीष्ट रस के योग्य, कथोन्नयः=कथा का उन्नयन ।

सन्धि सन्ध्यङ्ग घटनं=सन्धि और सन्धि के अगो का योजन, रसाभिव्यक्ति पेक्षया=रस की अभिव्यक्ति की अपेक्षा से, (होना चाहिए) केवलया शास्त्रस्थिति सम्पादनेच्छया=केवल शास्त्र की मर्यादा को सम्पन्न करने की इच्छा से, न=नहीं ।

यथावसर=अवसर पर, उद्दीपन प्रशमने=रस का उद्दीपन और प्रशमन, अन्तरा=बीच में, आरब्ध विश्रान्ते=आरब्ध होकर विश्रान्त होते हुए, अगिनः रसस्य=अंगी रस का, अनुसन्धानम्=अनुसन्धान करना ।

शक्तौ अपि=सामर्थ्य होते हुए भी, अलंकृतीनां=अलंकारों का, अनुरूपेण योजनम्=अनुरूपता से योजन करना चाहिए, प्रबन्धस्य=(यह) प्रबन्ध के, रसादीनां व्यञ्जकत्वे=रसादि व्यञ्जक होने में, निबन्धनम्=हेतु है।

अर्थ - स्थायी भाव, भाव, अनुभाव एवं सञ्चारी के औचित्य से सुन्दर, वृत्त (ऐतिहासिक) किंवा कल्पित कथा शरीर का निर्माण। इतिवृत्त के कारण आई हुई रस के प्रतिकूल स्थिति को छोड़कर कल्पना करके भी अभीष्ट रस के अनुरूप कथा का उन्नयन। सन्धि और सन्धि के अंगों का योजन रस की अभिव्यक्ति की अपेक्षा से होना चाहिए। न कि केवल शास्त्र की मर्यादा को सम्पन्न करने की इच्छा से। अवसर पर रस का उद्दीपन और प्रशमन, तथा बीच में प्रारब्ध होकर विश्रान्त होते हुए अंगी रस का अनुसन्धान। सामर्थ्य होने पर भी अलंकारों का योजन अनुरूपता से करना चाहिए यह प्रबन्ध के रसाभिव्यञ्जक होने में हेतु है।

प्रबन्धो हि रसादीनां व्यञ्जक इत्युक्तं तस्य व्यञ्जकत्वे निबन्धनम्। प्रथमं तावद्विभावभावानुभाव सञ्चार्यौचित्यचारुणः कथा शरीरस्य विधिर्यथायथंप्रतिपिपादयिषित रसभावाद्यपेक्षया य उचितो विभावो भावोऽनुभावः सञ्चारी वा तदौचित्य चारुणः कथाशरीरस्य विधिर्व्यञ्जकत्वे निबन्धनमेकम्। तत्रविभावौचित्यम् तावत्प्रसिद्धम्। भावौचित्यं तु प्रकृत्यौचित्यात्। प्रकृति ह्यु...त्तम मध्यमाधमभावेन दिव्य मानुषादिभावेन च विभेदिनी। तां यथायथमनुसृत्यासंकीर्णः स्थायी भाव उपनिबध्यमान औचित्यभाग् भवति। अन्यथा तु केवल मानुषाश्रयेण दिव्यस्य केवल दिव्याश्रयेण वा केवल मानुषस्योत्साहादय उपनिबध्यमाना अनुचिता भवन्ति। तथा च केवल मानुषस्य राजादेर्वर्णने सप्तार्णव लंघनादि लक्षणा व्यापारा उपनिबध्यमानाः सौष्ठवभृतोऽपि नीरसा एव नियमेन भवन्ति, तत्र त्वनौचित्यमेव हेतुः।

श्रीधरी—प्रबन्धोऽपि=प्रबन्ध भी, रसादीनां व्यञ्जक इति=रस आदि का व्यञ्जक होता है, यह, उक्तं=कह चुके है, तस्य=उसके व्यञ्जकत्वे=व्यञ्जकत्व में, निबन्धनम्=हेतु है, प्रथमं=पहला हेतु, विभावभावानुभावसञ्चार्यौचित्यचारुण=विभाव, स्थायीभाव, अनुभाव, सञ्चारी के औचित्य से सुन्दर, कथा शरीरस्य=कथा शरीर का, विधिः=निर्माण, यथायथं=यथायोग्य, प्रतिपादयिषित=प्रतिपादनार्थ, रस भावाद्यपेक्षया=रस, भाव आदि की अपेक्षा से, यः=जो, उचितो विभावभावोऽनुभावः सञ्चारी वा=उचित विभाव, स्थायी, भाव, अनुभाव, अथवा सञ्चारी है, तदौचित्य चारुणः=उसके औचित्य से सुन्दर, कथा शरीरस्य=कथा शरीर का, विधयं व्यञ्जकत्वे=निर्माण व्यञ्जक होने में, निबन्धनमेकम्=एक हेतु है, तत्र=उनमें, विभावौचित्यम्=विभाव का औचित्य,

तावत्‹सिद्धम्=प्रसिद्ध है, भावौचित्यं तु=भाव का औचित्य, प्रकृत्यौचित्यात्=प्रकृति के औचित्य से होता है, प्रकृतिह्य ुत्तम मध्यमाधम भावेन=प्रकृति उत्तम, मध्यम, अधम भाव से, दिव्य मानुषादि भावेन च विभेदिनी=दिव्य और मानुष आदि भाव से विभिन्न होती है, ता यथायोग्य मनुसृत्य=उसका यथायोग्य अनुसरण करके, असकीर्ण स्थायी भावः=असकीर्ण स्थायी भाव, उपनिवध्यमानश्रौचित्यभाग् भवति=उपनिबध्यमान होकर औचित्ययुक्त होता है, अन्यथा तु=अन्यथा तो, केवल दिव्याश्रयेण=केवल दिव्य के आश्रय से, केवलमानुषाश्रयेण वा=या केवल मानुष के आश्रय से, केवल मानुषस्योत्साहादय =केवल मानुष के उत्साह आदि उपनिवध्यमाना=उपनिवध्यमान होकर, अनुचिता भवन्ति=अनुचित होते है, तथा च=जैसा कि, केवल मानुषस्य राजादे=केवल मानुष राजा आदि के, वर्णने=वर्णन मे, सप्तार्णवलङ्घनादि लक्षणा=सात समुद्रो को पार करना आदि रूप, व्यापारा उपनिवध्यमानाः= उपनिवध्यमान होकर, सौष्ठवभृतोऽपि=सौष्ठवयुक्त होने पर भी, नीरसा एव= नीरस ही, नियमेन भ न्ति=नियमत होते है, तत्र अनौचित्यमेव हेतुः=उसमें अनौचित्य ही हेतु है।

अर्थ - प्रबन्ध भी रसादि का व्यञ्जक होता है, यह कह दिया है, उसके व्यञ्जक होने मे हेतु है। पहला हेतु तो विभाव, स्थायी भा', अनुभाव, सचारी के औचित्य मे सुन्दर कथा शरीर का निर्माण अर्थात् यथायोग्य प्रतिपादनार्थ अभीष्ट रस, भाव आदि की अपेक्षा से जो विभाव, स्थायी भाव, अनुभाव अथवा सचारी है, उसके औचित्य से मुन्दर कथा शरीर का निर्माण व्यजक होने मे एक हेतु है। उसके विभाव का औचित्य प्रसिद्ध है। भाव का औचित्य प्रकृति के औचित्य से होता है। प्रकृति उत्तम, मध्यम और अधम भाव से, तथा दिव्य, मानुष आदि भाव से विभिन्न होती है। उसे यथायोग्य अनुसरण करके असंकीर्ण स्थायी भाव उपनिवध्यमान होकर, औचित्ययुक्त होता है, अन्यथा केवल मानुष के आश्रय से, दिव्य के अथवा केवल दिव्य के आश्रय से केवल मानुष के उत्साह आदि उपनिवध्यमान होकर, अनुचित होते है। जैसा कि केवल मानुष राजा आदि के वर्णन मे सात समुद्रो का पार करना आदि रूप व्यापार उपनिवध्यमान होकर सौष्ठवयुक्त होने भी नीरस ही नियमत होते है, उसका तो अनौचित्य ही हेतु है।

ननु नागलोकगमनादयः सातवाहनप्रभृतीनां श्रूयन्ते, तदलोकसामान्य प्रभावातिशय वर्णने किमनौचित्यं सर्वोर्वीभरण क्षमायां क्ष्माभुजामिति। नैतदस्ति। न वयं ब्रूमोयत्प्रभातिशयवर्णनमनुचितं राज्ञाम्, किन्तु केवल मानुषाश्रयेण चोत्पाद्यवस्तुकथा क्रियते तस्यां दिव्यमौचित्यं न योजनीयम्। दिव्य मानुष्यायां तु कथायां उभयौचित्य योजनमविरुद्ध मेव, यथापाण्डवादि कथायाम्। सातवाहनादिषु तुयेषु यावदपदानं श्रूयते तेषु तावन्मात्र मनुगम्यमानमनुगुणत्वेन प्रतिभासते। व्यतिरिक्त तु तेषामेवोपनिवध्यमानमनुचितम्। तदयमत्र परमार्थ—

अनौचित्यादृते नान्यद्रस भंगस्य कारणम् ।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा ।।

श्रीधरी— ननु सातवाहन प्रभृतीनां=सातवाहन आदि राजाओं के, नागलोक-गमनादयः श्रूयन्ते=नागलोक गमन आदि कार्य सुने जाते है, तद्=तो, सर्वोर्वीभरण-क्षमाणा=समग्र पृथ्वी के भरण मे समर्थ, क्षमाभुजा=राजाओं के, अलोक सामान्य प्रभावातिशयवर्णने=असाधारण अतिशय प्रभाव के वर्णन मे, किमनौचित्य=क्या यह अनौचित्य है, न तदस्ति=अनौचित्य नही है, न वयं ब्रूमो=हम नही कहते कि, राज्ञाम् प्रभावातिशय वर्णनमनुचितं=राजाओं का अतिशय प्रभाव वर्णन अनुचित है, किन्तु=लेकिन, केवलमानुषाश्रयेण=केवल मनुष्य के आश्रय से, योत्पाद्यवस्तुकथा क्रियते=जो कल्पित वस्तुकथा रची जाती है, तस्यां=उसमें, दिव्यऔचित्यं=दिव्य औचित्य को, न योजनीयम्=योजना नही करनी चाहिए, तु=किन्तु, दिव्यमानुष्याया कथायां=दिव्य मनुष्य की कथा मे, उभयौचित्य योजन-मविरुद्धमेव=उभय प्रकार के औचित्य का योजन अविरुद्ध ही है, यथा=जैसे, पाण्डवादि कथायाम्=पाण्डव आदि की कथा मे, सातवाहनादिषु तु=सातवाहन आदि मे तो, यावदपदान श्रूयते=जितना पूर्व वृत्तान्त सुना जाता है, तेषु—उनमे, तावन्मात्र=उतने मात्र तक, अनुगम्यमानमनुगुणत्वेन प्रतिभासते=अनुगमन करना अनुकूल रूप से प्रतीत होता है, व्यतिरिक्त तु=व्यतिरिक्त वर्णन तो, तेषामेवो-पनिबध्यमानमनुचितम्=उनका ही अनुचित हो जाता है, तदयमत्र=इसलिये यहां, परमार्थः=निष्कर्ष है—

अनौचित्यादृते=अनौचित्य को छोड़कर, रसभगस्य=रसभग का, नान्यद् कारणम्=कोई दूसरा कारण नही है, प्रसिद्धऔचित्यबन्धस्तु=प्रसिद्ध औचित्य का सयोजन, रसस्य=रस की, परा उपनिषद्=उत्कृष्ट शोभा है ।

अर्थ— सातवाहन प्रभृति राजाओं के नागलोक गमन आदि कार्य सुने जाते है, जो समस्त पृथ्वी के भरण मे समर्थ राजाओ के असाधारण अतिशय प्रभाव के वर्णन में क्या यह अनौचित्य है । यह अनौचित्य नही है । हम नही कहते हैं कि *राजाओ के अतिशय प्रभाव का वर्णन अनुचित है,* लेकिन केवल मनुष्य के आश्रित से जो वस्तुकथा रची जाती है, उसमे दिव्य औचित्य की योजना नही करनी चाहिए, परन्तु दिव्य मनुष्य की कथा में दोनो ही प्रकार के औचित्य का योजन विरुद्ध नही है । जैसे—पाण्डव आदि की कथा में, परन्तु जिन सातवाहन आदि मे जितना पूर्व वृत्तान्त सुना जाता है, उनमे उतने मात्र तक अनुगमन करना अनुकूल प्रतीत होता है, किन्तु उनका ही उससे व्यतिरिक्त वर्णन अनुचित हो जाता है । अतः यहाँ यह निष्कर्ष है—

अनौचित्य को छोड़कर कोई दूसरा रसभंग का कारण नही है, और प्रसिद्ध औचित्य का योजन रस की उत्कृष्ट शोभा है ।

अतएव च भरते प्रख्यातवस्तु विषयत्वं प्रख्यातोदात्त नायकत्वं च नाटकस्यावश्य कर्तव्यतयोपन्यस्तम्—तेन हि नायकौचित्यानौचित्य विषये कविर्नव्यामुह्यति। यस्तूत्पाद्य वस्तु नाटकादि कुर्यात्तस्या प्रसिद्धानुचित नायक स्वभाववर्णने महान् प्रमादः ।

श्रीधरी—अतएव च=इसीलिये, भरते=भरत ने, नाटकस्य=नाटक का, प्रख्यातवस्तु विषयत्व=प्रख्यात वस्तु विषय वाला होना, उदात्त नायकत्व च=और उदात्त नायक वाला होना, आवश्यकर्तव्यतयोपन्यस्तम्=आवश्यक कर्तव्य के रूप मे उपन्यस्त किया है, तेन हि=इस कारण, नायकौचित्यानौचित्य विषये=नायक के औचित्य एव अनौचित्य के विषय मे, कविः=कवि, न व्यामुह्यति=व्यामोहित नही होता, यस्तु=परन्तु जो, उत्पाद्यवस्तु=कल्पित कथावस्तु वाले, नाटकादि कुर्यात्=नाटक आदि बनाता है, तस्य=उसका, अप्रसिद्धानुचित नायकादि वर्णने=अप्रसिद्ध एव अनुचित नायक आदि के वर्णन मे, महान् प्रमाद=अत्यधिक प्रमाद है ।

अर्थ—इसीलिये भरत ने नाटक का प्रख्यात वस्तु विषय वाला होना और प्रख्यात उदात्त नायक वाला होना अवश्य कर्तव्य रूप मे उपन्यस्त किया है। इस कारण नायक के औचित्य अनौचित्य के विषय मे कवि व्यामोहित नही होता किन्तु जो कवि कल्पित कथावस्तु वाले नाटक आदि बनाता है उसका अप्रसिद्ध एव अनुचित नायक-स्वभाव के वर्णन मे अत्यधिक प्रमाद है ।

ननु यद्युत्साहादिभाव वर्णने कथञ्चिद्दिव्यमानुष्याद्यौचित्य परीक्षा क्रियते, तत्क्रियताम्, रत्यादौ तु किं तया प्रयोजनम्, रतिर्हि भारतवर्षोचितेनैव व्यवहारेणदिव्यानामपि वर्णनीयेति स्थितिः । नैवम्, तदौचित्यातिक्रमेण सुतरां दोषः । तथाह्यधम प्रकृत्यौचित्येनोत्तम प्रकृतेः । शृङ्गारोप निबन्धने का भवेन्नोपहास्यता, त्रिविधं प्रकृत्यौचित्यं भारते वर्षेऽप्यस्ति शृंगार विषयम् । यत्तु दिव्यमौचित्यं तत्तत्रानुपकारक मेवेति चेत्—न वयं दिव्यमौचित्यं शृंगार विषयमन्यत् किञ्चिद् ब्रूमः ।

श्रीधरी—ननुयद्युत्साहादि भाव वर्णने=यदि उत्साह आदि भावों के वर्णन में, कथञ्चित्=किसी प्रकार, दिव्यमानुष्याद्यौचित्य परीक्षा=दिव्य मानुष्य आदि की औचित्य परीक्षा, क्रियते=करते है तो, तत्क्रियताम्=उसे कीजिये, तु=लेकिन, रत्यादौ=रत्यादि मे, किं तया प्रयोजनम्=उससे क्या प्रयोजन है, हि=क्योकि, इति स्थितिः=यह नियम है कि, दिव्यानामपि=दिव्यो की भी, रतिः=रति का वर्णन, भारतवर्षोचितेनैव व्यवहारेण=भारतवर्ष के उचित व्यवहार से, वर्णनीय=वर्णन करना चाहिए, नैवम्=ऐसा नही, तत्र=उसमे औचित्यातिक्रमेण=औचित्य के अतिक्रमण से, सुतरां दोषः=निश्चय ही दोष होगा, तथाहि=जैसा कि, अधम प्रकृत्यौचित्येन=अधम प्रकृति के औचित्य से, उत्तम प्रकृतेः=उत्तम प्रकृति के,

शृङ्गारोपनिबन्धने=उत्तम प्रकृति के शृङ्गार के निबन्धन में, का भवेन्नोपहास्यता=क्या उपहास्यता न होगी, भारतवर्षेऽपि=भारत वर्ष मे भी, शृङ्गार विषयकम्=शृंगार विषयक, प्रकृत्यौचित्यं=प्रकृत्यौचित्य, त्रिविध अस्ति=तीन तरह का है, यत्तु दिव्यमौचित्यं=जो दिव्य औचित्य है, तत्=वह, तत्र अनुपकारकमेवेति चेत्=वह उसमे उपकारक ही नही, यदि वह कहो तो, वय=हम, शृंगार वि.यं=शृंगार विषयक, अन्यत्किञ्चित्=और कुछ, दिव्य औचित्यं=दिव्य औचित्य के बारे मे, न ब्रूम.=नही कहते है।

अर्थ—यदि उत्साह आदि भावो के वर्णन में किसी प्रकार दिव्य, मानुष्य आदि औचित्य की परीक्षा करते हैं तो कीजिये, लेकिन रत्यादि मे उससे क्या प्रयोजन है? क्योंकि यह नियम है कि दिव्यों की भी रति का वर्णन भारतवर्ष के उचित व्यवहार के अनुसार करना चाहिए। ऐसा नही। उसमे औचित्य के अतिक्रमण से निश्चय ही दोष होगा ही, जैसा कि अधम प्रकृति के औचित्य से उत्तम प्रकृति के शृंगार के निबन्धन मे क्या उपहास्यता न होगी? भारतवर्ष में भी शृंगार के विषय का प्रकृत्यौचित्य तीन प्रकार का है। दिव्य औचित्य उसमे उपकारक ही नही है, यदि यह कहो तो हम शृंगार विषयक दिव्य औचित्य के सम्बन्ध मे कुछ अतिरिक्त नही कहते।

किं तर्हि? भारतवर्ष विषये यथोत्तम नायकेषु राजादिषु शृंगारोपनिबन्धस्तथा दिव्याश्रयोऽपि शोभते। न च राजादिषु प्रसिद्ध ग्राम्यशृंगारोप निबन्धनं प्रसिद्धं नाटकादौ, तथैव देवेषु तत्परिहर्तव्यम्। नाटकादेरभिनेयार्थत्वादभिनयस्य च सम्भोग शृंगार विषयस्यासभ्यत्वात्तत्र परिहार इति चेत्—न,यद्यभिनयस्यैवं विषयस्या सभ्यता तत्काव्यस्यैवं विषयस्या सा केन निवार्यते? तस्मादभिनेयार्थेऽनभिनेयार्थे वा काव्ये यदुत्तम प्रकृते राजादेरुत्तम प्रकृतिभिर्नायिकाभिः सह ग्राम्या सम्भोग वर्णनं तत्पित्रो सम्भोग वर्णनमिव सुतरां असभ्यम्, तथैवोत्तम देवतादि विषयम्।

श्रीधरी—किं तर्हि=तो क्या है? भारतवर्ष विषये=भारतवर्ष देश में, यथोत्तम नायकेषु=जैसे उत्तम नायक, राजादिषु=राजा आदि मे, शृङ्गारोपनिबन्धः=शृंगार का निबन्धन, शोभते=शोभा देता है, तथा=उसी प्रकार, दिव्याश्रयोऽपि शोभते=दिव्य के सम्बन्ध मे भी शोभित होता है, नाटकादौ=नाटक आदि मे, राजादिषु=राजा आदि के सम्बन्ध मे, प्रसिद्ध ग्राम्यशृङ्गारोपनिबन्धन=प्रसिद्ध ग्राम्य शृंगार का उपनिबन्धन, न प्रसिद्ध=प्रसिद्ध नही है, तथैव=उसी प्रकार, देवेषु=देवताओ के सम्बन्ध में, तत्परिहर्तव्यम्=उसका परिहार कर देना चाहिए, नाटकादे.=नाटक आदि के, अभिनेयार्थत्वात्=अभिनेय होने के कारण, अभिनयस्य च=और अभिनय का, सम्भोग शृंगार विषयस्य=सम्भोग शृंगार के

विषय का, तत्र=अभिनय मे, असम्यत्वात् परिहार इति चेत्=असभ्य होने से उसका परिहार होना चाहिये, यदि ऐसा कहते हो तो, न=परिहार नही हो सकता, (क्योकि) एव विषयस्य=इस प्रकार के विषय के, काव्यस्य=काव्य की, तत् असम्यता=उस असभ्यता का, केन वा निवार्यते=किससे निवारण हो सकता है, तस्माद्=इसलिये, अभिनेयार्थे अनभिनेयार्थे वा काव्ये=अभिनेयार्थ या अनभिनेयार्थ काव्य मे यद्=जो, उत्तम प्रकृते राजादे:=उत्तम प्रकृति के राजा आदि का, उत्तम प्रकृतिभिर्नायिकाभि सह=उत्तम प्रकृति की नायिकाओं के साथ, ग्राम्य सम्भोग वर्णनम्=ग्राम्य सम्भोग का वर्णन है, तत्=वह, पित्रो=माता-पिता के, सम्भोग वर्णन मिव=सम्भोग वर्णन की तरह, सुतरां असभ्यम्=निश्चय ही असभ्य है, तथैव=उसी प्रकार, उत्तम देवतादि विषयम्=उत्तम देवता आदि के सम्बन्ध में भी है।

अर्थ—तो क्या है ? भारतवर्ष देश मे जैसे उत्तम नायक राजा आदि मे शृङ्गार का निबन्धन शोभा देता है, उसी प्रकार दिव्य के सम्बन्ध मे भी, नाटक आदि मे राजा आदि के सम्बन्ध मे प्रसिद्ध ग्राम्य शृङ्गार का उपनिबन्धन प्रसिद्ध नही है। उसी प्रकार देवताओं के सम्बन्ध मे उसका परिहार कर देना चाहिए। नाटक आदि अभिनेयार्थ हुआ करते हैं और उनमे सम्भोग शृङ्गार के विषय के अभिनय का असभ्य होने के कारण परिहार यदि ऐसा कहो तो, यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि यदि इस प्रकार अभिनय मे असभ्यता हो तो इस प्रकार के विषय के काव्य की उस असभ्यता को कौन दूर कर सकता है ? इसलिये अभिनेयार्थ या अनभिनेयार्थ काव्य मे जो उत्तम प्रकृति राजा आदि का उत्तम प्रकृति की नायिकाओं के साथ ग्राम्य सम्भोग का वर्णन है, वह माता-पिता के सम्भोग वर्णन की तरह निश्चय ही असभ्य है। यही बात उत्तम देवता आदि के सम्बन्ध में भी लागू होती है।

न च सम्भोग शृंगारस्य सुरतलक्षण एवैक: प्रकार:, यावदन्येऽपि प्रभेदा: परस्पर प्रेम दर्शनादय: सम्भवन्ति, ते कस्मादुत्तम प्रकृति विषये न वर्ण्यन्ते ? तस्मादुत्साहवद्रतावपि प्रकृत्यौचित्य मनुसर्तव्यम् । तथैव विस्मयादिषु । यत्वेवं विधे विषये महाकवीनामप्यसमीक्ष्यकारिता लक्ष्ये दृश्यते स दोष एव । स तु शक्ति तिरस्कृतत्वात् तेषां न लक्ष्यत इत्युक्तमेव । अनुभावौचित्यं तुभरतादौ प्रसिद्धमेव ।

श्रीधरी—न च सम्भोग शृङ्गारस्य=सम्भोग शृंगार का, सुरत लक्षण:=सुरत रूप, एक एव प्रकार: न=एक ही प्रकार नही है, परस्पर प्रेमदर्शनादय:=परस्पर प्रेम, दर्शन आदि, अन्येऽपि प्रभेदा: सम्भवन्ति=और भी भेद हो सकते है, उत्तम प्रकृति विषये=उत्तम प्रकृति वालों के सम्बन्ध मे, ते कस्मान्न वर्ण्यन्ते=क्यो वर्णन करते, तस्मात्=इसलिये, उत्साहवत्=उत्साह की तरह, रता

रति में भी, प्रकृत्यौचित्य अनुसर्तव्यम्=प्रकृत्यौचित्य का अनुसरण करना चाहिए, तथैव=उसी प्रकार, विस्मयादिषु=विस्मय आदि में, यत्=जो, एवं विधे विषये=इस प्रकार के विषय में, महाकवीनामपि=महाकवियों की भी, असमीक्ष्यकारिता दृश्यते=बिना समझे कार्य करने की प्रवृत्ति दिखाई देती है, स दोष एव=वह दोष ही है, स तु=वह दोष, शक्ति तिरस्कृतत्वात्=शक्ति के द्वारा तिरस्कृत हो जाने के कारण, न लक्ष्यते=लक्षित नहीं होता, इत्युक्तमेव=यह कह ही चुके हैं, अनुभावौचित्य तु=अनुभाव का औचित्य तो, भरतादौप्रसिद्धमेव=भरत आदि में प्रसिद्ध ही है।

अर्थ—सम्भोग शृङ्गार का सुरत रूप एक ही प्रकार नहीं है। परस्पर प्रेम, दर्शन आदि अन्य प्रभेद भी उसके हो सकते हैं। उत्तम प्रकृति वालों के विषय में उनका क्यों वर्णन नहीं करते ? इस कारण उत्साह की तरह रति में भी प्रकृत्यौचित्य का अनुसरण करना चाहिए, उसी प्रकार विस्मय आदि में भी, किन्तु जो इस प्रकार के विषय में महाकवियों की भी असमीक्ष्यकारिता देखी जाती है, वह दोष ही है। पर, वह दोष शक्ति के द्वारा तिरस्कृत होने के कारण दृष्टिगत नहीं होता। यह बात पहले ही कही जा चुकी है, अनुभाव का औचित्य तो भरत आदि में प्रसिद्ध है ही।

इयत्तूच्यते—भरतादिविरचितां स्थितिं चानुवर्तमानेन महाकवि प्रबन्धाश्च पर्यालोचयता स्वप्रतिभां चानुसरता कविनावहितचेतसा भूत्वा विभावाद्यौचित्य भ्रंश परित्यागे परः प्रयत्नो विधेयः। औचित्यवतः कथा शरीरस्य वृत्तस्योत्प्रेक्षितस्य वा ग्रहो व्यञ्जकइत्येनैतत् प्रतिपादयति—यदितिहासादिषु कथासु रसवतीषु विविधासु सतीष्वपि यत्तत्र विभावाद्यौचित्यवत्कथा शरीरं तदेव ग्राह्यं नेतरत्, वृत्तादपि च कथाशरीरादुत्प्रेक्षिते विशेषतः प्रयत्नवता भवितव्यम्। तत्र हि अनवधानात्स्खलतः कवेरव्युत्पत्ति सम्भावना महती भवति। परिकर श्लोकश्चात्र—

कथाशरीरमुत्पाद्य वस्तु कार्यं तथा तथा।
यथा रसमयं सर्वमेव तत्प्रतिभासते॥

श्रीधरी—इयत्तूच्यते=इतना तो कहते हैं, भरतादि विरचिता=भरत आदि रचित, स्थिति चानुवर्तमान=मर्यादा का अनुवर्तन करते हुए, महाकवि प्रबन्धाश्च=महाकवियों के प्रबन्धों के, पर्यालोचयता=पर्यालोचन करते हुए, च=और, स्वप्रतिभा अनुसरता=अपनी प्रतिभा का अनुसरण करते हुए, कविना=कवि के द्वारा, अवहित चेतसा=सावधान चित्त से, भूत्वा=होकर, विभावाद्यौचित्यभ्रंश-परित्यागे=विभाव आदि के औचित्य के भ्रंश के परित्याग में, परः प्रयत्नो विधेयः=खूब प्रयत्न करना चाहिए, औचित्यवतः कथाशरीरस्य=औचित्ययुक्त कथा शरीर का, ग्रहः=ग्रहण, व्यञ्जकः=व्यञ्जक होता है, इत्यनेनैतत् प्रतिपादयति=इसमे

यह प्रतिपादन करते हैं, यत्=कि, इतिहासादिषु कथासु रसवतीषु=इतिहास आदि रसीली कथाओं के, विविधासु सतीषु=विविध होने पर भी, यत्तत्=जो वहाँ, विभावाद्यौचित्यवत्कथाशरीरं=विभाव आदि के औचित्य से युक्त कथाशरीर को, ग्राह्यं=ग्रहण करना चाहिए, न इतरत्=इतर को नहीं, वृत्तादपि=ऐतिहासिक, कथाशरीरात्=कथाशरीर से भी, उत्प्रेक्षिते विशेषतः प्रयत्नवता भवितव्यम्=कल्पित कथा शरीर में प्रयत्नशील होना चाहिए, हि=क्योंकि, तत्र=वहाँ, अनवधानात्=असावधान होने के कारण, स्खलतः=स्खलित होते हुए, कवेः=कवि की, अव्युत्पत्ति सम्भावना=अव्युत्पत्ति की सम्भावना, महती भवति=बहुत होती है, च=और, अत्र=यहाँ, परिकर श्लोकश्च=परिकर श्लोक है—

कथाशरीर=कथाशरीर को, तथा-तथा=उस-उस प्रकार, उत्पाद्यवस्तु=उत्पन्न करना चाहिए, यथा=जिस प्रकार, तत्सर्वमेव=वह सब, रसमय प्रतिभासते=रसमय सा प्रतीत हो।

अर्थ—इतना कहते हैं कि—भरत आदि द्वारा रचित मर्यादा का अनुवर्तन करते हुए महाकवियों के प्रबन्धों का पर्यालोचन करते हुए और अपनी प्रतिभा का अनुसरण करते हुए, कवि को चित्त को सावधान करके विभाव आदि के औचित्य के भ्रंश के परित्याग में खूब प्रयत्नशील होना चाहिये, ऐतिहासिक किंवा कल्पित औचित्ययुक्त कथाशरीर का ग्रहण व्यञ्जक होता है, इससे यह प्रतिपादन करते हैं कि इतिहास आदि रसीली कथाओं के विविध होने पर भी जो विभाव वहाँ विभाव आदि के औचित्य से युक्त कथाशरीर है, उसे ही ग्रहण करना चाहिए, दूसरे को नहीं। ऐतिहासिक कथाशरीर से भी विशेष रूप से कल्पित कथाशरीर में प्रयत्नशील होना चाहिए क्योंकि वहाँ असावधान होने के कारण स्खलित होते हुये कवि की अव्युत्पत्ति की सम्भावना बहुत होती है। इस सम्बन्ध में यहाँ परिकर श्लोक है—

कथा शरीर को उस-उस प्रकार कल्पित करना चाहिए जिस प्रकार वह सभी रसमय प्रतीत हो।

तत्र चाभ्युपायः सम्यग्विभावाद्यौचित्यानुसरणम्। तच्च दर्शितमेव। किञ्च—

सन्तिसिद्धरसप्रख्या ये च रामायणादयः।
कथाश्रया न तैर्योज्या स्वेच्छा रसविरोधिनी॥

तेषु हि कथाश्रयेषु तावत्स्वेच्छैव न योज्या। यदुक्तम्—'कथामार्गे न चाल्पोऽप्यतिक्रमः।' स्वेच्छापि यदि योज्या तद्रस विरोधिनी न योज्या।

श्रीधरी—सम्यक्=अच्छी तरह से, विभावाद्यौचित्यानुसरणम्=विभाव आदि के औचित्य का अनुसरण, तत्र चाभ्युपायः=वहाँ उपाय है, तच्च दर्शितमेव=उसे दिखाया ही है, किञ्च=और भी, सिद्धरसप्रख्या=सिद्ध रस रूप से प्रख्यात,

रामायणादयः=रामायण आदि, ये च=जो, कथाश्रया=कथा के आश्रय हैं, तैः= उनके साथ, रस में प्रतिकूल, स्वेच्छा=अपनी इच्छा की, न योज्या=योजना नहीं करनी चाहिए।

तेषु हि कथाश्रयेषु=उन कथा के आश्रयों में, स्वेच्छैव=अपनी इच्छा की ही, न योज्या=योजना नहीं करनी चाहिए, यदुक्तम्=क्योंकि कहा है, कथामार्गे= कथा के मार्ग में, अल्पोऽपि प्रतिक्रमः न=थोड़ा भी प्रतिक्रम नहीं है, स्वेच्छापि यदि योज्या=यदि अपनी इच्छा की भी योजना करे, तद्=तो, रस विरोधिनी न योज्या=रस के प्रतिकूल इच्छा की योजना नहीं करनी चाहिए।

अर्थ—सम्यक्तया विभाव आदि के औचित्य का अनुसरण वहाँ उपाय है और उसे दिखलाया ही है, और भी—

सिद्ध रस रूप में प्रख्यात रामायण आदि जो कथा के आश्रय है उनके साथ रस के प्रतिकूल अपनी इच्छा की योजना नहीं करनी चाहिए क्योंकि कहा है—'कथा के मार्ग मे थोड़ा भी प्रतिक्रम नहीं है'। यदि अपनी इच्छा की भी योजना करे तो रस के प्रतिकूल इच्छा की योजना न करे।

इदमपरं प्रबन्धस्य रसाभिव्यञ्जकत्वे निबन्धनम्। इतिवृत्त वशायातां कथञ्चिद्रसाननुगुणां स्थितिं त्यक्त्वा पुनरुत्प्रेक्ष्याप्यन्तराभीष्ट-रसोचित कथोन्नयो विधेयः यथा कालिदास प्रबन्धेषु। यथा च सर्वसेन विरचिते हरिविजये। यथा च मदीय एवार्जुन चरिते महाकाव्ये, कविना काव्यमुपनिबध्नता सर्वात्मना रस परतन्त्रेणभवितव्यम्। तत्रेतिवृत्ते यदि रसाननुगुणां स्थितिं पश्येत् तदेमां भङ्क्त्वापि स्वतन्त्रतया रसानुगुणं कथान्तर-मुत्पादयेत। न हि कवेरितिवृत्तमात्र निर्वहणेन किञ्चित्प्रयोजनम्, इतिहासादेव तत्सिद्धेः।

श्रीधरी—इदमपरं प्रबन्धस्य रसाभिव्यञ्जकत्वे=प्रबन्ध के रसाभिव्यञ्जक होने में यह दूसरा, निबन्धनम्=निबन्धन है, इतिवृत्तवशायाता=इतिहास के प्रसग से आई हुई, काचित्=किसी, रसाननुगुणा स्थितिं=रस के प्रतिकूल स्थिति को, त्यक्त्वा=छोड़कर, पुनः=फिर, उत्प्रेक्षाऽपि=उत्प्रेक्षा भी, अन्तराभीष्टरसोचित कथोन्नयो विधेयः=बीच में, अभीष्ट रस के उचित कथा का उन्नयन कर लेना चाहिए, यथा=जैसे, कालिदास प्रबन्धेषु=कालिदास के प्रबन्धों मे, यथा च=और जैसे, सर्वसेन विरचिते=सर्वसेन विरचित, हरविजये=हर विजय में, यथा च= और जैसे, मदीय एव=मेरे ही, अर्जुन चरिते महाकाव्ये=अर्जुन चरित महाकाव्य में, काव्यमुपनिबध्नता=काव्य का निर्माण करते हुए, कविना सर्वात्मना=कवि को सर्वप्रकारेण, रसपरतन्त्रेण भवितव्यम्=रस के अधीन होना चाहिए, तत्र= उस, इतिवृत्ते=इतिवृत्त में, यदि रसाननुगुणां स्थितिं पश्येत्=रस के प्रतिकूल स्थिति देखे, तदा=तब, इमां भङ्क्त्वाऽपि=इसे तोड़कर के भी, स्वतन्त्रतया

रसानुगुणं=स्वतन्त्र रूप से रस के अनुकूल, कथान्तरमुत्पादयेत्=कथान्तर का उत्पादन करे, हि=क्योंकि, कवेः=कवि का, इतिवृत्तमात्र निर्वहणेन=इतिहास मात्र का निर्वाह करने से, न किञ्चित्प्रयोजनम्=कुछ प्रयोजन नहीं होता, इतिहासादेव=क्योंकि इतिहास से ही, तत्सिद्धेः=उसकी सिद्धि हो जाती है।

अर्थ—प्रबन्ध के रसाभिव्यञ्जक होने में यह दूसरा हेतु है। इतिहास के प्रसंग से आई हुई किसी प्रकार की रस के प्रतिकूल स्थिति को छोड़कर पुनः उत्प्रेक्षा करके भी बीच में अभीष्ट रस के योग्य कथा का उन्नयन कर लेना चाहिए, जैसे कालिदास आदि के काव्यों में, और जैसे सर्वसेन विरचित हरविजय में, तथा जैसे मेरे ही अर्जुन चरित नामक महाकाव्य में, काव्य का निर्माण करते हुए कवि को सब प्रकार से रस के अधीन होना चाहिए। उस इतिवृत्त में यदि रस के प्रतिकूल स्थिति देखे तब उसे तोड़कर भी स्वतन्त्र रूप से रस के अनुकूल कथान्तर का उपपादन करे क्योंकि कवि का इतिवृत्त मात्र का निर्वाह करने से कुछ प्रयोजन नहीं है। इतिहास से ही उसकी सिद्धि हो जाती है।

रसादि व्यञ्जकत्वे प्रबन्धस्य चेदमन्यन्मुख्यं निबन्धनं, यत्सन्धीनां-मुखप्रतिमुखगर्भावमर्श निर्वहणाख्यानां तदङ्गानां चोपक्षेपादीनां घटनं रसाभिव्यक्त्यपेक्षया, यथा रत्नावल्याम्, न तु केवलं शास्त्रस्थिति सम्पादनेच्छया, यथा वेणीसंहारे विलासाख्यस्य प्रतिमुख सन्ध्यङ्गस्य प्रकृतरस निबन्धाननु गुणमपि द्वितीये अंकेभरत मतानुसरणमात्रेच्छया घटनम्।

श्रीधरी—प्रबन्धस्य=प्रबन्ध के, रस व्यञ्जकत्वे च=रस व्यञ्जक होने में, इद अन्य मुख्यं निबन्धनं=यह मुख्य कारण है, यत् कि, मुखप्रतिमुखगर्भावमर्श निर्वहणाख्यानां=मुख, प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्श, निर्वहण नामक, सन्धीनां=सन्धियों, उपेक्षादीनां तदङ्गानां च=और उपक्षेप आदि उनके अंगों का, घटनं रसाभिव्यक्त्य-पेक्षया=रसाभिव्यक्ति की अपेक्षा से, जोड़ना, यथा=जैसे, रत्नावल्याम्=रत्नावली नाटिका में, न तु केवल=न कि केवल, शास्त्र स्थिति सम्पादनेच्छया=शास्त्र की मर्यादा के सम्पादन की इच्छा से, यथा=जैसे, वेणीसंहारे=वेणीसंहार में, विलासाख्यस्य=विलास नामक, प्रतिमुख सन्ध्यङ्गस्य=प्रतिमुख सन्धि के अंग का, प्रकृत रस निबन्धाननु गुणमपि=प्रकृत रस के निबन्धन के प्रतिकूल भी, द्वितीयेऽङ्के= दूसरे अंक में, भरतमतानुसरण मात्रेच्छया=केवल भरत के मत के अनुसरण की इच्छा से, घटनम्=घटन है।

अर्थ—प्रबन्ध के रसाभिव्यञ्जक होने में अन्य मुख्य कारण यह है कि मुख, प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्श, निवर्हण नामक सन्धियों और उपक्षेप आदि उनके अंगों का रसाभिव्यक्ति की अपेक्षा से जोड़ना जैसे—रत्नावली नाटिका में, न कि केवल शास्त्र मर्यादा के सम्पादन की इच्छा से, जैसे वेणीसंहार में विलास नामक प्रतिमुख

सन्धि के अंग का प्रकृत रस के निबन्धन के प्रतिकूल भी दूसरे अंग से केवल भरत के मत के अनुसार ही घटन है ।

इदं चापरं प्रबन्धस्य रस व्यञ्जकत्वेनिमित्तं यदुद्दीपन प्रशमने यथावसरमन्तरारसस्य, यथा रत्नावल्यामेव। पुनरारब्ध विश्रान्ते रसस्यांगिनोऽनुसन्धिश्च, यथातापस वत्सराजे। प्रबन्ध विशेषस्य नाटकादे रसव्यक्ति-निमित्तमिदं चापरमवगन्तव्यं यदलंकृतीनां शक्तावप्यानुरूप्येण योजनम्। शक्तो हि कविः कदाचिदलंकार निबन्धने तदाक्षिप्ततयैवानपेक्षितरसबन्धः प्रबन्धमारभते तदुपदेशार्थमिदमुक्तम्। दृश्यन्ते च कवयोऽलंकारनिबन्धनैक रसा अनपेक्षित रसाः प्रबन्धेषु।

श्रीधरी— इदं चापर प्रबन्धस्य रस व्यञ्जकत्वे निमित्तं=यह प्रबन्ध के रस व्यञ्जक होने मे दूसरा निमित्त है, यद्=कि, उद्दीपन प्रशमने=उद्दीपन और प्रशमन, अन्तरा=बीच मे, यथावसरं=अवसरानुकूल रसस्य=रस का करना, यथा=जैसे, रत्नावल्यामेव=रत्नावली मे ही, पुनरारब्ध विश्रान्ते=पुनः आरम्भ किये हुए के विश्रान्त होने लगने पर, रसस्याङ्गिनोऽनुसन्धिश्च=अंगी रस का अनुसन्धान कर लेना, यथा=जैसे, तापस वत्सराजे=तापस वत्सराज मे, प्रबन्ध विशेषस्य नाटकादेः=प्रबन्ध विशेष नाटक आदि की, रसव्यक्ति निमित्तमिदं चापर-मवगन्तव्यं=रसव्यञ्जकता का यह और दूसरा निमित्त समझना चाहिए, यद्=कि, शक्तावपि=सामर्थ्य के होने पर भी, अलकृतीना=अलंकारो को, अनुरूपेण योजनम्=अनुरूपता से जोड़ना, हि=क्योकि, शक्तो कविः=समर्थ, कवि कदाचिद-लंकारनिबन्धने=कभी अलकारों के निबन्धन मे, तद्=उस, आक्षिप्ततयैवानपेक्षित-रसबन्धः=कल्पना में ही मग्न होकर रसबन्ध की अपेक्षा न करके, प्रबन्धमारभते=प्रबन्ध रचना करने लगता है, तदुपदेशार्थमिदमुक्तम्=उनके उपदेश के लिये यह कहा है दृश्यन्ते च=देखा जाता है कि, कवयः=कवि लोग, प्रबन्धेषु=प्रबन्धों में, अनपेक्षित रसाः=रसापेक्षी न होकर, अलकार निबन्धनैक रसाः=अलकारो के निबन्धन मे ही लग जाते हैं।

अर्थ—और यह प्रबन्ध के रस व्यञ्जक होने मे दूसरा निमित्त है कि बीच मे यथावसर रस का उद्दीपन और प्रशमन करना, जैसे रत्नावली मे ही; और आरम्भ किये हुए के विश्रान्त होने लगने पर फिर से अंगी रस का अनुसन्धान कर लेना, जैसे-तापस वत्सराज मे। प्रबन्ध विशेष नाटक आदि की रस व्यञ्जना का यह और निमित्त समझना चाहिए कि सामर्थ्य होने पर भी अलंकारों को अनुरूपता से जोड़ना क्योकि समर्थ कवि कभी-कभी अलकारों के निबन्धन में उसी में मग्न होकर रसबन्ध की अपेक्षा न करके प्रबन्ध रचना करने लगता है, उसके उपदेश के लिये यह कहा है—

देखा जाता है कि कवि प्रबन्धों मे रसापेक्षी न होकर अलकारों के निबन्धन मे ही लग जाते हैं।

किञ्च —

अनुस्वानोपमात्मापि प्रभेदो य उदाहृतः।
ध्वनेरस्य प्रबन्धेषु भासते सोऽपि केषुचित् ॥१५॥

अस्य विवक्षितान्यपरवाच्यस्य ध्वनेरनुरणन रूप व्यंग्योऽपि यः प्रभेद उदाहृतो द्विप्रकारः सोऽपि प्रबन्धेषु केषुचिद्योतते। तद्यथा मधु मथन विजये पाञ्चजन्योक्तिषु। यथा वा ममैव कामदेवस्य सहचर समागमे विषमवाण लीलायाम्। यथा च गृध्र गोमायु संवादादौ महाभारते।

श्रीधरी—किञ्च=और भी, अस्यध्वनेः=इस ध्वनि का, अनुस्वानोपमात्मा=अनुस्वान के समान, यः प्रभेद· उदाहृत=जो प्रभेद कहा गया है, सोऽपि=वह भी, केषुचित् प्रबन्धेषु=किन्ही प्रबन्धों में, भासते=भासित होता है।

अस्य विवक्षितान्यपरवाच्यस्य ध्वनेः=इस विवक्षितान्य परवाच्य ध्वनि का, अनुरणन रूप व्यंग्योऽपि=अनुरणन रूप व्यंग्य भी, यः प्रभेदः=जो प्रभेद, द्विप्रकारः उदाहृतः=दो प्रकार का कहा गया है सोऽपि=वह भी, प्रबन्धेषु=प्रबन्धों मे, केषुचित् द्योतते=किन्ही में प्रकाशित होता है, तत् यथा=वह जैसे, मधुमथन विजये=मधु मथन विजय में, पाञ्चजन्योक्तिषु=पाञ्चजन्य की उक्तियों मे, यथा वा=अथवा जैसे, ममैव=मेरा ही, विषम बाणलीलायाम्=विषम बाण लीला मे, कामदेवस्य=कामदेव के, सहचर समागमे=सहचर समागम के प्रसंग में, यथा च=और जैसे, महाभारते=महाभारत मे, गृध्रगोमायु संवादादौ=गृध्रगोमायु संवाद आदि के प्रसंग में।

अर्थ—और भी, इस ध्वनि का अनुस्वान के समान जो प्रभेद कहा गया है वह भी किन्ही प्रबन्धो मे भासित होता है।

इस विवक्षितान्य परवाच्य ध्वनि का अनुरणन रूप व्यंग्य भी जो प्रभेद दो प्रकार का कहा गया है, वह भी प्रबन्धों मे किन्हीं मे प्रकाशित होता है, वह जैसे मधुमथन विजय मे पाञ्चजन्य की उक्तियों मे अथवा जैसे मेरा ही विषम बाण-लीला मे कामदेव के सहचर समागम के प्रसग में और जैसे महाभारत मे गृध्रगोमायु संवाद आदि के प्रसग में।

सुप्तिङ् वचन सम्बन्धैस्तथा कारक शक्तिभिः।
कृत्तद्धित समासैश्च द्योत्योऽलक्ष्यक्रमः क्वचित् ॥१६॥

श्रीधरी—सुप्तिङ् वचन सम्बन्धैः=सुप्, तिङ्, वचन, सम्बन्ध, तथा=और, कारक शक्तिभिः=कारक शक्ति, कृत्तद्धित समासैश्च=कृत, तद्धित, समास से, क्वचित्=कही पर, अलक्ष्यक्रमः=असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि, द्योत्यः=प्रकाश्य होती है।

अर्थ—सुप्, तिङ्, वचन सम्बन्ध कारक शक्ति, कृत्, तद्धित, और समास में कहीं पर अलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि प्रकाश्य होती है।

अलक्ष्यक्रमो ध्वनेरात्मा रसादिः सुब्विशेषैस्तिङ् विशेषैर्वचन विशेषैः सम्बन्ध विशेषैः कारक शक्तिभिः कृद्विशेषैस्तद्धित विशेषैः समासैश्चेति। चशब्दान्निपातोपसर्ग कालादिभिः प्रयुक्तैरभिव्यज्यमानो दृश्यते।

यथा–

न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः,
सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षस कुलं जीवत्यहो रावणः।
धिग्धिक्छक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा,
स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठन वृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः॥

श्रीधरी—अलक्ष्यक्रमो ध्वनेः=अलक्ष्यक्रम ध्वनि का, आत्मा=आत्मा रसादि=रस आदि, सुब्विशेषैस्तिङ्विशेषैर्वचन विशेषैः सम्बन्ध विशेषैः कारक शक्तिभिः=सुप् विशेष, तिङ् विशेष, वचन विशेष, सम्बन्ध विशेष, कारक शक्ति, कृद्विशेषैस्तद्धित विशेषैः समासैश्चेति=कृद्विशेष, तद्धित विशेष, और समासों से, च शब्दात्='च' शब्द से, निपातोपसर्ग कालादिभिः=निपात, उपसर्ग, काल आदि से, प्रयुक्तैरभिव्यज्यमानो दृश्यते=प्रयुक्त होकर अभिव्यक्त होता हुआ दिखाई देता है, यथा=जैसे—

अयमेव मे न्यक्कारः=यही मेरा अपमान है, यत्=कि, अरयः=मेरे भी शत्रु हैं, तत्रापि=उसमें भी, असौ=यह, तापसः=तपस्वी है, सोऽपि=वह भी, अत्रैव=यहीं, राक्षसकुल निहन्ति=राक्षस कुल को मार रहा है, अहो=आश्चर्य है, रावणः जीवति=रावण जी रहा है, शक्रजित=इन्द्र को जीतने वाले मेघनाद को, धिक्-धिक् = धिक्कार है, धिक्कार है, प्रबोधितवता = जगाये गये, कुम्भकर्णेन किं=कुम्भकर्ण से क्या लाभ? स्वर्गग्रामटिका=स्वर्ग रूपी छोटे से गाँव को, विलुण्ठन वृथोच्छूनैः=लूटने के कारण व्यर्थ में अभिमान से फूली हुई, एभिर्भुजैः=मेरी इन भुजाओं से, किं=क्या लाभ?

अर्थ—अलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि की आत्मा रसादि प्रयुक्त सुब्विशेष, तिङ् विशेष, वचन विशेष, सम्बन्ध विशेष, कारक शक्ति, कृद् विशेष, तद्धित विशेष, और समासों से, तथा 'च' शब्द से निपात, उपसर्ग, काल आदि से अभिव्यक्त होता हुआ देखा जाता है, जैसे—

यही मेरा अपमान है कि मेरे भी शत्रु हैं, उसमें भी वह तापस है, वह भी यहीं पर राक्षसकुल का हनन कर रहा है आश्चर्य है फिर भी रावण जी रहा है. इन्द्र को जीतने वाले मेघनाद को धिक्कार है, धिक्कार है। जगाये गये कुम्भकर्ण से क्या लाभ? स्वर्ग रूपी छोटे से ग्राम को लूटने के कारण व्यर्थ ही घमण्ड से फूली हुई मेरी इन भुजाओं से क्या लाभ?

अर्थ—इस श्लोक में अधिकतर इन सभी का व्यञ्जकत्व दृष्टिगत होता है, उनमें से—'मेरे भी शत्रु हैं, इससे सुप् सम्बन्ध और वचन का अभिव्यञ्जकत्व है। 'उनमें भी यह तापस है' यहाँ तद्धित और निपात का, 'वह भी यहीं पर राक्षस कुल का विनाश कर रहा है, अहो, रावण जीवित है', यहाँ तिङ् और कारक शक्तियों का, 'इन्द्रजित् को धिक्कार है' इत्यादि श्लोकार्थ में कृत्, तद्धित, समास, और उपसर्ग का। इस प्रकार के बहुश: व्यञ्जकत्व के घटित होने से काव्य की सर्वातिशायिनी बन्धच्छाया समुन्मीलित होती है। जहाँ व्यङ्ग्य को अवभासित करने वाले एक ही पद का आविर्भाव है, वहाँ भी काव्य में बन्धच्छाया है, जहाँ उन बहुतों का समवाय है, वहाँ कहना ही क्या? जैसा कि अभी उदाहृत श्लोक में। यहाँ 'रावण' इस पद से ध्वनि के प्रभेद अर्थान्तर संक्रमित वाच्य के द्वारा अलंकृत होने पर भी अभी कहे गये व्यञ्जक प्रकारों का उद्भासन है, प्रतिभा विशेष वाले महात्माओं के बहुश: इस प्रकार के बन्ध प्रकार दृष्टिगत होते हैं।

यथा महर्षेर्व्यासस्य—

> अतिक्रान्त सुखाः काला प्रत्युपस्थित दारुणाः।
> श्वः श्वः पापीयदिवसा पृथिवीगतयौवना॥

अत्र हि कृत्तद्धितवचनैरलक्ष्यक्रमव्यंग्यः, 'पृथिवीगत यौवना' इत्यनेनचात्यन्त तिरस्कृत वाच्यो ध्वनिः प्रकाशितः। एषां च सुबादीनामेकैकशः समुदितानां च व्यंजकत्वं महाकवीनां प्रबन्धेषु प्रायेण दृश्यते। सुबन्तस्य व्यंजकत्वं यथा—

श्रीधरी—यथा = जैसे, महर्षेर्व्यासस्य = महर्षि व्यास का = अतिक्रान्त सुखाः कालाः = सुख के समय बीत गये, प्रत्युपस्थित दारुणाः = दुःख के समय उपस्थित हैं, गतयौवना पृथिवी = गतयौवना पृथिवी के, श्वः श्वः पापीय दिवसा = उत्तरोत्तर खराब दिन आ रहे हैं।

अत्र हि = यहाँ, कृत्तद्धित वचनै = कृत्, तद्धित और वचन से, अलक्ष्यक्रम व्यंग्यः = अलक्ष्यक्रम व्यंग्य, पृथिवीगतयौवना = गतयौवना पृथिवी से, अत्यन्त तिरस्कृतवाच्योध्वनिः प्रकाशते = अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि प्रकाशित है, एषां च = इन, सुबादीना = सुप् आदि का, एकैकशः = अलग-अलग, समुदितानां च = और मिलकर, महाकवीनां प्रबन्धेषु = महाकवियों के प्रबन्धों में, प्रायेण दृश्यते = प्रायः देखा जाता है, सुबन्तस्य व्यञ्जकत्व = सुबन्त का व्यञ्जकत्व, यथा = जैसे—

अर्थ—जैसे महर्षि व्यास का सुख के दिन बीत गये और दुःख के दिन आ गये है। गतयौवना पृथ्वी के उत्तरोत्तर बुरे दिन आ रहे हैं।

यहाँ कृत् तद्धित, और वचन से अलक्ष्यक्रम व्यंग्य तथा गतयौवना पृथ्वी'

से अत्यन्त वाच्य ध्वनि प्रकाशित है। इन सुप् आदि का अलग-अलग और मिलकर व्यञ्जकत्व महाकवियों के प्रबन्धों में प्रायः देखा जाता है। सुबन्त का व्यञ्जकत्व जैसे—

तालैः सिञ्जद्वलयसुभगैः कान्तया नर्तितो मे,
यामध्यास्ते दिवसविगमेनीलकण्ठ सुहृद्वः ॥

श्रीधरी—कान्त्या = मेरी प्रियतमा के द्वारा, शिञ्जद्वलय सुभगैः तालैः = कङ्गनो के झंकारो से सुन्दर तालैः = तालियां बजाकर, नर्तितः = न पाया हुआ, व. सुहृद् = तुम्हारा मित्र, नीलकण्ठ = मयूर दिवस विगमे = सन्ध्याकाल मे, यामध्यास्ते = जिस पर बैठता है।

अर्थ मेरी प्रियतमा के द्वारा कङ्गन की झङ्कारो से सुन्दर तालियाँ बजाकर नचाया गया तुम्हारा मित्र मयूर सायकाल के समय जिस पर बैठता है।

तिङ्न्तस्य यथा—

अवसर रोंउ चिअ णिम्मिआइ मा पुंस मे हअच्छीइं।
दंसणमेत्तुम्मत्तेहिं जहिं हिअअं तुह ण णाअम् ॥
[अपसर रोदितुमेव निर्मिते मा पुंसय हते अक्षिणी मे।
दर्शन मात्रोन्मत्ताभ्यां याभ्यां तव हृदय मेवं रूप न ज्ञातम् ॥]

श्रीधरी—तिङन्तस्य यथा = तिङन्त का जैसे—

अपसर = हटो, मे अक्षिणी = मेरी आँखें, रोदितु मेव निर्मिते = रोने के लिये ही बनी हैं-हते = इन अभागी आँखों को, मा पुंसय = मत बढ़ाओ, दर्शन मात्रोन्मत्ताभ्यां = दर्शनमात्र से उन्मत्त, याभ्या = जिन्होने, तव = तुम्हारा, एव विधं = इस प्रकार का, हृदय न ज्ञातम् = हृदय नहीं जाना।

अर्थ हटो, मेरी अभागी आँखें रोने के लिये ही बनी हैं, इन्हे मत बढ़ाओ, दर्शनमात्र से उन्मत्त जिन्होंने तुम्हारे इस प्रकार के हृदय को नहीं जाना।

यथा वा—

मा पन्थं रुन्धीओ अवेहि बालअ अहोसि अहिरीओ।
अम्हेण णिरिच्छाओ सुण्णघरं रक्खिदव्वं णो॥
[मा पन्थानं रुधः अपेहि बालक अप्रौढ अहोऽसि अह्रीकः।
वयं परतन्त्रा यतः शून्यगृहं मामकं रक्षणीयं वर्तते ॥]

श्रीधरी—यथा वा = अथवा जैसे—

अप्रौढ बालक = हे नासमझ, पन्थानं मा रुधः = रास्ता मत रोको, अपेहि = हटो, अहो अह्रीकः असि = अहो तुम तो निर्लज्ज हो, वयं परतन्त्रा = हम पराधीन है, यतः = क्योंकि, मामकं = हमको, शून्यगृह = सूने घर की, रक्षणीयं वर्तते = रखवाली करनी है।

इत्यत्र 'च' शब्दः, यथा वा—

मुहुरंगुलिसंवृताधरोष्ठं प्रतिषेधाक्षरविक्लवाभिरामम्।
मुखमंस विवर्ति पक्ष्मलाक्ष्याः कथमप्युन्नमितं न चुम्बितं तु॥

अत्र तु शब्दः। निपातानां प्रसिद्धमपीह द्योतकत्वं रसापेक्षयोक्तमिति द्रष्टव्यम्। उपसर्गाणां व्यञ्जकत्वं यथा—

नीवाराः शुकगर्भकोटरमुख भ्रष्टास्तरूणामधः,
प्रस्निग्धा क्वचिदिङ्गुदीफलभिदः सूच्यन्त एवोपलाः।
विश्वासोपगमादभिन्नगतयः शब्दं सहन्ते मृगाः,
तोयाधारपथाश्च वल्कल शिखा निष्यन्द लेखाङ्किताः॥

श्रीधरी—इत्यत्र=यहाँ, च शब्दः='और' शब्द, यथा वा=या जैसे—

मुहुरंगुलिसंवृताधरोष्ठं=बार-बार अंगुलियों से ढके अधरोष्ठ वाले, प्रतिषेधाक्षर विक्लवाभिराम=नहीं-नहीं कहती हुई और व्याकुलता से अभिराम, पक्ष्मलाक्ष्या=उस पक्ष्मल आंखों वाली शकुन्तला के, अंसविवर्ति मुखं=कंधे पर मुड़े हुए मुख को, कथमपि=किसी तरह, उन्नमितं=ऊपर उठा लिया, न तु चुम्बितं=लेकिन चूम नहीं सका।

अत्र=यहाँ, तु शब्दः='तु' शब्द, निपातानां=निपातों का, द्योतकत्वं=द्योतकत्व, प्रसिद्धमपि=यद्यपि प्रसिद्ध है, (तथापि) इह=यहाँ, रसापेक्षयोक्त=(उसका द्योतकत्व) रस की अपेक्षा से ही, द्रष्टव्यम्=समझना चाहिए, उपसर्गाणां=उपसर्गों का, व्यञ्जकत्वं यथा=व्यञ्जकत्व जैसे—

नीवाराः=जंगली धान, शुकगर्भ कोटरमुख=सुग्गों के खोखलों के अग्रभाग से, तरूणां अधः=पेड़ों के नीचे, भ्रष्टाः=गिरे हुए हैं, क्वचित्=कहीं पर, प्रस्निग्धाः=चिकने, उपलाः=पत्थर, इंगुदीफलभिदः सूच्यन्त=इनसे इंगुदी के फल तोड़े जाते हैं, यह सूचित करते हैं, मृगाः=हिरण, विश्वासोपगमात्=विश्वस्त हो जाने से। अभिन्नगतयः=अभिन्न गति से, शब्दं सहन्ते=शब्द को सहन करते हैं, च=और, तोयाधारपथा=जल के बहाव के मार्ग, वल्कलशिखानिष्यन्द रेखाङ्किताः=वल्कलों के अग्रभाग से टपकती हुई बूँदों की रेखा से अंकित है।

अर्थ—यहाँ 'और' शब्द। अथवा जैसे—

बार-बार अंगुलियों से ढके अधरोष्ठ वाले नहीं-नहीं करती हुई और व्याकुलता से सुन्दर उस पक्ष्मल आँखों वाली शकुन्तला के कन्धे पर मुड़े हुए मुख को किसी प्रकार ऊपर उठा लिया लेकिन चूम नहीं सका।

यहाँ 'तु' शब्द, यद्यपि निपातों का द्योतकत्व प्रसिद्ध है तथापि यहाँ उनका द्योतकत्व रस की अपेक्षा से समझना चाहिए। उपसर्गों का व्यञ्जकत्व, जैसे—

नीवार अर्थात् जंगली धान्य सुग्गों के खोखलों के अग्रभाग से गिरकर पेड़ों के नीचे पड़े हैं। कहीं पर चिकने पत्थर इनसे इंगुदी के फल तोड़े जाते हैं, यह

सूचित करते हैं। हिरण विश्वस्त हो जाने के कारण अभिन्न गति से शब्द को सहन करते है और जल के बहाव के मार्ग वल्कलों के अग्रभाग से टपकती हुई बूँदों की रेखा से अंकित हैं।

इत्यादौ। द्वित्राणां चोपसर्गाणामेकत्र पदे यः प्रयोगः सोऽपि रसव्यक्त्यनुगुणतयैव निर्दोषः। यथा—'प्रभ्रश्यत्युत्तरीयत्विषि तमसि समुद्वीक्ष्य वीतावृतीन्द्रागजन्तून्' इत्यादौ। यथा वा—'मनुष्य वृत्त्या समुपाचरन्तम्' इत्यादौ।

श्रीधरी—इत्यादौ=इत्यादि में, द्वित्राणां=दो-तीन, उपसर्गाणां एकत्र पदे च=उपसर्गों का एक पद में भी, प्रयोगः=प्रयोग है, सोऽपि=वह भी, रसव्यक्त्यनुगुणतयैव=रस की व्यंजना के अनुगुण रूप से ही, निर्दोषः=निर्दोष है, यथा=जैसे, उत्तरीयत्विषि=उत्तरीय की भाँति, तमसि प्रभ्रश्यत्=अन्धकार के विगलित हो जाने पर, द्राग्=तत्काल, जन्तून्=प्राणियों को, वीतावृतो समुद्वीक्ष्य=आवरण से रहित देखकर, इत्यादौ=इत्यादि मे, यथा वा=अथवा जैसे, मनुष्यवृत्त्या=मनुष्य की वृत्ति से, समुपाचरन्तम्=आचरण करते हुए को, इत्यादौ=इत्यादि में।

अर्थ—इत्यादि में। दो-तीन उपसर्गों का भी एक पद में जो प्रयोग है, वह भी रस की व्यंजना के अनुगुण रूप से ही निर्दोष है। जैसे—उत्तरीय की तरह अन्धकार के विगलित हो जाने पर तत्काल प्राणियों को आवरण से रहित देखकर, इत्यादि में अथवा जैसे—मनुष्य के व्यवहार से आचरण करते हुए को, इत्यादि में।

निपातानामपि तथैव। यथा—'अहो बतासि स्पृहणीय, वीर्यः' इत्यादौ, यथा वा—

ये जीवन्ति न मान्ति ये स्म वपुषि प्रीत्या प्रनृत्यन्ति च,
प्रस्यन्दिप्रमदाश्रवः पुलकिता दृष्टे गुणिन्यूर्जिते।
हा धिक्कष्टमहो क्व यामि शरणं तेषां जनानां कृते,
नीतानां प्रलयं शठेन विधिना साधुद्विषः पुष्यता॥

इत्यादौ।

पद पौनरुक्त्यं च व्यञ्जकत्वापेक्षयैव कदाचित्प्रयुज्यमानं शोभामावहति यथा—

यद्वञ्चनाहितमतिर्बहुचाटुगर्भं,
कार्योन्मुखः खलजनः कृतकं ब्रवीति।
तत्साधवो न न विदन्ति विदन्ति किन्तु,
कर्तुं वृथा प्रणयमस्य न पारयन्ति॥

इत्यादौ।

श्रीधरी—निपातानामपि=निपातों का भी, तथैव=उसी प्रकार,

यथा=जैसे—अहो स्पृहणीय वीर्यवतासि=अहो तुम स्पृहणीय पराक्रम वाले हो, इत्यादौ=इत्यादि में; यथा वा=जैसे।

गुणिन्यूर्जिते दृष्टे=गुणी जनों की वृद्धि देखकर, प्रस्यन्दि प्रमदाश्रवः=आनन्द के आँसुओं को प्रवाहित करने वाले, पुलकिताः=पुलकित होने वाले, ये=जो व्यक्ति, जीवन्ति=जीवित हैं, न मान्ति=(प्रसन्नता के कारण) जो अपने मे समा नहीं पाते; च=और, प्रीत्या=प्रेम से, प्रनृत्यन्ति=नृत्य करने लगते है, तेषां जनानां कृते=उन लोगों के लिये, साधुद्विषः=सज्जनो के द्वेषी, शठेन विधिना=शठ विधाता के द्वारा, प्रलयं नीतानां=समाप्त किये हुए (सज्जनों को), हा कष्टम्=हाय, कष्ट है, अहो धिक्=अहो धिक्कार है, क्व शरण यामि=शरण के लिये कहाँ जाऊँ, इत्यादौ=इत्यादि मे।

पदपौनरुक्त्यं च=पदपौनरुक्त्य भी, व्यञ्जकत्वापेक्षयैव=व्यञ्जकत्व की अपेक्षा से ही, कदाचित्=कभी, प्रयुज्यमानं=प्रयुज्यमान होकर, शोभामावहति=शोभा को प्राप्त करता है, यथा=जैसे—

वञ्चनाहितमतिः=जो धोखा देने मे लगी हुई बुद्धि वाला, कार्योन्मुखः=काम निकालने वाला, खलजनः=दुष्ट व्यक्ति, बहुचाटुगर्भं=बहुत खुशामद से भरी (बनावटी बातें करता है) तत्=उसको, साधवः=सज्जन लोग, न विदन्ति इति=न=नहीं जानते, यह बात नहीं है, विदन्ति=जानते है, किन्तु=लेकिन, अस्य—उसके, प्रणयं=आग्रह को, वृत्ताकर्तुं=व्यर्थ करने के लिए, न पारयन्ति=समर्थ नहीं हो पाते। इत्यादौ=इत्यादि में।

अर्थ निपातों का भी उसी प्रकार, जैसे—'अहो, तुम स्पृहणीय पराक्रम वाले हो' इत्यादि मे। या जैसे—

"गुणी जनों की वृद्धि देखकर आनन्द के आँसुओं को प्रवाहित करने वाले एवं पुलकित होने वाले जो व्यक्ति जीवित है, प्रसन्नता के मारे जो अपने शरीर में समा नही पाते, प्रीति से नृत्य करने लग जाते है, उन लोगों के लिए, जिन्हे दुष्टों को प्रश्रय देने वाले शठ विधाता ने समाप्त कर दिया है, हाय, बहुत कष्ट है, अहो धिक्कार है, शरण के लिये कहाँ जाऊं? इत्यादि में।

पद पौनरुक्त्य भी व्यंजकत्व की अपेक्षा से ही कदाचित् प्रयुज्यमान होकर शोभित होता है, जैसे—

धोखा देने में लगी हुई बुद्धि वाला, काम निकालने वाला दुष्ट व्यक्ति जो बहुत खुशामद से भरी बनावटी बातें करता है, उसे सज्जन लोग समझ नहीं पाते है, यह बात नहीं है, समझते हैं, किन्तु वे लोग उसके आग्रह को व्यर्थ करने मे सफल नही हो पाते।

इत्यादि में।

कालस्य व्यञ्जकत्वं यथा—

समविसमणिव्विसेसा समन्तओ मन्दमन्द संआरा।
अइरा होहिन्ति पहा मणोरहाणं पि दुल्लंघा॥

[सम विषम निर्विशेषाः समन्ततो मन्दमन्द संचारा ।
अचिराद्भविष्यन्ति पन्थानो मनोरथानामपि दुर्लङ्घ्या ॥

श्रीधरी—कालस्य=काल का, व्यंजकत्वं=व्यंजकत्व, यथा=जैसे—
समन्ततः=चारों ओर, (वर्षाकाल में पानी भर जाने के कारण) समविषम निर्विशेषाः=सम और विषम के अर्थात् ऊंचे-नीचे के भेद से रहित, मन्दमन्द संचारा=धीमे-धीमे चलने योग्य, अचिराद्=शीघ्र ही, पन्थाः=रास्ते, मनोरथानामपि=इच्छाओं के भी, दुर्लङ्घ्या=दुर्लङ्घ्य, भविष्यन्ति=हो जायेंगे ।

अर्थ – काल का व्यंजकत्व जैसे—शीघ्र ही चारों ओर (वर्षाकाल में पानी भर जाने के कारण) मार्ग ऊंच-नीच के भेद से रहित, धीरे-धीरे चलने योग्य मनोरथों के भी दुर्लङ्घ्य हो जायेंगे ।

अत्र हि अचिराद्भविष्यन्ति पन्थान इत्यत्र भविष्यन्तीत्यस्मिन् पदे प्रत्ययः कालविशेषाभिधायी रस परिपोष हेतुः प्रकाशते । अयं हि गाथार्थः प्रवासविप्रलम्भ शृंगार विभावतया विभाव्यमानो रसवान् । यथात्र प्रत्ययांशो व्यञ्जकस्तथा क्वचित्प्रकृत्यंशोऽपि दृश्यते । यथा—

तद्गेहं नतभित्ति मन्दिरमिदं लब्धावगाहं दिव. ,
सा धेनुर्जरती चरन्ति करिणा मेता घनाभा घटाः ।
सक्षुद्रो मुसलध्वनिः कलमिदं सङ्गीतकं योषिता ,
माश्चर्यं दिवसैर्द्विजोऽयमियतीं भूमिं समारोपितः ॥

श्रीधरी—अत्र हि=यहाँ, अचिराद्भविष्यन्ति पन्थानः=शीघ्र ही मार्ग हो जायेंगे, इत्यत्र=इसमें, भविष्यन्ति=हो जायेंगे, इत्यस्मिन् पदे=इस पद में, प्रत्ययः=प्रत्यय, कालविशेषाभिधायी=काल विशेष को बताने वाला, रसपरिपोष हेतुः=रसपरिपोष का हेतु, प्रकाशते=प्रकाशित होता है, अयं हि गाथार्थः=यह गाथार्थ, प्रवास विप्रलम्भ शृंगार विभावतया=प्रवास विप्रलम्भ शृंगार के विभाव के रूप में, विभाव्यमानो । रसवान्=प्रतीत होकर रसयुक्त हो जाता है, यथा अत्र=जैसे यहाँ, प्रत्ययांशोव्यञ्जकः=प्रत्ययांश व्यञ्जक है, तथा=उसी प्रकार, क्वचित्=कहीं पर, प्रकृत्यंशोऽपि=प्रकृत्यंश भी, दृश्यते=देखा जाता है, यथा=जैसे—

नत भित्तिः=झुकी हुई दीवालों वाला, तद्गेहं=वह घर था, दिवः लब्धावगाहं इदं मन्दिरं=(कहाँ) आकाश को छूने वाला यह महल, सा जरती धेनुः=वह बूढ़ी गाय, एताः=(कहाँ) यह, करिणां घनाभा घटाः चरन्ति=बादलों के समान आभावाली हाथियों की पंक्ति चर रही है, स क्षुद्रः=वह क्षुद्र, मुसल ध्वनिः=मुसल की ध्वनि, योषिता संगीतकं इदं कलं=(कहाँ) महिलाओं का अव्यक्त मधुर संगीत, आश्चर्यं=आश्चर्य है, दिवसैः=कुछ ही दिनों में, अयं द्विजः=यह ब्राह्मण, इयतीं भूमिं समारोपितः=इस अवस्था तक पहुँचा दिया गया ।

अर्थ—यहाँ—'शीघ्र ही मार्ग हो जायेंगे'। इसमें 'हो जायेंगे' इस पद में प्रत्यय काल का अभिधान करने वाला एवं रस परितोष का हेतु प्रकाशित होता है। यह गाथार्थ प्रवास विप्रलम्भ शृंगार के विभाव के रूप में प्रतीत होकर रस-युक्त हो जाता है। जैसे—यहाँ प्रत्ययांश व्यञ्जक है, वैसे कहीं पर प्रकृत्यंश भी देखा जाता है, जैसे—

झुकी हुई दीवारों वाला वह घर (और कहाँ) गगनचुम्बी यह महल, वह बूढ़ी गाय (और कहाँ) बादलों के समान आभावाली हाथियों की यह पंक्ति चर रही है, मूसल की वह क्षुद्र आवाज (और कहाँ यह महिलाओं का अव्यक्त मधुर संगीत, आश्चर्य है, कि कुछ ही दिनों में यह ब्राह्मण इस अवस्था तक पहुँचा दिया गया।

अत्र श्लोके दिवसैरित्यस्मिन् पदे प्रकृत्यंशोऽपि द्योतकः। सर्वनाम्नां च व्यञ्जकत्वं यथा नन्तरोक्ते श्लोके। अत्र च सर्वनाम्नामेव व्यञ्जकत्वं हृदि व्यवस्थाप्य कविना क्वेत्यादिशब्दप्रयोगो न कृतः। अनया दिशा सहृदयै रन्येऽपि व्यंजकविशेषा स्वयमुत्प्रेक्षणीयाः। एतच्च सर्वं पदवाक्य रचनाद्योतनोक्त्यैव गतार्थमपि वैचित्र्येण व्युत्पत्तये पुनरुक्तम्।

श्रीधरी—अत्र श्लोके=इस श्लोक में, दिवसैः=दिनों में, इत्यस्मिन् पदे=इस पद में, प्रकृत्यांशोऽपि द्योतकः=प्रकृत्यांश भी द्योतक है, सर्वनाम्ना व्यञ्जकत्वं=सर्वनामों का व्यञ्जकत्व, यथा=जैसे, अनन्तरोक्ते श्लोके=अभी कहे हुए श्लोक में, अत्र च=यहाँ, सर्वनाम्नामेव=सर्वनामों के ही, व्यञ्जकत्वं=व्यञ्जकत्व को, कविना=कवि के द्वारा, क्वेत्यादि शब्दप्रयोगो न कृतः='क्व' इत्यादि शब्द का प्रयोग नहीं किया, अनयादिशा=इस तरह से, सहृदयैः=सहृदयों के द्वारा, अन्येऽपि व्यञ्जक विशेषाः=अन्य भी व्यञ्जक विशेषों की, स्वयमुत्प्रेक्षणीया=स्वयं उत्प्रेक्षा करनी चाहिए, एतच्च सर्वं=यह सब, पद वाक्यरचना द्योतनोक्त्येव=पद वाक्य रचना के द्योतन के कथन से ही, गतार्थमपि=गतार्थ होने पर भी, वैचित्र्येण=वैचित्र्य से, व्युत्पत्तये=व्युत्पत्ति के लिये, पुनरुक्तम्=फिर से कहे गये हैं।

अर्थ—इस श्लोक में "दिनों में" इस पद में प्रकृत्यंश भी द्योतक है। सर्वनामों का व्यञ्जकत्व जैसे अभी कहे हुए इस श्लोक में, यहाँ सर्वनामों के ही व्यञ्जकत्व को कवि ने मन में रखकर 'क्व' इत्यादि शब्द का प्रयोग नहीं किया है।

इस तरह से सहृदयों को अन्य भी व्यञ्जक विशेषों की स्वयं उत्प्रेक्षा करनी चाहिए। यह सब पद, वाक्य और रचना के द्योतन के कथन से ही गतार्थ था, फिर भी वैचित्र्य से व्युत्पत्ति के लिये पुनः कह दिया गया है।

ननु चार्थसामर्थ्याक्षेप्या रसादय इत्युक्तम् तथा च सुबादीनां व्यञ्जकत्व वैचित्र्य कथनमन्वित मेव। उक्तमत्र पदानां व्यञ्जकत्वोक्त्या-

चाहिए, अन्यथा वाचकत्वे तुल्ये=समान वाचकत्व के प्रतीत होने पर, शब्दाना चारुत्व विषयः=शब्दों के चारुत्व का विषय; कः विशेषः स्यात्=विशेष क्या होगा ?

अर्थ जहाँ भी वह इस समय प्रतीत नही होता, वहाँ भी व्यजक दूसरी रचना मे जो सौष्ठव देखा गया है, प्रवाह मे पड़े हुए उनका वही चारुत्व अभ्यास वश तीव्र होता है, यह समझना चाहिए। अन्यथा समान वाच्यत्व के होने पर शब्दों के चारुत्व का विशेष क्या होगा ?

अन्य एवासौ सहृदय संवेद्य इति चेत्, किमिदं सहृदयत्वं नाम ? किं रसभावानपेक्षकाव्याश्रित समय विशेषाभिज्ञत्वम्, उत रस भावादिमय-काव्यस्वरूपपरिज्ञान नैपुण्यम्। पूर्वस्मिन् पक्षे तथाविध सहृदयव्यवस्थापितानां शब्द विशेषाणां चारुत्व नियमो न स्यात्। पुनः समयान्तरेणान्यथापि व्यवस्थापन सम्भवात्। द्वितीयस्मिस्तु पक्षे रसज्ञतैव सहृदयत्वमिति। तथाविधैः सहृदयैः संवेद्यो रसादिसमर्पण सामर्थ्यमेव नैसर्गिकं शब्दानां विशेष इति व्यञ्जकत्वा श्रय्येव तेषां मुख्यं चारुत्वम्। वाचकत्वा श्रयाणान्तुप्रसाद एवार्थापेक्षायां तेषां विशेषः। अर्थानपेक्षायां त्वनुप्रासादिरेव।

श्रीधरी—अन्य एवासौ सहृदय संवेद्य इतिचेत्=अन्य ही वह कोई सहृदय सवेद्य है यदि यह कहो तो, किमिदं सहृयत्वं नाम=यह सहृदयत्व क्या है, किं=क्या, रसभावानपेक्ष=रस, भाव की अपेक्षा न करके, काव्याश्रित समय विशेषाभिज्ञत्वम्=काव्य के आश्रित सकेत विशेष की जानकारी रखना सहृदयत्व है, उत=अथवा, रसभावादिमय=रस, भाव आदि से युक्त, काव्य स्वरूपपरिज्ञान नैपुण्यम्=काव्य के स्वरूप के परिज्ञान का नैपुण्य (सहृदयत्व) है, पूर्वस्मिन् पक्षे=पहले पक्ष मे, तथाविध सहृदय व्यवस्थापितानां=उस प्रकार के सहृदय द्वारा व्यवस्थापित, शब्द विशेषाणा चारुत्व नियमो न स्यात्=शब्द विशेषों के चारुत्व का नियम नहीं होगा, पुनः समयान्तरेण=(क्योंकि) फिर दूसरे संकेत के अनुसार, अन्यथापि व्यवस्थापन सम्भवात्=अन्यथा भी व्यवस्थापन सम्भव होगा, द्वितीयस्मिस्तु पक्षे=दूसरे पक्ष में रसज्ञतैव सहृदयत्व मिति=रसज्ञता ही सहृदयत्व है, तथाविधैः=उस प्रकार के, सहृदयैः=सहृदयों के द्वारा, सवेद्यो रसादि समर्पण सामर्थ्य मेव=संवेद्य शब्दों का विशेष रसादि के समर्पण की सामर्थ्य ही, नैसर्गिक शब्दाना विशेष इति=स्वाभाविक रूप से, व्यंजकत्वाश्रय्येव तेषां मुख्यं चारुत्वम्=व्यंजकत्व के आश्रित रहने वाला ही उनका मुख्य चारुत्व है, तु=लेकिन, वाचकत्वाश्रयाणां=वाचकत्व के आश्रित, तेषां=उन शब्दों का, विशेषः अर्थापेक्षाया प्रसाद एव=विशेष अर्थ की अपेक्षा होने पर प्रसाद ही है, अर्थानपेक्षायां तु=अर्थ की अपेक्षा न होने पर तो, अनुप्रासादिरेव=अनुप्रास आदि ही है।

प्रबन्ध या मुक्तक में भी रस भाव के निबन्धन के प्रति आदरयुक्त मन वाला कवि विरोधियों के परिहार में अधिक यत्न करे अन्यथा इसका एक भी श्लोक सम्यक्तया रसमय नहीं हो पायेगा।

कानि पुनस्तानि विरोधीनि यानि यत्नतः कवेः परिहर्तव्यानी-त्युच्यते—

विरोधिरससम्बन्धि विभावादि परिग्रहः।
विस्तरेणान्वितस्यापि वस्तुनोऽन्यस्य वर्णनम् ॥१८॥
अकाण्ड एव विच्छित्तिरकाण्डे च प्रकाशनम्।
परिपोषं गतस्यापि पौनः पुन्येन दीपनम् ॥
रसस्य स्याद्विरोधाय वृत्यनौचित्य मेव च ॥१९॥

श्रीधरी – कानि पुनस्तानिविरोधीनि.=फिर वे विरोधी कौन है, यानि= जिन्हें, यत्नत.=यत्नपूर्वक, कवेः=कवि को, परिहर्तव्यानि=परिहार करना चाहिए, इति=इस पर, उच्यते - कहते हैं।

विरोधिरस सम्बन्धि=विरोधी रस से सम्बन्ध रखने वाले, विभावादि परिग्रह:= विभाव आदि का परिग्रह (रस से) सम्बद्ध होने पर भी, अन्यस्य— वस्तुन: वर्णनम्=अन्य वस्तु का वर्णन, विस्तरेणान्वितस्यापि=विस्तार से युक्त होने पर भी, अकाण्ड एव विच्छित्ति=असमय से ही रस का विच्छेद, अकाण्डे च प्रकाशनम्=और असमय ही रस का प्रकाशन, परिपोष गतस्यापि=रस के परिपोष प्राप्त कर लेने पर, पौन पुन्येन दीपनम्=बार-बार उसका ही उद्दीपन, च=और, वृत्यनौचित्यम्=व्यवहार का अनौचित्य, रसस्य विरोधाय स्यात्=(ये पांच) रस के विरोधी है।

अर्थ—फिर वे विरोधी कौन हैं जिनका यत्नपूर्वक कवि को परिहार करना चाहिए? इस पर कहते हैं—

विरोधी रस से सम्बन्ध रखने वाले विभाव आदि का परिग्रह होने पर भी अन्य वस्तु का विस्तार से वर्णन, असमय में ही रस का विच्छेद और असमय में ही रस का प्रकाशन, रस के परितोष प्राप्त कर लेने पर भी बार-बार उसका ही उद्दीपन और व्यवहार का अनौचित्य ये पांच रस के विरोधी हैं।

प्रस्तुतरसापेक्षया विरोधीयोरस तस्य सम्बन्धिनां विभाव भावानु-भावानां परिग्रहो रसविरोध हेतुकः सम्भवनीयः। तत्र विरोधि रस विभाव परिग्रहो यथा शान्तरस विभावेषु तद्विभाव तयैव निरूपितेष्वनन्तर मेव शृङ्गारादि विभाव वर्णने। विरोधि रसभाव परिग्रहो यथा प्रति-प्रणय कलह कुपितासु कामिनीषु वैराग्य कथाभिरनुनये। विरोधि रसानु-भाव परिग्रहो यथा प्रणय कुपितायां प्रियायामप्रसीदन्त्यां नायकस्य कोपावेश विवशस्य रौद्रानुभाव वर्णने।

श्रीधरी—प्रस्तुत रसापेक्षया=प्रस्तुत रस की अपेक्षा में विरोधी यो रसः=विरोधी जो रस है, तस्य सम्बन्धिनां=उससे सम्बन्ध रखने वाले, विभाव भावानुभावानां=विभाव, भाव और अनुभाव का, परिग्रहः=ग्रहण, रसविरोध हेतुकः सम्भवनीयः=रस विरोध का हेतु हो सकता है, तत्र=उनमें विरोधी रस विभाव परिग्रह=विरोधी रस के विभाव का ग्रहण, यथा=जैसे, शान्तरस विभवेषु=शान्तरस के विभावों में, तद्विभाव तयैव=उनके विभाव रूप से ही, निरूपितेषु=निरूपित होने के बाद ही, शृंगारादि विभाव वर्णने=शृंगार आदि के विभाव के वर्णन में, विरोधिरस भावपरिग्रहो यथा=विरोधी रस के भाव का परिग्रह जैसे, प्रियं प्रति=प्रिय के प्रति, प्रणय कलह कुपितासु कामिनीषु=कामिनियों के प्रणय कलह से कुपित होने पर, वैराग्य कथाभिरनुनये=वैराग्य की कथाओं से अनुनय करना, विरोधि रसानुभाव परिग्रहो यथा=विरोधी रस के अनुभाव का परिग्रह जैसे, प्रणय कुपितायां प्रियायां=प्रणय कुपित होने पर प्रिया के, अप्रसीदन्त्या=प्रसन्न न होने की स्थिति में, कोपावेश विवशस्य=कोप के आवेश से विवश, नायकस्य=नायक का, रौद्रानुभाव वर्णने=रौद्र के अनुभावों के वर्णन में।

अर्थ प्रस्तुत रस की अपेक्षा से जो विरोधी रस है उससे सम्बन्ध रखने वाले विभाव, भाव और अनुभाव का परिग्रह रस के विरोध का हेतु हो सकता है। उनमें विरोधी रस के विभाव का परिग्रह, जैसे शान्त रस के विभावों में उसके विभाव रूप से ही निरूपित होने के बाद ही शृंगार आदि के विभाव के वर्णन में, विरोधी रस के भाव का ग्रहण, जैसे—प्रिय के प्रति कामिनियों के प्रणय कलह से कुपित होने पर वैराग्य की कथाओं द्वारा अनुनय करने पर, विरोधी रस के अनुभाव का परिग्रह जैसे प्रणय कुपित होने पर प्रिया के प्रसन्न न होने की स्थिति में कोप के आवेश से विवश नायक के रौद्र के अनुभावों के वर्णन में।

अयं चान्यो रसभङ्ग हेतुर्यत्प्रस्तुत रसापेक्षया वस्तुनोऽन्यस्य कथञ्चिदन्वितस्यापि विस्तरेण कथनम्। यथा विप्रलम्भ शृङ्गारे नायकस्य कस्यचिद्वर्णयितुमुपक्रान्ते कवेर्यमकाद्यलङ्कार निबन्धन रसिकतया महता प्रबन्धेन पर्वतादि वर्णने। अयं चापरो रसभङ्ग हेतुरवगन्तव्यो यदकाण्ड एव विच्छित्तिः रसस्याकाण्ड एव च प्रकाशनम्। तथानवसरे विरामो रसस्य यथा नायकस्य कस्यचित्स्पृहणीय समागमया नायिकया कयाचित्परां परिपोष पदवीं प्राप्ते शृङ्गारे विदिते च परस्परानुरागे समागमोपाय चिन्तनोचितं व्यवहारमुत्सृज्य स्वतन्त्रतया व्यापारान्तर वर्णने।

श्रीधरी—अयं च अन्यो रसभंग हेतुः=और यह दूसरा रसभंग का हेतु है, यत्=कि, प्रस्तुत रसापेक्षया=प्रस्तुत रस की अपेक्षा, कथञ्चिदन्वितस्यापि=किसी प्रकार सम्बद्ध भी, अन्यस्य वस्तुनः=अन्य वस्तु का, विस्तरेण कथनम्=विस्तार से वर्णन करना, यथा=जैसे, विप्रलम्भ शृंगारे=विप्रलम्भ शृंगार में,

कस्यचिद् नायकस्य=किसी नायक के, वर्णयितुमुपक्रान्ते=वर्णन का उपक्रम करने पर, कवेः=कवि की, यमकाद्यलंकार रसिकतया=यमक आदि अलकारों के निबन्धन में रसिकता के कारण, महता प्रबन्धेन=बढ़ा-चढ़ाकर, पर्वतादि वर्णने=पर्वत आदि के वर्णन मे, च=और, अयं अपरो रसभग हेतुरवगन्तव्यो=यह दूसरा रसभग का हेतु समझना चाहिए, यद्=जो, अकाण्ड एव विच्छित्ति=असमय मे ही रस का विच्छेद, च=और, अकाण्ड एव रसस्य प्रकाशनम्=असमय मे ही रस का प्रकाशन है, तत्र=उनमे, अनवसरे रसस्यविरामः=असमय मे ही रस का विराम, यथा=जैसे, कस्यचित् नायकस्य=किसी नायक का, स्पृहणीय समागम वाली, कयाचित् नायिकया=किसी नायिका के साथ, परिपोष पदवीं प्राप्ते शृंगारे=शृंगार के परम परिपोष की अवस्था तक पहुँच जाने पर, चः=और, परस्परानुरागे विदित=परस्पर अनुराग के विदित होने पर, समागमोपाय चिन्तोचित व्यवहारं=समागम के उपाय की चिन्ता के योग्य व्यवहार को, उत्सृज्य=छोड़कर, स्वतन्त्रतया=स्वतन्त्रता से, व्यापारान्तर वर्णने=दूसरे व्यापार के वर्णन मे।

अर्थ—और यह दूसरा रस भंग का हेतु है कि प्रस्तुत रस की अपेक्षा किसी प्रकार सम्बद्ध भी अन्य वस्तु का विस्तार से वर्णन करना, जैसे विप्रलम्भ शृंगार मे किसी नायक के वर्णन का उपक्रम करने पर कवि की यमक आदि अलंकारों के निबन्धन में रसिकता के कारण बढ़ा-चढ़ा कर पर्वत आदि के वर्णन में, और यह दूसरा रसभग का हेतु समझना चाहिए जो असमय मे रस का विच्छेद और असमय में ही प्रकाशन है। उनमे से असमय मे रस का विराम, जैसे—किसी नायक का स्पृहणीय समागम वाली किसी नायिका के साथ शृंगार के चरम परिपोष की अवस्था तक पहुंचने पर और परस्परानुराग के विदित होने पर समागम के उपाय की चिन्ता के योग्य व्यवहार को छोड़कर स्वतन्त्र रूप से दूसरे व्यापार का वर्णन करने पर।

अनवसरे च प्रकाशनं रसस्य यथा प्रवृत्ते प्रवृत्तविविध वीर संक्षये कल्प सङ्क्षय कल्पे संग्रामे रामदेव प्रायस्यापि तावन्नायकस्यानुपक्रान्त *विप्रलम्भ शृङ्गारस्य निमित्तमुचितमन्तरेणैव शृंगारकथायामवतार-* वर्णने। न चैवं विधे विषये दैव व्यामोहितत्वं कथापुरुषस्य परिहारो यतो रसबन्ध एव कवेः प्राधान्येन प्रवृत्ति निबन्धनं युक्तम्। इतिवृत्त वर्णनं तदुपाय एवेत्युक्तं प्राक् 'आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवाञ्जनः' इत्यादिना।

श्रीधरी—रसस्य=रस का, अनवसरे प्रकाशनं=अनवसर में प्रकाशन, यथा=जैसे, विविध वीर सङ्क्षये=विविध वीरो का नाश करने वाले, कल्पसङ्क्षय कल्पे संग्रामे=प्रलय काल के समान संग्राम के, प्रवृत्त प्रवृत्ते=वर्णन करने पर, अनुपक्रान्त विप्रलम्भ शृंगारस्य=विप्रलम्भ शृङ्गार के उपक्रम के बिना, **उचित**

निमित्तमन्तरेणैव=-बिना उचित कारण के, रामदेव प्रायस्यापि=राम जैसे देवता का भी, शृङ्गार कथायामवतार वर्णने=शृङ्गार कथा मे पड़ जाने का वर्णन करने मे, एवं विधे विषये = इस प्रकार के विषय मे, कथापुरुषस्य=कथा के नायक का, दैव व्यामोहितत्व =दैववश व्यामोहित हो जाना, परिहारो न=उसके दोष का परिहार नही है, यत.=क्योंकि, प्राधान्येन=मुख्यतया, कवेः प्रवृत्तिः=कवि की प्रवृत्ति का, रसबन्ध एव निबन्धनं युक्तम्=निबन्धन रसबन्ध में ही होना चाहिए, इतिवृत्त वर्णन=इतिवृत्त का वर्णन, तदुपाय एव=उसका उपाय ही है, इत्युक्त प्राक् यह पहले कह चुके हैं, आलोकार्थी=प्रकाश चाहने वाला, जनः=व्यक्ति, यथा जैसे, दीपशिखायां=दीप शिखा मे, यत्नवान्=प्रयत्नशील होता है, इत्यादिना=इत्यादि के द्वारा।

अर्थ—और असमय मे रस का प्रकाशन जैसे—प्रलय काल के समान अनेक वीरो का नाश करने वाले संग्राम का वर्णन करते पर विप्रलम्भ शृङ्गार के उपक्रम के बिना और बिना उचित कारण के राम जैसे देवता का भी शृङ्गार कथा में पड़ जाने का वर्णन करने मे। इस प्रकार के विषय मे कथा के नायक का दैववश व्यामोहित हो जाना उसके दोष का परिहार नही है क्योंकि मुख्यतया कवि की प्रवृत्ति का निबन्धन रसबन्ध मे ही होना चाहिए। इतिवृत्त का वर्णन उसका उपाय ही है। इस बात को पहले ही कहा जा चुका है—प्रकाश को चाहने वाला व्यक्ति जैसे दीपशिखा मे प्रयत्नशील होता है', इत्यादि के द्वारा।

अतएव चेतिवृत्तमात्र वर्णन प्राधान्येऽङ्गाङ्गिभाव रहित.रसभाव निबन्धेन च कवीनां एवं विधानि स्खलितानि भवन्तीति रसादिरूप व्यंग्य तात्पर्य मेवैषां युक्तमिति यत्नोऽस्माभिरारब्धो न ध्वनि प्रतिपादन मात्राभिनिवेशेन। पुनश्चायमन्यो रसभंग हेतुरवधारणीयो यत्परिपोषं गतस्यापि रसस्य पौनः पुन्येन दीपनम्। उपभुक्तो हि रसः स्व सामग्री लब्ध परिपोषः पुनः पुनः परामृश्यमानः परिम्लान कुसुमकल्पः कल्प्यते, तथा वृत्तेर्व्यवहारस्य यदनौचित्यं तदपि रसभंग हेतुरेव, यथा नायकं प्रति नायिकाया कस्याश्चिदुचितां भंगिमन्तरेण स्वयं सम्भोगाभिलाष कथने। यदि वा वृत्तीना भरत प्रसिद्धानां कैशिक्यादीनां काव्यालंकारान्तर प्रसिद्धानामुपनागरिकाद्यानां वा यदनौचित्यमविषये निबन्धनं तदपि रस-भंग हेतुः। एवमेषां रसविरोधिनामन्येषां चानया दिशा स्वयमुत्प्रेक्षितानां परिहारे सत्कविभिरवहितैर्भवितव्यम्। परिकर श्लोकाश्चात्र—

श्रीधरी—अतएव च=और इसीलिये, इतिवृत्तमात्रवर्णन प्राधान्ये=इतिवृत्त मात्र के वर्णन का प्राधान्य होने पर, अङ्गाङ्गिभाव रहित=अङ्गाङ्गि भाव से रहित, रसभाव निबन्धने च= सभाव के निबन्धन से, कवीना=कवियो के, एव विधानि= इस प्रकार के, स्खलितानि भवन्ति=स्खलन होते है, इति=इस प्रकार, रसादिरूप

व्यंग्यतात्पर्यमेव=रसादि रूप व्यंग्य का तात्पर्य ही, एषां युक्तं=इनका ठीक है इति यत्नः=यह यत्न, अस्माभिरारब्धः=हमने आरम्भ किया है, ध्वनिप्रतिपादनमात्राभिनिवेशेन न=ध्वनि मात्र के प्रतिपादन के अभिप्राय से नहीं, पुनश्च=और, अयं अन्यः=यह दूसरा; रसभङ्ग हेतुरवधारणीयः=रसभङ्ग का कारण समझना चाहिए, यत्=कि, यत्=जो, परिपोषं गतस्यापि=परिपोष को प्राप्त भी, रसस्य=रस का, पौन पुन्येन=बार-बार, दीपनं=उद्दपन है, हि=क्योकि, स्वसामग्री लब्ध परिपोषः=अपनी सामग्री से परिपोष को प्राप्त भी, उपभुक्तो रसः=उपभुक्त रस, पुनः पुनः परामृश्यमानः=बार-बार परामर्श किये जाने पर, परिम्लान कुसुमकल्प=मुरझाये हुए फल के समान, कल्पते=हो जाता है, तथा=और, वृत्तेर्व्यवहारस्य=वृत्ति के व्यवहार का, यदनौचित्यं=जो अनौचित्य है, तदपि=वह भी, रसभग हेतुः=रसभंग का हेतु है, यथा=जैसे, नायकं प्रति=नायक के प्रति, कस्यश्चित् नायिकायाः=किसी नायिका का, उचिता भङ्गिमन्तरेण=उचित भङ्गी के विना, स्वयं सम्भोगाभिलाष कथने=स्वयं सम्भोग की अभिलाषा कहने में, यदि वा=अथवा, भरत प्रसिद्धानां=भरत की प्रसिद्ध, कौशिक्यादीनां वृत्तीनां=कैशिकी आदि वृत्तियों का, काव्यालकारान्तर प्रसिद्धाना=काव्यालंकार मे प्रसिद्ध, उपनागरिकायाना वा=या उपनागरिका आदि वृत्तियों का, यदनौचित्यं=जो अनौचित्य, अविषये निबन्धनं=अविषय में निबन्धन है, तदपि=वह भी रसभङ्गहेतुः=रसभङ्ग का का कारण है, एवं=इस प्रकार, एषा=इनका, रस विरोधिनामन्येषां च=दूसरे रस विरोधियों का भी, अनया दिशा स्वयमुत्प्रेक्षिताना=इस ढग से स्वय उत्प्रेक्षितो का, परिहारे=परिहार मे, सत्कविभिः अवहितैः भवितव्यम्=सत्कवियों को सावधान होना चाहिए, परिकर श्लोकश्चात्र=यहाँ परिकर श्लोक भी हैं—

अर्थ और इसलिये इतिवृत्त मात्र के वर्णन का प्राधान्य होने पर अङ्गाङ्गि भाव से रहित रस भाव के निबन्धन से कवियों के इस प्रकार के स्खलन होते है, इस प्रकार रसादि रूप व्यंग्य का तात्पर्य ही इनका युक्तिसंगत है, यह यत्न हमने आरम्भ किया है न कि ध्वनि के प्रतिपादन मात्र के अभिनिवेश से, और यह फिर दूसरा रस भंग का हेतु समझना चाहिए, जो परिपोष को प्राप्त होकर भी बार-बार रस का उद्दीपन करना, क्योकि अपनी सामग्रियो से परिपोष को प्राप्त रस बार-बार परामर्श किये जाने से मुरझाये हुए फूल की तरह निष्प्रभ हो जाता है, व्यवहार का अनौचित्य भी रसभग का कारण है, जैसे—नायक के प्रति किसी नयिका के द्वारा उचित श्रृंगीरस के विना स्वयं सम्भोग की अभिलाषा कहने में, अथवा भरत की प्रसिद्ध कैशिकी आदि वृत्तियों का या 'काव्यालकार' मे प्रसिद्ध उपनागरिका आदि वृत्तियों का जो अविषय मे निबन्धन रूप अनौचित्य है, वह भी रसभंग का हेतु है। इस प्रकार इनका और इस ढंग से स्वयं उत्प्रेक्षित रस विरोधियों के परिहार मे सत्कवियों को सावधान होना चाहिए। यहाँ परिकार श्लोक भी हैं—

मुख्या व्यापार विषयाः सुकवीनां रसादयः ।
तेषां निबन्धने भाव्ये तै सदैवा प्रमादिभिः ॥
नीरसस्तु प्रबन्धो यः सोऽपशब्दो महान् कवेः ।
स तेनाकविरेव स्यादन्येनास्मृत लक्षणः ॥
पूर्वे विशृङ्खल गिरः कवयः प्राप्तकीर्तयः ।
तान्समाश्रित्य न त्याज्या नीतिरेषा मनीषिणा ॥

श्रीधरी—सुकविनां=सुकवियों के, मुख्या व्यापार विषयाः=व्यापार के मुख्य विषय, रसादयः=रस आदि हैं, तैः=उन्हें, तेषां निबन्धने=उनके निबन्धन में, सदैव=सदा ही, अप्रमादिभि भाव्ये=सावधान रहना चाहिए ।

यः=जो, नीरसः प्रबन्धः=जो नीरस प्रबन्ध है, स=वह, कवेः=कवि का, महान् अपशब्दः=महान् अपशब्द है, स=वह, तेन—उससे, अकविरेव स्यात्=अकवि ही रहे, अन्येन अस्मृत लक्षण.=दूसरा उसे याद न करे, पूर्वे कवयः=प्राचीन कवि, विशृङ्खलगिरः=स्वतन्त्र वाणी वाले, प्राप्त कीर्तय.=लब्ध प्रतिष्ठा वाले हो चुके हैं, तान् समाश्रित्य=उनका आश्रयण करके, मनीषिणः=विद्वान् को, एषा नीतिः न त्याज्या=यह नीति नहीं छोडनी चाहिए ।

अर्थ—सुकवियों के व्यापार के मुख्य विषय रस आदि हैं अतः उन्हें उनके निबन्धन में सदैव सावधान रहना चाहिये, जो प्रबन्ध नीरस है वह कवि का महान् अपशब्द है. इसलिये वह अकवि ही रहे तो अच्छा है जिससे दूसरा उसे याद न करे, प्राचीन कवि स्वतन्त्र वाणी वाले होकर भी प्रतिष्ठा को प्राप्त हो चुके हैं, उनका आश्रय लेकर विद्वान् को यह नीति नहीं छोड़ देनी चाहिए ।

वाल्मीकि व्यासमुख्याश्च ये प्रख्याताः कवीश्वराः ।
तदभिप्राय वाह्योऽयं नास्माभिर्दर्शितो नय. ॥१६॥

विवक्षिते रसे लब्ध प्रतिष्ठे तु विरोधिनाम् ।
वाध्यानामङ्ग भावं वा प्राप्तानामुक्तिरच्छला ॥२०॥

स्वसामग्रया लब्ध परिपोषे तु विवक्षिते रसे विरोधिनां विरोधि रसाङ्गानां वाध्यानामङ्ग भावं वा प्राप्तानां सतामुक्तिरदोषा। वाध्यत्वं हि विरोधिनां शक्याभिभवत्वे सति नान्यथा। तथा च तेषामुक्तिः प्रस्तुत रस परिपोषायैव सम्पद्यते। अंगभावं प्राप्तानां च तेषामुक्तिः प्रस्तुत रस परिपोषायैव सम्पद्यते । अंगभावं प्राप्तानां च तेषां विरोधित्व मेव निवर्तते। अंगभाव प्राप्तिर्हि तेषां स्वाभाविकी समारोप कृता वा ।

श्रीधरी—च=और, वाल्मीकि व्यास मुख्या=वाल्मीकि, व्यास प्रमुख, ये जो, प्रख्याताः कवीश्वराः=प्रख्यात कवीश्वर हैं, तदभिप्राय वाह्यः=उनके अभिप्राय से वाह्य, अय नय=यह मार्ग अस्माभिर्न दर्शित.=हमने नहीं दिखाया

है, विवक्षिते रसे = विवक्षित रस मे, लब्धप्रतिष्ठे तु = लब्धप्रतिष्ठ हो जाने पर, बाध्यानामंग भावं वा प्राप्तानां = बाध्य या अंग भाव को प्राप्त, विरोधिना उक्तिः = विरोधियों की उक्ति, अच्छला = छलरहित है।

स्वसामग्रया = अपनी सामग्री से, विवक्षिते रसे लब्ध परिपोषे = विवक्षित रस के परिपोष प्राप्त होने पर, बाध्यानामङ्गभावं वा प्राप्तानां = बाध्य या अंग भाव को प्राप्त, विरोधिना = विरोधियों का, विरोधि रसाङ्गानां सतां = विरोधी रसागों का, उक्तिः = कथन, अदोषता = दोषरहित है, विरोधिना बाध्यत्वं = विरोधियों का बाध्यत्व, शक्याभिभवत्वेसति = उनका अभिभव सम्भव होने पर हो सकता है, नान्यथा = अन्यथा नही, तथा च = इसलिये, तेषामुक्तिः = उनका कथन, प्रस्तुत रस परिपोषायैव सम्पद्यते = प्रस्तुत रस के परिपोष के लिये ही सम्भव होगा, च = और, तेषा = उनके, अंग भाव प्राप्तानां = अग भाव प्राप्त होने पर, विरोधित्वमेव निवर्तते = विरोधित्व ही निवृत्त हो जाता है, तेषां = उनके, अग भाव प्राप्तिर्हि = अग भाव की प्राप्ति, स्वाभाविकी समारोपकृता वा = स्वाभाविक या समारोप कृत होती है।

अर्थ - और वाल्मीकि, व्यास प्रभृति जो विख्यात कवीश्वर हैं, उनके अभिप्राय से बाह्य मार्ग हमने नहीं दिखाया है।

विवक्षित रस के लब्ध प्रतिष्ठ हो जाने पर बाध्य किंवा अंग भाव को प्राप्त विरोधियों का कथन छलरहित है।

अपनी सामग्री से विवक्षित रस के परिपुष्ट हो जाने पर बाध्य या अंग भाव को प्राप्त विरोधियो अर्थात् विरोधी रसागो का कथन दोषरहित है। विरोधियो का बाध्यत्व उनका अभिभव सम्भव होने पर हो सकता है, अन्यथा नहीं। इसलिए उनका कथन प्रस्तुत रस के परिपोष के लिये ही सम्पन्न होगा, और उनके अग भाव प्राप्त होने पर उनका विरोधित्व ही निवृत्त हो जाता है। उनके अंग भाव की प्राप्ति स्वभाविक या समारोपकृत होती है।

तत्र येषां नैसर्गिकी तेषां तावदुक्तावविरोध एव। यथा विप्रलम्भ शृंगारे तदङ्गानां बाध्यादीनां तेषाञ्च तदङ्गानामेवां दोषो नातदङ्गानाम्। तदङ्गत्वे च सम्भवत्यपि मरणस्योपन्यासो न ज्यायान्। आश्रय विच्छेदे रसस्यात्यन्त विच्छेद प्राप्तेः। करुणस्यतु तथाविधे विषये परिपोषो भविष्यतीति चेत् न। तस्याप्रस्तुतत्वात् प्रस्तुतस्य च विच्छेदात्। यत्र तु करुण रसस्यैव काव्यार्थत्वं तत्राविरोधः। शृंगारेच मरण स्यादीर्घकाल प्रत्यापत्ति सम्भवे कदाचिदुपनिबन्धो नात्यन्त विरोधी। दीर्घकाल प्रत्यापत्तौ तस्यान्तरा प्रवाह विच्छेद एवेत्येवं विधे इतिवृत्तोप निबन्धनं रसबन्धप्रधानेन कविना परिहर्तव्यम्।

श्रीधरी—तत्र=उनमे से, येषां=जिनकी प्राप्ति, नैसर्गिकी=स्वाभाविक है, तेषां तावत् उक्तावविरोध एव=उनके कथन मे कोई विरोध नही है, यथा=जैसे, विप्रलम्भ शृङ्गारे=विप्रलम्भ शृंगार मे, तदङ्गानां व्याध्यादीनां=उनके अंग भूत व्याधि आदि का, तेषाञ्च=और उनके, तदङ्गानामेवादोषो नातदङ्गानाम्=उनके अंगों का ही दोष नही है, न कि जो उनके अंग नहीं है उनका, तदङ्गत्वे च सम्भवत्यपि=और उनका अंग सम्भव होने पर भी, मरणस्योपन्यासो=मरण का उपन्यास, न ज्यायान्=ठीक नही है, आश्रय विच्छेदे रसस्य अत्यन्त विच्छेद प्राप्तेः=(क्योकि) आश्रय के विच्छेद हो जाने पर रस का अत्यन्त विच्छेद हो जाता है, करुणस्य तु=करुण का तो, तथाविधे विषये=उस प्रकार के विषय मे, परिपोषो भविष्यति=परिपोष होगा, इतिचेत्=यदि ऐसा कहते हो तो, न=नहीं होगा, तस्य=उस करुण के, अप्रस्तुतत्वात्=अप्रस्तुत होने से, च=और प्रस्तुतस्य विच्छेदात्=प्रस्तुत के विच्छेद हो जाने से, यत्र तु=जहाँ, करुणस्यैवकाव्यार्थत्वं=करुण का ही काव्यार्थत्व है, तत्र अविरोधः=वहाँ विरोध नहीं है, वा=अथवा, शृंगारे=शृंगार मे, अदीर्घकाल प्रत्यापत्ति सम्भवे=शीघ्र मिलन सम्भव होवे पर कदाचित्=कभी, मरणस्य उपनिबन्धनो=मरण का उपनिबन्धन, अत्यन्त विरोधी न=अत्यन्त विरोधी नही होता, दीर्घकाल प्रत्यापत्तौ तु=दीर्घकाल मे मिलन होने पर तो, तस्य=उस रस का, अन्तरा प्रवाह विच्छेद एव=बीच मे प्रवाह विच्छेद हो ही जायेगा, इति=इसलिये, एवं विधेति वृत्तोपनिबन्धनं=इस प्रकार के इतिवृत्त का उपनिबन्धन, रसबन्ध प्रधानेन कविना=रसबन्ध प्रधान कवि को, परिहर्तव्यम्=छोड़ ही देना चाहिए।

अर्थ—उनमे से जिनकी प्राप्ति नैसर्गिक है उनके कथन में कोई विरोध नही है। जैसे विप्रलम्भ शृंगार में उसके अंगभूत व्याधि आदि का, और उनके अंगों का ही दोष नही है, न कि जो उनके अंग नही हैं उनका। उनका अंग सम्भव होने पर भी मरण का उपनिबन्धन उचित नही है, क्योकि आश्रय ही विच्छिन्न हो जाने पर रस का अत्यन्त विच्छेद हो जायेगा। इस प्रकार के विषय मे करुण रस का परिपोष होगा, ऐसा नहीं है, क्योकि करुण रस प्रस्तुत नही है उसका विच्छेद हो जाता है, अथवा शृंगार मे शीघ्र मिलन सम्भव होने पर मरण का उपनिबन्धन कदाचित् अत्यन्त विरोधी नही होता, परन्तु दीर्घ काल मे मिलन होने पर उस रस का बीच मे विच्छेद हो ही जायेगा। अतः इस प्रकार के इतिवृत्त का उपनिबन्धन रसबन्ध प्रधान कवि को छोड़ ही देना चाहिए।

तत्र लब्धप्रतिष्ठेतु विवक्षिते रसे विरोधि रसाङ्गानां वाध्यत्वेनोक्तावदोषो यथा—

> क्वाकार्यं शशलक्ष्मण क्व च कुलं भूयोऽपि दृश्यते सा,
> दोषाणां प्रशमाय मे श्रुतमहो कोपेऽपि कान्तं मुखम्।

होते हैं। यदि यह कहो कि अन्यतर होने पर भी दो विरोधियों के विरोध की निवृत्ति कैसे होगी, तो उत्तर मे कहते है कि विधि मे दो विरोधियों के समावेश का दोष होता है, अनुवाद मे नही।

यथा—

एहि गच्छ पतोत्तिष्ठ वद मौन समाचार।
एव माशाग्रह ग्रस्तैः क्रीडन्ति धनिनोऽर्थिभि·॥

इत्यादौ। अत्र विविधप्रतिषेधयोरनुमानत्वेन समावेशे न विरोधस्तथेहापि भविष्यति। इलोके ह्यस्मिन्नीर्ष्या विप्रलम्भ शृंगारकरुण वस्तुनोर्न विधीयमानत्वम्। त्रिपुररिपुप्रभावातिशयस्य वाक्यार्थत्वात्तदङ्गत्वेन च तयोर्व्यवस्थानात्।

श्रीधरी जैसे, एहि=आओ, गच्छ=जाओ, पत=बैठो, उत्तिष्ठ=उठो वद=बोलो, मौनं समाचर=चुप रहो, एव=इस प्रकार, धनिनः=धनी लोग, आशाग्रह ग्रस्तैः=आशा रूपी ग्रह से ग्रस्त, अर्थिभि.=याचकों से, क्रीडन्ति=खेला करते है इत्यादौ=इत्यादि मे, अत्र हि=यहाँ, विधि प्रतिषेधयोः=विधि और प्रतिषेध के, अनूद्यमानत्वेन=अनूद्यमान रूप मे, समावेशे न विरोधः=समावेश करने पर विरोध नही है, तथा उसी=प्रकार, इहापि भविष्यति=यहाँ भी होगा, अस्मिन् श्लोके=इस श्लोक में, ईर्ष्या विप्रलम्भ शृंगार करुण वस्तुनो=ईर्ष्या, विप्रलम्भ और करुण का, न विधीय मानत्वम्=विधीयमानत्व नहीं है, त्रिपुररिपु प्रभावातिशयस्य=शंकर जी का प्रभावातिशय, वाक्यार्थत्वात्=वाक्यार्थ है, तदङ्गत्वेन=उसके अगरूप से तयोर्व्यवस्थानात्= वे दोनो व्यवस्थित हैं।

अर्थ—जैसे—

आओ, जाओ, बैठो, उठो, चुप हो जाओ, इस प्रकार धनी लोग आशाग्रह से ग्रस्त याचकों के साथ खिलवाड़ करते हैं। इत्यादि में। यहाँ विधि और प्रतिषेध के अनूद्यमान रूप मे समावेश करने पर दोष नही है, इसी प्रकार 'क्षितो हस्तावलग्नः' इत्यादि में भी होगा। इस श्लोक मे ईर्ष्या विप्रलम्भ और करुण विधीयमान नही है क्योंकि शकर जी का प्रभातिशय वाक्यार्थ है और उसके अंग के रूप मे वे दोनों व्यवस्थित हैं।

न च रसेषु विध्यनुवाद व्यवहारोनास्तीति शक्यं वक्तुम्। तेषां वाक्यार्थत्वेनाभ्युपगमात्। वाक्यार्थस्य वाच्यस्य च यौ विध्यनुवादौ तौ तदाक्षिप्तानां रसानां केन वार्येते। यैर्वा साक्षात्काव्यार्थतारसादीनां नाभ्युपगम्यते, तैस्तेषां तन्निमित्तता तावदवश्यमभ्युपगन्तव्या। तथाप्यत्र इलोके न विरोधः। यस्मादनूद्यमानाङ्ग निमित्तोभय रस वस्तु सहकारिणो विधीयमानांशाद्भावविशेष प्रतीतिरुत्पद्यते ततश्च न कश्चिद्विरोधः। दृश्यते हि विरुद्धोभय सहकारिणः कारणात्कार्य विशेषोत्पत्तिः। विरुद्ध

फलोत्पादन हेतुत्वं हि युगपदेकस्य कारणस्य विरुद्धं न तु विरुद्धोभय सहकारित्वम्, एवं विध विरुद्ध पदार्थ विषयः कथमभिनय. प्रयोक्तव्य इति चेत्, अनूद्यमानैवं विध वाच्य विषये या वार्ता सात्रापि भविष्यति। एवं विध्नुवादनयाश्रयेणात्र श्लोके परिहृतस्तावद्विरोधः।

श्रीधरी—रसेषु=रसों में, विध्यनुवाद व्यवहारो नास्तीति=विधि, अनुवाद का व्यवहार नहीं है, इति न शक्यं वक्तुम्=ऐसा नहीं कह सकते, तेषां=उनको, वाक्यार्थत्वेनाभ्युपगमात्=वाक्यार्थरूप मे माना जाता है, वाक्यार्थस्य=वाक्यार्थ के, वाच्यार्थस्य च=और वाच्यार्थ के, यौ=जो, विध्यनुवादौ=विधि अनुवाद है, तौ=उन्हें, तदाक्षिप्ताना रसानां केन वार्यते=उनके द्वारा आक्षिप्त रसों में कौन रोक सकता है, यैर्वा=या जो, रसादीनां साक्षात्काव्यार्थता नाभ्युपगम्यते=रसादि को साक्षात् काव्यार्थ नहीं मानते, तैः तेषां=उन्हें उन रसादि की, तन्निमित्तता=काव्यार्थ से व्यंग्यता, तावदवश्यमभ्युपगन्तव्या=अवश्य माननी चाहिए, तथाप्यत्र=तो भी इस, श्लोके=श्लोक मे, न विरोधः=विरोध नहीं है, यस्मात्=क्योंकि अनूद्यमानाग निमित्तोभय रसवस्तुसहकारिणो=अनूद्यमान अग के निमित्त जो उभय रस वस्तु वह सहकारी है जिसके, ऐसे, विधीयमानांशाद्भाव विशेष प्रतीतिः=विधीयमान अंश से भावविशेष की प्रतीति, उत्पद्यते=उत्पन्न होती है, ततश्च=इस कारण, न कश्चिद्विरोधः=कोई विरोध नहीं है, विरुद्धोभय सहकारिणः=दो विरोधी सहकारी वाले, कारणात्=कारण से, कार्यविशेषोत्पत्तिः दृश्यते=कार्य विशेष की उत्पत्ति दृष्टिगोचर होती है, विरुद्धफलोत्पादन हेतुत्व हि=विरुद्ध फल के उत्पादन का हेतुत्व, विरुद्धं=विरुद्ध है, न तु युगदेकस्य कारणस्य विरुद्धोभय सहकारित्वम्=न कि दो विरोधियों का सहकारी होना विरुद्ध है, एवंविध विरुद्ध पदार्थ विषय=इस प्रकार के विरुद्ध पदार्थों के विषय का, कथा अभिनयः प्रयोक्तव्य इतिचेत्=अभिनय कैसे प्रयोग किया जाय, यदि ऐसा कहो तो, (उत्तर है) अनूद्यमान एवं विध वाच्य विषये=अनूद्यमान इस प्रकार के वाच्य के सम्बन्ध मे, या वार्ता=जो बात है, सात्रापि भविष्यति=वह यहां भी होगी, एवं=इस प्रकार, विध्यनुवादनयाश्रयेणात्र=विधि और अनुवाद की नीति का आश्रय लेकर इस, श्लोके=श्लोक मे, परिहृतस्तावद्विरोधः=विरोध का परिहार किया गया।

अर्थ—रसो मे विधि-अनुवाद का व्यवहार नहीं है, यह नहीं कह सकते क्योंकि उनको वाक्यार्थ रूप मे माना जाता है। वाच्यार्थ और वाच्यार्थ के जो विधि अनुवाद है, उन्हें वाच्यार्थ के द्वारा आक्षिप्त रसों में कौन कारण कर सकता है? अथवा जो रसादि को साक्षात्काव्य का अर्थ नहीं मानते, उन्हें उन रसादि की निमित्तता अवश्य माननी चाहिए। तो भी इस श्लोक मे विरोध नहीं है क्योंकि अनूद्यमान अंग के निमित्त जो उभय रस वस्तु वह सहकारी है जिसका, ऐसे विधीयमान अंश से भाव विशेष की प्रतीति होती है, इसलिये कोई विरोध नहीं है। दो विरुद्ध सहकारी वाले कारण मे कार्य विशेष की उत्पत्ति दृष्टिगोचर होती

है, एक साथ एक कारण का विरुद्ध फल के उत्पादन का हेतुत्व विरुद्ध है, न कि दो विरोधियों का सहकारी होना विरोधी है। यदि यह कहो कि इस प्रकार के विरुद्ध पदार्थों के विषय का अभिनय कैसे प्रयोग किया जा सकता है, तो (उत्तर है) कि अनूद्यमान इस प्रकार के वाच्य के सम्बन्ध में जो बात है, वह यहाँ भी होगी। इस प्रकार विधि और अनुवाद की नीति का आश्रय लेकर इस श्लोक में विरोध का परिहार किया गया है।

किं च नायकस्याभिनन्दनीयोदयस्य कस्यचित्प्रभावातिशय वर्णने तत्प्रतिपक्षाणां यः करुणो रसः स परीक्षकाणां न वैक्लव्यमादधातिप्रत्युत प्रीत्यतिशय निमित्ततां प्रतिपद्यत इत्यतस्तस्य कुण्ठ शक्तिकत्वात्तद्विरोध विधायिनो न कश्चिद्दोषः। तस्माद्वाक्यार्थी भूतस्य रसस्य भावस्य वा विरोधी रस विरोधीति वक्तुं न्याय्यः। न त्वङ्गभूतस्य कस्यचित्।

श्रीधरी - किं च=और भी, अभिनन्दनीयोदयस्य=अभिनन्दनीय उदय वाले, कस्यचित् नायकस्य=किसी नायक के, प्रभावातिशय वर्णने=प्रभावातिशय के वर्णन में, तत्प्रतिपक्षाणां=उसके विरोधियों का, यः करुणो रसः=जो करुण रस है, स=वह परीक्षकाणां=परीक्षक लोगों को, न वैक्लव्यमादधाति=व्याकुल नही करता, प्रत्युत=अपितु, प्रीत्यतिशय निमित्तता प्रतिपद्यत=अतिशय प्रीति का निमित्त बन जाता है, इत्यतः=इस कारण, तस्य=उस वीर रसात्मक आस्वादातिशय का), कुण्ठ शक्तिकत्वात्=कुण्ठ शक्तिक हो जाने के कारण, न कश्चिद्दोषः=कोई दोष नही है, तस्मात्=इसलिये, वाक्यार्थी भूतस्य रसस्य=प्रधानभूत रस का, भावस्य वा=या भाव का, विरोधी रस विरोधीति वक्तु न्याय्यः=विरोधी कहा जा सकता है, न तु अंगभूतस्य कस्यचित्=किन्तु अंगभूत किसी को रस विरोधी कहना ठीक नही है।

अर्थ—और भी, अभिनन्दनीय उदय वाले किसी नायक के प्रभावातिशय के वर्णन में उसके विरोधियों का जो करुण रस है वह परीक्षक लोगों को व्याकुल नहीं करता, अपितु अतिशय प्रीति का निमित्त बन जाता है, इसलिए उस वीर रस के आस्वादातिशय का विरोध करने वाला उस करुण के कुण्ठ शक्तिक हो जाने के कारण कोई दोष नहीं है। इसलिये प्रधानभूत रस या भाव के विरोधी को रस का विरोधी कहना ठीक है, लेकिन अंगभूत किसी रस या भाव के विरोधी को रस विरोधी कहना ठीक नहीं है।

अथवा वाक्यार्थी भूतस्यापि कस्यचित्करुण रस विषयस्य तादृशेन शृंगार वस्तुना भंगि विशेषाश्रयेण संयोजनं रस परिपोषायैव जायते। यतः प्रकृति मधुराः पदार्थाः शोचनीयतो प्राप्ताः प्रागवस्थाभाविभि. संस्मर्य माणविलासैरधिकतरं शोकावेशमुपज नयन्ति यथा—

अयं स रसनोत्कर्षी पीनस्तन विमर्दनः ।
नाम्यू रु जघन स्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः ॥

श्रीधरी—अथवा वाक्यार्थी भूतस्यापि=या वाक्यार्थीभूत भी, कस्यचित्करुणरस विषयस्य=किसी करुण रस के विषय का, तादृशेन=उस प्रकार के, शृङ्गार वस्तुना=शृंगार वस्तु के साथ, भंगिविशेषाश्रयेण=भंगि विशेष का आश्रय लेकर, संयोजनं=संयोजन, रसपरिपोषायैव=रस के परिपोष के लिये ही, जायते=होता है, यतः=क्योंकि, प्रकृति मधुराः पदार्थाः=प्रकृति मधुर पदार्थ, शोचनीयता प्राप्ताः=शोचनीयता को प्राप्त होकर, प्रागवस्थाभाविभिः पूर्व अवस्था में होने वाले, संस्मर्यमाणविलासैः=स्मरण किये जाते हुए विलासों से, अधिकतरं शोकावेश मुपजनयन्ति=अधिकतर शोक के आवेश को उत्पन्न करते है, यथा=जैसे—

रसनोत्कर्षी=रसना को ऊपर खीचने वाला, पीनस्तन विमर्दनः=पुष्ट स्तनों का विमर्दन करने वाला, नाम्यूरुजघन स्पर्शी=नाभि, उरु, जघन का स्पर्श करने वाला, नीवी विस्रंसनः=नीवी को ढीली करने वाला, अयं करः=यह हाथ है ।

अर्थ—अथवा वाक्यार्थीभूत भी किसी करुण रस के विषय का उस प्रकार के शृंगार वस्तु के साथ भंगिविशेष का आधार लेकर संयोजन रस के परिपोष के लिये ही होता है क्योंकि प्रकृति मधुर पदार्थ शोचनीयता प्राप्त होकर पूर्व अवस्था में होने वाले, स्मरण किये जाते हुए विलासों के कारण अधिकतर शोकावेश उत्पन्न करते हैं । जैसे—

रसना को ऊपर खीचने वाला, पुष्टस्तनों का विमर्दन करने वाला, नाभि, उरु जघन का स्पर्श करने वाला, नीवी को ढीली करने वाला यह वह हाथ है ।

इत्यादौ । तदत्र त्रिपुर युवतीनां शाम्भवः शराग्निरार्द्रापराधः कामी यथा व्यवहरति स्म तथा व्यवहृतवानित्यनेनापि प्रकारेणास्त्येव निर्विरोधत्वम् । तस्माद्यथा यथा निरूप्यते तथा तथाच दोषाभाव । इत्थं च—

क्षामन्त्य. क्षतकोमलांगुलि गलद्रक्तैः सदर्भाः स्थलीः,
पादैः पातित यावकैरिवपतद्बाष्पाम्बुधौताननाः ।
भीता भर्तृकरावलम्बित करास्त्वद्वैरिनाथोऽधुना,
दावाग्निं परितो भ्रमन्तिपुनरप्युद्यद्विवाहा इव ॥

श्रीधरी—इत्यादौ=इत्यादि में, तदत्र=इसलिये यहाँ, शाम्भवः शराग्निः=शङ्कर की शराग्नि ने, त्रिपुर युवतीनां=त्रिपुर युवतियों का, आर्द्रापराधः कामी यथा व्यवहरतिस्म=आर्द्रापराध काम जैसा व्यवहार करता था, तथा व्यवहृतवान्=वैसा व्यवहार किया, इत्यनेनापि प्रकारेण=इस प्रकार से भी, अस्त्येव निर्विरोधित्वम्=निर्विरोध ही है; तस्मात् इसलिये, यथा यथा निरूप्यते=जैसा जैसा निरूपण होगा,

प्रबन्धेषु प्रथमतरं प्रस्तुतः सन्=प्रबन्धो मे पहले प्रस्तुत होता हुआ, पुनः पुनः अनुसन्धीय मानत्वेन=वार-वार अनुसन्धीय मान होने के कारण, स्थायीयो रसः= स्थायी जो रस है, तस्य=उसके, सकलबन्ध व्यापिनो=सकल रचना मे व्याप्त रहने वाले रसान्तरैरन्तरालवर्तिभिः=मध्यवर्ती रसान्तरो के साथ, यः समावेशः= जो समावेश है, स नाङ्गितामुपहन्ति=वह अंगिता को उपहत् नही करता।

अर्थ—रसान्तरो के साथ जो प्रस्तुत रस का समावेश है, वह स्थायी रूप से प्रतीत होने वाले इस प्रधान रस अगित्व को उपहत नही करता।

प्रबन्धों के पहले प्रस्तुत होता हुआ, वार-वार अनुसन्धीयमान होने के कारण जो स्थायी रस है, सम्पूर्ण रचना मे व्याप्त रहने वाले उसके मध्यवर्ती रसान्तरो के साथ जो समावेश है वह अगित्व को उपहत नही करता।

कार्यमेकं यथाव्यापि प्रबन्धस्य विधीयते।
तथा रसस्यापि विधौ विरोधो नैव विद्यते ॥२३॥

सन्ध्यादिमयस्य प्रबन्ध शरीरस्य यथा कार्यमेक मनुयायि व्यापकं कल्प्यते न च तत्कार्यान्तरैर्न सङ्कीर्यते, न च तैः सङ्कीर्य माणस्यापि तस्य प्राधान्यमपचीयते, तथैव रसस्याप्येकस्य सन्निवेशे क्रियमाणे विरोधो न कश्चित्। प्रत्युत प्रत्युदित विवेकानामनुसन्धानवतां सचेततां तथाविधे विषये प्रह्लादातिशयः प्रवर्तते।

श्रीधरी—एतदेव=इसे ही, उपपादयितु=उपपादित करने के लिये, उच्यते=कहते हैं—

यथा=जिस प्रकार, प्रबन्धस्य=प्रबन्ध का, एवं व्यापि कार्यं विधीयते= एक व्यापक कार्य बनाया जाता है तथा=उस प्रकार, रसस्यापि विधौ=रस के भी विधान मे, विरोधः नैव विद्यते=कोई विरोध नहीं है।

सन्ध्यादिमयस्य=सन्धि आदि से युक्त, प्रबन्ध शरीरस्य=प्रबन्ध शरीर का, यथा=जैसे, एक कार्यं=एक कार्य, अनुयायि व्यापकं कल्प्यते=अनुयायि और व्यापक रूप मे कल्पित है, न च तत् कार्यान्तरैः न सङ्कीर्यते=वह कार्यान्तर से सङ्कीर्ण नही होता, ऐसी बात नही है, तैः सङ्कीर्यमाणस्यापि=उनसे सकीर्ण होकर भी, तस्य प्राधान्यं न अपचीयते=उसके प्राधान्य का अपचय नही होता, तथैव= उसी प्रकार, एकस्य रसस्यापि=एक रस के भी, सन्निवेशे क्रियमाणे=सन्निवेश किये जाने पर, न विरोधो कश्चित्=कोई विरोध नही है, प्रत्युत=अपितु, प्रत्युदित विवेकाना=प्रत्युदित विवेक वाले, अनुसन्धानवता सचेतसा=तथा अनुसन्धान वाले सहृदयो का, तथाविधे विषये=उस प्रकार के विषय मे, प्रह्लादातिशयः प्रवर्तते= अतिशय प्रह्लाद होता है।

अर्थ—इसे ही उपपादित करने के लिये कहते हैं—

जिस तरह प्रबन्ध का एक व्यापक कार्य बनाया जाता है, उसी प्रकार रस के विधान में भी कोई विरोध नहीं है।

सन्धि आदि से युक्त प्रबन्ध शरीर का एक अनुयायी व्यापक कार्य कल्पित करते हैं, ऐसा नहीं कि वह अन्य कार्यों से संकीर्ण नहीं होता और न उनसे संकीर्ण होकर भी उसके प्राधान्य का अपचय होता है, उसी प्रकार एक रस के भी सन्निवेश किये जाने पर कोई विरोध नहीं है। अपितु प्रमुदित विवेक वाले एवं अनुसन्धान-शील सहृदयों का उस प्रकार के विषय में अतिशय प्रह्लाद होता है।

ननु येषां रसानां परस्परविरोधः यथा वीर शृंगारयोः शृंगार हास्ययोः रौद्र शृंगारयोर्वीराद्भुतयोर्वीर रौद्रयो रौद्र करुणयो शृंगाराद्भुत योर्वा तत्र भवत्वंगांगिभावः। तेषां तु स कथं भवेद्येषां परस्परं बाध्य बाधक भाव.। यथा शृंगारबीभत्सयोर्वीरभयानकयो शान्त रौद्रयो शान्त शृंगारयोर्वा इत्याशंक्येदमुच्यते—

अविरोधी विरोधी वा रसोऽङ्गिनि रसान्तरे।
परिपोषं न नेतव्यस्तथास्यादविरोधिता ॥२४॥

श्रीधरी—ननु येषां रसानां=जिन रसों का, परस्पराविरोधः=परस्पर अविरोध है, यथा=जैसे, वीर शृंगारयोः=वीर और शृंगार का, शृंगार हास्ययो.=शृंगार और हास्य का, रौद्र शृंगारयोः=रौद्र और शृंगार का, वीराद्भुतयोः=वीर और अद्भुत का, वीर रौद्रयोः=वीर और रौद्र का, रौद्र करुणयो=रौद्र और करुण का, शृंगाराद्भुतयोः=शृंगार और अद्भुत का, तत्र=उनमें, अंगांगिभावः भवतु=अगागि भाव हो, तेषां तु स कथं भवेत्=किन्तु उनका वह अंगांगि भाव कैसे होगा, येषां=जिनका, परस्परं=परस्पर, बाध्य बाधक भावः=बाध्य बाधक भाव है, यथा=जैसे, शृंगार बीभत्सयोः=शृंगार और वीभत्स का, वीर भयानकयोः=वीर और भयानक का, शान्त रौद्रयोः=शान्त और रौद्र का, शान्त शृगारयोर्वा=या शान्त और शृंगार का, इत्याशंक=इस प्रकार की आशङ्का करके, इदं उच्यते=यह कहते हैं।

रसान्तरे=अन्य रस के, अंगिनि=अंगी होने पर, अविरोधी विरोधी वा रसो=अविरोधी या विरोधी रस को, परिपोषं न नेतव्यः=परिपोष तक नहीं पहुँचाना चाहिए, तथा स्यादविरोधिता=इस प्रकार विरोध नहीं होगा।

अर्थ—जिन रसों का परस्पर अविरोध है जैसे—वीर और शृंगार का, शृंगार और हास्य का, रौद्र और शृंगार का. वीर और अद्भुत का, वीर और रौद्र का, रौद्र और करुण का, अथवा शृंगार और अद्भुत का. उनमें अगागि भाव हो, परन्तु उनका वह अंगांगिभाव कैसे होगा जिनका आपस में बाध्य बाधक भाव है, जैसे—शृंगार और वीभत्स का, वीर और भयानक का, शान्त और रौद्र का, या शान्त और शृंगार का, इस प्रकार की आशंका करके यह कहते हैं—

अन्य रस के अंगी होने पर अविरोधी या विरोधी रस को परिपोष तक नहीं ले जाना चाहिए, इस प्रकार विरोध नहीं होगा।

अंगिनि रसान्तरे शृंगारादौ प्रबन्ध व्यंग्ये सति अविरोधी विरोधी वा रसः परिपोषं न नेतव्यः। तत्राविरोधिनो रसस्यांगि रसापेक्षयात्यन्त माधिक्य न कर्तव्यमित्ययं प्रथमः परिपोष परिहारः। उत्कर्ष साम्येऽपि तयोर्विरोधा सम्भवात्। यथा —

एक्कत्तो रुअइ पिआ अण्णत्तो समरतूर णिग्घोसो।
णेहेण रणरसेण अ भडस्स दोलाइअं हिअअम्।
[एकतो रोदिति प्रिया अन्यतः समर तूर्य निर्घोषः।
स्नेहेन रण रसेन च भटस्य दोलायितं हृदयम्॥]

श्रीधरी रसान्तरे शृंगारादौ=अन्य शृंगार आदि रस के, अंगिनि प्रबन्ध व्यंग्ये सति=अंगी प्रबन्ध व्यंग्य होने पर, अविरोधी विरोधी वा रसः=अविरोधी या विरोधी रस को, परिपोषं न नेतव्यः=परिपोष तक नहीं पहुँचाना चाहिये, तत्र विरोधिनो रसस्य=उसमें अविरोधी रस का, अंगिरसापेक्षया=अंगी रस की अपेक्षा, अत्यन्त आधिक्यं न कर्तव्यम्=अत्यन्त आधिक्य नहीं करना चाहिए, इत्ययं प्रथमः परिपोष परिहारः=इस प्रकार यह पहला परिपोष परिहार है, उत्कर्ष साम्येऽपि=उत्कर्ष का साम्य होने पर भी, तयोर्विरोधासम्भवात्=उन दोनों का विरोध सम्भव नहीं है, यथा=जैसे।

एकतो रोदिति प्रिया=एक ओर प्रिया रो रही है, अन्यतः=दूसरी ओर, समरतूर्य निर्घोषः=रणभेरी का गर्जन है, स्नेहेन रण रसेन च=स्नेह और युद्ध प्रेम से, भटस्य=वीर का, हृदयं दोलायितं=हृदय दोलायित हो रहा है।

अर्थ—अन्य शृंगार आदि रस के अंगी अर्थात् प्रबन्ध व्यंग्य होने पर अविरोधी या विरोधी रस को परिपोष तक नहीं पहुँचाना चाहिए, उसमें अविरोधी रस का अंगी रस की अपेक्षा अत्यन्त आधिक्य नहीं करना चाहिए, इस प्रकार यह पहला परिपोष का परिहार है, उत्कर्ष का साम्य होने पर भी उन दोनों का विरोध सम्भव नहीं है, जैसे—

एक ओर प्रिया रो रही है दूसरी ओर रण भेरी का गर्जन है, स्नेह और युद्ध प्रेम से वीर का हृदय दोलायित हो रहा है।

यथा वा —

कण्ठाच्छित्वाक्षमालावलयमिव करे हारमावर्तयन्ती,
कृत्वा पर्यङ्कबन्धं विषधर पतिना मेखलाया गुणेन।
मिथ्या मन्त्राभिजापस्फुरदधरपुट व्यञ्जिता व्यक्त हासा,
देवी सन्ध्याभ्यसूया हसित पशुपतिस्तत्र दृष्टा तु वो व्यात्॥

श्रीधरी—कण्ठात्=गले से, हारं=हार को, छित्वा=निकालकर, अक्षमाला

प्रकाशित करता हुआ भी, परावभासक:=अन्य को अवभासित करने वाला, व्यञ्जक इत्युच्यते=व्यञ्जक कहलाता है, तथाविधे विषये=उस प्रकार के विषय मे, वाचकत्वस्यैव व्यञ्जकत्वम्=वाचकत्व का ही व्यञ्जकत्व है, इति=इसलिये, गुणवृत्ति व्यवहारो=गुणवृत्ति व्यवहार, नियमेनैव न शक्यते कर्तुम्=नियमत: ही नही किया जा सकता।

अर्थ—अन्य कोई कह सकता है कि—विवक्षितान्य परवाच्य ध्वनि मे गुणवृत्ति व्यवहार नहीं है, यह जो कहते है वह ठीक है क्योंकि वाच्य वाचक की प्रतीतिपूर्वक जहाँ अर्थान्तर की प्रतीति होती है, वहाँ गुणवृत्ति व्यवहार कैसे हो सकता है? गुणवृत्ति मे जब किसी निमित्त से अत्यन्त तिरस्कृत स्वार्थ शब्द को विषयान्तर मे आरोप करते है, जैसे—'माणवक अग्नि है' इत्यादि मे, अथवा जब शब्द स्वार्थ को अयत न छोड़ता हुआ विषयान्तर पर पहुच जाता है, जैसे—'गङ्गा मे घोष' इत्यादि मे, विवक्षित वाच्यत्व उपपन्न नहीं होता और इसलिये विवक्षितान्य परवाच्य ध्वनि मे वाच्य और वाचक दोनो की भी स्वरूप प्रतीति और अर्थ का ज्ञान देखा जाता है, इसीलिये व्यञ्जकत्व व्यवहार युक्तियुक्त है। स्वरूप को प्रकाशित करता हुआ भी अन्य को अवभासित कराने वाला व्यञ्जक कहलाता है, उस प्रकार के विषय में वाचकत्व का ही व्यञ्जकत्व है, इसलिये गुणवृत्ति व्यवहार नियमत: नहीं किया जा सकता।

अविवक्षित वाच्यस्तु ध्वनिर्गुणवृत्तेः कथं भिद्यते। तस्य प्रभेदद्वये गुणवृत्ति प्रभेदद्वयरूपता लक्ष्यत एव, यत अयमपि न दोषः। यस्मादविवक्षित वाच्योध्वनिर्गुणवृत्तिमार्गाश्रयोऽपि भवति न तु गुणवृत्तिरूप एव। गुणवृत्तिर्हि व्यंजकत्व शून्यापि दृश्यते। व्यंजकत्वं च यथोक्तचारुत्व हेतुं व्यंग्यं विना न व्यवतिष्ठते। गुणवृत्तिस्तु वाच्यधर्माश्रयेणैव व्यंग्यमात्राश्रयेण चाभेदोपचार रूपा सम्भवति, यथा तीक्ष्णत्वादग्निर्माणवकः, आह्लादकत्वाच्चन्द्र एवास्या मुखमित्यादौ। यथा च 'प्रियेजने नास्ति पुनरुक्तम्' इत्यादौ। यापिलक्षणरूप गुणवृत्तिः साप्युपलक्षणीयार्थ सम्बन्ध मात्राश्रयेण चारुरूपव्यंग्य प्रतीतिं विनापि सम्भवत्येव, यथ—मञ्चाः क्रोशन्तीत्यादौ विषये।

श्रीधरी—तु=किन्तु, अविवक्षित वाच्य ध्वनि:=अविवक्षित वाच्य ध्वनि, गुणवृत्तेः कथ भिद्यते=गुणवृत्ति मे कैसे भिन्न होगी, तस्य=उसके, प्रभेदद्वये=दोनो प्रभेदो मे, गुणवृत्ति प्रभेदद्वयरूपता लक्ष्यत एव=गुणवृत्ति के दो प्रभेदो की रूपता लक्षित होती ही है, यत: अयमपि न दोष:=यह भी दोष नहीं है, यस्माद्=क्योंकि, अविवक्षित वाच्यो ध्वनि:=अविवक्षित वाच्य ध्वनि, गुणवृत्ति मार्गाश्रयोऽपि भवति=गुणवृत्ति के मार्ग पर आश्रित भी होता है, न तु गुणवृत्ति रूप एव=न कि गुणवृत्ति रूप ही होता है, हि=क्योंकि, गुणवृत्ति=गुणवृत्ति, व्यञ्जकत्व शून्यापि दृश्यते=

व्यञ्जकत्व शून्य भी दृष्टिगत होती है, च=और, व्यञ्जकत्वं=व्यंजकत्व, यथोक्त चारुत्व हेतु व्यग्य विना=यथोक्त चारुत्व के हेतु व्यग्य के विना, न व्यवतिष्ठते=व्यवस्थित नहीं होता, तु=परन्तु, गुणवृत्तिः वाच्यधर्माश्रयेणैव=गुणवृत्ति वाच्य धर्म के आश्रय से ही, व्यंग्यमात्राश्रयेणचाभेदोपचार रूपा सम्भवति=और व्यंग्यमात्र के आश्रय से अभेदोपचार रूप सम्भव होती है, यथा=जैसे, तीक्ष्णत्वादग्निर्माणवकः=तीक्ष्ण होने से माणवक अग्नि है, आह्लादकत्वाच्चन्द्रएवास्यामुखमित्यादौ=आह्लादक होने से इसका मुख चन्द्र ही है इत्यादि मे, यथा च=और जैसे, प्रियेजने नास्ति पुनरुक्तम् इत्यादौ=प्रिय जन मे पुनरुक्ति नहीं है, इत्यादि मे, यापि=जो भी, लक्षणरूप गुणवृत्तिः=लक्षणा रूप गुणवृत्ति है, साप्युपलक्षणीयार्थे सम्बन्धमात्राश्रयेण=वह भी उपलक्षणीय अर्थ के साथ सम्बन्ध मात्र के आश्रय से, चारुरूप व्यग्यप्रतीतिं विनापि=चारु रूप व्यंग्य की प्रतीति के विना भी, सम्भवत्येव=सम्भव होती है, यथा=जैसे, मञ्चाः क्रोशन्तीत्यादौ विषये=मच आक्रोश करते है इत्यादि विषय मे।

अर्थ— परन्तु अविवक्षित वाच्य ध्वनि गुणवृत्ति से भिन्न कैसे होगा, जबकि उसके दोनो प्रभेदों में गुणवृत्ति मे दो प्रभेदों की रूपता लक्षित होती है। यह भी दोष नहीं है, क्योकि अविवक्षित वाच्य ध्वनि गुणवृत्ति के मार्ग पर आश्रित भी होती है, गुणवृत्ति रूप ही नहीं होती, क्योकि गुणवृत्ति व्यञ्जकत्व से रहित भी देखी जाती है और व्यंजकत्व यथोक्त चारुत्व के हेतु व्यग्य के विना व्यवस्थित नहीं होता, परन्तु गुणवृत्ति वाच्यधर्म के आश्रय से ही और व्यग्यमात्र के आश्रय मे अभेदोपचार रूप सम्भव होती है, जैसे - 'तीक्ष्ण होने से माणवक अग्नि है', आह्लादक होने से इसका मुख चन्द्र ही है' इत्यादि मे और जैसे— 'प्रिय जन मे पुनरुक्ति नहीं है' इत्यादि मे। जो भी लक्षण रूप गुणवृत्ति है वह भी उपलक्षणीय अर्थ के साथ सम्बन्ध मात्र के आश्रय से चारु रूप व्यग्य की प्रतीति के बिना भी सम्भव होती है, जैसे—'मञ्च आक्रोश करते हैं' इत्यादि विषय मे।

यत्र तु सा चारुरूप व्यंग्य प्रतीति हेतुस्तत्रापि व्यजकत्वानुप्रवेशेनैव वाचकत्ववत्। असम्भविना चार्थेन यत्र व्यवहारः, यथा—"सुवर्णपुष्पां पृथिवीम्" इत्यादौ तत्र चारुरूप व्यंग्यप्रतीतिरेव प्रयोजिकेति तथाविधेऽपि विषये गुणवृत्तौ सत्यामपि ध्वनि व्यवहार एव युक्त्यनुरोधी। तस्मादविवक्षितवाच्ये ध्वनौ द्वयोरपि प्रभेदयो व्यजकत्व विशेषविशिष्टा गुणवृत्तिर्न तु तदेक रूपा सहृदयहृदया ह्लादिनी प्रतीयमाना प्रतीतिहेतुत्वाद्विषयान्तरे तद्रूपशून्याया दर्शनात्। एतच्च सर्वं प्राक्सूचितमपि स्फुटतर प्रतीतये पुनरुक्तम्।

श्रीधरी—तु=किन्तु, यत्र=जहाँ, सा=वह गुणवृत्ति, चारुरूप व्यग्य प्रतीति हेतु=चारुरूप व्यग्य की प्रतीति का कारण है, तत्रापि=वहाँ भी,

व्यञ्जकत्वानुप्रवेशेनैव=व्यंजकत्व के अनुप्रवेश से ही, वाचकवत्=वाचक की तरह, च=और, असम्भविना अर्थेन=असम्भवी अर्थ के साथ यत्र व्यवहार.=जहां व्यवहार है, यथा=जैसे, सुवर्णपुष्पां पृथिवीम् इत्यादौ=सुवर्ण पुष्पां पृथ्वी इत्यादि में, तत्र=वहां, चारुरूप व्यंग्य प्रतीतिरेव प्रयोजिकेति=चारुरूप व्यंग्य की प्रतीति ही प्रयोजिका है, इसलिये, तथाविधेऽपि विषये=उस प्रकार के भी विषय में, गुणवृत्तौसत्यामपि=गुणवृत्ति के होने पर भी, ध्वनि व्यवहारएव युक्त्यनुरोधी=ध्वनि व्यवहार ही युक्तियुक्त है, तस्माद्=इसलिये, अविवक्षित वाच्ये ध्वनौ=अविवक्षित वाच्य ध्वनि में, द्वयोरपिप्रभेदयो=दोनों भेदों में भी, व्यंजकत्वविशेषाविशिष्टा गुणवृत्तिः=समान व्यंजकत्व विशेष वाली गुण वृत्ति है न तु=न कि, तदेकरूपा सहृदयहृदयाह्लादिनी=उस व्यंजकत्व की प्रतीति का हेतु होने के कारण सहृदयों को आह्लादित करने वाली, प्रतीयमाना प्रतीति हेतुत्वात्=प्रतीयमान प्रतीति की हेतु होने के कारण, विषयान्तरे=दूसरे स्थल में, तद्रूपशून्यायादर्शनात्=उस व्यंजकत्व के रूप से शून्य देखी जाती है, एतच्च सर्वं=ये सभी बातें, प्राक्सूचितमपि=पहले कह दी जाने पर भी, स्फुटतर प्रीतये पुनरुक्तम्=स्पष्ट रूप से प्रतीत होने के लिए फिर से कही गई हैं।

अर्थ परन्तु जहां वह गुणवृत्ति चारुरूप व्यंग्य की प्रतीति का कारण है, वहां भी वाचकत्व की तरह व्यंजकत्व के अनुप्रवेश से ही और असम्भवी अर्थ के साथ जहां व्यवहार है, जैसे—सुवर्ण पुष्पा पृथ्वी इत्यादि में, जहां चारुरूप व्यंग्य की प्रतीति ही प्रयोजिका है, इसलिये उस प्रकार के विषय में गुणवृत्ति के होने पर ध्वनि व्यवहार ही युक्ति के अनुकूल है। इसलिये अविवक्षित वाच्य ध्वनि में दोनों भेदों में भी समान व्यंजकत्व विशेष वाली गुणवृत्ति है, न कि उस व्यंजकत्व की प्रतीति का हेतु होने के कारण सहृदयों को आह्लादित करने वाली उस व्यंजकत्व के साथ एक रूप की होती है, क्योंकि दूसरे स्थल में उस व्यंजकत्व के रूप से शून्य देखी जाती है। ये सभी बातें पहले सूचित हो चुकी है, तथापि स्पष्ट रूप से प्रतीत होने के लिये फिर से कही गई हैं।

अपि च व्यञ्जकत्व लक्षणो यः शब्दार्थयोर्धर्मः स प्रसिद्ध सम्बन्धानुरोधीति न कस्यचिद्विमतिविषयतामर्हति। शब्दार्थयोर्हि प्रसिद्धो य सम्बन्धो वाच्य वाचक भावाख्यस्तमनुरुन्धान एव व्यञ्जकत्व लक्षणो व्यापारः सामग्र्यन्तर सम्बन्धा दौपाधिक प्रवर्तते। अतएव-वाचकत्वात्तस्य विशेषः। वाचकत्वं हि शब्दविशेषस्य नियत आत्माव्युत्पत्ति कालादारभ्य तदविनाभावेनतस्य प्रसिद्धत्वात्। सत्वनियतः, औपाधिकत्वात्। प्रकरणाद्यवच्छेदेन तस्य प्रतीतेरितरथा त्वप्रतीतेः। ननु यद्यनियतस्तत्किं तस्य स्वरूपपरीक्षया। नैष दोषः, यतः शब्दात्मनि तस्या नियतत्वम् न तु स्वे विषये व्यंग्य लक्षणे।

श्रीधरी—अपि च=और भी, व्यंजकत्वलक्षणो=व्यंजकत्व रूप, य:=जो, शब्दार्थयोर्धर्म:=शब्द और अर्थ का धर्म है, स=वह, प्रसिद्धसम्बन्धानुरोधी=प्रसिद्ध सम्बन्ध की अपेक्षा करता है, इति=इसमें, न कस्यचिद्विमतिविषयतामर्हति=किसी को विवाद नहीं है, शब्दार्थयोर्हि=शब्द और अर्थ का, प्रसिद्धो य: वाच्य वाचक भावाख्य सम्बन्ध:=प्रसिद्ध जो वाच्य-वाचक भाव रूप सम्बन्ध है, तमनुरुन्धान एव=उसकी अपेक्षा करता हुआ ही, व्यंजकत्वलक्षणो व्यापार:=व्यंजकत्व रूप व्यापार, सामग्रयन्तरसम्बन्धादौपाधिक: प्रवर्तते=दूसरी सामग्री के सम्बन्ध से औपाधिक रूप से प्रवृत्त होता है, अतएव=इसीलिये, वाचकत्वात्तस्य विशेष:=वाचकत्व से उसका विशेष भेद है, वाचकत्वं हि=वाचकत्व, शब्दविशेषस्य नियत आत्मा=शब्द विशेष का नियम आत्मा है, व्युत्पत्तिकालारभ्य=व्युत्पत्ति काल से लेकर, तदविनाभावेन तस्य प्रसिद्धत्वात्=वह उस शब्द के अविनाभाव से प्रसिद्ध है, तु=किन्तु, स अनियत:=वह व्यंजकत्व औपाधिक होने से अनियत है, प्रकरणावच्छेदेन=प्रकरण आदि के सहयोग से, तस्य प्रतीति:=उसकी प्रतीति होती है, इतरथा तु अप्रतीति:=अन्यथा प्रतीति नहीं होती, ननु यद्यनियतस्तत्किं तस्य स्वरूप परीक्षया=यदि अनियत है तो उसके स्वरूप की परीक्षा से क्या लाभ, नैष दोष:=यह दोष नहीं है, यत:=क्योंकि, शब्दात्मनि=शब्द रूप में, तस्या नियतत्वम्=वह अनियत है, न तु स्वे विषये व्यंग्य लक्षणे=न कि व्यंग्य रूप अपने विषय में।

अर्थ—और भी, व्यंजकत्व रूप जो शब्द और अर्थ का धर्म है वह प्रसिद्ध सम्बन्ध की अपेक्षा करता है, इसमें किसी को विवाद नहीं है। शब्द और अर्थ का प्रसिद्ध जो वाच्य-वाचक भाव रूप सम्बन्ध है उससे अपेक्षा करता हुआ ही व्यंजकत्व रूप व्यापार दूसरी सामग्री के सम्बन्ध से औपाधिक रूप से प्रवृत्त होता है। इसीलिये वाचकत्व से उसका भेद है। वाचकत्व शब्द विशेष का नियत आत्मा है क्योंकि व्युत्पत्ति काल से लेकर वह शब्द के अविनाभाव से प्रसिद्ध है, परन्तु वह व्यंजकत्व औपाधिक होने से अनियत है क्योंकि प्रकरण आदि के सहयोग से उसकी प्रतीति होती है, अन्यथा प्रतीति नहीं होती, यदि अनियत है तो उसके स्वरूप की परीक्षा से क्या लाभ? यदि यह कहो तो यह दोष नहीं है, क्योंकि शब्द रूप में वह अनियत है, न कि व्यंग्यरूप अपने विषय में।

लिङ्गत्वन्यायश्चास्य व्यंजकभावस्य लक्ष्यते, यथा लिङ्गत्वमाश्रयेष्वनियतावभासम्, इच्छाधीनत्वात्, स्वविषयाव्यभिचारि च। तथैवेदं यथा दर्शितं व्यंजकत्वम्। शब्दात्मन्यनियतत्वादेव च तस्य वाचकत्वप्रकारता न शक्या कल्पयितुम्। यदि हि वाचकत्वप्रकारता तस्य भवेत्तच्छब्दात्मनि नियततापि स्याद्वाचकत्ववत्। स च तथाविध औपाधिको धर्म: शब्दानामौत्पत्तिकशब्दार्थसम्बन्धवादिनावाक्यतत्त्वविदा पौरुषा-

पौरुषेयपौवाक्ययोर्विशेषमभिदधता नियमेनाभ्युपगन्तव्यः, तदनभ्युपगमे हि तस्य शब्दार्थ सम्बन्धनित्यत्वे सत्यप्यपौरुषेयपौरुषेययोर्वाक्ययोरर्थ प्रतिपादने निर्विशेषत्वं स्यात्। तदभ्युपगमे तु पौरुषेयाणां वाक्यानां पुरुषेच्छानुविधान समारोपितौपाधिकव्यापारान्तराणां सत्यपि स्वाभिधेय-सम्बन्धापरित्यागे मिथ्यार्थतापि भवेत्।

श्रीधरी – च = और, अस्य = इस, व्यंजक भावस्य = इस व्यंजक भाव का, लिङ्गत्व = लिङ्गत्व, न्याय = साम्य, लक्ष्यते = प्रतीत होता है यथा = जैसे, लिङ्गत्वमाश्रयेषु लिङ्गत्व आश्रयों में, अनियतावभासम् = अनियत रूप से अवभासित होता है, इच्छाधीनत्वात् = क्योंकि वह इच्छाधीन होता है, स्व विषयाव्यभिचारी च = और अपने विषय में अव्यभिचारी होता है, तथैवेदं = उसी प्रकार यह, यथादर्शित व्यंजकत्वम् = व्यंजकत्व है, जैसा कि दिखा चुके हैं, शब्दात्मन्यनियतत्वा देव = शब्द रूप में अनियत होने के कारण ही, तस्य = उसे, वाचकत्व प्रकारता न शक्या कल्पयितुम् = वाचकत्व का प्रकार नहीं बनाया जा सकता, यदि हि वाचकत्व प्रकारता तस्य भवेत् = यदि वह वाचकत्व का प्रकार होगा, तत् = तब, शब्दात्मनि नियततापि = शब्द रूप में नियतता भी, वाचकत्ववत् स्याद् = वाचकत्व की तरह होगी, च = और, औत्पत्तिक शब्दार्थ सम्बन्धवादिना = शब्द और अर्थ का औत्पत्तिक सम्बन्ध मानने वाले, पौरुषापौरुषेययोर्वाक्ययोर्विशेषमभिदधता = पौरुषेय और अपौरुषेय वाक्यों का भेद कहने वाले, वाक्यतत्त्वविदा = वाक्य तत्त्व वेत्ता मीमांसक को, शब्दानां = शब्दों का, तथाविधमौपाधिको धर्मः = उस प्रकार का वह औपाधिक धर्म, नियमेनाभ्युपगन्तव्यः = नियमतः स्वीकार करना चाहिए, हि = क्योंकि, तदनभ्युपगमे = उसके स्वीकार न करने पर, तस्य शब्दार्थसम्बन्धनित्यत्वे = शब्द और अर्थ के सम्बन्ध के नित्य होने पर, अपौरुषेय पौरुषेययोर्वाक्ययोरर्थ प्रतिपादने = अपौरुषेय और पौरुषेय वाक्यों के अर्थ के प्रतिपादन में, निर्विशेषत्व स्यात् = कोई भेद न होगा, तु = लेकिन, तदभ्युपगमे = उसके स्वीकार कर लेने पर, पुरुषेच्छानुविधान-समारोपितौपाधिक व्यापारान्तराणा = पुरुष की इच्छा के अनुविधान से औपाधिक व्यापारान्तर वाले, सत्यपिस्वाभिधेयसम्बन्धापरित्यागे = अपने अभिधेय के सम्बन्ध का परित्याग होने पर, मिथ्यार्थतापि भवेत् = मिथ्यार्थ भी होंगे।

अर्थ और इस व्यंजकत्व का लिङ्गसाम्य मालूम पड़ता है, जैसे लिङ्गत्व आश्रयों में अनियत रूप से मालूम पड़ता है, क्योंकि वह इच्छा के अधीन होता है, उसी प्रकार यह व्यंजकत्व है, जैसे कि दिखा चुके हैं और शब्द रूप में अनियत होने के कारण ही उसे वाचकत्व का प्रकार नहीं बनाया जा सकता, यदि वह वाचकत्व का प्रकार होगा तो शब्द रूप में नियतता भी वाचकत्व की तरह होगी, शब्द और अर्थ का औत्पत्तिक सम्बन्ध मानने वाले पौरुषेय और अपौरुषेय वाक्यों का भेद कहने वाले, वाक्यतत्त्ववेत्ता मीमांसक को शब्दों का उस प्रकार का वह

औपाधिक धर्म नियमतः स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि उसे स्वीकार न करने पर शब्द और अर्थ के सम्बन्ध के नित्य होने पर अपौरुषेय और पौरुषेय वाक्यों के अर्थ के प्रतिपादन में कोई भेद न होगा, परन्तु उसे स्वीकार कर लेने पर पुरुष की इच्छा के अनुविधान में समारोपित औपाधिक व्यापारान्तर वाले पौरुषेय वाक्य अपने अभिधेय के सम्बन्ध का परित्याग होने पर भी मिथ्यार्थ भी होंगे।

दृश्यते हि भावानामपरित्यक्त स्व स्वभावानामपि सामग्रन्तर सम्पातसम्पादितौपाधिक व्यापारान्तराणां विरुद्धक्रियत्वम्। तथाहि हिममयूख प्रभृतीनां निर्वापित सकल जीवलोकं शीतलत्वमुद्वहतामेवप्रिया विरह दहनदह्यमान मानसैर्जनैरालोक्यमानानां सतां सन्तापकारित्वं प्रसिद्धमेव। तस्मात्पौरुषेयाणां वाक्यानां सत्यपि नैसर्गिकेऽर्थ सम्बन्धे मिथ्यार्थत्वं समर्थयितुमिच्छता वाचकत्वव्यतिरिक्तं किंचिद्रूपमौपाधिकं व्यक्तमेवाभिधानीयम्। तच्च व्यजकत्वादृते नान्यत्। व्यंग्य प्रकाशनं हि व्यंजकत्वम्। पौरुषेयाणि च वाक्यानि प्राधान्येन पुरुषाभिप्रायमेव प्रकाशयन्ति। स च व्यंग्य एव न त्वभिधेयः, तेन सहाभिधानस्य वाच्य-वाचकभावलक्षणसम्बन्धाभावात्। नन्वनेन न्यायेन सर्वेषामेव लौकिकानां वाक्यानां ध्वनिव्यवहारः प्रसक्तः। सर्वेषामप्यनेन न्यायेन व्यंजकत्वात्। सत्यमेतत्, किं तु वक्त्रभिप्रायप्रकाशनेन यद् व्यजकत्वं तत्सर्वेषामेव लौकिकानां वाक्यानामवशिष्टम्। तत्तु वाचकत्वान्न भिद्यते व्यंग्यं हि तत्र नान्तरीकतया व्यवस्थितम्। न तु विवक्षितत्वेन। यस्य तु विवक्षितत्वेन व्यंग्यस्य स्थितिः तद्व्यंजकत्वं ध्वनि व्यवहारस्य प्रयोजकम्।

श्रीधरी—हि=क्योंकि, सामग्रन्तरसम्पातसम्पादितौपाधिक व्यापाराणां=अन्य सामग्री के उपस्थित होने से सम्पादित औपाधिक व्यापारान्तर वाले, अपरित्यक्त-स्वाभावानामपि=अपना स्वभाव न छोड़ने वाले, भावानां=भावों की, विरुद्ध क्रियत्व दृश्यते=विरुद्ध क्रिया देखी जाती है, तथाहि=जैसा कि, निर्वापित सकल जीवलोकं=समस्त जीव लोक का ताप दूर करने वाली, शीतलत्वमुद्वहतामेव=ठंडक धारण करने वाले ही, हिममयूख प्रभृतीनां=चन्द्रमा प्रभृति, प्रियाविरह दहनदह्यमानमानसैः=प्रियतमा की विरहाग्नि से दह्यमान चित्त वाले, जनैः=लोगों के द्वारा, आलोक्यमानां सतां=देखे जाते हुए भी, सन्तापकारित्व प्रसिद्ध मेव=सन्तप्त करने वाले प्रसिद्ध ही हैं, तस्मात्=इसलिये, पौरुषेयाणां वाक्यानां=पौरुषेय वाक्यों का, सत्यपि नैसर्गिके-ऽर्थ सम्बन्धे=नैसर्गिक सम्बन्ध होने पर भी, मिथ्यार्थत्वं=समर्थयितुमिच्छता=मिथ्यार्थता का समर्थन करना चाहते हुए, (मीमांसक को) वाचकत्व व्यतिरिक्तं=वाचकत्व से अतिरिक्त, किञ्चिद्रूपमौपधिकं व्यक्तमेवाभिधानीयम्=किञ्चिद् रूप औपाधिक स्पष्ट ही अभिधान करना चाहिए, तच्च=और वह औपाधिक व्यंजकत्वादृते नान्यत्=व्यंजकत्व के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, हि=क्योंकि, व्यंग्य

प्रकाशनं व्यंजकत्वम्=व्यग्य का प्रकाशन व्यजकत्व है, पौरुषेयाणि च वाक्यानि=पौरुषेय वाक्य प्राधान्येन=मुख्यतया, पुरुषाभि प्रायमेणप्रकाशयन्ति=पुरुष के ही अभिप्राय को प्रकाशित करते है; स च=और वह अभिमाय, व्यंग्य एव नत्वभिधेयः=व्यंग्य ही होता है, अभिधेय नही, तेन सहाभिधानस्य=उसके साथ अभिधान का, वाच्य-वाचक भाव लक्षणा सम्बन्धा भावात्=वाच्यवाचक भाव सम्बन्ध नही होता, ननुमनेन न्यायेन=तब तो, इस न्याय से, सर्वेषामेव लौकिकाना वाक्याना=सभी लौकिक वाक्यो मे, ध्वनि व्यवहार प्रसक्त.=ध्वनि व्यवहार प्रसक्त होगा, अनेनन्यायेन= इस न्याय से तो, सर्वेषामपि व्यंजकत्वात्=सभी व्यजक है, सत्यमेतत्—यह ठीक है, किन्तु=लेकिन, वक्त्रभिप्राय प्रकाशनेन=वक्ता के अभिप्राय के प्रकाशन से, यद् व्यजकत्वं - जो व्यंजकत्व है, तत्=वह, सर्वषामेव लौकिकानां=सभी लौकिक, वाक्यानामविशिष्टम्=वाक्यो मे अविशिष्ट है, तत्तु=परन्तु वह, वाचकत्वान्नभिद्यते= वाचकत्व मे भिन्न नही है, व्यंग्य हि तत्र=व्यग्य वहाँ, नान्तरीयकतया व्यवस्थितम्= नान्तरी क रूप से विद्यमान रहता है, न तु विवक्षितत्वेन=न कि विवक्षित रूप से, यस्य तु=परन्तु जो, व्यंग्यस्य विवक्षितत्वेन स्थितिः=व्यग्य विवक्षित रूप से रहता है, तद् व्यजकत्व=वह व्यंजकत्व ध्वनि व्यवहारस्य प्रयोजकम्=ध्वनि व्यवहार का प्रयोजक है।

अर्थ—क्योंकि अन्य सामग्री के उपस्थित होने से सम्पादित औपाधिक व्यापारान्तर वाले, अपना स्वभाव न छोडने वाले भावो की भी विरुद्ध क्रिया देखी जाती है। जैसा कि समस्त जीवलोक का ताप दूर करने वाली ठण्डक धारण करने वाले ही चन्द्र प्रभृति प्रियतमा की विरहाग्नि से दह्यमान चित्त वाले लोगों को सन्तप्त करने वाले प्रसिद्ध ही हैं। इसलिये पौरुषेय वाक्यों का नैसर्गिक सम्बन्ध होने पर भी मिथ्यार्थता का समर्थन करना चाहते हुए मीमांसक को वाचकत्व से अतिरिक्त किञ्चिद् रूप औपाधिक स्पष्ट ही अभिधान करना चाहिए और वह व्यञ्जकत्व के अतिरिक्त दूसरा कुछ नही है। व्यंग्य का प्रकाशन व्यञ्जकत्व है और पौरुषेय वाक्य प्राधान्यत पुरुष के ही अभिप्राय को प्रकाशित करते हैं और वह अभिप्राय व्यग्य ही होता है, न कि अभिधेय क्योकि उसके साथ अभिधान का वाच्य वाचक भाव सम्बन्ध नही होता। (शङ्का) इस न्याय से तो सभी लौकिक वाक्यों में ध्वनि व्यवहार प्रसक्त होगा क्योंकि तब तो सभी व्यजक हैं। (समाधान) ठीक है किन्तु वक्ता के अभिप्राय के प्रकाशन से जो व्यञ्जकत्व है वह सभी लौकिक वाक्यों में अविशिष्ट है, परन्तु वह वाचकत्व से भिन्न नहीं है, व्यंग्य वहाँ नान्तरीय रूप मे रहता है न कि विवक्षित रूप में, किन्तु जो व्यंग्य विवक्षित रूप मे रहता है, वह ध्वनि व्यवहार का प्रयोजक हैं।

यत्त्वभिप्राय विशेषरूपं व्यंग्यं शब्दार्थाभ्यां प्रकाशते तद्भवति विवक्षितं तात्पर्येण प्रकाश्यमानं सत्। किन्तु तदेव केवलमपरिमित विषयस्य ध्वनि व्यवहारस्य न प्रयोजकमव्यापकत्वात्. तथा दर्शित

भेदत्रयरूपं तात्पर्येण द्योत्यमानमभिप्रायरूपमनभिप्रायरूपं च सर्व मेव ध्वनि-व्यवहारस्य प्रयोजकमिति यथोक्त व्यञ्जकत्व विशेषे ध्वनिलक्षणे नाति-व्याप्तिर्न चाव्याप्तिः। तस्माद्वाक्यतत्त्वविदां मतेन तावद्व्यञ्जकत्वलक्षणः शाब्दो व्यापारो न विरोधी प्रत्युतानुगुण एव लक्ष्यते। ध्वनि व्यवहार इति तैः सह किं विरधोविरोधो चिन्त्येते। कृत्रिम शब्दार्थसम्बन्धवादिनां तु युक्तिविदामनुभवसिद्ध एवायं व्यञ्जक भावः शब्दा नामर्थान्तिराण-मिवाविरोधश्चेति न प्रतिक्षेप्यपदवीमवतरति।

श्रीधरी— यत्तु = जो कि, अभिप्रायविशेष रूपं व्यंग्य = अभिप्राय विशेष रूप व्यंग्य, शब्दार्थाभ्या प्रकाशते = शब्द अर्थ से प्रकाशित होता है, तत् = वह, तात्पर्येण प्रकाश्यमानं सत् विवक्षित भवति तात्पर्य से प्रकाश्यमान होकर विवक्षित होता है, किन्तु तदेव = लेकिन वही, अपरिमित विषयस्य = अपरिमित विषय वाले, ध्वनि व्यवहारस्य = ध्वनि व्यवहार का, न प्रयोजकमव्यापकत्वात् = अव्यापक होने के कारण प्रयोजक नही होता तथा दर्शित भेदत्रय रूप - इस प्रकार दिखाये गये तीन भेदों वाला, तात्पर्येण द्योत्यमान = तात्पर्य से द्योत्यमान, अभिप्रायरूपमनभिप्रायरूप = अभिप्रायरूप और अनभिप्राय रूप, सर्वमेव = सभी, ध्वनिव्यवहारस्य प्रयोजक = ध्वनि व्यवहार का प्रयोजक होता है, इति = इस प्रकार, यथोक्त व्यञ्जकत्व विशेषे = यथोक्त व्यंजकत्व विशेष रूप, ध्वनि लक्षणे = ध्वनि के लक्षण मे, नातिव्याप्तिर्नचाति-व्याप्तिः = न अतिव्याप्ति है और न अव्याप्ति है, तस्माद् = इसलिए, वाक्यतत्व-विदां = वाक्यतत्व वेत्ताओं, (मीमांसकों के) मतेन = मत से, व्यञ्जकत्व लक्षणः = व्यंजकत्व रूप, शाब्दोव्यापारो = शब्द व्यवहार, न विरोधी = विरोधी नहीं है, प्रत्युतानुगुण एव लक्ष्यते = अपितु अनुकूल ही लक्षित होता है, निरपभ्रंश शब्द-ब्रह्मणां = निरपभ्रंश शब्दब्रह्म को, परिनिश्चित = परिनिश्चित करने वाले, विपश्चिता = विद्वानों के, मतमाश्रित्यैव = मत के आधार पर ही, अयं ध्वनि व्यवहारः प्रवृत्तः = यह ध्वनि व्यवहार प्रवृत्त हुआ है इति = इसलिये, तैः सह किं विरोधा-विरोधो चिन्त्येते = उनके साथ विरोध और अविरोध की चिन्ता क्यों की जाय, कृत्रिमशब्दार्थ सम्बन्धवादिनां = शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को कृत्रिम मानने वाले, युक्तिविदां = युक्तिवेत्ताओं अर्थात् नैयायिकों के मत मे, अयं शब्दाना व्यंजक भावः = यह शब्दों का व्यंजकत्व, अर्थान्तिराणामिव = अन्य अर्थों के व्यंजकत्व की भांति, अनुभव सिद्ध एव = अनुभव सिद्ध ही है, अविरोधीति = और विरोध रहित है, इसलिये, न प्रतिक्षेप्य पदवीमवतरति = निराकरण के योग्य नहीं है।

अर्थ—जो कि अभिप्राय विशेष रूप व्यंग्य शब्द अर्थ से प्रकाशित होता है, वह तात्पर्य से प्रकाश्यमान होकर विवक्षित होता है, किन्तु वही केवल अपरिमित विषय वाले ध्वनि व्यवहार का अव्यापक होने के कारण प्रयोजक नहीं होता है। इस प्रकार दिखाये जा चुके तीन भेदों वाला, तात्पर्य से द्योत्यमान अभिप्राय रूप

अनभिप्राय रूप सभी ध्वनि व्यवहार का प्रयोजक होता है, इस प्रकार यथोक्त व्यंजकत्व विशेष रूप ध्वनि के लक्षण में न अतिव्याप्ति है और न अव्याप्ति। इसलिये वाक्यतत्व वेत्ताओं मीमांसकों के मत से भी व्यजकत्व रूप शाब्द व्यवहार विरोधी नहीं है अपितु अनुकूल ही लक्षित होता है। निरपभ्रंश शब्द ब्रह्म को परिनिश्चित करने वाले विद्वानों के मत से ही यह ध्वनिव्यवहार प्रवृत्त हुआ है। इसलिये उनके साथ विरोध-अविरोध की चिन्ता क्यों की जाय? शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को कृत्रिम मानने वाले युक्तिवेत्ताओं अर्थात् नैयायिकों के मत में यह शब्दों का व्यजकत्व अन्य अर्थों के व्यजकत्व की भांति सिद्ध एवं विरोधरहित है, अतः निराकरण के योग्य नहीं है।

वाचकत्वे हि तार्किकाणां विप्रतिपत्तयः प्रवर्तन्ताम्, किमिदं स्वाभाविकं शब्दानामाहोस्वित्सामयिकमित्याद्याः। व्यंजकत्वे तु तत्पृष्ठभाविनि भावान्तर साधारणे लोकप्रसिद्धएवानुगम्यमाने को विमतीनामवसरः। अलौकिकेह्यर्थे तार्किकाणां विमतयो निखिलाः प्रवर्तन्ते न तु लौकिके। न हि नीलमधुरादिष्वशेषलोकेन्द्रिय गोचरे बाधारहिते तत्वे परस्परं विप्रतिपन्ना दृश्यन्ते। न हि बाधा रहितं नीलं नीलमिति ब्रुवन्नपरेण प्रतिषिध्यते नैतन्नीलं पतिमेतदिति। तथैव व्यंजकत्वं वाचकानां शब्दानां अवाचकानां च गीतध्वनीनाम शब्द रूपाणां च चेष्टादीनां यत्सर्वेषामनुभवसिद्धमेवतत्केनापह्नूयते।

श्रीधरी – वाचकत्वे हि=वाचकत्व के सम्बन्ध में, तार्किकाणां=तार्किकों की, विप्रतिपत्तयः प्रवर्तन्ताम्=विप्रपत्तियां हो सकती हैं, किम्=क्या, शब्दानां=शब्दों का, इदं=यह वाचकत्व, स्वाभाविकम्=स्वाभाविक है, आहोस्वित्सामयिकमित्याद्याः=या सामयिक है इत्यादि, तु=किन्तु, तत्पृष्ठभाविनि=वाचकत्व के बाद होने वाले, भावान्तर साधारणे=भावान्तर साधारण, लोकप्रसिद्धएवानुगम्यमाने=लोक प्रसिद्ध अनुगम्यमान, व्यजकत्वे=व्यंजकत्व में, को विमतीनामवसरः=विसंगतियों के लिये अवसर ही कहाँ? हि=क्योंकि, तार्किकाणां विमतयो=तार्किकों की विमतियां, अलौकिके अर्थे प्रवर्तन्ते=अलौकिक पदार्थ में प्रवृत्त होती है, न तु लौकिके=न कि लौकिक में, नील मधुरादिष्वशेष लोकेन्द्रिय गोचरे=नील, मधुर आदि अशेष लोगों की इन्द्रियों के गोचर, बाधारहिते तत्वे=बाधा रहित तत्व में, परस्परं विप्रतिपन्ना न दृश्यन्ते=परस्पर विप्रतिपन्न नहीं देखे जाते, बाधारहितं=बाधा रहित, नीलं=नील को, नीलमिति ब्रुवन्=नील कहते हुए, नैतन्नील पतिमेतत्=यह नील नहीं है, पीला है, इति=यह कह कर, अपरेण न प्रतिषिध्यते=दूसरे से रोका नहीं जाता, तथैव=उसी प्रकार, वाचकानां=वाचक शब्दों का, अवाचकानां गीतध्वनीनाम्=अवाचक गीत और ध्वनियों का, अशब्द रूपाणां चेष्टादीनां=अशब्द रूप चेष्टा आदि का, व्यंजकत्वं=जो व्यजकत्व, तत्सर्वेषामनुभव-

सिद्धमेव = वह सभी का अनुभव सिद्ध है, तत्केनापह्नूयते = उसे कौन छिपा सकता है।

अर्थ वाचकत्व के सम्बन्ध मे तार्किकों की विप्रतिपत्तियां हो सकती है, क्या शब्दो का यह वाचकत्व स्वाभाविक है अथवा सामयिक है इत्यादि, परन्तु उसके अर्थात् वाचकत्व के बाद होने वाले भावान्तर साधारण, लोक प्रसिद्ध अनुगम्यमान व्यजकत्व मे विसंगतियो का अवसर कहाँ ? क्योकि तार्किको की विमतिया अलौकिक पदार्थ मे प्रवृत्त होती है, न कि लौकिक मे, नील, मधुर आदि अशेष लोगो की इन्द्रियो के गोचर बाधारहित तत्व मे परस्पर विप्रतिपन्न नही देखे जाते। बाधारहित नील को 'नील' कहते हुए के यह पति है, यह कहकर दूसरा कोई प्रतिषेध नही करता। उसी प्रकार वाचक शब्दो का, अवाचक गीत ध्वनियो का और अशब्द रूप चेष्टा आदि का जो व्यजकत्व सभी का अनुभव सिद्ध है, उसे कौन छिपा सकता है ?

अशब्दमर्थं रमणीयं हि सूचयन्तो व्याहारास्तथा व्यापारा निबद्धाश्चानिबद्धाश्च विदग्धपरिषत्सु विविधा विभाव्यन्ते। तानुपहास्यतामात्मनः परिहरन् कोऽतिसन्दधीत सचेतः। ब्रूयात्, अस्त्यतिसन्धानावसरः व्यंजकत्वं शब्दानां गमकत्वं तच्च लिङ्गत्वमतश्च व्यंग्यप्रतीतिर्लिङ्गिप्रतीतिरेवेति लिङ्गिलिङ्गिभाव एव तेषां व्यंग्यव्यंजकभावो नापरः कश्चित्। अतश्चैतदवश्यमेव बोद्धव्यं यस्माद्वक्त्रभिप्रायापेक्षया व्यंजकत्वमिदानीमेव त्वया प्रतिपादितं वक्त्रभिप्रायश्चानुमेयरूप एव।

श्रीधरी— विदग्ध परिषत्सु = विद्वत्सभाओ मे, अशब्द रमणीय अर्थं = शब्द रहित रमणीय अर्थ को, सूचयन्तो = सूचित करने वाले, व्याहारास्तथा व्यापारा = वचन तथा व्यापार, विविधा निबद्धा अनिबद्धाश्च = अनेक प्रकार के निबद्ध तथा अनिबद्ध रूप मे, विभाव्यन्ते = विभावित होते है, आत्मनः = अपनी, उपहास्यता परिहरन् = उपहास्यता से बचता हुआ, कः सचेतः = कौन सचेता, तान् प्रति सन्दधीत = उन्हे प्रतिसन्धान करेगा, ब्रूयात् = कोई कह सकता है, अस्त्यतिसन्धानावसरः = प्रतिसन्धान का विषय है, शब्दानां = शब्दो का, व्यंजकत्व = व्यंजकत्व है, तच्च = और वह, लिङ्गत्व = लिङ्गत्व है, गमकत्व = बोधकत्व, इसलिये, व्यंग्य प्रतीतिः = व्यंग्य की प्रतीति, लिङ्गिप्रतीतिरेव = लिङ्गी की प्रतीति ही है, इति = इस प्रकार, तेषां = उन शब्दों का, लिङ्गिलिङ्गि भाव एव = लिङ्गिलिङ्ग भाव ही है, अपरः कश्चिद् = दूसरा कोई, व्यंग्य व्यंजक भावो न = व्यंग्य व्यंजक भाव नहीं है, अतश्चैतदवश्यमेव बोद्धव्यं = और यह अवश्य जान लेना चाहिए, यस्माद् = क्योकि, त्वया इदानीमेव = आपने अभी ही वक्त्रभिप्रायापेक्षया = वक्ता के अभिप्राय की अपेक्षा से, व्यञ्जकत्व प्रतिपादितम् = व्यजकत्व का प्रतिपादन किया है, वक्त्रभिप्रायश्चानुमेय रूप एव = और वक्ता का अभिप्राय अनुमेय रूप ही है।

अर्थ—विद्वत्समाज में शब्दरहित रमणीय अर्थ को सूचित करने वाले वचन तथा व्यापार विविध प्रकार के निबद्ध और अनिबद्ध रूप में मिलते हैं, अपनी उपहास्यता से बचता हुआ कौन सचेता उन्हें प्रतिसन्धान करेगा ? कोई कह सकता है कि—प्रतिसन्धान का अवसर है, शब्दों का गमकत्व अर्थात् बोधकत्व व्यंजकत्व है और वह लिङ्गत्व है और इसलिये व्यंग्य की प्रतीति लिङ्गी की प्रतीति ही है, इस प्रकार शब्दों का लिङ्गिलिङ्ग भाव ही है, दूसरा कोई व्यंग्य व्यञ्जक भाव नहीं है, और यह अवश्य जान लेना चाहिए क्योंकि आपने अभी ही वक्ता के अभिप्राय की अपेक्षा से व्यञ्जकत्व का प्रतिपादन किया है और वक्ता का अभिप्राय अनुमय रूप ही है।

अत्रोच्यते—नन्वेवमपि यदि नाम स्यात्तत्किं नश्छिन्नम्। वाचकत्व गुणवृत्ति व्यतिरिक्तो व्यञ्जकत्व लक्षणः शब्द व्यापारोऽस्तीत्यस्माभिरभ्युपगतम्। तस्य चैवमपि न काचित् क्षतिः। तद्धि व्यञ्जकत्वं लिङ्गत्वमस्तु अन्यद्वा। सर्वथा प्रसिद्ध शाब्द प्रकार विलक्षणत्वं शब्द व्यापार विषयत्वं च तस्यास्तीति नास्त्येवावयोर्विवाद। न पुनरयं परमार्थो यद्व्यञ्जकत्वं लिङ्गत्वमेव सर्वत्र व्यंग्यप्रतीतिश्च लिङ्गिप्रतीतिरेवेति।

श्रीधरी—अत्रोच्यते=यहाँ कहते हैं, ननु एवमपि यदि नाम स्यात् = यदि इस प्रकार भी हो तो, तत्किं नश्छिन्नम्=तो भी हमारा क्या बिगड़ा है, वाचकत्व गुणवृत्ति व्यतिरिक्तो=वाचकत्व और गुण वृत्ति से व्यतिरिक्त, व्यंजकत्व लक्षण=व्यंजकत्व रूप, शब्द व्यापारोऽस्तीत्यस्माभिरभ्युपगतम्=शब्द व्यापार है, यह हमने भी स्वीकार किया है, तस्य चैवमपि=उसकी इस प्रकार भी, न काचित् क्षतिः=कोई हानि नहीं है, तद्धि=वह, व्यंजकत्व लिङ्गत्वमस्तु अन्यद्वा=व्यंजकत्व लिङ्गत्व हो या और कुछ, सर्वथा प्रसिद्ध शाब्दव्यापार विलक्षण=सर्वथा प्रसिद्ध शब्द व्यापार से विलक्षण, शब्द व्यापार विषयत्व च तस्यास्तीति नास्त्येवावयोर्विवाद.= और शब्द व्यापार का विषय है इस प्रकार हम दोनों में विवाद ही नहीं है, न पुनरयं परमार्थो यद्=यह कोई परमार्थ नहीं है कि, व्यंजकत्व लिङ्गत्वमेव=व्यंजकत्व लिङ्गत्व ही है, च=और, सर्वत्र व्यंग्य प्रतीतिः लिङ्गि प्रतीतिरेवेति=सर्वत्र व्यंग्य की प्रतीति लिङ्गी की ही प्रतीति है।

अर्थ—यहाँ कहते है—यदि इस प्रकार भी हो तो हमारा कुछ नहीं बिगड़ा है। वाचकत्व और गुण वृत्ति से व्यतिरिक्त व्यंजकत्व रूप शब्द व्यापार है, यह हमने स्वीकार किया है। उसकी इस प्रकार भी कोई हानि नहीं है। वह व्यंजकत्व लिङ्गत्व हो अथवा और कुछ सर्वथा वह प्रसिद्ध शब्द प्रकार से विलक्षण और शब्द व्यापार का विषय है, इस प्रकार हम दोनों में विवाद ही नहीं है। फिर यह कोई परमार्थ नहीं कि व्यंजकत्व लिङ्गत्व ही है और सर्वत्र व्यंग्य की प्रतीति लिङ्गी की प्रतीति ही है।

यदपि स्वपक्ष सिद्धयेऽस्मदुक्तमनूदितं त्वयावक्तभिप्रायस्य व्यंग्यत्वेनाभ्युपगमान्तत्प्रकाशने शब्दानां लिङ्गत्वमेवेति तदेतद्यथास्माभिरभिहितं तद्विभज्यं प्रतिपाद्यते श्रूयताम्—द्विविधो विषयः शब्दानाम्, अनुमेयः प्रतिपाद्यश्च। तत्रानुमेयो विवक्षालक्षण.। विवक्षा च शब्दस्वरूप प्रकाशनेच्छा शब्देनार्थ प्रकाशनेच्छा चेति द्विप्रकारा। तत्राद्या न शब्दव्यवहाराङ्गम्। सा हि प्राणित्वमात्र प्रतिपत्तिफला। द्वितीया तु शब्दविशेषावधारणावक्षित व्यवहितापि शब्दकरण व्यवहार निबन्धनम्। ते तु द्वे अप्यनुमेयो विषय. शब्दानाम्। प्रतिपाद्यस्तु प्रयोक्तुरर्थ प्रतिपादनसमीह विषयीकृतोऽर्थः।

श्रीधरी— यदपि=और भी, स्वपक्षसिद्धये=अपने पक्ष की सिद्धि के लिये, त्वया=तुमने, अस्मदुक्तमनूदितं=हमारे कथन को अनूदित किया है, वक्तभिप्रायस्य=वक्ता के अभिप्राय को, व्यंग्यत्वेनाभ्युपगमात्=व्यंग्य रूप से, तत्प्रकाशने=उसके प्रकाशन मे, शब्दाना लिङ्गत्वमेवेति=शब्द लिङ्ग ही होते हैं इसलिये, एतत्=इसे, यथास्माभिरभिहित=जैसा हमने कहा है, तद्विभज्यं प्रतिपाद्यते=उसी का अलग-२ प्रतिपादन करते है, श्रूयताम्=सुनिये, शब्दानां विषयः द्विविधः=शब्दों का विषय दो प्रकार का होता है, अनुमेय. प्रतिपाद्यश्च=अनुमेय और प्रतिपाद्य, तत्रानुमेतो=उनमे अनुमेय. विवक्षालक्षणः=विवक्षा रूप है, विवक्षा च द्विप्रकारा=विवक्षा भी दो प्रकार की है, शब्दस्वरूप प्रकाशनेच्छा=शब्द के स्वरूप को प्रकाशन की इच्छा, शब्देनार्थ प्रकाशनेच्छा च=और शब्द से अर्थ के प्रकाशन की इच्छा, तत्राद्या=उनमे पहली, न शब्द व्यवहाराङ्गम्=शब्द व्यवहार का अंग नही है, साहि=क्योकि उसका, प्राणित्वमात्रप्रतिपत्तिफला=फल प्राणित्व मात्र का ज्ञान है, तु=लेकिन, द्वितीया=दूसरी, शब्दविशेषावधारणावसितव्यवहितापि=शब्द विशेष के अवधारण से अवसित एवं व्यवहित होकर भी, शब्दकरण व्यवहार निबन्धनम्=शब्द करणक व्यवहार का निबन्धन है, ते तु द्वे अपि=वे दोनों ही, शब्दानां=शब्दो का, विषय. अनुमेयः=अनुमेय विषय हैं, प्रतिपाद्यस्तु=प्रतिपाद्य तो, प्रयोक्तु=प्रयोक्ता की, अर्थ प्रतिपादन समीहा विषयी कृतोऽर्थः=अर्थ प्रतिपादन की इच्छा से विषयीकृत अर्थ है।

अर्थ—और जो कि अपने पक्ष की सिद्धि के लिये तुमने हमारे कथन को अनूदित किया है कि वक्ता के अभिप्राय को व्यंग्य रूप से स्वीकार करने के कारण उस व्यंग्य के प्रकाशन मे शब्द लिंग ही होते है तो इसे जैसा हमने कहा है उसे प्रतिपादन करते है, सुनिये - शब्दों का विषय दो प्रकार का होता है—अनुमेय और प्रतिपाद्य। उनमे-अनुमेय विवक्षा रूप है। विवक्षा भी दो प्रकार की है, शब्द के स्वरूप के प्रकाशन की इच्छा और शब्द से अर्थ के प्रकाशन की इच्छा, उनमे पहली शब्द व्यवहार का अंग नहीं है क्योकि उसका फल प्राणित्व मात्र का ज्ञान है परन्तु

दूसरी शब्द विशेष के अवधारण से अवसित एवं व्यवहित होकर भी शब्दकरणक व्यवहार का निबन्धन है, वे दोनों ही शब्दों के विषय अनुमेय है। प्रतिपाद्य तो प्रयोक्ता की अर्थ प्रतिपादन की इच्छा से विषयीकृत अर्थ है।

स च द्विविधः—वाच्यो व्यंग्यश्च। प्रयोक्ता हि कदाचित्स्वशब्देनार्थं प्रकाशयितुं समीहते कदाचित्स्वशब्दानभिधेयत्वेन प्रयोजनापेक्षया कयाचित्। स तु द्विविधोऽपि प्रतिपाद्योविषयः शब्दानां न लिंगितया स्वरूपेण प्रकाशते, अपि तु कृत्रिमेणाकृत्रिमेण वा सम्बन्धान्तरेण। विवक्षाविषयत्वं हि तस्यार्थस्य शब्दैर्लिङ्गितया प्रतीयते न तु स्वरूपम्। यदि हि लिंगितया तत्र शब्दानां व्यापारः स्यात्तच्छब्दार्थे सम्यङ् मिथ्यात्वादि विवादा एव न प्रवर्तेरन धूमादि लिंगानुमितानुमेयान्तरवत्। व्यंग्यश्चार्थो वाच्यसामर्थ्या-क्षिप्ततया वाच्यवच्छब्दस्य सम्बन्धी भवत्येव। साक्षादसाक्षाद्भावो हि सम्बन्धस्या प्रयोजकः। वाच्य वाचक भावाश्रयत्वं च व्यञ्जकत्वस्य प्रागेव दर्शितम्। तस्माद्वक्तृभिप्रायरूप एव व्यंग्ये लिंगतया शब्दाना व्यापार। तद्विषयो कृते तु प्रतिपाद्यतया। प्रतीयमाने तस्मिन्नभिप्राय-रूपेऽनभिप्राय रूपे च वाचकत्वे नैव व्यापारः सम्बन्धान्तरेण वा। न तावद्वाचकत्वेन यथोक्तं प्राक्।

श्रीधरी—स च द्विविधः=और वह दो प्रकार का है, वाच्यो व्यंग्यश्च= वाच्य और व्यंग्य, प्रयोक्ता हि कदाचित् स्वशब्देन अर्थ प्रकाशयितु समीहते= प्रयोक्ता कभी अपने शब्द से अर्थ का प्रतिपादन करना चाहता है कदाचित् कदाचित् अपेक्षया=कभी किसी अपेक्षा से, स्वशब्दानभिधेयत्वेन=अपने शब्द के अनभिधेय रूप से, स तु द्विविधोऽपि=वह दो प्रकार का भी, प्रतिपाद्यो विषयः=प्रतिपाद्य विषय लिङ्गितया=लिंग रूप से, स्वरूपेण न प्रकाशते=स्वरूपतः प्रकाशित नहीं होता, अपि तु=लेकिन, कृत्रिमेणाकृत्रिमेण वा कृत्रिम या अकृत्रिम, सम्बन्धान्तरेण= सम्बन्धान्तर से, शब्दैः तस्यार्थस्य विवक्षाविषयत्व हि=शब्दों से इस अर्थ का विवक्षा विषयत्व, लिङ्गितया प्रतीयते=लिंगी अर्थात् अनुमेय रूप से प्रतीत होता है, न तु स्वरूपम्=अर्थ का स्वरूप प्रतीत नहीं होता, यदि हि लिंगितया तत्र शब्दाना-व्यापारः स्यात्=यदि वहाँ शब्दों का व्यापार लिंगी रूप से हो, तद्=तो, धूमादि-लिंगानुमितानुमेयान्तरवत्=धूम आदि लिंग से अनुमित अन्य अनुमेय की भांति, शब्दार्थे शब्द के अर्थ में, सम्यङ्मिथ्यात्वादि विवादा एव न प्रवर्तेरन्–सम्यक् है या मिथ्या है, ऐसे विवाद ही न हो, व्यंग्यश्चार्थो=और व्यंग्य अर्थ, वाच्यसामर्थ्या-क्षिप्ततया=वाच्य के सामर्थ्य से आक्षिप्त होने के कारण, वाच्यवच्छब्दस्य=वाच्य की भांति शब्द का, सम्बन्धी भवत्येव=सम्बन्धी होता ही है. हि=क्योंकि, साक्षादसाक्षाद्भावो=साक्षात् और असाक्षाद्भाव सम्बन्ध स्याप्रयोजकः=सम्बन्ध का प्रयोजक नहीं है, च=और, वाच्यवाचक भावाश्रय व व्यंजकत्वस्य=व्यंजकत्व का

वाच्यवाचक भावाश्रयत्व, प्रागेव दर्शितम्=पहले ही दिखाया जा चुका है। तस्माद्वक्त्रभिप्राय रूप एव व्यंग्ये=इसलिये वक्ता के अभिप्राय रूप ही व्यंग्य में, लिंगतया शब्दानां व्यापारः=लिंग रूप से शब्दों का व्यापार होता है, तद्विषयीकृते तु=उसके द्वारा विषयीकृत अर्थ में, प्रतिपाद्यतया=प्रतिपाद्य रूप से, अभिप्राय रूपेऽनभिप्रायरूपे च=अभिप्राय रूप और अनभिप्राय रूप, तस्मिन् प्रतीयमाने=उस प्रतीयमान में, वाचकत्वेनैव व्यापारः सम्बन्धान्तरेण वा=वाचकत्व में ही व्यापार होगा या सम्बन्धान्तर से, न तावद्वाचकत्वेन=वाचकत्व से तो नहीं होगा, यथोक्त प्राक् = जैसा कि पहले कहा जा चुका है।

अर्थ—और वह दो प्रकार का है वाच्य और व्यंग्य। (श्रोता कभी अपने शब्द से अर्थ का प्रतिपादन करना चाहता है, कभी प्रयोजन की किसी अपेक्षा से अपने शब्द के अनभिधेय रूप से। वह दोनों प्रकार का भी शब्दों का प्रतिपाद्य विषय लिंगी रूप से स्वरूपतः प्रकाशित नहीं होता, अपितु कृत्रिम या अकृत्रिम सम्बन्धान्तर से। शब्दों से इस अर्थ का विवक्षा विषयत्व लिंगी रूप से प्रतीत होता है अर्थ का स्वरूप प्रतीत नहीं होता। यदि वहाँ शब्दों का व्यापार लिंगी रूप से हो तो धूम आदि लिंग से अनुमित अन्य अनुमेय की भांति शब्द के अर्थ में सम्यक् है या मिथ्या है, ऐसे विवाद ही न हो और व्यंग्य अर्थ वाच्य के सामर्थ्य से आक्षिप्त होने के कारण वाच्य की भांति शब्द का सम्बन्धी होता ही है क्योंकि साक्षात् और असाक्षात् भाव सम्बन्ध का प्रयोजक नहीं है और व्यंजकत्व का वाच्यवाचक भावाश्रयत्व पहले ही दिखाया जा चुका है। इसलिये वक्ता के अभिप्राय रूप ही व्यंग्य में लिंग रूप से शब्दों का व्यापार होता है और उसके द्वारा विषयीकृत अर्थ में प्रतिपाद्य रूप से। अभिप्राय रूप और अनभिप्राय रूप उस प्रतीयमान में वाचकत्व से ही व्यापार होगा या सम्बन्धान्तर से? वाचकत्व से तो नहीं होगा जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है।

सम्बन्धान्तरेण व्यञ्जकत्वमेव। न च व्यञ्जकत्वं लिंगित्वरूपमेव आलोकादिष्वन्यथा दृष्टत्वात्। तस्मात्प्रतिपाद्यो विषयः शब्दानां न लिंगित्वेन सम्बन्धी वाच्यवत्। यो हि लिंगित्वेन तेषां सम्बन्धी यथा दर्शितो विषयः स न वाच्यत्वेन प्रतीयते, अपि तूपाधित्वेन। प्रतिपाद्यस्य च विषयस्य लिंगित्वे तद्विषयाणां विप्रतिपत्तीनां लौकिकैरेव क्रियमाणानामभावः प्रसज्येतेति। एतच्चोक्तमेव।

चौधरी—सम्बन्धान्तरेण व्यञ्जकत्वमेव=सम्बन्धान्तर से व्यंजकत्व ही है, न च व्यंजकत्वं=और व्यंजकत्व, लिंग रूप मेव=लिंग रूप नहीं है आलोकादिष्वन्यथा दृष्टत्वात्=आलोक आदि में अन्यथा देखा जा चुका है, तस्मात्= इसलिये, शब्दानां प्रतिपाद्योविषयः=शब्दों का प्रतिपाद्य विषय, वाच्यवत्=वाच्य की तरह, लिंगित्वेन न सम्बन्धी=लिंगी रूप से सम्बन्ध नहीं रखता, यो हि=जो, लिंगित्वेन तेषां

सम्बन्धी=लिंगी रूप से उनका सम्बन्धी है, यथा दर्शितो विषयः=जैसा विषय दिखाया जा चुका है, स न वाच्यत्वेन प्रतीयते=वह वाच्य रूप से प्रतीत नही होता, अपितूपाधित्वेन=अपितु उपाधि रूप से, च=और, प्रतिपाद्यस्य विषयस्य=प्रतिपाद्य विषय के, लिंगित्वे=लिंगी होने मे, तद्विषयाणा विप्रतिपत्तीना लौकिकैरेव क्रियमाणानामभाव: प्रसज्येतेति=उनके सम्बन्ध की लौकिक लोगों द्वारा ही की गई विप्रतिपत्तियो का अभाव प्रसक्त होगा। एतच्चोक्तमेव=इसे कह चुके है।

अर्थ—सम्बन्धान्तर से व्यंजकत्व ही है और व्यजकत्व लिंगत्व रूप नही है, आलोक आदि मे अन्यथा देखा जा चुका है, इसलिये शब्दो का प्रतिपाद्य विषय वाच्य की तरह ही लिंगी रूप से सम्बन्ध नहीं रखता। जो लिंगी रूप से उनका सम्बन्धी है, जैसा कि विषय मे दिखाया जा चुका है, वह वाच्य रूप से प्रतीत नही होता, अपितु उपाधि रूप से, और प्रतिपाद्य विषय के लिंगी होने मे उनके सम्बन्ध की लौकिक लोगो द्वारा ही की गई विप्रतिपत्तियों का अभाव प्रसक्त होगा, इसे कह ही चुके है।

यथा च वाच्य विषये प्रमाणान्तरानुगमेन सम्यक्त्वप्रतीतौ क्वचित्क्रियमाणायां तस्य प्रमाणान्तर विषयत्वे सत्यपि न शब्द व्यापार विषयताहानिस्तद् व्यंग्यस्यापि। काव्य विषय च व्यंग्यप्रतीतीनां सत्यासत्य निरूपणस्याप्रयोजकत्वमेवति तत्र प्रमाणान्तर व्यापारपरीक्षोपहासायैव सम्पद्यते। तस्माल्लिंगिप्रतीतिरेव सर्वत्र व्यंग्यप्रतीतिरिति न शक्यते वक्तुम्।

श्रीधरी—यथा च=और जैसे, वाच्यविषये=वाच्य के विषय मे, प्रमाणान्तरानुगमेन=प्रमाणान्तर के अनुगमन से क्वचित्=कही पर, सम्यक् प्रतीतौ क्रियमाणायां=सम्यक् प्रतीति करने पर, तस्य प्रमाणान्तर विषयत्वे=उसके प्रमाणान्तर का विषय होने पर, सत्यपि=भी, न शब्द व्यापार विषयता हानिः=शब्द व्यापार विषयत्व की हानि नही है, तद्=उसी प्रकार, व्यंग्यस्यापि=व्यंग्य की भी, च=और, काव्य विषये=काव्य के विषय मे, व्यंग्य प्रतीतीनां=व्यंग्य की प्रतीतियो का, सत्यासत्य निरूपणस्याप्रयोजकत्वमेवेति=सत्यासत्य निरूपण अप्रयोजक ही है, इसलिये तत्र=वहाँ प्रमाणान्तरव्यापार परीक्षोपहासायैव सम्पद्यते=प्रमाणान्तर के व्यापार की परीक्षा उपहासास्पद ही होगी, तस्मात्=इसलिये, लिंगिप्रतीतिरेव=लिंगी की प्रतीति ही, सर्वत्र व्यंग्य प्रतीतिः=सर्वत्र व्यंग्य की प्रतीति है, इति न शक्यते वक्तुम्=ऐसा नही कह सकते।

अर्थ—और जैसे वाच्य के विषय में प्रमाणान्तर के अनुगमन से कही पर सम्यक्त्व की प्रतीति करने पर उसके प्रमाणान्तर का विषय होने पर भी शब्द व्यापार विषयत्व की हानि नहीं होती उसी प्रकार व्यंग्य की भी, और काव्य के विषय मे व्यंग्य की प्रतीतियों का सत्यासत्य निरूपण अप्रयोजक ही है, इसलिये वहाँ

प्रमाणान्तर के व्यापार की परीक्षा उपहासास्पद ही होगी। इसलिये लिंगी की प्रतीति ही सर्वत्र व्यंग्य की प्रतीति है, यह नहीं कह सकते।

यत्त्वनुमेयरूप व्यंग्यविषयं शब्दानां व्यञ्जकत्वं तद् ध्वनिव्यवहारस्याप्रयोजकम्। अपि तु व्यञ्जकत्व लक्षण. शब्दानां व्यापार औत्पत्तिक-शब्दार्थ सम्बन्धादिनाप्यभ्युपगन्तव्य इति प्रदर्शनार्थमुपन्यस्तम्। तद्धि व्यंजकत्व कदाचिल्लिङ्गित्वेन कदाचिद्रूपान्तरेण शब्दानां वाचकानामवाचकानां च सर्ववादिभिरप्रतिक्षेप्यमित्ययमस्माभिर्यत्न आरब्धः। तदेव गुणवृत्ति वाचकत्वादिभ्यः शब्दप्रकारेभ्यो नियमेनैव तावद्विलक्षणं व्यंजकत्वम्। तदन्त पातित्वेऽपि तस्य हठादभिधीयमाने तद्विशेषस्य ध्वनेर्यत्प्रकाशनं विप्रतिपत्ति निरासाय सहृदय व्युत्पत्तये वा तत्क्रियमाणमनतिसन्धेयमेव। न हि सामान्यमात्र लक्षणेनोपयोगि विशेषलक्षणानां प्रतिक्षेपः शक्यः कर्तुम्। एवं हि सति सत्तामात्र लक्षणे कृते सकलसद्वस्तु लक्षणानां पौनरुक्त्यप्रसंग.'। तदेवम्—

श्रीधरी - यत्त्वनुमेय रूप व्यंग्यविषय = जो अनुमेय रूप व्यंग्य के विषय वाला, शब्दाना व्यंजकत्व = शब्दों का व्यंजकत्व है, तद् = वह, ध्वनि व्यवहारस्याप्रयोजकम् = ध्वनि व्यवहार का प्रयोजक नहीं है, अपितु शब्दाना व्यञ्जकत्व लक्षण. = शब्दों के व्यंजकत्व रूप व्यापार को, व्यापार औत्पत्तिक शब्दार्थ सम्बन्धादिनाप्यभ्युपगन्तव्य = शब्दार्थ सम्बन्ध को औत्पत्तिक मानने वाले को भी स्वीकार करना चाहिये, इति प्रदर्शनार्थ = यह दिखाने के लिये, उपन्यस्तम् = प्रदर्शित किया गया है. वाचकानामवाचकानां च शब्दानां = वाचक और अवाचक शब्दों के, तद व्यंजकत्व = उस व्यंजकत्व को, कदाचि लिंगित्वेन = कभी अनुमान के द्वारा, कदाचिद्रूपान्तरेण = कभी रूपान्तर के द्वारा, सर्ववादिभिः = सभी वादियों को, अप्रतिक्षेप्यम् = मानना ही चाहिये, इत्ययमस्माभिर्यत्नआरब्धः = इसलिये हमने यह प्रयत्न किया है, तदेव = तो इस प्रकार गुणवृत्ति वाचकत्वादिभ्य = गुणवृत्ति वाचकत्व आदि शब्द प्रकारेभ्यो = शब्द के प्रकारों से, व्यञ्जकत्वं नियमेनैव तावद्विलक्षणम् = व्यञ्जकत्व नियमतः ही विलक्षण है, तदन्तः पातित्वेऽपि तस्य = हठात् अभिधा में व्यंजकत्व को अन्तर्मुक्त करने पर भी, तद्विशेषस्य ध्वनेर्यत्प्रकाशनं = उसके विशेष रूप ध्वनि का जो प्रकाशन विप्रतिपत्ति निरासाय = विप्रतिपत्तियों के निराकरण के लिये, सहृदय व्युत्पत्तयेवा = या सहृदयों की व्युत्पत्ति के लिये, क्रियमाण = किया जा रहा है, तत् अनतिसन्धेयमेव = उसे अनिसधान नहीं किया जा सकता, सामान्यमात्र लक्षणेन = सामान्य मात्र के लक्षण कर देने पर, उपयोगी विशेष लक्षणानां = उपयोगी विशेष के लक्षणों का, प्रतिक्षेपः न शक्य. कर्तुम् = निराकरण नहीं किया जा सकता, हि = क्योंकि, एवं सति = ऐसा होने पर सत्तामात्र लक्षणे कृते = सत्तामात्र के लक्षण कर दिये जाने पर, सकल.

सद्वस्तुलक्षणानां=समग्रसद् वस्तुओं का, पौनरुक्त्य प्रसगः=पौनरुक्त का प्रसंग होगा, तदेवम्=तो इस प्रकार—

अर्थ - जो अनुमेय रूप व्यंग्य के विषय वाला शब्दों का व्यञ्जकत्व है, वह ध्वनि व्यवहार का प्रयोजक नहीं है, अपितु शब्दों के व्यंजकत्व रूप व्यापार को शब्दार्थ सम्बन्ध को औत्पत्तिक मानने वाले को भी स्वीकार करना चाहिए, यह दिखाने के लिये उपन्यस्त किया है। वाचक और अवाचक शब्दों के उस व्यञ्जकत्व को कभी अनुमान के द्वारा कभी रूपान्तर के द्वारा सभी वादियों को मानना ही होगा, इसलिये हमने यह प्रयत्न किया है। तो इस प्रकार गुणवृत्ति वाचकत्व आदि शब्द के प्रकारों से व्यंजकत्व नियमतः ही विलक्षण है। हठात् अभिधा में व्यंजकत्व को अन्तर्भुक्त करने पर भी उसके विशेष रूप ध्वनि का जो प्रकाशन विप्रतिपत्तियों के निराकरण के लिये अथवा सहृदयों की व्युत्पत्ति के लिये किया जा रहा है, उसे प्रति सन्धान नहीं किया जा सकता, सामान्य मात्र के लक्षण कर देने से उपयोगी विशेष के लक्षणों का निराकरण नहीं किया जा सकता, क्योंकि ऐसा होने पर सत्तामात्र का लक्षण कर दिये जाने पर समस्त सद्वस्तुओं का पौनरुक्त प्रसंग होगा। तो इस प्रकार -

> **विमतिविषयो य आसीन्मनीषिणां सततमविदित सतत्वः ।**
> **ध्वनिसञ्जितः प्रकारः काव्यस्य व्यंजितः सोऽयम् ॥**
> **प्रकारोऽन्यो गुणीभूत व्यंग्यः काव्यस्य दृश्यते ।**
> **यत्र व्यंग्यान्वये वाच्यचारुत्वं स्यात्प्रकर्षवत् ॥३४॥**

श्रीधरी सततमविदित सतत्वः=सदा से अविदित स्वरूप होने के कारण, यः - जो, मनीषिणा = विद्वान् लोगों के, विमति विषयः आसीत्=मत पार्थक्य का विषय था, काव्यस्य=काव्य के, ध्वनि सञ्ज्ञितः=ध्वनि नामक, स प्रकारः= उस प्रकार को अयं व्यञ्जितः=यह व्यञ्जित किया गया।

यत्र=जहाँ, व्यंग्यान्वये=व्यंग्य का सम्बन्ध होने पर, वाच्यस्य चारुत्व प्रकर्षवत् स्यात्=वाच्य का चारुत्व प्रकृष्ट होता है, काव्यस्य=काव्य का (वहाँ) अन्य प्रकारः=दूसरा प्रकार, गुणीभूत व्यंग्यः दृश्यते=गुणीभूत व्यंग्य देखा जाता है।

अर्थ - सदा जो अविदित स्वरूप होने के कारण जो विद्वान् लोगों के मत पार्थक्य का विषय था काव्य के ध्वनि नामक उस प्रकार को व्यंजित किया गया।

जहाँ व्यंग्य का सम्बन्ध होने पर वाच्य का चारुत्व प्रकृष्ट होता है काव्य का वहाँ अन्य प्रकार गुणीभूत व्यंग्य दृष्टिगत होता है।

व्यंग्योऽर्थो ललनालावण्य प्रख्यो यः प्रतिपादितस्तस्य प्राधान्ये ध्वनिरित्युक्तम्। तस्य तु गुणीभावेन वाच्यचारुत्व प्रकर्षे गुणीभूतव्यंग्यो

नामकाव्य प्रभेदः प्रकल्प्यते । तत्र वस्तुमात्रस्य व्यंग्यस्य तिरस्कृत वाच्येभ्यः प्रतीयमानस्य कदाचिद्वाच्यरूप वाक्यार्थापेक्षया गुणीभावे सति गुणीभूत व्यंग्यता ।

यथा —

> लावण्यसिन्धुरपरैव हि केयमत्र,
> यत्रोत्पलानि शशिना सह सम्प्लवन्ते ।
> उन्मज्जति द्विरदकुम्भतटी च यत्र,
> यत्रापरे कदलिकाण्डमृणाल दण्डाः ॥

श्रीधरी— ललनालावण्यरूपो यः व्यंग्योऽर्थः = ललना के लावण्य के समान जो व्यंग्य अर्थ, प्रतिपादितः = प्रतिपादन किया गया है. तस्य प्राधान्ये = उसके प्राधान्य मे ध्वनिरित्युक्तम् = ध्वनि होती है, यह कहा जा चुका है. नु = किन्तु, तस्य = उसके, गुणीभावेन वाच्य चारुत्व प्रकर्ष = वाच्य के चारुत्व का प्रकर्ष होने पर, गुणीभूत व्यंग्योनाम काव्यप्रभेदः प्रकल्प्यते = गुणीभूत व्यंग्य नाम का काव्य प्रभेद कल्पित किया जाता है. तत्र = वहाँ, वस्तुमात्रस्य व्यंग्यस्य तिरस्कृत वाच्येभ्यः प्रतीयमानस्य = तिरस्कृत वाच्य वाले शब्दो से प्रतीयमान व्यंग्य का, कदाचिद् वाच्य रूप वाक्यार्थापेक्षया = कभी वाच्य रूप वाक्यार्थ की अपेक्षा, गुणी भावेसति गुणीभूत व्यंग्यता = गुणीभूत व्यंग्यता होती है, यथा = जैसे —

अत्र = यहाँ, इयं = यह, का = कौन अपरैव लावण्यसिन्धुः = विलक्षण ही लावण्य की नदी है, यत्र = जिसमे, शशिना सह = चन्द्रमा के साथ, उत्पलानि सम्प्लवन्ते = कमल तैर रहे हैं, यत्र च = और जिसमे, द्विरदकुम्भतटी उन्मज्जति = हाथी के गाल का अग्रभाग निकल रहा है यत्र = और जिसमे, अपरे = विलक्षण ही, कदलिकाण्डमृणालदण्डाः = कदलीकाण्ड और मृणालदण्ड है ।

-**अर्थ** ललना के लावण्य के समान जो व्यंग्य अर्थ प्रतिपादित किया गया है, उसके प्राधान्य मे ध्वनि होती है, यह बात कही जा चुकी है, किन्तु व्यंग्य के गुणीभाव से वाच्य के चारुत्व का प्रकर्ष होने पर गुणीभूतव्यंग्य नामक काव्य का प्रभेद कल्पित किया जाता है, वहाँ तिरस्कृत वाच्य वाले शब्दो से प्रतीयमान व्यंग्य का कभी वाच्य रूप वाक्यार्थ की अपेक्षा गुणीभाव होने पर गुणीभूत व्यंग्यता होती है । जैसे—

.यहाँ यह कौन विलक्षण ही लावण्य की नदी है जिसमे चन्द्रमा के साथ कमल तैर रहे है, जिसमे हाथी के गाल का अग्रभाग निकल रहा है और जिसमे विलक्षण ही कदली काण्ड और मृणाल दण्ड है ।

अतिरस्कृत वाच्येभ्योऽपि शब्देभ्यः प्रतीयमानस्य व्यंग्यस्य कदाचिद्वाच्यप्राधान्येन काव्य चारुत्वापेक्षया गुणीभावे सति गुणीभूत व्यंग्यता, यथोदाहृतम् — अनुरागवतीसन्ध्या' इत्येवमादि । तस्यव

स्वयमुक्त्या प्रकाशीकृतत्वेन गुणीभावः, यथोदाहृतम्—"सङ्केतकालमनसम्" इत्यादि। रसादिरूप व्यंग्यस्य गुणीभावो रसवदलङ्कारे दर्शितः, तत्र च तेषामाधिकारिक वाक्यापेक्षया—गुणीभावो विवहनप्रवृत्तभृत्यानुयायिराजवत्। व्यंग्यालङ्कारस्य गुणीभावे दीपकादि विषयः।

तथा –

श्रीधरी अतिरस्कृत वाच्येभ्योऽपि शब्देभ्य.=अतिरस्कृत वाच्य भी शब्दो मे, प्रतीयमानस्य व्यग्यस्य=प्रतीयमान व्यग्य की, कदाचिद्वाच्य प्राधान्येन=कभी वाच्य के प्राधान्य से, काव्य चारुत्वापेक्षया गुणीभावे सति=काव्य चारुत्व की अपेक्षा गुणीभाव होने पर, गुणीभूत व्यग्यता=गुणीभूत व्यग्यता होती है, यथोदाहृतम्= जैसे उदाहरण दे चुके है, अनुरागवतीसन्ध्या इत्येवमादि='अनुरागवती सन्ध्या' इत्यादि, तस्यैव=उसी व्यंग्य का, स्वयमुक्त्या प्रकाशी कृतत्वेन=स्वयं उक्ति से प्रकाशित होने पर, गुणीभावः=गुणीभाव होता है, यथोदाहृतम्=जैसे –उदाहरण दे चुके है, सकेत कालमनसम इत्यादि=सकेतकाल मनसं इत्यादि, रसादि रूप व्यग्यस्य गुणीभावो=रसादि रूप व्यग्य का गुणीभाव, रसवदलङ्कारेदर्शितः=रसवद् अलकार मे दिखाया जा चुका है, तत्र च तेषां=वहाँ उनका, आधिकारिक वाक्यापेक्षया गुणीभावो=आधिकारिक वाक्य की अपेक्षा गुणीभाव, विवहन प्रवृत्तभृत्यानुयायिराजवत्=विवाह मे प्रवृत्त भृत्य का अनुगमन करने वाले राजा की तरह होता है, व्यंग्यालकारस्य गुणीभावे दीपकादि विषय.=व्यंग्य अलकार के गुणीभाव मे दीपक आदि विषय हैं, तथा=उस प्रकार—

अर्थ अतिरस्कृत वाच्य भी शब्दो से प्रतीयमान व्यग्य की कभी वाच्य के प्राधान्य से काव्य चारुत्व की अपेक्षा गुणीभाव होने पर गुणीभूत व्यंग्यता होती है जैसे—उदाहरण दे चुके है—'अनुरागवती सन्ध्या' इत्यादि उसी व्यंग्य का स्वय उक्ति से प्रकाशित होने पर गुणीभाव होता है, जैसे उदाहरण दे चुके हैं—'सङ्केत काल मनसं' इत्यादि, रसादि रूप व्यंग्य का गुणी भाव रसवद् अलकार में दिखाया गया है, वहा उनका आधिकारिक वाक्य की अपेक्षा गुणीभाव विवाह मे प्रवृत्त भृत्य का अनुगमन करने वाले राजा की तरह होता है, व्यंग्य अलकार के गुणी भाव मे दीपक आदि विषय है। इस प्रकार—

प्रसन्नगम्भीरपदाः काव्यबन्धाः सुखावहाः।
ये च तेषु प्रकारोऽयमेव योज्यः सुमेधसा ॥३५॥

ये चैतेऽपरिमितस्वरूपा अपि प्रकाशमानास्तथाविधार्थ रमणीयाः सन्तो विवेकिनां सुखावहाः काव्यबन्धास्तेषु सर्वेष्वायं प्रकारो गुणीभूत व्यंग्यो नाम योजनीयः यथा –

श्रीधरी—प्रसन्नगम्भीरपदाः=प्रसन्न और गंभीर पद वाले, ये च

सुखावहाः काव्यबन्धाः=जो सुखावह काव्यबन्ध होते हैं, तेषु=उनमें, सुमेधसा= बुद्धिमान् को, अयमेव प्रकारो योज्यः=यही प्रकार जोड़ना चाहिए।

ये चैतेऽपरिमितस्वरूपा अपि=और जो ये अपरिमित स्वरूप भी प्रकाशमाना=प्रकाशमान, तथाविधार्थ रमणीयाः सन्तो=उस प्रकार के अर्थ रमणीय होते हुए, विवेकिना सुखावहा.=विवेकी जनों के सुखावह, काव्यबन्धाः=काव्यबन्ध है, तेषु सर्वेषु= उन सभी मे, अय=यह, गुणीभूत व्यङ्ग्यो नाम प्रकारो योजनीय.= गुणीभूत व्यग्य नाम का प्रकार जोडना चाहिए, यथा= जैसे –

अर्थ—प्रसन्न और गम्भीर पद वाले जो सुखावह काव्यबन्ध होते हैं, उनमें बुद्धिमान् को यही प्रकार जोडना चाहिए।

और जो ये अपरिमित स्वरूप भी प्रकाशमान उस प्रकार के अर्थ रमणीय होते हुए विवेकी जनो के सुखावह काव्यबन्ध हैं, उन सभी में यह गुणीभूत व्यग्य नामक प्रकार जोड़ना चाहिए। जैसे—

लच्छी दुहिदा जामाउओ हरी तंस घरिणिआ गङ्गा।
अमिअमिअङ्का अ सुआ अहो कुडुम्बं महोअरिणो॥

श्रीधरी– लक्ष्मी दुहिता=पुत्री लक्ष्मी है, जामाता हरिः=दामाद विष्णु है, तस्य गृहिणी गगा=और पत्नी गगा है, अमृत मृगांकाः च सुताः=अमृत और चन्द्रमा पुत्र है, अहो कुटुम्ब महोदधेः=ओह, क्या सुन्दर परिवार है समुद्र का।

अर्थ– पुत्री लक्ष्मी और दामाद विष्णु है, पत्नी गंगा है अमृत और चन्द्रमा पुत्र है. ओह, समुद्र का क्या सुन्दर परिवार है।

वाच्यालङ्कारवर्गोऽयं व्यंग्यांशानुगमे सति।
प्रायेणैव परां छायां बिभ्रल्लक्ष्ये निरीक्ष्यते॥३६॥

वाच्यालंकार वर्गोऽयं व्यंग्यांशस्यालंकारस्य वस्तुमात्रस्य वा यथायोगमनुगमेसति च्छायातिशयं विभ्रल्लक्षणकारैरेकदेशेन दर्शितः। स तु तथारूप प्रायेण सर्वएव परीक्ष्यमाणो लक्ष्ये निरीक्ष्यते।

श्रीधरी- अयं वाच्यालंकार वर्गः=यह वाच्यालंकार वर्ग, व्यंग्यांशानुगमेसति=व्यंग्य अंश का अनुगम होने पर, प्रायेणैव=प्रायः करके, परा छायां बिभ्रत्= अतिशय शोभा को धारण करता हुआ, लक्ष्ये निरीक्ष्यते=लक्ष्य मे देखा जाता है।

अयं वाच्यालङ्कार वर्गः=यह वाच्यालङ्कार वर्ग, व्यंग्यांशस्यालङ्कारस्य= व्यंग्यांश अलंकार, वा=या, वस्तुमात्रस्य=वस्तुमात्र का, यथायोगमनुगमे सति= यथायोग्य अनुगमन होने पर, छायातिशयं विभ्रल्लक्षणकारैः=अतिशय शोभा को धारण करता हुआ लक्षणकारों द्वारा, एकदेशेन दर्शितः=एक देश से अर्थात् स्थाली पुलाक न्याय से दिखाया गया है, तथारूपः स तु=उस प्रकार का वह, परीक्ष्यमाणः=

परीक्षा करने पर, प्रायेण सर्व एव लक्ष्ये निरीक्ष्यते=प्राय: सभी लक्ष्य में देखा जाता है।

अर्थ—यह वाच्य अलंकार वर्ग व्यंग्य अंश का अनुगमन होने पर प्राय अतिशय शोभा को धारण करता हुआ लक्ष्य में देखा जाता है।

यह वाच्य अलंकार वर्ग व्यंग्यांश अलकार अथवा वस्तु मात्र का यथायोग्य अनुगमन होने पर अतिशय शोभा को धारण करता हुआ लक्षणकारों के द्वारा एक देश में अर्थात् स्थाली पुलाक न्याय से दिखाया गया है उस प्रकार का वह परीक्षा करने पर प्राय सभी लक्ष्य मे देखा जाता है।

तथा हि—दीपकसमासोक्त्यादिवदन्येऽप्यलंकाराः प्रायेण व्यंग्यालंकारान्तर संस्पर्शिनोदृश्यन्ते । यतः प्रथमं तावदतिशयोक्तिगर्भता सर्वालङ्कारेषु शक्यक्रिया। कृतैव च सा महाकविभिः कामपि काव्यच्छविं पुष्यति, कथं ह्यतिशय योगिता स्वविषयौचित्येन क्रियमाणा सती काव्ये नोत्कर्षमावहेत् । भामहेनाप्यतिशयोक्तिलक्षणे यदुक्तम्—

सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यं कोऽलङ्कारोऽनया विना ॥इति॥

श्रीधरी—तथाहि=जैसा कि, दीपक समासोक्त्यादिवदन्येऽप्यलकारा.=दीपक, समासोक्ति आदि की तरह अन्य अलकार भी, प्रायेण=प्राय, व्यग्यालकारान्तर-वस्त्वन्तरसस्पर्शिनो=व्यंग्य अलकारान्तर और वस्त्वन्तर का स्पर्श करने वाले, दृश्यन्ते=दृष्टिगोचर होते है, यत.=क्योकि, प्रथमं तावत्=पहले तो, अतिशयोक्तिगर्भता सर्वालंकारेषु शक्यक्रिया=सब अलकारों मे अतिशयोक्ति गर्भता हो सकती है महाकविभि.=महाकवियो के द्वारा, कृतैव सा=की जाने पर ही वह, कामपिकाव्यच्छवि पुष्यति=कुछ अनोखी काव्य शोभा को परिपुष्ट करती है, हि=क्योकि, अतिशययोगिता स्वविषयौचित्येन=अतिशययोगिता अपने विषय के औचित्य से, क्रियमाणा सती=की जाने पर, काव्ये कथं नोत्कर्षमावहेत्=काव्य मे कैसे उत्कर्ष नही लायेगी, भामहेनापि=भामह ने भी, अतिशयोक्तिलक्षणे=अतिशयोक्ति के लक्षण मे, यदुक्तम्=जो यह कहा है—

सैषा सर्वैव वक्रोक्तिः=यह सभी ही अतिशयोक्ति वक्रोक्ति है, अनया=इस मे, अर्थ विभाव्यते=अर्थ शोभित हो जाता है, अस्याम्=इसमें, कविना यत्नः कार्य.=कवि को यत्न करना चाहिये, अनया विना=इसके विना, कः अलकारः=कौन अलकार है।

अर्थ—जैसा कि दीपक, समासोक्ति आदि की तरह अन्य भी अलंकार प्रायः व्यग्य अलकारान्तर और वस्त्वन्तर का स्पर्श करने वाले दृष्टिगोचर होते हैं, क्योंकि पहले तो सभी अलकारों मे अतिशयोक्ति गर्भता हो सकती है, महाकवियों के द्वारा

की जाने पर ही वह कुछ अपूर्व काव्य काव्य-सौन्दर्य को परिपुष्ट करती है क्योंकि अतिशययोगिता अपने विषय के औचित्य से की जाने पर काव्य में कैसे उत्कर्ष को नहीं लायेगी। भामह ने भी अतिशयोक्ति के लक्षण में यह कहा है—

यह सभी ही अतिशयोक्ति वक्रोक्ति है, इससे अर्थ शोभित हो जाता है, इसमें कवि को प्रयत्न करना चाहिए, इसके बिना कौन अलंकार है।

तत्रातिशयोक्तिर्यमलंकारमधितिष्ठति कविप्रतिभावशात्तस्यचारुत्वातिशययोगोऽन्यस्य वस्त्वलंकारमात्रतैवेति सर्वालंकारशरीरस्वीकरणयोग्यत्वेनाभेदोपचारात्सैव सर्वालंकाररूपेत्ययमेवार्थोऽवगन्तव्यः। तस्याश्चालंकारान्तरसंकीर्णत्वं कदाचिद्वाच्यत्वेन कदाचिद्व्यंग्यत्वेन। व्यंग्यत्वमपि कदाचित्प्राधान्येन कदाचिद् गुणभावेन। तत्राद्ये पक्षे वाच्यालंकारमार्गः। द्वितीये तु ध्वनावन्तर्भावः। तृतीये तु गुणीभूत व्यंग्यरूपता।

अंधेरी—तत्र = वहाँ, अतिशयोक्तिः = अतिशयोक्ति, कविप्रतिभावशात् यमलंकारमधितिष्ठति = कवि की प्रतिभा के वश से जिस अलंकार पर अधिष्ठित होती है, तस्य = उसमें, चारुत्वातिशय योगः = अतिशय चारुत्व का योग हो जाता है, अन्यस्य तु = अन्य तो, अलंकारमात्रतैवेति = अलकारमात्र होते हैं, सर्वालंकारशरीरस्वीकरणयोग्यत्वेनाभेदोपचारात् = इस प्रकार सभी अलकारों के शरीर को अंगीकार की योग्यता हो जाने से अभेदोपचार से वही, सर्वालंकाररूपेत्ययमेवार्थोऽवगन्तव्यः = सर्वालकार स्वरूप है, यही अर्थ समझना चाहिए, तस्याश्च = और वह, अलकारान्तर संकीर्णत्वं अलकारान्तर से संकीर्ण, कदाचिद्वाच्यत्वेन = कभी वाच्य रूप से, कदाचित् व्यंग्यत्वेन = कभी व्यग्य रूप से होती है, व्यंग्यत्वमपि = व्यंग्यत्व भी, कदाचित्प्राधान्येन = कभी प्राधान्य से, कदाचित् गुणभावेन = कभी गुणभाव से होता है, तत्राद्ये पक्षे = उनमे पहले पक्ष मे, वाच्यालंकार मार्गः = वाच्य अलंकार का मार्ग है, द्वितीये तु ध्वनावन्तर्भावः = दूसरे मे ध्वनि मे अन्तर्भाव है, तृतीये तु गुणीभूत व्यंग्यरूपता = और तीसरे में गुणीभूत व्यंग्यरूपता है।

अर्थ—वहाँ अतिशयोक्ति कवि प्रतिभा के कारण जिस अलंकार पर अधिष्ठित होती है, उनमे अतिशय चारुत्व का योग हो जाता है और दूसरे केवल अलंकारमात्र होते हैं। इस प्रकार सभी अलकारों के शरीर को अंगीकार की योग्यता हो जाने से अभेदोपचार से वही सर्वालकार स्वरूप है, यही अर्थ समझना चाहिए, और वह अलंकारान्तर से संकीर्ण कभी वाच्य रूप से कभी व्यंग्य रूप से होती है। व्यंग्यत्व भी कभी प्राधान्य से कभी गुणभाव से होता है। उनमें पहले पक्ष मे वाच्यालंकार का मार्ग है, दूसरे में ध्वनि का अन्तर्भाव है और तीसरे मे गुणीभूत व्यंग्यरूपता है।

अयं च प्रकारोऽन्येषामप्यलंकाराणामस्ति, तेषां तु न सर्वं विषयः। अतिशयोक्तेस्तु सर्वालंकार विषयोऽपि सम्भवतीत्ययं विशेषः। येषु चालंकारेषु सादृश्यमुखेन तत्वप्रतिलम्भः यथा रूपकोपमा तुल्ययोगिता निदर्शनादिषु तेषु गम्यमान धर्ममुखेनैव यत्सादृश्यं तदेव शोभातिशयशालि भवतीति ते सर्वेऽपि चारुत्वातिशय योगिनः सन्तो गुणीभूत व्यंग्यस्यैव विषयाः। समासोक्त्याक्षेप पर्यायोक्तादिषु तु गम्यमानांशाविनाभावेनैव तत्वव्यवस्थानाद् गुणीभूतव्यंग्यता निर्विवादैव।

श्रीधरी—अयं च प्रकारोऽन्येषामप्यलकाराणामस्ति=यह प्रकार अन्य अलकारो का भी है, तु=लेकिन, तेषा न सर्वविषयः=उनका प्रकार सब विषय वाला नही है, तु=किन्तु, अतिशयोक्तेः=अतिशयोक्ति का प्रकार. सर्वालकार विषयोऽपि सम्भवतीत्ययं विशेषः=सब अलकारो के विषय वाला भी सम्भव होना है, इस प्रकार यह विशेष है, येषु चालङ्कारेषु=जिन अलकारों मे, सादृश्यमुखेन तत्व-प्रतिलम्भः=सादृश्य के द्वारा अलकारत्व का लाभ होता है, यथा=जैसे, रूपकोपमा, तुल्ययोगिता निदर्शनादिषु=रूपक, उपमा, तुल्ययोगिता, निदर्शना आदि, तेषु=उनमे, गम्यमानधर्ममुखेनैव=गम्यमान धर्म के प्रकार से, यत्सादृश्यं=जो सादृश्य है, तदेव=वही, शोभातिशयशालि भवति=अतिशय शोभाशाली होता है। इति ते सर्वेऽपि=इस प्रकार वे सभी चारुत्वातिशययोगिनः सन्तो=अतिशय चारुत्व से युक्त होकर, गुणीभूत व्यंग्यस्यैव विषयाः=गुणीभूत व्यग्य के ही विषय हैं. समासोक्त्याक्षेपपर्यायोक्तादिषु तु=लेकिन समासोक्ति, आक्षेप, पर्यायोक्ति आदि में, गम्यमानांशाविनाभावेनैव=गम्यमान अश के अविनाभाव से ही, तत्व व्यवस्थानात=अलंकारत्व की व्यवस्था होने से, गुणीभूत व्यंग्यता निर्विवाद=गुणीभूत व्यग्यता निर्विवाद ही है।

अर्थ--यह प्रकार अन्य अलकारो का भी है, परन्तु उनका प्रकार सब विषय वाला नही है. लेकिन अतिशयोक्ति का प्रकार सब अलकार के विषय वाला भी सम्भव होता है, इसलिये यह विशेष है, जिन अलंकारो मे सादृश्य के द्वारा अलंकारत्व का लाभ होता है, जैसे—रूपक, उपमा, तुल्ययोगिता, निदर्शना आदि, उनमें गम्यमान धर्म के प्रकार से हो जो सादृश्य है वही अतिशय शोभाशाली होता है, इस प्रकार वे सभी अतिशय चारुत्व से युक्त होते हुए गुणीभूत व्यंग्य के ही विषय होते है, पर, समासोक्ति, आक्षेप, पर्यायोक्त आदि मे गम्यमान अंश के अविनाभाव से ही अलंकारत्व की व्यवस्था होने से गुणीभूत व्यग्यता निर्विवाद ही है।

तत्र च गुणीभूतव्यंग्यतायामलंकाराणां केषाञ्चिदलंकारविशेष-गर्भतायां नियमः। यथा व्याजस्तुतेः प्रेयोलंकार गर्भत्वे। केषाञ्चिदलंकार-मात्र गर्भतायां नियमः। यथा सन्देहादीनामुपमा गर्भत्वे। केषाञ्चिद-लङ्काराणां परस्पर गर्भतापि सम्भवति। यथा दीपकोपमयोः। तत्र दीपकमुपमागर्भत्वेन प्रसिद्धम्। उपमापि कदाचिद्दीपकच्छायानुयायिनी।

यथा मालोपमा। तथा हि 'प्रभामहत्या शिखयैव दीप.' इत्यादौ स्फुटैव दीपकच्छाया लक्ष्यते।

श्रीधरी—तत्र च गुणीभूत व्यंग्यतायाम्=और उस गुणीभूत व्यंग्यता में केषाञ्चिद् अलंकाराणां=कुछ अलंकारों की, अलंकार विशेषगर्भतायां नियमः=नियमत अलंकार गर्भता होती है, यथा=जैसे, व्याजस्तुतेः प्रेयोलंकारगर्भत्वे व्याजस्तुति प्रेयोऽलंकारगर्भ होती है, केषाञ्चिदलंकारमात्र गर्भता। नियमः=कुछ अलंकार नियमतः अलंकारमात्र गर्भ होते हैं, यथा=जैसे, सन्देहादीनामुपमागर्भत्वे=सन्देह आदि उपमागर्भ होते हैं, केषाञ्चिदलङ्काराणां परस्परगर्भतापि सम्भवति=कुछ अलंकार परस्पर गर्भ भी सम्भव होते हैं, यथा=जैसे, दीपकोपमयोः=दीपक और उपमा, तत्र=वहाँ, दीपकमुपमागर्भत्वेन प्रसिद्धम्=दीपक उपमागर्भ के रूप में प्रसिद्ध है, उपमापि कदाचित् दीपकच्छायानुयायिनी=उपमा भी कभी दीपक की छायानुगामिनी हो जाती है, यथा मालोपमा=जैसे मालोपमा, तथा हि=जैसा कि, 'प्रभामहत्याशिखयैव दीप.' इत्यादौ=प्रभामहत्याशिखयैवदीपः इत्यादि उदाहरण में, स्फुटैव दीपकच्छायालक्ष्यते=स्पष्ट ही दीपक की छाया लक्षित होती है।

अर्थ—और उस गुणीभूत व्यंग्यता में कुछ अलंकार नियमतः अलंकार विशेष गर्भ होते हैं, जैसे व्याजस्तुति प्रेयोऽलंकार गर्भ होती है, कुछ अलंकार नियमतः अलंकारमात्र गर्भ होते हैं, जैसे सन्देह आदि उपमा गर्भ होते हैं, कुछ अलंकार परस्पर गर्भ भी होते हैं, जैसे और उपमा में, वहाँ दीपक उपमा गर्भ के रूप में प्रसिद्ध है। उपमा भी कभी दीपक की छायानुयायिनी होती है, जैसे मालोपमा, जैसा कि—'प्रभामहत्याशिखयैवदीप.' इत्यादि में स्पष्ट ही दीपक की छाया लक्षित होती है।

तदेवं व्यंग्यांशसस्पर्शे सति चारुत्वातिशययोगिनो रूपकादयोऽलंकाराः सर्व एव गुणीभूत व्यंग्यस्य मार्गः। गुणीभूत व्यंग्यत्वं च तेषां तथा जातीयानां सर्वेषामेवोक्तानुक्तानां सामान्यम्। तल्लक्षणे सर्वे एवैते सुलक्षिता भवन्ति। एकैकस्य स्वरूप विशेष कथनेन तु सामान्यलक्षण रहितेन प्रतिपादपाठेनेव शब्दा न शक्यन्ते तत्त्वतो निर्ज्ञातुम्, आनन्त्यात्। अनन्ता हि वाग्विकल्पास्तत्प्रकारा एव चालङ्काराः। गुणीभूतव्यंग्यस्य च प्रकारान्तरेणापि व्यंग्यार्थानुगमलक्षणेन विषयत्वमस्त्येव। तदयं ध्वनिनिष्यन्दरूपो द्वितीयोऽपि महाकवि विषयोऽतिरमणीयो लक्षणीयः सहृदयैः। सर्वथा नास्त्येव सहृदय हृदयहारिणः काव्यस्य स प्रकारो यत्र न प्रतीयमानार्थसंस्पर्शेन सौभाग्यम्। तदिदं काव्य रहस्यं परमिति सूरिभिर्भावनीयम्।

श्रीधरी तदिदं=तो इस तरह, व्यंग्यांशसस्पर्शे सति=व्यंग्यांश का स्पर्श होने पर, रूपकादयोऽलंकाराः=रूपक आदि अलंकार चारुत्वातिशययोगिनः=अतिशय

चारुत्व से युक्त होते हैं, सर्व एव गुणीभूत व्यंग्यस्य मार्गः=यह सभी गुणीभूत व्यग्य का मार्ग है, तथा जातीयाना तेषा=उस प्रकार की जाति वाले उन, सर्वेषामेवोक्तानुक्ताना= उक्त और अनुक्त सभी का (गुणीभूत व्यंग्यत्व) सामान्यम्=सामान्य है, तल्लक्षणे= उसके लक्षण मे, सर्वएवैते=सभी ये, सुलक्षिता भवन्ति=सम्यक्तया लक्षित हो जाते है, सामान्य लक्षण रहितेन= सामान्य लक्षण से रहित, एकैकस्य=प्रत्येक का, स्वरूपविशेष कथनेन तु—स्वरूप विशेष कहने से तो प्रतिपाद पाठेनेव शब्दा= प्रत्येक पद के पाठ से शब्दो की तरह, न शक्यन्ते तत्वतोनिज्ञातुंम्=तत्वतः ज्ञान नही किया जा सकता, हि=क्योकि अनन्ता वाग्विकल्पाः=वाग्विकल्प अनन्त हैं, तत् कारा एव चालङ्कारा =और अलकार उनके प्रकार ही हैं, गुणीभूत व्यग्यस्य च=गुणीभूत व्यग्य का विषय, व्यग्यार्थानुगमलक्षणेन=व्यग्यार्थानुगम से, प्रकारान्तरेणापि=प्रकारान्तर से भी, अस्त्येव=होता ही है, तद्=इसलिये, ध्वनिनिष्यन्दरूपो=ध्वनितत्व रूप, महाकविविषयो= महाकवियो का विषय, अतिरमणीयो= अत्यन्तरमणीय द्वितीयोऽपि=दूसरा भी, सहृदयैं=सहृदयो के द्वारा, लक्षणीय=लक्षित करना चाहिए, सहृदयहृदयहारिणः = सहृदय हृदयहारी, काव्यस्य=काव्य का स सर्वथा प्रकारो नास्त्येव=वह सर्वथा प्रकार नही ही है, यत्र= जिसमे, प्रतीयमानार्थ संस्पर्शेन्=प्रतीयमान अर्थ के सस्पर्श से, न सौभाग्यम्= सौभाग्य नही है, तदिद=तो यह, परम काव्यरहस्यं=उत्कृष्ट काव्य रहस्य है, इति=यह, सूरिभिर्भावनीयम्=विद्वानो को समझना चाहिए।

अर्थ-तो इस प्रकार व्यंग्याश का सस्पर्श होने पर रूपक आदि अलकार अतिशय चारुत्व से युक्त होते है यह सभी गुणीभूत व्यग्य का मार्ग है। इस प्रकार की जाति वाले उन उक्त और अनुक्त सभी का गुणीभूत व्यग्यत्व सामान्य है। उसके लक्षण मे ये सभी सम्यक्तया लक्षित हो जाते है। सामान्य लक्षण से रहित प्रत्येक का स्वरूप विशेष कहने से तो प्रत्येक पद के पाठ से शब्दों की तरह अनन्त होने के कारण तत्वतः ज्ञान नही किया जा सकता क्योकि वाग्विकल्प अनन्त है और अलकार उनके प्रकार ही है। गुणीभूत व्यंग्य का विषय व्यंग्य अर्थ के अनुगम से प्रकारान्तर से भी होता ही है। इसलिये ध्वनितत्व रूप महाकवियो का विषय, अतिरमणीय दूसरा भी सहृदयों को लक्षित करना चाहिए। सहृदय हृदयहारी काव्य का वह सर्वथा प्रकार नहीं ही है जिसमे प्रतीयमान अर्थ के सस्पर्श से सौभाग्य नही है। तो यह उत्कृष्ट काव्य रहस्य है, ऐसा विद्वानो को समझना चाहिए।

मुख्या महाकवि गिरामलंकृतिभृतामपि।
प्रतीयमानच्छायैषा भूषा लज्जेव योषिताम् ॥३७॥

अनया सुप्रसिद्धोऽप्यर्थः किमपि कामनीयकमानीयते। तद्यथा—

विश्रम्भोत्था मन्मथाज्ञाविधाने,
ये मुग्धाक्ष्याः केऽपि लीलाविशेषाः।

अक्षुण्णास्ते चेतसा केवलेन,
स्थित्वैकान्ते सन्ततं भावनीयाः ॥

श्रीधरी— महाकविगिरामलङ्कृतिभृतामपि = महाकवियों की अलंकारयुक्त भी वाणी की, एषा प्रतीयमानच्छाया = यह प्रतीयमानकृत छाया, योषिताम् = स्त्रियों की, लज्जेव = लज्जा की तरह, मुख्या भूषा = मुख्य आभूषण है।

अनया = इससे, सुप्रसिद्धोऽप्यर्थः = सुप्रसिद्ध भी अर्थ, किमपि कामनीयकमानीयते = विलक्षण कमनीय हो जाता है, तद्यथा = वह जैसे —

मन्मथाज्ञाविधाने = कामदेव की आज्ञा के विधान मे, ये मृगाक्ष्याः विभ्रमोत्थाः = जो मृगाक्षी के विभ्रम से उत्पन्न, केऽपि लीला विशेषाः = कुछ अपूर्व लीला विशेष हैं, अक्षुण्णास्ते = अक्षुण्ण उन्हें, एकान्ते स्थित्वा = एकान्त मे स्थित होकर, केवलेन चेतसा = केवल एकाग्र मन से, सन्ततं भावनीयाः = भावना करने योग्य हैं।

अर्थ—महाकवियों की अलंकारयुक्त भी वाणी की यह प्रतीयमान कृतछाया स्त्रियों की लज्जा की तरह मुख्य आभूषण है। इससे सुप्रसिद्ध भी अर्थ कुछ विलक्षण कमनीय बन जाता है। जैसे—

कामदेव की आज्ञा से जो मृगाक्षी के विभ्रम मे उत्पन्न कुछ अपूर्व लीला विशेष हैं, वे अक्षुण्ण रूप से एकान्त मे बैठकर एकाग्र मन से ध्यान करने योग्य हैं।

इत्यत्र केऽपीत्यनेन पदेन वाच्यमस्पष्टमभिदधता प्रतीयमानं वस्त्वक्लिष्टमनन्तमर्पयता का छाया नोपपादिता।

अर्थान्तरगतिः काक्वा या चैषा परिदृश्यते।
सा व्यंग्यस्य गुणीभावे प्रकारमिममाश्रिता ॥३८॥

श्रीधरी—इत्यत्र = यहाँ, वाच्यमस्पष्टमभिदधता = वाच्य का अस्पष्ट अभिधान करते हुए, केऽपीत्यनेन पदेन = कुछ इस पद ने, अक्लिष्टमनन्तं = अक्लिष्ट और अनन्त, प्रतीयमानं वस्तु अर्पयता = प्रतीयमानवस्तु को अर्पित करते हुए, का छाया नोपपादिता = कौन शोभा उत्पन्न नहीं की।

काक्वा = काकु से, या चैषा = जो यह, अर्थान्तरगतिः परिदृश्यते = अर्थान्तर की गति देखी जाती है सा = वह व्यंग्यस्य गुणीभावे = व्यंग्य के गुणीभाव होने पर, इमं प्रकारमाश्रिता = इस प्रकार का आश्रयण करती है।

अर्थ—यहाँ वाच्य का अस्पष्ट अभिधान करते हुए 'कुछ' इस पद ने अक्लिष्ट और प्रतीयमान को अर्पित करते हुए कौन सी शोभा उत्पन्न नहीं की ?

काकु से जो यह अर्थान्तर की गति देखी जाती है, वह व्यंग्य के गुणीभाव होने पर इस प्रकार का आश्रयण करती है।

या चैषा काक्वा क्वचिदर्थान्तर प्रतीतिर्दृश्यते सा व्यंग्यस्यार्थस्य गुणी भावे सति गुणीभूत व्यंग्यलक्षणं काव्यप्रभेदमाश्रयते। यथा—"स्वस्थाभवन्ति मयि जीवति धार्तराष्ट्राः"।

यथा वा—

आम असइओ ओरम पइव्वए,
ण तुएँ मिलिणिअं सीलम्।
किं उण जणस्स जाअ व्व,
चन्दिलं तं ण कामेमो॥

[आम् असत्यः उपरम पतिव्रते,
न त्वया मलिनितं शीलम्।
किं पुनर्जनस्य जायेव,
नापितं तं न कामयामहे॥]

श्रीधरी—या चैषा काक्वा=और जो यह काकु से, क्वचिद्=कहीं, अर्थान्तरप्रतीतिर्दृश्यते=अर्थान्तर की प्रतीति देखी जाती है, सा=वह, व्यंग्यस्यार्थस्य गुणीभावेसति=व्यंग्य अर्थ के गुणी भाव होने पर, गुणीभूतव्यंग्यलक्षणं=गुणीभूत व्यंग्य रूप, काव्यप्रभेदमाश्रयन्ते=काव्यप्रभेद का आश्रयण करती है, यथा=जैसे, मयिजीवति-मेरे जीते जी, धार्तराष्ट्राः स्वस्थाभवन्ति=धृतराष्ट्र के पुत्र स्वस्थ हो जाय, यथा वा=या जैसे।

आम्=हाँ, असत्यः=हम तो बदचलन हैं, उपरम=रुक जा, प्रतिव्रते=अरी पतिव्रते न त्वया मलिनितशीलम्=तुमने शील को मलिन नहीं किया है, कि पुन=और फिर हम तो, जायेव=किसी आदमी की पत्नी की तरह, तं नापितं=उस नाई को, न कामयामहे=नहीं चाहती।

अर्थ—और जो यह काकु से कहीं पर अर्थान्तर की प्रतीति देखी जाती है वह व्यंग्य अर्थ के गुणी भाव होने पर गुणीभूत व्यंग्य रूप काव्य प्रभेद का आश्रयण करती है, जैसे 'मेरे जीवित रहते हुए धृतराष्ट्र के पुत्र स्वस्थ हो जाँय।' या जैसे—

हाँ, हम तो बदचलन है, रुक जा, री पतिव्रते, तूने अपने शील को मलिन नहीं किया और फिर हम तो किसी आदमी की पत्नी की तरह उस आदमी को नहीं चाहती।

शब्दशक्तिरेव हि स्वाभिधेयसामर्थ्याक्षिप्तकाकुसहाया सत्यर्थविशेष प्रतिपत्तिहेतुर्नकाकुमात्रम्। विषयान्तरे स्वेच्छाकृतात्काकुमात्रात्तथाविधार्थ प्रतिपत्त्य सम्भवात्। स चार्थः काकुविशेषसहायशब्दव्यापारोपारूढोऽप्यर्थसामर्थ्यलभ्य इति व्यंग्य रूप एव। वाचकत्वानुगमेनैव तु यदा तद्विशिष्ट वाच्यप्रतीतिस्तदा गुणीभूत व्यंग्यतया तथाविधार्थ-

द्योतिनः काव्यस्य व्यपदेशः । व्यंग्यविशिष्टवाच्याभिधायिनो हि गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वम् ।

प्रभेदस्यास्य विषयो यश्च युक्त्या प्रतीयते ।
विधातव्या सहृदयैर्न तत्र ध्वनि योजना ॥३६॥

श्रीधरी—शब्द शक्तिरेव=शब्द शक्ति ही स्वाभिधेय सामर्थ्याक्षिप्त=अपने अभिधेय की सामर्थ्य से आक्षिप्त, काकुसहाया=काकु की सहायता से, अर्थविशेषप्रतिपत्तिहेतुः=अर्थ विशेष की प्रतिपत्ति का हेतु है, न काकुमात्रम्—न कि काकुमात्र। विषयान्तरे=विषयान्तर में, स्वेच्छाकृतात्काकुमात्रात्-स्वेच्छा से प्रयुक्त काकुमात्र से, तथाविधार्थप्रतिपत्त्यसम्भवात्=उस प्रकार के अर्थ की प्रतिपत्ति सम्भव नहीं है, स चार्थः=और वह अर्थ काकुविशेषसहायशब्दव्यापारोपारूढोऽपि=काकु विशेष की सहायता वाले शब्द के व्यापार से उपारूढ होकर भी, अर्थसामर्थ्यलभ्यः=अर्थ की सामर्थ्य से प्राप्त है, इति=इसलिये, व्यंग्यरूप एव=व्यंग्य रूप ही है, तु=परन्तु, यदा=जब, तद्विशिष्ट वाच्यप्रतीतिः=उस व्यंग्य विशिष्ट वाच्य की प्रतीति वाचकत्व के अनुगम से ही होती है तदा=तब, तथाविधार्थद्योतिनः=उस प्रकार का अर्थ द्योतन करने वाले, काव्यस्य=काव्य का गुणीभूत व्यंग्यतया व्यपदेशः=गुणीभूत व्यंग्य रूप से व्यपदेश होता है, हि=क्योंकि व्यंग्यविशिष्टवाच्याभिधायिनो=व्यंग्य से विशिष्ट वाच्य का अभिधान करने वाला, गुणीभूत व्यंग्यत्वम्=गुणीभूत व्यंग्य है।

यश्च विषयः=और जो विषय, अस्य प्रभेदस्य=इस प्रभेद का, युक्त्या-प्रतीयते=युक्ति से प्रतीत होता है तत्र=वहाँ, सहृदयैः=सहृदयों के द्वारा, ध्वनियोजना न विधातव्या=ध्वनि की योजना नहीं करनी चाहिए।

अर्थ—शब्दशक्ति ही अपने अभिधेय की सामर्थ्य से आक्षिप्त होकर काकु की सहायता से अर्थ विशेष की प्रतिपत्ति का हेतु है न कि काकुमात्र, क्योंकि विषयान्तर में स्वेच्छा से प्रयुक्त काकुमात्र से उस प्रकार के अर्थ की प्रतिपत्ति सम्भव नहीं है, वह अर्थ काकुविशेष की सहायता वाले शब्द के व्यापार से उपारूढ होकर भी अर्थ की सामर्थ्य से प्राप्त है, इसलिये व्यंग्य रूप ही है, परन्तु जब उस व्यंग्य विशिष्ट वाच्य की प्रतीति वाचकत्व के अनुगम से ही होती है, तब उस प्रकार का अर्थ द्योतन करने वाले काव्य का गुणीभूत व्यंग्य रूप से व्यपदेश होता है क्योंकि उस व्यंग्य से विशिष्ट वाच्य का अभिधान करने वाले गुणीभूत व्यंग्य है।

और जो विषय इस प्रभेद का युक्ति से प्रतीति होता है वहाँ सहृदयों को ध्वनि की योजना नहीं करनी चाहिए।

संकीर्णो हि कश्चिद् ध्वनेर्गुणीभूत व्यंग्यस्य च लक्ष्ये दृश्यते मार्गः। तत्र यस्य युक्तिसहायता तत्र तेन व्यपदेशः कर्तव्यः। न सर्वत्र ध्वनिरागिणा भवितव्यम्।

यथा—

> पत्युः शिरश्चन्द्रकलामनेन,
> स्पृशेति सख्या परिहार पूर्वम्।
> सा रञ्जयित्वा चरणौ कृताशी-
> र्माल्येन तां निर्वचनं जघान॥

यथा च—

> प्रयच्छतोच्चैः कुसुमानि मानिनी,
> विपक्षगोत्रं दयितेन लम्भिता।
> न किञ्चिदूचे चरणेन केवलं,
> लिलेख वाष्पाकुललोचना भुवम्॥

श्रीधरी—लक्ष्ये=लक्ष्य में, कश्चिद् मार्गः=कुछ मार्ग, ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यस्य च—ध्वनि और गुणीभूत व्यङ्ग्य का, सकीर्ण दृश्यते=सकीर्ण देखा जाता है, तत्र=वहाँ, यस्य युक्ति सहायता=जिसके साथ युक्ति हो, तत्र=वहाँ, तेन=उससे, व्यपदेशः कर्तव्य=व्यपदेश करना चाहिए, सर्वत्र=सब जगह, ध्वनिरागिणा न भवितव्यम्=ध्वनि का पक्षपाती नही होना चाहिए, यथा=जैसे,

पत्युः—पति के, शिरश्चन्द्रकला=सिर की चन्द्रकला को अनेन स्पृश=इससे स्पर्श करना इति=यह कहकर, सख्या=सखी के द्वारा, परिहासपूर्वम्=परिहासपूर्वक, चरणौ रञ्जयित्वा—चरणों को रंगकर, कृताशी=आशीर्वाद दी हुई, सा=उस पार्वती ने, निर्वचन=बिना कुछ कहे ही, माल्येन=माला से, ता=उस सखी को, जघान-मारा।

यथा च=और जैसे।

उच्चैः=ऊँचे से, कुसुमानि प्रयच्छत.=फूल देते हुए, दयितेन=प्रियतम से, विपक्ष गोत्र लम्भिता=सौत का नाम लिये जाने पर मानिनी न किञ्चिदूचे=मानिनी ने कुछ नही कहा, केवल=केवल वाष्पाकुललोचना=आखो मे आसू भरकर चरणेन=चरण से, भुवं लिलेख=जमीन को कुरेदने लगी।

अर्थ—लक्ष्य मे कुछ मार्ग ध्वनि और गुणीभूत व्यङ्ग्य का सकीर्ण दृष्टिगत होता है। वहाँ जिसके साथ युक्ति हो वहाँ उससे व्यपदेश करना चाहिए, सर्वत्र ध्वनि का पक्षपाती नही होना चाहिए, जैसे—

'पति के सिर की चन्द्रकला को इससे स्पर्श करना' यह कहकर सखी के द्वारा परिहासपूर्वक चरणों को रंगकर आशीर्वाद दी हुई उस पार्वती ने बिना कुछ कहे माला से उस सखी को मारा।

और जैसे—

ऊँचे से फूल देते हुए प्रियतम से सौत का नाम लिये जाने पर मानिनी ने कुछ नही कहा, केवल आंखो मे आँसू भरकर पैर से जमीन कुरेदने लगी।

इत्यत्र 'निर्वचनं जघान' 'न किञ्चिदूचे' इति प्रतिषेध मुखेन व्यंग्यस्यार्थस्योक्त्या किञ्चिद्विषयीकृतत्वाद् गुणीभाव एव शोभते। यदा वक्रोक्तिं विना व्यंग्योऽर्थस्तात्पर्येण प्रतीयते तदा तस्य प्राधान्यम्। यथा 'एवं वादिनि देवर्षौ' इत्यादौ। इह पुनरुक्तिर्भङ्ग्यास्तीति वाच्यस्यापि प्राधान्यम्। तस्मान्नात्रानुरणनरूप व्यंग्य ध्वनि व्यपदेशो विधेय।

श्रीधरी—इत्यत्र=यहाँ, निर्वचन जघान=विना कुछ कहे मारा, न किञ्चिद् चे=कुछ नही बोली, इति प्रतिषेधमुखेन=इस प्रतिषेध के द्वारा, व्यंग्यस्यार्थस्य=व्यग्य अर्थ का, उक्त्या=उक्ति के द्वारा, किञ्चिद्विषयीकृतत्वाद्=कुछ विषय कर दिये जाने के कारण, गुणीभाव एव शोभते=गुणीभाव ही शोभित होता है, यदा=जब, वक्रोक्तिं विना=वक्रोक्ति के विना, व्यग्योऽर्थस्तात्पर्येण प्रतीयते=व्यग्य अर्थ तात्पर्य से प्रतीत होता है, तदा=तब, तस्य प्राधान्यम्=उसका प्राधान्य है, यथा=जैसे, एव वादिनि देवर्षौ=इस प्रकार देवर्षि नारद के कहने पर, इत्यादौ=इत्यादि मे, इह=यहाँ, भङ्ग्या=भङ्गी से, पुनरुक्ति अस्ति=पुनरुक्ति है इति=इसलिय, वाच्यस्यापि प्राधान्यम्=वाच्य का भी प्राधान्य है, तस्मात्=इसलिये, अत्र=यहाँ, अनुरणनरूप व्यंग्यध्वनि व्यपदेशो न विधेयः=अनुरणन रूप व्यग्य ध्वनि का व्यपदेश नहीं करना चाहिए।

अर्थ—यहाँ 'विना कुछ कहे मारा', 'कुछ नही बोली' इस प्रतिषेध के द्वारा व्यग्य अर्थ का उक्ति द्वारा कुछ विषय कर दिये जाने के कारण गुणीभाव ही शोभता है। जब वक्रोक्ति के विना व्यंग्य अर्थ तात्पर्य से प्रतीत होता है, तब उसका प्राधान्य होता है। जैसे—'देवर्षि नारद के इस प्रकार कहने पर' इत्यादि मे। यहाँ भङ्गी से उक्ति है इसलिये वाच्य का भी प्राधान्य है। इसलिये यहाँ अनुरणन रूप व्यङ्ग्य ध्वनि का व्यपदेश नहीं करना चाहिए।

प्रकारोऽयं गुणीभूत व्यंग्योऽपि ध्वनिरूपताम्।
धत्तेरसादि तात्पर्य पर्यालोचनया पुनः ॥४०॥

गुणीभूत व्यंग्योऽपि काव्यप्रकारो रसभावादितात्पर्यालोचने पुनर्ध्वनिरेव सम्पद्यते। यथात्रैवानन्तरोदाहृते श्लोकद्वये। यथा च—

दुराराधा राधा सुभग यदनेनापि मृजत-
स्तवैतत्प्राणेशाजघनवसनेनाश्रु पतितम्।
कठोरं स्त्री चेतस्तदलमुपचारैर्विरम हे
क्रियात्कल्याणं वो हरिरनुनयष्वेव मुदितः॥

श्रीधरी—अय गुणीभूत व्यंग्योऽपि=यह गुणीभूत व्यग्य भी, प्रकाररसादि तात्पर्य पर्यालोचनया=प्रकार रसादि के तात्पर्य के पर्यालोचन से, पुनः ध्वनिरूपता धत्ते=पुनः ध्वनि रूप हो जाता है।

गुणीभूत व्यंग्योऽपि=गुणीभूत व्यंग्य भी, काव्य प्रकारो=काव्य का प्रकार, रसभावादितात्पर्यालोचने=रस भावादि के तात्पर्य के पर्यालोचन करने पर, पुन ध्वनिरेव सम्पद्यते=फिर ध्वनि ही बन जाता है. यथा=जैसे, अत्रैवानन्तरोदाहृते श्लोकद्वये=यही अभी उदाहृत दोनो श्लोको मे, यथा च=और जैसे—

सुभग=हे सुभग, प्राणेशाजघनवसनेन पतित अश्रु=प्राणेश्वरी के जघन वस्त्र से भी गिरे हुए अश्रुओ को, तव मृजत अपि=तुम्हारे पोछने पर भी, राधा दुराराधा=राधा प्रसन्न होने वाली नही है, स्त्री चेत. कठोर स्त्री का चित्त कठोर होता है, उपचारै अलम् उपचार व्यर्थ है, विरम=बस करो एव इस प्रकार, अनुनयेषु=अनुनय के अवसरो मे. उदित=राधा द्वारा कहे हुए, हरि=कृष्ण, व कल्याण क्रियात्=आप लोगों का कल्याण करें।

अर्थ यह गुणीभूत व्यग्य भी प्रकार रसादि के तात्पर्य के पर्यालोचन मे पुन ध्वनि रूप हो जाता है।

गुणीभूत व्यग्य भी काव्य के प्रकार रसभावादि के तात्पर्य के पर्यालोचन से पुन: ध्वनि ही हो जाता है। जैसे पूर्वोदाहृत दोनो श्लोको मे और जैसे—

हे सुभग! जो प्राणेश्वरी के इस जघनवस्त्र से भी गिरे हुए आँसू को तुम्हारे पोछने से राधा प्रसन्न होने वाली नहीं है। स्त्री का चित्त कठोर होता है, उपचार व्यर्थ है. बस करो इस प्रकार अनुनय के अवसरो में राधा के द्वारा कहे गये कृष्ण आप लोगो का कल्याण करें।

एव स्थिते च 'न्यक्कारो ह्ययमेव' इत्यादि श्लोक निर्दिष्टानां पदानां व्यंग्य विशिष्ट वाच्यप्रतिपादनेऽप्येतद्वाक्यार्थीभूत रसापेक्षया व्यंजकत्व-मुक्तम्। न तेषां पदानामर्थान्तिरसङ्क्रमितवाच्य ध्वनिभ्रमो विधातव्य, विवक्षितवाच्यत्वात्तेषाम्। तेषु हि व्यंग्यविशिष्टत्वं वाच्यस्य प्रतीयते न तु व्यंग्यरूप परिणतत्वम्। तस्माद्वाक्यं तत्र ध्वनिः, पदानि तु गुणीभूत व्यंग्यानि। न च केवलं गुणीभूतव्यंग्यान्येव पदान्यलक्ष्यक्रम व्यंग्यध्वने-र्व्यञ्जकानि यावदर्थान्तरसंक्रमित वाच्यानि ध्वनिप्रभेद रूपाण्यपि। यथात्रैव श्लोके रावण इत्यस्य प्रभेदान्तररूप व्यञ्जकत्वम्। यत्र तु वाक्ये रसादि तात्पर्यं नास्ति गुणीभूत व्यंग्यैः पदैरुद्भासितेऽपि तत्र गुणीभूत व्यंग्यतैव समुदायधर्मः। यथा—

राजानमपि सेवन्ते विषमप्युप युञ्जते।
रमन्ते च सह स्त्रीभिः कुशलाः खलु मानवाः॥

श्रीधरी—एवं स्थिते च=इस प्रकार स्थित होने पर, न्यक्कारोह्ययमेव इत्यादि श्लोक निर्दिष्टाना पदाना=न्यक्कारोह्ययमेव इत्यादि श्लोक मे निर्दिष्ट पदो का, व्यंग्यविशिष्ट वाच्यप्रतिपादने=व्यंग्य विशिष्ट वाच्य के प्रतिपादन मे, एतद्वाक्यार्थीभूतरसापेक्षया=इसके वाक्यार्थीभूत रस की अपेक्षा मे, व्यञ्जकत्व-

मक्तम् = व्यञ्जकत्व कहा है, तेषां पदानां = उन पदों में, अर्थान्तर संक्रमित वाच्य-ध्वनिभ्रमो = अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि का भ्रम, न विधातव्य = नहीं करना चाहिए, तेषां विवक्षित वाच्यत्वात् = क्योंकि वे विवक्षित वाच्य होते हैं, तेषु हि = उनमें, वाच्यस्य व्यंग्य विशिष्टत्व = वाच्य का व्यंग्य विशिष्टत्व, प्रतीयते = प्रतीत होता है, न तु व्यंग्यरूप परिणतत्वम् = न कि व्यंग्यरूप में परिणतत्व प्रतीत होता है, तस्मात् = इसलिये, वाक्य तत्र ध्वनिः = वाक्य वहाँ ध्वनिरूप है, पदानि तु गुणीभूत व्यङ्ग्यानि = और पद गुणीभूत व्यङ्ग्य हैं, केवलं गुणीभूतव्यङ्ग्यान्येव = केवल गुणीभूत व्यङ्ग्य ही, पदानि = पद, अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनेर्व्यञ्जकानि न = अलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि के व्यञ्जक नहीं होते, ध्वनि प्रभेद रूपाणि = अपितु ध्वनि के प्रभेद रूप अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यानि = अर्थान्तर संक्रमित वाच्य भी, यथात्रैव श्लोके = जैसे इसी श्लोक में, रावण इत्यस्य प्रभेदान्तर रूप व्यञ्जकत्वम् = रावण' इस पद का प्रभेदान्तर रूप का व्यञ्जकत्व है, तु = किन्तु, यत्र वाक्ये = जिस वाक्य में, रसादि तात्पर्यं नास्ति = रसादि में तात्पर्य नहीं है, गुणीभूत व्यङ्ग्यैः पदैरुद्भासितेऽपि = गुणीभूत व्यङ्ग्य पदों से उद्भासित होने पर भी तत्र = उसमें, गुणीभूतव्यङ्ग्यतैव समुदाय धर्मः = गुणीभूत व्यङ्ग्यता ही समुदाय का धर्म है, यथा = जैसे ।

राजानमपि सेवन्ते = राजाओं की भी सेवा करते हैं विषमप्युपयुञ्जते = विष का भी भक्षण करते हैं, च = और, स्त्रीभिः सह रमन्ते = स्त्रियों के साथ भी रमण करते हैं, मानवाः खलु कुशलाः = मनुष्य निश्चय ही कुशल होते हैं ।

अर्थ - इस प्रकार स्थित होने पर 'न्यक्कारोह्ययमेव' इत्यादि श्लोक में निर्दिष्ट पदों का व्यङ्ग्य विशिष्ट वाच्य के प्रतिपादन में इनके वाक्यार्थीभूत रस की अपेक्षा से व्यञ्जकत्व कहा है । उन पदों में अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि का भ्रम नहीं करना चाहिए क्योंकि वे विवक्षित वाच्य होते हैं । उनमें वाच्य का व्यङ्ग्य विशिष्टत्व प्रतीत होता है न कि व्यङ्ग्य रूप में परिणतत्व प्रतीत होता है, इसलिये वाक्य वहाँ ध्वनि रूप है और पद गुणीभूत व्यङ्ग्य हैं । केवल गुणीभूत व्यङ्ग्य ही पद अलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि के व्यञ्जक नहीं होते, बल्कि ध्वनि के प्रभेद रूप अर्थान्तर संक्रमित वाच्य भी । जैसे—इसी श्लोक में 'रावण' इस पद का प्रभेदान्तर रूप का व्यञ्जकत्व है, किन्तु जिस वाक्य में रसादि में तात्पर्य नहीं है, गुणीभूत व्यङ्ग्य पदों में उद्भासित भी उसमें गुणीभूत व्यंग्यता ही समुदाय धर्म है । जैसे—,

राजाओं की सेवा भी करते हैं, विष का भी भक्षण करते हैं और स्त्रियों के साथ रमण भी करते हैं, निश्चय ही मनुष्य बड़े कुशल होते हैं ।

इत्यादौ । वाच्य व्यंग्ययोः प्राधान्याप्राधान्य विवेके परः प्रयत्नो विधातव्यः येन ध्वनि गुणीभूतव्यङ्ग्ययोरलङ्काराणां चासंकीर्णो विषयः सुज्ञातो भवति । अन्यथा तु प्रसिद्धालङ्कारविषय एव व्यामोह प्रवर्तते । यथा—

लावण्यद्रविणव्ययो न गणितः क्लेशो महान् स्वीकृतः।
स्वच्छन्दस्य सुखं जनस्य वसतश्चिन्तानलो दीपितः॥
एषापि स्वयमेव तुल्यरमणाभावाद्वराकी हता।
कोऽर्थश्चेतसि वेधसा विनिहितस्तन्व्यास्तनुं तन्वता॥

श्रीधरी – इत्यादौ = इत्यादि में, वाच्यव्यंग्ययोः = वाच्य और व्यंग्य के, प्राधान्याप्राधान्यविवेके = प्राधान्य और अप्राधान्य के विवेक में, परः प्रयत्नो विधातव्यः = अधिक प्रयत्न करना चाहिए, येन = जिससे, ध्वनिगुणीभूत व्यंग्ययो = ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य का, अलंकाराणां च = तथा अलकारों का, असंकीर्णो विषयः सुज्ञातो भवति = असंकीर्ण विषय सुविदित होता है, अन्यथा तु = अन्यथा तो, प्रसिद्धालंकार विषय एव व्यामोहः प्रवर्तते = अलकार के प्रसिद्ध विषय मे ही व्यामोह हो जाता है, यथा = जैसे।

लावण्यद्रविणव्ययो न गणितः = (विधाता ने) लावण्य रूपी द्रव्य के व्यय को परवाह न की, महान् क्लेशः स्वीकृतः = बहुत बड़ा कष्ट उठाया, स्वच्छन्दस्य सुखं वसतः = स्वच्छन्द भाव से सुखपूर्वक निवास करते हुए, जनस्य = लोगो के मन मे, चिन्तानलो दीपितः = चिन्ता की आग लगाई, एषापिवराकी = इस बेचारी को भी, तुल्यरमणाभावात् = समान प्रिय के प्राप्त न होने से, स्वयमेवहता = स्वयं ही मार डाला, वेधसा = विधाता ने, तन्व्यास्तनु तन्वता = उसकी शरीर रचना करते हुए, चेतसि = मन मे, कोऽर्थः विनिहितः = क्या लाभ सोच रखा था, यह समझ मे नही आता।

अर्थ – इत्यादि मे। वाच्य और व्यंग्य के प्राधान्य और अप्राधान्य के विवेक मे अधिक प्रयत्न करना चाहिए, जिससे ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य का तथा अलंकारो का असंकीर्ण विषय सुविदित हो जाता है। अन्यथा अलकार के प्रसिद्ध विषय मे ही व्यामोह हो जाता है जैसे—

विधाता ने लावण्य के धन के व्यय की परवाह न की, महान् क्लेश उठाया, स्वच्छन्द भाव से सुखपूर्वक निवास करते हुए लोगो के मन मे चिन्ता की आग लगाई और इस बेचारी को भी समान प्रिय के प्राप्त न होने से स्वयं ही मार डाला कुछ समझ मे नही आता कि विधाता ने उसकी शरीर रचना करते हुए मन में क्या सोच रखा था?

इत्रत्य व्याजस्तुतिरलंकार इति व्याख्यायि केनचित्तन्न चतुरस्रम्, यतोऽस्याभिधेयस्यैतदलंकारस्वरूपमात्र पर्यवसायित्वे न सुश्लिष्टता। यतो न तावदयं रागिणः कस्यचिद्विकल्पः। तस्य 'एषापि स्वयमेव तुल्यरमणाभावाद्वराकीहता' इत्येव विधोक्त्यनुपपत्तेः, नापि नीरागस्य, तस्यैवंविध विकल्प परिहारैक व्यापारत्वात्। न चायं श्लोकः क्वचित् प्रबन्ध इति श्रूयते, येन तत्प्रकरणानुगतार्थतास्य परिकल्प्यते।

श्रीधरी—इत्यत्र=यहाँ, व्याजस्तुतिरलंकार इति व्याख्यायि केनचित्=व्याजस्तुति अलंकार यह है यह किसी ने कहा है, तन्न चतुरस्रम्=यह कथन ठीक नहीं है, यत:=क्योंकि, अस्याभिधेयस्यैतदलङ्कार स्वरूपमात्र पर्यवसायित्वे=यह अभिधेय इस अलंकार के स्वरूप में पर्यवसित होने में, न सुश्लिष्टतां=सुसंगत नहीं है, यत=क्योंकि, अयं=यह, कस्यचिद्रागिणः विकल्पः न=किसी रागी पुरुष का विकल्प नहीं है, तस्य=उसकी, एषाविवराकी=इस बेचारी को, तुल्यरमणाभावाद्=समान प्रिय प्राप्त न होने से, स्वयमेव हता=स्वयं ही मार डाला, इत्येव विधोक्त्यनुपपत्ते=इस कार की उक्ति उपपन्न नहीं होती, वीतरागस्यापि=रागरहित पुरुष का भी, न=विकल्प नहीं है, तस्य एवं विध विकल्प परिहारैक व्यापारत्वात्=क्योंकि उसका इस प्रकार के विकल्पों का परिहार एकमात्र व्यापार है, न चायं श्लोकः=न कि यह श्लोक, क्वचित्प्रबन्ध इति श्रूयते=कहीं प्रबन्ध में है ऐसा सुना जाता है, येन=जिससे, अस्य=इसका, तत् करणानुगतार्थता=उस प्रकरण के अनुगत अर्थ, परिकल्प्यते=परिकल्पित होगा।

अर्थ—यहाँ व्याजस्तुति अलंकार है, यह किसी ने कहा है, यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि यह अभिधेय इस अलंकार के स्वरूप में पर्यवसित होने में सुसंगत नहीं है, क्योंकि यह किसी रागी पुरुष का विकल्प नहीं है, क्योंकि 'इस बेचारी को समान प्रिय प्राप्त न होने से स्वयं ही मार डाला' यह उसकी उक्ति उपपन्न नहीं होती। रागरहित पुरुष का भी विकल्प नहीं है, क्योंकि उसका इस प्रकार के विकल्पों का परिहार एकमात्र व्यापार है न कि यह श्लोक कहीं प्रबन्ध में है ऐसा सुना जाता है जिसमें इसका उस प्रकरण के अनुगत अर्थ होगा।

तस्मादप्रस्तुत प्रशंसेयम्। यस्मादनेन वाच्येन गुणीभूतात्मना निस्सामान्यगुणावलेपाध्मातस्य निज महिमोत्कर्षजनितसमत्सरजनज्वरस्य विशेषज्ञमात्मनो न कञ्चिदेवापरं पश्यत. परिदेवितमेतदिति प्रकाश्यते। तथाचायं धर्मकीर्तेः श्लोकः इति प्रसिद्धिः। सम्भाव्यते च तस्यैव। यस्मात् -

> अनध्यवसितावगाहनमनल्पधी शक्तिना-
> प्यदृष्टपरमार्थतत्वमधिकाभियोगैरपि।
> मतं मम जगत्यलब्धसदृश प्रतिग्राहकं,
> प्रयास्यति पयोनिधेः पय इव स्वदेहे जराम्॥

श्रीधरी—तस्मात्=इसलिये, इयं=यह, अप्रस्तुतप्रशंसा=अप्रस्तुतप्रशंसा है, यस्मात्=क्योंकि, अनेन=इस, गुणीभूतात्मना वाच्येन=गुणीभूत रूप वाच्य से, निस्सामान्यगुणावलेपाध्मातस्य=अपने असाधारण गुण के दर्प से भरे निजमहिमोत्कर्षजनित समत्सरजन ज्वरस्य=अपनी महिमा के उत्कर्ष से ईर्ष्यालु जनों को ज्वर उत्पन्न करने वाले, आत्मनः पर - अपने अपरावा, कञ्चित् विशेषज्ञ न पश्यतः=

किसी विशेषज्ञ को न देखते हुए. परिदेवित मेतदिति प्रकाश्यते=यह किसी विद्वान् का क्रन्दन है यह प्रकाशित किया जाता है, तथाचाय=जैसा कि, प्रसिद्धिः=प्रसिद्धि है कि, अयं धर्म कीतेः श्लोकः=यह धर्मकीर्ति का श्लोक है, सम्भाव्यते च तस्यैव= हो सकता है कि उन्ही का हो, यस्मात्=क्योंकि—

अवगाहनमनल्पधीशक्तिना=जिसका अवगाहन प्रखर बुद्धि शक्ति वाले के द्वारा भी, अनध्यवसितः=अध्यवसाय का विषय नही हुआ है, अधिकाभियोगैरपि= अधिक प्रयत्न करने वालो के द्वारा भी, अदृष्ट परमार्थ तत्वम्=जिसका परमार्थ तत्व देखा नही गया है, जगति=संसार मे, अलब्ध सदृश प्रतिग्राहक=जिसको अपने योग्य प्रतिग्राहक अर्थात् समझ वाला प्राप्त नही है, मम मत=मेरा मत है कि, पयोधे पय इव=समुद्र के जल की तरह, स्वदेहे जराम् प्रयास्यति=अपने शरीर मे ही जरा को प्राप्त होगा।

अर्थ—इसलिये यह अप्रस्तुत प्रशंसा है, क्योंकि इस गुणीभूत रूप वाच्य से अपने असाधारण गुण के दर्प से भरे, अपनी महिमा के उत्कर्ष से ईर्ष्यालु जनों को ज्वर उत्पन्न करने वाले, तथा अपने अलावा दूसरे विशेषज्ञ को न मानते हुए किसी विद्वान् का यह क्रन्दन है, यह प्रकाशित किया जाता है, जैसा कि प्रसिद्ध है कि यह धर्मकीर्ति का श्लोक है। सम्भव है उन्हीं का हो भी, क्योंकि—

जिसका अवगाहन प्रखर बुद्धि वाले के द्वारा भी अध्यवसाय का विषय नही हुआ है, अधिक प्रयत्न करने वालो के द्वारा भी जिसका परमार्थ तत्त्व नही देखा गया है, संसार मे अपने योग्य समझ वाला जिसे प्राप्त नही है, मेरा मत है कि वह समुद्र के जल की तरह अपने शरीर मे ही जरा को प्राप्त होगा।

इत्यनेनापि श्लोकेनैवंविधोऽभिप्रायः प्रकाशित एव। अप्रस्तुत प्रशंसायां च यद्वाच्यं तस्य कदाचिद्विवक्षितत्वं, कदाचिदविवक्षितत्वं, कदाचिद्विवक्षिताविवक्षितत्वमिति त्रयी बन्धच्छाया। तत्र विवक्षितत्वं यथा—

> परार्थे यः पीडामनुभवति भङ्गेऽपि मधुरो,
> यदीयः सर्वेषामिह खलु विकारोऽप्यभिमतः।
> न सम्प्राप्तो वृद्धिं यदि च भृशमक्षेत्र पतितः,
> किमिक्षोर्दोषोऽसौ न पुनरगुणाया मरुभुवः॥

यथा वा ममैव—

> अमी ये दृश्यन्ते ननु सुभगरूपाः सफलता,
> भवत्येषां यस्य क्षणमुपगतानां विषयताम्।
> निरालोके लोके कथमिदमहो चक्षुरधुना,
> समं जातं सर्वैर्न सममथवान्यैरवयवैः॥

श्रीधरी—इत्यनेनापि श्लोकेन=इस श्लोक से भी, एवं विधः=इस प्रकार का, अभिप्रायः प्रकाशित एव=अभिप्राय प्रकाशित ही है, अप्रस्तुतप्रशंसायां च=अप्रस्तुत प्रशंसा मे भी, यद्वाच्यं=जो वाच्य है, तस्य कदाचिद्विवक्षितत्वं=वह कभी विवक्षित, कदाचिदविवक्षितत्वं=कभी अविवक्षित, कदाचिद्विवक्षिताविवक्षितत्वं=और कभी विवक्षिताविवक्षितत्व होता है, इति त्रयी बन्धच्छाया=इस प्रकार तीन प्रकार की बन्धच्छाया है, तत्र=उनमें, विवक्षितत्वं यथा=विवक्षितत्व जैसे।

यः परार्थं पीडामनुभवति=जो दूसरो के लिये पीडा का अनुभव करता है, भङ्गेऽपि मधुरः=टूटने पर भी जो मधुर बना रहता है, यदीयः विकारोऽपि=जिसका विकार भी, इह=यहाँ, सर्वेषां अभिमतः=सभी को अभिमत है, यदि अक्षेत्र पतितः सः=यदि वह इक्षु खराब भूमि में पडकर, वृद्धिं न सम्प्राप्तः=वृद्धि को प्राप्त नहीं हुआ तो, असौ इक्षोर्दोषः किं=यह क्या इक्षु का दोष है, अगुणायाः मरुभुवः पुनः=गुणरहित मरुभूमि का दोष नहीं है क्या?

यथा वा ममैव=अथवा जैसे मेरा ही।

अमी=ये, ननु सुभग रूपाः दृश्यन्ते=जो सुन्दर रूपों वाले शरीर के अवयव दिखाई देते हैं, एषां=इनकी, यस्य=जिसका, क्षणं=क्षण भर, विषयता उपगताना=विषय हो जाने पर, सफलता भवति=सफलता होती है, अहो=आश्चर्य है, इदं चक्षुः=यह चक्षु भी, अधुना निरालोके लोके=अब अन्धकारमय जगत मे, सर्वैः=सभी, अन्यैः अवयवैः सम=अन्य अवयवों के समान भी, न जातं=नही रहा।

अर्थ—इस श्लोक से भी इस प्रकार का अभिप्राय प्रकाशित ही है। अप्रस्तुत प्रशंसा मे जो वाच्य है वह कभी विवक्षित कभी अविवक्षित और कभी विवक्षिताविवक्षित होता है, इस प्रकार यह तीन प्रकार की बन्धच्छाया है, उनमें से विवक्षित जैसे—

दूसरो के लिये जो पीड़ा का अनुभव करता है, टूटने पर भी जो मधुर बना रहता है, जिसका विकार भी वहाँ सभी को अभिमत रहता है, यदि वह इक्षु खराब भूमि में पड़ने के कारण वृद्धि को प्राप्त नही हुआ तो क्या वह इक्षु का दोष है, गुणरहित मरुभूमि का नही?

अथवा जैसे मेरा ही—

ये जो सुन्दर रूपों वाले शरीर के अवयव दृष्टिगत होते हैं इनको जिनका क्षण भर विषय हो जाने पर सफलता होती है, आश्चर्य है वह चक्षु भी अब अन्धकारमय जगत मे सभी अन्य अवयवों के समान नही रहा है।

अनयोर्हि द्वयोः श्लोकयोरिक्षुचक्षुषो विवक्षित स्वरूपे एव न च प्रस्तुते। महागुणस्याविषय पतितत्वादप्राप्त परभागस्य कस्यचित्स्वरूपमुपवर्णयितुं द्वयोरपि श्लोकयोस्तात्पर्येण प्रस्तुतत्वात्। अविवक्षितत्वं यथा—

कस्त्वं भोः कथयामि दैव हतकं मां विद्धि शाखोटकं,
वैराग्यादिव वक्षि, साधुविदित कस्मादिदं कथ्यते।
वामेनात्र वटस्तमध्वगजनः सर्वात्मना सेवते,
न च्छायापि परोपकारकरिणी मार्गस्थितस्यापि मे ॥

न हि वृक्ष विशेषेण सहोक्ति प्रत्युक्ती सम्भवत इत्यविवक्षिताभिधेयेनैवानेन श्लोकेन समृद्धासत्पुरुषसमीपवर्तिनो निर्धनस्य कस्यचिन्मनस्विनः परिदेवितं तात्पर्येण वाक्यार्थीकृतमिति प्रतीयते।

श्रीधरी—अनयोर्हि द्वयो· श्लोक योः = इन दोनों श्लोको मे, इक्षुचक्षुषी विवक्षित स्वरूपे एव = इक्षु और चक्षु विवक्षित स्वरूप ही हैं, न च प्रस्तुते = प्रस्तुत नही· महागुणस्य = महान् गुणवाला, अविषय पतितत्वात् = अविषय मे पडे होने के कारण, अप्राप्त परभागस्य = पर भाग को प्राप्त न कर सकने वाला, कस्यचित् = कोई व्यक्ति स्वरूपमुपवर्णयितुं = स्वरूप वर्णन करने के लिये, द्वयो रपि श्लोकयोस्तात्पर्येण = दोनो श्लोको मे तात्पर्य के कारण, प्रस्तुतत्वात् = प्रस्तुत है, अविवक्षितत्व यथा अविवक्षित जैसे।

भोः कस्त्वं = अरे तुम कौन हो, कथयामि = कहता हूँ, मां = मुझको, दैवहतक भाग्य का मारा, शाखोटकंविद्धि = शाखोटक समझो, वैराग्यादिव वक्षि = वैराग्य से जैसे बोल रहे हो, साधु विदित = तुमने ठीक समझा, कस्मादिदं = यह क्यो, *कथ्यते = कहता हूँ, वामेनात्र वटः = बाईं ओर यहाँ वट वृक्ष है, त अध्वगजन* = उसको पथिक लोग, सर्वात्मना सेवते = सब प्रकार से सेवन करते है, मार्गस्थितस्यापि = मार्ग मे स्थित भी, मे छाया = मेरी छाया, परोपकारकारिणी न = परोपकार करने वाली नही है।

वृक्षविशेषेण सह = किसी वृक्ष विशेष के साथ, उक्तिप्रत्युक्ती न सम्भवत = बातचीत सम्भव नही है, इति = इसलिये, अविवक्षिताभिधेयेनैवानेनश्लोकेन = अविवक्षित अभिधेय वाले ही इस श्लोक मे, समृद्ध असत्पुरुष समीपवर्तिनो = समृद्ध असत्पुरुष के समीप रहने वाले, कस्यचित् निर्धनस्य मनस्विनः = किसी निर्धन मनस्वी का, परिदेवित = निर्वेद, तात्पर्येण = तात्पर्य से, वाक्यार्थीकृतमिति प्रतीयते = वाक्यार्थ किया गया है, यह प्रतीत होता है।

अर्थ – इन दोनो श्लोको में इक्षु और चक्षु विवक्षित रूप ही है, प्रस्तुत नही क्योंकि महान् गुण वाला, अविषय मे पडे होने के कारण परभाग को प्राप्त न कर सका हुआ कोई व्यक्ति स्वरूप वर्णन के लिये दोनो श्लोको मे तात्पर्य के कारण प्रस्तुत है। अविवक्षित जैसे—

अरे, तुम कौन हो ? कहता हूँ, मुझे भाग्य का मारा शाखोटक समझो, वैराग्य से जैसे कह रहे हो, तुमने ठीक समझा, यह क्यो ? कहता हूँ, बाईं ओर

यहाँ वट वृक्ष है उसका पथिक लोग सब प्रकार से सेवन करते हैं, मार्ग में स्थित भी मेरी छाया परोपकार करने वाली नहीं है।

किसी वृक्ष के साथ बातचीत सम्भव नहीं है, इसलिये अविवक्षित अभिधेय वाले ही इस श्लोक से समृद्ध असत्पुरुष के समीप रहने वाले किसी निर्धन मनस्वी का निर्वेद वचन तात्पर्य द्वारा वाक्यार्थ किया गया है, यह प्रतीत होता है।

विवक्षितत्वाविवक्षितत्वं यथा—

उप्पहजाआएँ असोहिणीए फलकुसुमपत्तरहिआए।
वेरीएँ वइं देन्तो पामर हो ओहसिज्जिहसि॥

अत्र हि वाच्यार्थो नात्यन्तं सम्भवी न चासम्भवी। तस्माद्वाच्यव्यंग्ययो प्राधान्याप्राधान्ये यत्नतो निरूपणीये।

श्रीधरी—विवक्षितत्वा विवक्षितत्वं=विवक्षित और अविवक्षित, यथा=जैसे, पामर=हे नीच, उत्पथजाताया:=कुमार्ग में पैदा हुई, अशोभनाया:=लावण्य रहित, फलकुसुमपत्ररहिताया:=फल फूल और पत्रों से रहित, वेरीवपन्त:=बेरी को बोता हुआ, अपहसिष्यसि=तू उपहास का पात्र बनेगा।

अत्र हि=यहाँ, वाच्यार्थो=वाच्य अर्थ, नात्यन्तं सम्भवी=न तो अत्यन्त सम्भवी है, न चासम्भवी=और न असम्भवी है, तस्मात्=इसलिये, वाच्य व्यंग्ययो:=वाच्य और व्यंग्य के, प्राधान्या प्राधान्ये=प्राधान्य और अप्राधान्य का, यत्नतो निरूपणीये=यत्नपूर्वक निरूपण करना चाहिए।

अर्थ विवक्षित अविवक्षित जैसे—

हे पामर! कुमार्ग में पैदा हुई, अशोभन, फल, फूल और पत्रों से रहित बदरी को बोता हुआ तू उपहास का पात्र बनेगा।

यहाँ वाच्य अर्थ न अत्यन्त सम्भवी है और न असम्भवी है। इसलिये वाच्य और व्यंग्य के प्राधान्य और अप्राधान्य का यत्नपूर्वक निरूपण करना चाहिए।

प्रधानगुणभावाभ्यां व्यंग्यस्यैवं व्यवस्थिते।
काव्ये उभे ततोऽन्यद्यत्तच्चित्र मभिधीयते॥४१॥
चित्रं शब्दार्थ भेदेन द्विविधं च व्यवस्थितम्।
तत्र किञ्चिच्छब्दचित्रं वाच्याचित्रमतः परम्॥४२॥

व्यंग्यस्यार्थस्य प्राधान्ये ध्वनिसंज्ञितकाव्यप्रकार. गुणभावे तु गुणीभूत व्यंग्यता। ततोऽन्यद्रसभावादितात्पर्यरहितं, व्यंग्यार्थविशेषप्रकाशनशक्तिशून्यं च काव्यं केवलवाच्यवाचक वैचित्र्यमात्राश्रयेणोपनिबद्धमालेख्य प्रख्यं यदाभासते तच्चित्रम्। न तन्मुख्यं काव्यम्। काव्यानुकारो ह्यसौ। तत्र किञ्चिच्छब्द चित्रं यथा दुष्करयमकादि। वाच्य चित्रं ततः शब्दचित्रादन्यद्व्यंग्यार्थ संस्पर्शरहितं प्राधान्येन वाक्यार्थतया स्थितं रसादि तात्पर्यरहितमुत्प्रेक्षादि।

श्रीधरी—प्रधानगुणभावाभ्यां=प्रधानाभाव और गुणभाव के द्वारा, एवं= इस प्रकार, व्यंग्यस्य व्यवस्थिते=व्यंग्य के व्यवस्थित होने पर, काव्ये उभे=काव्य दो प्रकार के है, ततो यत् अन्यः=उनसे जो अन्य है, तत् चित्रं अभिधीयते=वह चित्र कहलाता है, शब्दार्थ भेदेन=शब्द और अर्थ के भेद से चित्र द्विविध व्यवस्थितम् - चित्र दो प्रकार का होता है तत्र=उनमे, किञ्चित्=कुछ, शब्द चित्र=शब्द चित्र होता है, अतपरं=उससे दूसरा, वाच्यचित्रम्=वाच्य चित्र होता है।

व्यंग्यस्यार्थस्य प्राधान्ये=व्यंग्य अर्थ के प्राधान्य मे ध्वनिसंज्ञित काव्यप्रकारः= ध्वनि नामक काव्य प्रकार होता है, गुणभावे तु=गुणभाव मे, गुणीभूत व्यंग्यता= गुणीभूत व्यंग्यता होती है, ततोऽन्यद्=उनसे अन्य, रसभावादितात्पर्यरहित=रसभाव आदि के तात्पर्य से रहित, व्यंग्यार्थ विशेषप्रकाशन शक्तिशून्य=व्यंग्य अर्थ की प्रकाशन की शक्ति से शून्य, काव्य केवल वाच्यवाचक वैचित्र्यमात्राश्रयेणोप निबद्धं=काव्य केवल वाच्य और वाचक के वैचित्र्यमात्र के आश्रय से उपनिबद्ध होकर, आलेख्यमात्र प्रदाभासते=चित्र की तरह जो मालूम होता है, तच्चित्रम्=वह चित्र है, न तन्मुख्यं काव्यम्=वह मुख्य काव्य नही है, काव्यानुकारोह्यसौ=वह काव्य का अनुकरण मात्र है तत्र=उनमें, किञ्चित् शब्दचित्रं=कुछ शब्दचित्र है, यथा= जैसे दुष्कर यमकादि=दुष्कर यमक आदि, तत्रशब्दचित्रादन्यद् व्यंग्यार्थ संस्पर्श-रहित=उस शब्दचित्र से अन्य व्यंग्य अर्थ के सस्पर्श से रहित, प्राधान्येन वाक्यार्थतया स्थितं=मुख्यत वाच्यार्थ रूप से स्थित, रसादि तात्पर्यरहित उत्प्रेक्षादि वाच्यचित्र= रस आदि के तात्पर्य से रहित उत्प्रेक्षा आदि वाच्य चित्र है।

अर्थ - प्रधानाभाव और गुणभाव के द्वारा इस प्रकार व्यंग्य के व्यवस्थित होने पर काव्य दो प्रकार के होते है, उनसे जो अन्य है वह 'चित्र' कहलाता है।

शब्द अर्थ के भेद से चित्र दो प्रकार का होता है, उनमें कुछ शब्दचित्र होता है और उससे दूसरा वाच्यचित्र होता है।

व्यंग्य अर्थ के प्राधान्य मे ध्वनि नामक काव्य का प्रकार होता है, गुणभाव मे गुणीभूत व्यंग्यता होती है। उनसे अन्य रस, भाव आदि के तात्पर्य से रहित और व्यंग्य अर्थ की प्रकाशन की शक्ति से शून्य काव्य केवल वाच्य और वाचक के वैचित्र्यमात्र के आश्रय से उपनिबद्ध होकर जो आलेख्य अर्थात् चित्र की तरह प्रतीत होता है, वह चित्र है, वह मुख्य काव्य नही है। वह काव्य का अनुकरण है। उनमे कुछ शब्दचित्र हैं जैसे दुष्कर यमक आदि। उस शब्दचित्र से अन्य व्यंग्य अर्थ के सस्पर्श से रहित मुख्यतया वाक्यार्थ रूप मे स्थित एवं रस आदि के तात्पर्य से रहित उत्प्रेक्षा आदि वाच्यचित्र है।

अथ किमिदं चित्रं नाम? यत्र न प्रतीयमानार्थ संस्पर्शः। प्रतीयमानोह्यर्थस्त्रिभेदः प्राक्प्रदर्शितः। तत्र यत्र वस्त्वलङ्कारान्तरं वा व्यंग्यं नास्ति स नाम चित्रस्य कल्प्यतां विषयः। यत्र तु रसादीनामविषयत्वसं

यहाँ वट वृक्ष है उसका पथिक लोग सब प्रकार से सेवन करते हैं, मार्ग में स्थित भी मेरी छाया परोपकार करने वाली नहीं है ।

किसी वृक्ष के साथ बातचीत सम्भव नहीं है, इसलिये प्रविवक्षित अभिधेय वाले ही इस श्लोक से समृद्ध असत्पुरुष के समीप रहने वाले किसी निर्धन मनस्वी का निर्वेद वचन तात्पर्य द्वारा वाक्यार्थ किया गया है, यह प्रतीत होता है ।

विवक्षितत्वाविवक्षितत्वं यथा—

उप्पहजाआएँ असोहिणीए फलकुसुमपत्तरहिआए ।
वेरीएँ वइं देन्तो पामर हो ओहसिज्जिहसि ॥

अत्र हि वाच्यार्थो नात्यन्तं सम्भवी न चासम्भवो । तस्माद्वाच्य व्यंग्ययोः प्राधान्याप्राधान्ये यत्नतो निरूपणीये ।

श्रीधरी—विवक्षितत्वा विवक्षितत्वं=विवक्षित और अविवक्षित, यथा=जैसे, पामर=हे नीच, उत्पथजातायाः=कुमार्ग में पैदा हुई, अशोभनायाः=लावण्य रहित, फलकुसुमपत्ररहितायाः=फल फूल और पत्तों से रहित, बेरीवपन्त=बेरी को बोता हुआ, अपहसिष्यसि=तू उपहास का पात्र बनेगा ।

अत्र हि=यहाँ, वाच्यार्थो=वाच्य अर्थ, नात्यन्तं सम्भवी=न तो अत्यन्त सम्भवी है, न चासम्भवी=और न असम्भवी है, तस्मात्=इसलिये, वाच्य व्यंग्ययोः=वाच्य और व्यंग्य के, प्राधान्या प्राधान्ये=प्राधान्य और अप्राधान्य का, यत्नतो निरूपणीये=यत्नपूर्वक निरूपण करना चाहिए ।

अर्थ विवक्षित अविवक्षित जैसे—

हे पामर ! कुमार्ग में पैदा हुई, अशोभन, फल, फूल और पत्रों से रहित बदरी को बोता हुआ तू उपहास का पात्र बनेगा ।

यहाँ वाच्य अर्थ न अत्यन्त सम्भवी है और न असम्भवी है । इसलिये वाच्य और व्यंग्य के प्राधान्य और अप्राधान्य का यत्नपूर्वक निरूपण करना चाहिए ।

प्रधानगुणभावाभ्यां व्यंग्यस्यैवं व्यवस्थिते ।
काव्ये उभे ततोऽन्यद्यत्तच्चित्र मभिधीयते ॥४१॥
चित्रं शब्दार्थ भेदेन द्विविधं च व्यवस्थितम् ।
तत्र किञ्चिच्छब्दचित्रं वाच्याचित्रमत परम् ॥४२॥

व्यंग्यस्यार्थस्य प्राधान्ये ध्वनिसंज्ञितकाव्यप्रकारः गुणभावे तु गुणीभूत व्यंग्यता । ततोऽन्यद्रसभावादितात्पर्यरहितं, व्यंग्यार्थविशेष-प्रकाशनशक्तिशून्यं च काव्यं केवलवाच्यवाचक वैचित्र्यमात्राश्रयेणोप-निबद्धमालेख्य प्रख्यं यदाभासते तच्चित्रम् । न तन्मुख्यं काव्यम् । काव्यानुकारो ह्यसौ । तत्र किञ्चिच्छब्द चित्रं यथा दुष्करयमकादि । वाच्य चित्रं ततः शब्दचित्रादन्यद्व्यंग्यार्थ संस्पर्शरहितं प्राधान्येन वाक्यार्थतया स्थितं रसादि तात्पर्यरहितमुत्प्रेक्षादि ।

श्रीधरी—प्रधानगुणभावाभ्यां=प्रधानाभाव और गुणभाव के द्वारा, एवं= इस प्रकार, व्यंग्यस्य व्यवस्थिते=व्यंग्य के व्यवस्थित होने पर, काव्ये उभे=काव्य दो प्रकार के हैं, ततो यत् अन्यः=उनसे जो अन्य है, तत् चित्रं अभिधीयते=वह चित्र कहलाता है, शब्दार्थ भेदेन=शब्द और अर्थ के भेद से चित्रं द्विविधं व्यवस्थितम्-चित्र दो प्रकार का होता है, तत्र=उनमें, किञ्चित्=कुछ, शब्द चित्र=शब्द चित्र होता है, अतपरं=उससे दूसरा, वाच्यचित्रम्=वाच्य चित्र होता है।

व्यंग्यस्यार्थस्य प्राधान्ये=व्यंग्य अर्थ के प्राधान्य में ध्वनिसञ्जित काव्यप्रकारः= ध्वनि नामक काव्य प्रकार होता है, गुणभावे तु=गुणभाव में, गुणीभूत व्यंग्यता= गुणीभूत व्यंग्यता होती है, ततोऽन्यद्=उनसे अन्य, रसभावादितात्पर्यरहितं=रसभाव आदि के तात्पर्य से रहित, व्यंग्यार्थ विशेषप्रकाशन शक्तिशून्यं=व्यंग्य अर्थ की प्रकाशन की शक्ति से शून्य, काव्यं केवल वाच्यवाचक वैचित्र्यमात्राश्रयेणोप निबद्धं=काव्य केवल वाच्य और वाचक के वैचित्र्यमात्र के आश्रय से उपनिबद्ध होकर, आलेख्यमात्र प्रदाभासते=चित्र की तरह जो मालूम होता है, तच्चित्रम्=वह चित्र है, न तन्मुख्यं काव्यम्=वह मुख्य काव्य नहीं है, काव्यानुकारोह्यसौ=वह काव्य का अनुकरण मात्र है तत्र=उनमें, किञ्चित् शब्दचित्रं=कुछ शब्दचित्र हैं, यथा= जैसे, दुष्कर यमकादि=दुष्कर यमक आदि, तत्रशब्दचित्रादन्यद् व्यंग्यार्थ संस्पर्श-रहितं=उस शब्दचित्र से अन्य व्यंग्य अर्थ के संस्पर्श से रहित, प्राधान्येन वाक्यार्थतया स्थितं-मुख्यतः वाच्यार्थ रूप से स्थित, रसादि तात्पर्यरहितं उत्प्रेक्षादि वाच्यचित्रं= रस आदि के तात्पर्य से रहित उत्प्रेक्षा आदि वाच्य चित्र है।

अर्थ-प्रधानाभाव और गुणभाव के द्वारा इस प्रकार व्यंग्य के व्यवस्थित होने पर काव्य दो प्रकार के होते हैं, उनसे जो अन्य है वह 'चित्र' कहलाता है।

शब्द अर्थ के भेद से चित्र दो प्रकार का होता है, उनमें कुछ शब्दचित्र होता है और उससे दूसरा वाच्यचित्र होता है।

व्यंग्य अर्थ के प्राधान्य में ध्वनि नामक काव्य का प्रकार होता है, गुणभाव में गुणीभूत व्यंग्यता होती है। उनसे अन्य रस, भाव आदि के तात्पर्य से रहित और व्यंग्य अर्थ की प्रकाशन की शक्ति से शून्य काव्य केवल वाच्य और वाचक के वैचित्र्यमात्र के आश्रय से उपनिबद्ध होकर जो आलेख्य अर्थात् चित्र की तरह प्रतीत होता है, वह चित्र है, वह मुख्य काव्य नहीं है। वह काव्य का अनुकरण है। उनमें कुछ शब्दचित्र हैं जैसे दुष्कर यमक आदि। उस शब्दचित्र से अन्य व्यंग्य अर्थ के संस्पर्श से रहित मुख्यतया वाक्यार्थ रूप में स्थित एवं रस आदि के तात्पर्य से रहित उत्प्रेक्षा आदि वाच्यचित्र हैं।

अथ किमिदं चित्रं नाम ? यत्र न प्रतीयमानार्थ संस्पर्शः। प्रतीयमानो ह्यर्थस्त्रिभेदः प्राक्प्रदर्शितः। तत्र यत्र वस्त्वलङ्कारान्तरं वा व्यंग्यं नास्ति स नाम चित्रस्य कल्प्यतां विषयः। यत्र तु रसादीनामविषयत्वस

काव्यप्रकारो न सम्भवत्येव। यस्मादवस्तु संस्पर्शिता काव्यस्य नोपपद्यते। वस्तु च सर्वमेव जगद्गतमवश्यं कस्यचिद्रसस्य भावस्य वाङ्गत्वं प्रतिपद्यते अन्ततो विभावत्वेन। चित्तवृत्ति विशेषा हि रसादयः न च तदस्ति वस्तु किञ्चिद्यन्न चित्तवृत्ति विशेषमुपजनयति तदनुत्पादने वा कविविषयतैव तस्य न स्यात् कवि विषयश्च चित्रतया कश्चिन्निरूप्यते।

श्रीधरी अथ किमिदं चित्रं नाम=यह चित्र क्या है? यत्र न प्रतीयमानार्थं सस्पर्शः=जहाँ प्रतीयमान अर्थ का सस्पर्श न हो (वह चित्र है), प्रतीयमानोह्यर्थः= प्रतीयमान अर्थ त्रिविधः प्राक् दर्शितः=तीन प्रकार का पहले ही प्रदर्शित हो चुका है, तत्र=वहाँ, यत्र=जहाँ, वस्तु वा अलंकारान्तरं व्यंग्यं नास्ति=जहाँ वस्तु या अलङ्कारान्तर व्यंग्य नही है, स नाम चित्रस्य कल्पनां विषय=वह चित्र का विषय समझ लीजिये, तु=परन्तु, यत्र=जहाँ, रसादीना अविषयत्वं=रसादि का विषयत्व नही है स काव्यप्रकारो न सम्भवत्येव=वह काव्य का प्रकार हो ही नहीं सकता, यस्माद्=क्योंकि काव्यस्य अवस्तु संस्पर्शिता=काव्य मे वस्तु संस्पर्श का अभाव, न उपपद्यते=नही हो सकता, जगद् गतं सर्वमेव च वस्तु=संसार की सभी वस्तुएं, अवश्यं=अवश्य ही, कस्यचिद्रसस्य भावस्य वाङ्गत्व प्रतिपद्यते=किसी रस या भाव की अङ्ग बन जाती है, अन्ततो विभावत्वेन=अन्ततः विभाव रूप मे, रसादयः=रस आदि, चित्तवृत्ति विशेषा हि=चित्तवृत्ति विशेष है, न च तदस्ति वस्तु किञ्चिद्= वह कोई ऐसी वस्तु नही है, यद्=जो, चित्तवृत्ति विशेषं न उपजनयति=चित्तवृत्ति विशेष को उत्पन्न नही करती, तदनुत्पादने वा=यदि वह उसे उत्पन्न न करे, तस्य कवि विषयता एव न स्यात्=तो वह कवि का विषय ही नही होगी, कश्चित् कवि विषयः=कुछ कवि का विषय, चित्रतया निरूप्यते=चित्र रूप मे निरूपित किया जाता है।

अर्थ- यह चित्र क्या है? जहाँ प्रतीयमान अर्थ का सस्पर्श न हो वह चित्र है, प्रतीयमान अर्थ तीन प्रकार का पहले ही प्रदर्शित हो चुका है, वहाँ जहाँ वस्तु या अलकारान्तर व्यंग्य नही है, वह चित्र का विषय समझ लीजिये, परन्तु जहाँ रसादि का विषयत्व नही है वह काव्य का प्रकार हो ही नही सकता क्योंकि काव्य मे वस्तु संस्पर्श का अभाव नही बन सकता और ससार की सभी वस्तुएं अवश्य ही किसी रस या भाव का अग बन जाती है, अन्ततः विभाव रूप मे। रसादि चित्तवृत्ति विशेष है, वह कोई ऐसी वस्तु नही है जो चित्तवृत्ति विशेष को उत्पन्न नही करती, यदि वह उसे उत्पन्न न करे तो वह कवि का विषय ही नही होगी और कुछ कवि का विषय चित्र रूप मे निरूपित किया जाता है।

अत्रोच्यते- सत्यं न तादृक्काव्य प्रकारोऽस्ति यत्र रसादीनाम-प्रतीतिः। किं तु यदारसभावादि विवक्षा शून्य कविः शब्दालङ्कारमर्था-लङ्कारं वोपनिबध्नाति तदा तद्विवक्षापेक्षया रसादिशून्यतार्थस्य परि-

कल्प्यते । विवक्षोपारूढ एव हि काव्ये शब्दानामर्थः । वाच्य सामर्थ्यवशेन च कवि विवक्षा विरहेऽपि तथाविधे विपये रसादि प्रतीतिर्भवन्ती परिदुर्वला भवतीत्यनेनापि प्रकारेण नीरसत्वं परिकल्प्य चित्रविषयो व्यवस्थाप्यते । तदिदमुक्तम् ।

'रस भावादि विषय विवक्षा विरहे सति ।
अलंकार निबन्धो यः स चित्र विषयो मतः ।।
रसादिषु विवक्षा तु स्यात्तात्पर्यवती यदा ।
तदा नास्त्येव तत्काव्यं ध्वनेर्यत्र न गोचरः ।।

श्रीधरी अत्रोच्यते = यहाँ कहते है, सत्यं = ठीक है, न तादृक्काव्य प्रकारोऽस्ति = वह काव्य का कोई प्रकार नही है, यत्र = जहाँ, रसादीनामप्रतीतिः = रस आदि की प्रतीति न हो, कि तु = लेकिन, यदा = जब, रसभावादि विवक्षा शून्यः = रस भाव आदि की विवक्षा से रहित, कविः = कवि, शब्दालकारं वा अर्थालकार = शब्दालकार या अर्थालकार का, उपनिबध्नाति = उपनिबन्धन करता है, तदा = तब, तद्विवक्षापेक्षया = उसकी विवक्षा की अपेक्षा, रसादि शून्यतार्थस्य परिकल्प्यते = अर्थ की रसादि शून्यता मानी जाती है, हि = क्योंकि काव्य = काव्य मे, शब्दानामर्थ = शब्दों का अर्थ, विवक्षोपारूढ एव = कवि की विवक्षा के उपारूढ ही होता है, च = और, वाच्य सामर्थ्यवशेन = वाच्य की सामर्थ्य के वश, कवि विवक्षा विरहेऽपि = कवि की विवक्षा के न होने पर भी, तथाविधे विपय = उस प्रकार के विषय मे, रसादि प्रतीतिर्भवन्ती = रसादि की प्रतीति होती हुई, परिदुर्वला भवतीत्यनेनापि प्रकारेण = बहुत दुर्बल होती है, इस प्रकार से भी, नीरसत्व परिकल्प्य = नीरसत्व को मानकर, चित्रविषयो व्यवस्थाप्यते = चित्र का विषय व्यवस्थापित करते हैं, तदिदं मुक्तम् = इसलिये यह कहा है ।

रसभावादि विषयविवक्षाविरहेसति = रस, भाव आदि के विषय की विवक्षा न होने पर, यः = जो, अलंकार निबन्धः = अलंकार का निबन्ध है, स चित्र विषयो मतः = वह चित्र का विषय माना गया है, तु = परन्तु, यदा = जब, रसादिषु तात्पर्यवतीविवक्षा = रसादि मे तात्पर्य रखने वाली विवक्षा हो, तदा = तब, तत्काव्य = वह काव्य, नास्त्येव = नही है, यत्र = जहाँ, ध्वनेर्नगोचर = ध्वनि दृष्टिगत नही होती ।

अर्थ - यहाँ कहते हैं — ठीक है, वह काव्य का कोई प्रकार नही है जहाँ रसादि की प्रतीति न हो, किन्तु जब रस, भाव आदि की विवक्षा से रहित कवि शब्दालंकार या अर्थालंकार का उपनिबन्धन करता है तब उसकी विवक्षा की अपेक्षा अर्थ की रसादिशून्यता मानी जाती है क्योंकि काव्य मे शब्दों का अर्थ कवि की विवक्षा के उपारूढ ही होता है और वाच्य की सामर्थ्य के वश कवि की

न होने पर भी उस प्रकार के विषय में रसादि की प्रतीति होती हुई बहुत दुर्बल होती है इस प्रकार से भी नीरसत्व को मानकर चित्र का विषय व्यवस्थित करते हैं। इसलिये यह कहा है -

रस, भाव आदि के विषय की विवक्षा न होने पर जो अलंकार का निबन्ध है, वह चित्र का विषय माना गया है।

किन्तु जब रसादि में तात्पर्य रखने वाली विवक्षा हो तब वह काव्य नहीं है जहाँ ध्वनि दृष्टिगत न होती हो।

एतच्च चित्रं कवीनां विश्रृङ्खलगिरां रसादि तात्पर्यमनपेक्ष्यैव काव्यप्रवृत्ति दर्शनादस्माभिः परिकल्पितम्। इदानीन्तनानां तु न्याये काव्यनयव्यवस्थापने क्रियमाणे नास्त्येव ध्वनिव्यतिरिक्तः काव्य प्रकारः। यतः परिपाकवतां कवीनां रसादि तात्पर्य विरहे व्यापार एव न शोभते। रसादि तात्पर्ये च नास्त्येव तद्वस्तु यदभिमतरसाङ्गतां नीयमानं न प्रगुणी भवति। अचेतना अपि हि भावा यथायथमुचितरस विभावतया चेतन वृतान्तयोजनया वा न सन्त्येव ते ये यान्ति न रसाङ्गताम्। तथाचेद-मुच्यते—

श्रीधरी—च=और, विश्रृङ्खलगिरां=निरंकुश वाणी वाले, कवीनां=कवियों की, रसादितात्पर्यमनपेक्ष्यैव=रसादि के तात्पर्य की अपेक्षा न करके ही, काव्यप्रवृत्ति दर्शनात्=काव्य प्रवृत्ति दृष्टिगत होने से, अस्माभिः चित्रं परिकल्पि-तम्=हमने इस चित्रकाव्य की कल्पना की है, तु=परन्तु, न्याय्ये न्यायानुकूल, काव्यनयव्यवस्थापने=काव्यमार्ग का व्यवस्थान, क्रियमाणे=हो जाने पर इदानी-न्तनानां=अब के कवियों के लिये, ध्वनिर्व्यतिरिक्तः=ध्वनि के अतिरिक्त, काव्य प्रकार, नास्त्येव=काव्यप्रकार नहीं ही है, यतः=क्योंकि, परिपाकवतां कवीनां=परिपाक वाले कवियों का, रसादिता पर्य विरहे=रसादि के तात्पर्य के अभाव में, व्यापार एव न शोभते=व्यापार ही शोभा नहीं देता, रसादितात्पर्ये च नास्त्येव तद्वस्तु=रसादि के तात्पर्य में वह वस्तु नहीं ही है, यद्=जो, अभिमतरसाङ्गतां *नीयमानं न प्रगुणीभवति=अभिमत रस का अंग होती हुई प्रगुण न हो जाती हो,* अचेतना अपि हि भावा=अचेतन भी वे भाव, यथायथमुचितरसविभावतया=*यथानुकूल उचित रस के विभाव के रूप में, वा=या,* चेतन *वृत्तान्तयोजनया=*चेतन वृत्तान्त की योजना में, ते न सन्त्येव=वे नहीं ही हैं, ये=जो, रसाङ्गता न यान्ति=*रस का अंग नहीं बन जाते। तथाचेद मुच्यते=जैसा कि यह कहते हैं।*

अर्थ—और निरंकुश वाणी वाले कवियों की रसादि के तात्पर्य की अपेक्षा न करके ही प्रवृत्ति देखी जाने से हमने इस चित्र काव्य की कल्पना की है, किन्तु न्यायानुसार काव्यमार्ग का व्यवस्थान हो जाने पर अब के कवियों के लिये ध्वनि से अतिरिक्त काव्य का प्रकार है ही नहीं क्योंकि परिपाक वाले कवियों का रसादि

के तात्पर्य के प्रभाव मे व्यापार ही शोभा नही देता, और रसादि के तात्पर्य मे वह वस्तु नही ही है जो अभिमत रस का अंग होती हुई अगुण न हो जाती हो। अचेतन भी वे भाव अनुकूल उचित रस के विभाव के रूप में अथवा चेतन वृत्तान्त की योजना से नही ही हैं—जो रस का अंग नही बन जाते हैं, जैसा कि कहते हैं—

> अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः ।
> यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥
> शृङ्गारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत् ।
> स एव वीतरागश्चेन्नीरसं सर्वमेव तत् ॥
> भावानचेतनानपि चेतनवच्चेतनानचेतनवत् ।
> व्यवहारयति यथेष्टं सुकविः काव्ये स्वतन्त्रतया ॥

श्रीधरी—अपारे काव्यसंसारे=अपार काव्य संसार मे, कविः एकः प्रजापतिः=कवि एक प्रजापति है, यथा=जिस प्रकार, अस्मै=उसको, विश्वं रोचते=विश्व लगता है, तथेद परिवर्तते=वैसे उसे बदल देता है, कविः काव्ये शृंगारी चेत्=यदि कवि काव्य मे शृंगारी है तो, जगत् रसमय जातं=संसार रसमय हो गया, स एव वीतरागश्चेत्=वही यदि वीतराग है तो, तत् सर्वमेव नीरसं जातं=वही सब नीरस हो गया, सुकविः स्वतन्त्रतया=सुकवि स्वतन्त्ररूप से, काव्ये=काव्य मे, अचेतनानपिभावान्=अचेतन भी भावों को, चेतनवत्=चेतन की तरह चेतनान् अचेतनवत्=और चेतन भावो को अचेतन की तरह, यथेष्ट व्यवहारयति=यथेष्ट रूप मे व्यवहृत करता है।

अर्थ—अपार काव्य रूपी संसार मे कवि ही एक प्रजापति है जिस प्रकार उसे विश्व लगता है, उस प्रकार उसे बदल देता है।

यदि कवि काव्य मे शृंगारी है तो ससार रसमय हो गया, और यदि वही वीतराग है तो वह सभी कुछ नीरस हो गया।

सुकवि स्वतन्त्र रूप से काव्य मे अचेतन भी भावो को चेतन की तरह और चेतन को अचेतन की तरह यथेष्ट रूप मे व्यवहृत करता है।

तस्मान्नास्त्येव तद्वस्तु यत्सर्वात्मना रस तात्पर्यवतः कवेस्तदिच्छया तदभिमत रसाङ्गतां न धत्ते। तथोपनिबध्यमानं वा न चारुत्वातिशयं पुष्णाति। सर्व मेतच्च महाकवीनां काव्येषु दृश्यते। अस्माभिरपि स्वेषु काव्यप्रबन्धेषु यथायथ दर्शितमेव। स्थितेचैव एवंएव काव्यप्रकारो न ध्वनिधर्मता मतिपतति रसाद्यपेक्षाया कवेर्गुणीभूत व्यंग्यलक्षणोऽपि प्रकाररसदङ्गतामवलम्बत इत्युक्त प्राक्। यदा तु चाटुषु देवता स्तुतिषु वा रसादीनामङ्गतया व्यवस्थान हृदयवतीषु च सप्रज्ञकगाथासु कासुचिद् व्यंग्यविशिष्ट वाच्ये प्राधान्य तदपि गुणीभूत व्यंग्यस्य ध्वनि निष्पन्दभूतत्व-

मेवेत्युक्त प्राक् । तदेवमिदानींतनकविकाव्यनयोपदेशे क्रियमाणे प्राथमिकानामभ्यासार्थिनां यदि परं चित्रेण व्यवहारः, प्राप्त परिणतीनां तु ध्वनिरेव काव्यमिति स्थितमेतत् । तदयमत्र संग्रहः—

यस्मिन् रसो वा भावो वा तात्पर्येण प्रकाशते ।
संवृत्याभिहितो वस्तु यत्रालंकार एव वा ॥
काव्याध्वनि ध्वनिर्व्यङ्ग्य प्राधान्यैक निबन्धनः ।
सर्वत्र तत्र विषयो ज्ञेयः सहृदयैर्जनैः ॥

श्रीधरी—तस्मात्=इसलिये, सर्वात्मना रस तात्पर्यवतः=रस मे तात्पर्य रखने वाले, कवेः=कवि की, नास्त्येव तद्वस्तु=कोई वह वस्तु नही है, यत्=जो सर्वात्मना=सब तरह से, तदिच्छया=उसकी इच्छा से, तदभिमतरसाङ्गता न धत्ते=उसके अभिमत रस का अंग भाव प्राप्त नहीं करती है, वा=अथवा, तथोपनिबध्यमानं=उस प्रकार उपनिबध्यमान होकर, चारुत्वातिशयं न पुष्णाति=अतिशय चारुत्व को नही बढाती, सर्वमेतच्च=और यह सब, महाकवीनां काव्येषु दृश्यते=महाकवियो के काव्य मे दृष्टिगत होता है, अस्माभिरपि=हमने भी, स्वेषु काव्य प्रबन्धेषु=अपने काव्य प्रबन्धो में, यथायथं दर्शितमेव=ठीक प्रकार से दिखाया ही है, च एवं स्थिते=और इस प्रकार स्थित होने पर, सर्वे एव काव्य प्रकारो=सभी काव्य के प्रकार, न ध्वनि धर्मतामतिपतति=ध्वनि के धर्म का अतिक्रमण नही करते, कवेः=कवि की, रसाद्यपेक्षायां=रसादि की अपेक्षा मे, गुणीभूत व्यंग्य लक्षणोऽपि=गुणीभूतव्यंग्य रूप भी, प्रकारः=प्रकार, तदंगतामवलम्बत इत्युक्त प्राक=उसका अंग भाव बन जाता है, यह पहले कह चुके हैं, यदा तु=जब, चाटुषु=चाटुओ मे, वा देवतास्तुतिषु=देवता की स्तुतियों में, रसादीनामंगतया व्यवस्थानं=रसादि का अंग रूप से व्यवस्थान होता है, हृदयवतीषु च=और हृदयवती, सप्रशक गाथासु कासुचिद्=सहृदय जनो की किन्ही गाथाओं में, व्यंग्य विशिष्ट वाच्ये=व्यंग्य विशिष्ट वाच्य में, प्राधान्यं=प्राधान्य हो, तदपि=तब भी, गुणीभूत व्यंग्यस्य ध्वनि निष्पन्द भूतत्वमेवे त्युक्तंप्राक्=गुणीभूत व्यंग्य ध्वनि का निष्पन्द रूप ही यह पहले कह चुके हैं, तद्=तो, एवं=इस प्रकार, इदानी तन कवि काव्य नयोपदेशो=आधुनिक कवि के काव्य के मार्ग का उपदेश, क्रियमाणे=किये जाने पर, प्राथमिकानामभ्यासार्थिनां=प्राथमिक अभ्यासार्थी कवियो का, चित्रेण व्यवहारः=चित्र से व्यवहार हो सकता है, प्राप्त परिणतीनां तु=किन्तु प्राप्त परिपाक वालों के लिये, ध्वनिरेव काव्यमिति स्थित मेतत्=ध्वनि ही काव्य है, यह निश्चित है, तदयमत्र संग्रहः=तो यहाँ यह सग्रह है —

यस्मिन्=जिस काव्य में, रसो वा भावो वा=रस या भाव, तात्पर्येणप्रकाशते=तात्पर्य रूप से प्रकाशित हों, यत्र वस्तु वा अलंकार एव=जहाँ वस्तु या अलंकार ही, संवृत्याभिहितो=गोपन के प्रकार से अभिहित हो, तत्र सर्वत्र=वहाँ

सर्वत्र व्यंग्य प्राधान्यैकनिबन्धनः=व्यंग्य के प्राधान्य मे एकमात्र होने वाले, ध्वनिः=ध्वनि को, सहृदयर्जनैः=सहृदय लोगों के द्वारा, विषयी ज्ञेयः=विषय वाला समझा जाय।

अर्थ—इसलिये रस में तात्पर्य रखने वाले कवि के लिये ऐसी कोई वस्तु नही है जो सब प्रकार से उसकी इच्छा के रूप उसके रस का अंगभाव प्राप्त नही करती अथवा उस प्रकार उपनिबध्यमान होकर अतिशय चारुत्व को वृद्धिगत नही करती है। यह सब बातें महाकवियों के काव्यों मे दृष्टिगत होती है। हमने भी अपने काव्य प्रबन्धो मे अवसरानुसार दिखाया ही है और इस प्रकार स्थित होने पर सभी काव्य के प्रकार ध्वनि के धर्म भाव का अतिक्रमण नही करते कवि की रसादि की अपेक्षा में गुणीभूत व्यंग्य रूप भी प्रकार उसका अंग भाव बन जाता है यह पहले ही कहा जा चुका है, जब चाटुओं मे अथवा देवता की स्तुतियो मे रसादि का अंगरूप से व्यवस्थान होता है और सहृदय सप्रज्ञक जनों की किन्ही गाथाओं में व्यंग्य विशिष्ट वाच्य में प्राधान्य हो तब भी गुणीभूत व्यंग्य ध्वनि का निष्पन्द रूप ही है यह पहले ही प्रतिपादित किया जा चुका है। इस प्रकार आधुनिक कवि के काव्य के मार्ग का उपदेश किये जाने पर प्राथमिक अभ्यासार्थी कवियों का चित्र से व्यवहार हो सकता है, *किन्तु प्राप्त परिपाक वालो के लिये ध्वनि ही काव्य है,* यह निश्चित है। अतः यह यहाँ संग्रह है—

जिस काव्य मे रस अथवा भाव तात्पर्य रूप से प्रकाशित हों, जहाँ वस्तु अथवा अलकार ही गोपन के प्रकार से अभिहित हों, वहाँ सर्वत्र व्यंग्य के प्राधान्य मे एकमात्र होने वाले ध्वनि को सहृदय लोग विषय वाला समझें।

सगुणीभूतव्यंग्यैः सालंकारैः सहप्रभेदैः स्वैः।
सङ्कर संसृष्टिभ्यां पुनरप्युदयोतते बहुधा ॥४३॥

तस्य च ध्वनेः स्वप्रभेदैर्गुणीभूत व्यंग्येन वाच्यालकारैश्च सङ्कर-ससृष्टि व्यवस्थायां क्रियमाणायां बहु प्रभेदतालक्ष्ये दृश्यते। तथाहि स्व प्रभेद संकीर्ण स्वप्रभेदसंसृष्टो गुणीभूतव्यंग्यसंकीर्णोगुणीभूतव्यंग्यसंसृष्टो वाच्यालङ्कारान्तर सङ्कीर्णो वाच्यालङ्कारान्तर ससृष्टः संसृष्टालङ्कार-सङ्कीर्णः संसृष्टालंकार संसृष्टश्चेति बहुधा ध्वनिः प्रकाशते।

श्रीधरी सगुणीभूत व्यंग्यैः=गुणीभूत व्यंग्य के साथ (वह ध्वनि), सालङ्कारैः=अलकारो के साथ, स्वैः प्रभेदैः सह=अपने प्रभेदो के साथ, सङ्कर ससृष्टिभ्या सकर और संसृष्टि के द्वारा, पुन. अपि बहुधा उद्योतते=फिर और भी बहुत प्रकार मे प्रकाशित होती है।

तस्य चध्वनेः=वह ध्वनि, स्वप्रभेदैर्गुणीभूत व्यंग्येन=अपने प्रभेदों से, गुणीभूत व्यंग्य से, वाच्यालङ्कारैश्च=और वाच्य अलंकारों से, संकरसृष्टि व्यवस्थायां क्रियमाणायां=संकर और संसृष्टि की व्यवस्था की जाने पर, लक्ष्ये=

लक्ष्य मे, बहुप्रभेदा दृश्यते=बहुत प्रभेदों वाला दृष्टिगत होता है, तथाहि=जैसा कि, स्वप्रभेद सङ्कीर्णः=अपने प्रभेद से सकीर्ण, स्वप्रभेद संसृष्टः=अपने प्रभेद से ससृष्ट, गुणीभूतव्यग्य संकीर्णः=गुणीभूत व्यंग्य से संकीर्ण, गुणीभूत व्यंग्यसंसृष्टो=गुणीभूत व्यग्य से ससृष्ट, वाच्यालङ्कारान्तर संकीर्णो=वाच्य अलंकारान्तर से सकीर्ण, वाच्यालकारान्तर संसृष्टः=वाच्य अलंकारान्तर से संसृष्ट, संसृष्टालंकार संकीर्णः=ससृष्ट अलंकार से संकीर्ण, ससृष्टालंकार संसृष्टश्चेति=संसृष्ट अलंकार से संसृष्ट इस प्रकार, बहुधा ध्वनिः प्रकाशते=बहुत प्रकार से ध्वनि प्रकाशित होती है।

अर्थ—वह ध्वनि गुणीभूत व्यंग्य के साथ, अलंकारों के साथ और अपने प्रभेदो के साथ सकर और संसृष्टि के द्वारा फिर और भी बहुत प्रकार से प्रकाशित होती है।

वह ध्वनि अपने प्रभेदों से गुणीभूत व्यंग्य से और वाच्य अलंकारो से संकर और ससृष्टि की व्यवस्था किये जाने पर लक्ष्य मे बहुत भेदों वाला देखा जाता है। जैसा कि अपने प्रभेद से संकीर्ण, अपने प्रभेद से संसृष्ट, गुणीभूत व्यग्य से संकीर्ण, गुणीभूत व्यंग्य से संसृष्ट, वाच्य अलंकारान्तर से संकीर्ण, वाच्य अलंकारान्तर से *संसृष्ट, ससृष्ट अलकार से संकीर्ण और संसृष्ट अलंकार से संसृष्ट इस प्रकार बहुत* प्रकार से ध्वनि प्रकाशित होती है।

तत्र स्वप्रभेदसंकीर्णत्वं कदाचिदनुग्राह्यानुग्राहक भावेन। यथा-'एवं वादिनि देवर्षौ' इत्यादौ। अत्र ह्यर्थ शक्त्युद्भवानुरणनरूप व्यंग्य ध्वनि प्रभेदेनालक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनिप्रभेदोऽनुगृह्यमाण प्रतीयते। एवं कदाचित्प्रभेद-द्वय सम्पात सन्देहेन। यथा—

खण पाहुणिआ देअर,
एसा जाआए किंपि दे भणिदा।
रुअइ पडोहरवलहीघरम्मि,
अणुणिज्जउ वराई॥

[क्षण प्राघुणिका देवर,
एषा जायया किमपि ते भणिता।
रोदिति शून्यवलभीगृहे,
अनुनीयतां वराकी॥]

श्रीधरी—तत्र=उनमें, स्वभेदसङ्कीर्णत्वं=अपने प्रभेद से संकीर्णत्व, कदाचित्=कभी, अनुग्राह्यानुग्राहकभावेन=कभी अनुग्राह्यानुग्राहक भाव से होता है, यथा=जैसे, एवं वादिनिदेवर्षौ इत्यादौ=इस प्रकार देवर्षि के कहने पर इत्यादि मे, अत्र हि=यहाँ, अर्थशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यंग्यध्वनि प्रभेदेनालक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि प्रभेदो=यहाँ अर्थशक्त्युद्भव अनुरणनरूप व्यंग्य नामक ध्वनि प्रभेद द्वारा असलक्ष्यक्रमव्यंग्य

प्रभेद, अनुगृह्यमाण: प्रतीयते=अनुगृह्यमाण प्रतीत होता है, एवं=इस प्रकार, कदाचित्=कभी, प्रभेदद्वयसम्पात सन्देहेन=दो प्रभेदों के सम्पात के सन्देह में, यथा=जैसे,

देवर=हे देवर, क्षण प्राघुणिका=उत्सव में पाहुन बनकर आई हुई, एषा=यह, ते जायया=तुम्हारी पत्नी, किमपि भणिता=कुछ कही जाने पर, रोदिति=रो रही है, वराकी=बेचारी को, शून्यवलभीगृहे=सूनी अटारी पर, अनुनीयताम्=मनाओ।

अर्थ—उनमे अपने प्रभेद से सङ्कीर्णत्व कभी अनुग्राह्यानुग्राहक भाव से होता है, जैसे—'एवं वादिनि देवर्षौ' इत्यादि में। यहाँ अर्थशक्त्युद्भव अनुरणनरूप व्यंग्य नामक ध्वनि प्रभेद द्वारा अलक्ष्यक्रम व्यंग्य नामक ध्वनिप्रभेद अनुगृह्यमाण प्रतीत होता है। इस प्रकार कभी दो प्रभेदों के सम्पात से। जैसे—

हे देवर! उत्सव में पाहुन बनकर आई हुई यह तुम्हारी पत्नी कुछ कही जाने पर रो रही है। बेचारी को सूनी अटारी पर मनाओ।

अत्र ह्यनुनीयतामित्येतत्पदमर्थान्तर संक्रमित वाच्यत्वेन विवक्षितान्य परवाच्यत्वेन सम्भाव्यते। न चान्यतर पक्षनिर्णयेप्रमाणमस्ति। एक व्यञ्जकानुप्रवेशेन तु व्यंग्यत्वमलक्ष्यक्रमव्यंग्यस्य स्वप्रभेदान्तरापेक्षया बाहुल्येन सम्भवति। यथा—'स्निग्धश्यामल' इत्यादौ। स्वप्रभेद संसृष्टत्वं च यथा पूर्वोदाहरण एव। अत्र ह्यर्थान्तर सङ्क्रमितवाच्यस्यात्यन्ततिरस्कृत वाच्यस्य च संसर्गः। गुणीभूत व्यंग्य संकीर्णत्वं यथा—'न्यक्कारोह्ययमेव मे यदरयः' इत्यादौ। यथा वा—

> **कर्ताद्यूतच्छलानां जतुमय शरणोद्दीपनः सोऽभिमानी,**
> **कृष्णाकेशोत्तरीय व्यपनयन पटुः पाण्डवायस्य दासाः।**
> **राजादुःशासनादेर्गुरुरनुजशतस्यांग राजस्य मित्रं,**
> **क्वास्ते दुर्योधनोऽसौ कथयत न रुषा द्रष्टुमभ्यागतौ स्वः॥**

श्रीधरी—अत्र हि=यहाँ, अनुनीयता=मनाओ, इत्येतत्पदं=यह पद, अर्थान्तर संक्रमितवाच्यत्वेन=अर्थान्तर संक्रमित वाच्य रूप से, च=और, विवक्षितान्यपर वाच्यत्वेन=विवक्षितान्य परवाच्य रूप से, सम्भाव्यते=सम्भावित होता है, अन्यतर पक्ष निर्णये प्रमाणं न अस्ति=दोनों में से किसी एक पक्ष के निर्णय में प्रमाण नहीं है, अलक्ष्यक्रम व्यंग्यस्य=अलक्ष्यक्रम व्यंग्य का, एकव्यञ्जकानुप्रवेशेन एक व्यञ्जकानुप्रवेश से, व्यंग्यत्व=व्यंग्यत्व, स्व प्रभेदान्तरापेक्षया=अपने प्रभेदों की अपेक्षा करने से, बाहुल्येन सम्भवति=बहुत हो सकता है, यथा=जैसे, स्निग्ध श्यामल इत्यादौ=स्निग्ध श्यामल इत्यादि में, स्वप्रभेदसंसृष्टत्वं=अपने प्रभेद से, संसृष्टत्व, यथा पूर्वोदाहरणं एव=जैसे पहले उदाहरण में, अत्र हि=यहाँ, अर्थान्तर संक्रमित

वाच्यस्य = अर्थान्तर संक्रमित वाच्य का, अत्यन्त तिरस्कृत वाच्यस्य च संसर्गः = और अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य का संसर्ग है, गुणीभूत सकीर्णत्व यथा = गुणीभूत संकीर्णत्व जैसे, 'न्यक्कारो में यदरयः' इत्यादौ = न्यक्कारो ह्ययमेव में इत्यादि श्लोक में, यथा वा = जैसे।

द्यूतच्छलानां कर्ता = जुए के छल करने वाला, जतुमयशरणोद्दीपनः = लाक्षागृह को जलाने वाला, सोऽभिमानी = वह अभिमानी, कृष्णाकेशोत्तरीयव्यपनयन पटुः द्रौपदी के केश और उत्तरीय को हटाने में चतुर, पाण्डवाः यस्य दासाः = पाण्डव जिसके दास हैं।

राजा दुःशासनादेरनुजशतस्य गुरुः = राजा, दुःशासन आदि सौ भाइयों में बड़ा, अंगराजस्य मित्र = अंगराज कर्ण का मित्र, असौ दुर्योधनः क्वास्ते = वह दुर्योधन कहाँ है, कथयत = बताओ, स्वः = हम दोनों, रुषा न = क्रोध से नहीं, द्रष्टुमभ्यागतौ = केवल देखने के लिये आये हैं।

अर्थ—यहाँ 'मनाग्रो' यह पद अर्थान्तर संक्रमित वाच्य रूप से और विवक्षितान्यपर वाच्य रूप से सम्भावित होता है। दोनों में किसी एक पक्ष के निर्णय में प्रमाण नहीं है। अलक्ष्यक्रम व्यंग्य का एक व्यंजकानुप्रवेश से व्यंग्यत्व अपने अन्य प्रभेदों की अपेक्षा करने से बहुत हो सकता है, जैसे—'स्निग्ध श्यामल' इत्यादि में, अपने प्रभेद से संसृष्टत्व जैसे पहले उदाहरण में ही यहाँ अर्थान्तर संक्रमितवाच्य का अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य का संसर्ग है। गुणीभूत व्यंग्य संकीर्णत्व जैसे—'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः' इत्यादि में। अथवा जैसे—

जुए का छल करने वाला, लाक्षागृह को जलाने वाला, अभिमानी, द्रौपदी के केश और उत्तरीय को हटाने में निपुण, पाण्डव जिसके दास है, राजा, दुःशासन आदि सौ भाइयों में बड़ा, अंगराज कर्ण का मित्र वह दुर्योधन कहाँ है? बताओ हम दोनों क्रोध से नहीं केवल देखने के लिये आये हैं।

अत्र ह्यलक्ष्यक्रमव्यंग्यस्यवाक्यार्थी भूतस्य व्यंग्यविशिष्टवाच्याभिधायिभि पदैः सम्मिश्रता। अतएव च पदार्थाश्रयत्वे गुणीभूतव्यंग्यस्य वाक्यार्थाश्रयत्वे च ध्वनेः सङ्कीर्णतायामपि न विरोधः स्व प्रभेदान्तरवत्। यथाहि ध्वनिप्रभेदान्तराणि परस्पर सङ्कीर्यन्ते पदार्थवाक्यार्थाश्रयत्वेन च विरुद्धानि।

धीधरी- अत्र हि = यहाँ, वाक्यार्थीभूत = वाक्यार्थीभूत, अलक्ष्यक्रमव्यंग्यस्य = अलक्ष्यक्रम व्यंग्य की, व्यंग्य विशिष्ट वाच्याभिधायिभिः = व्यंग्य विशिष्ट वाच्य का अभिधान करने वाले, पदैः = पदों के साथ, सम्मिश्रता = सम्मिश्रता है, अतएव च = और इसलिये, गुणीभूत व्यंग्यस्य = गुणीभूत व्यंग्य के, पदार्थाश्रयत्वे = पदार्थाश्रित होने में, ध्वनेः च वाक्यार्थाश्रयत्वे = ध्वनि के वाक्यार्थाश्रित होने में, संकीर्णतायामपि = संकीर्णता होने पर भी, स्वप्रभेदान्तरवत् = अपने अन्य प्रभेद की तरह, न विरोध = विरोध नहीं है, यथा हि = जैसा कि, ध्वनि प्रभेदान्तराणि = ध्वनि

के अन्य प्रभेद, परस्परं संकीर्यन्ते=परस्पर सकीर्ण होते हैं, पदार्थवाक्यार्थाश्रयत्वेन च न विरुद्धानि=पदार्थ और वाक्यार्थ के आश्रित होने से विरुद्ध नही है।

अर्थ—वहां वाक्यार्थीभूत अलक्ष्यक्रमव्यग्य की व्यग्यविशिष्ट वाच्य का अभिधान करने वाले पदो के साथ सम्मिश्रता है और इसलिये गुणीभूत व्यग्य के पदार्थाश्रित होने में तथा ध्वनि के वाक्यार्थाश्रित होने मे भी अपने अन्य प्रभेद की तरह विरोध नहीं है। जैसा कि ध्वनि के अन्य प्रभेद परस्पर सकीर्ण होते है, पदार्थ और वाक्यार्थ के आश्रित होने मे विरुद्ध नही हैं।

किं चैकव्यग्याश्रयत्वे तु प्रधान गुणभावो विरुध्यते न तु व्यग्यभेदापेक्षया,' ततोऽप्यस्य न विरोधः। अयं च सकर ससृष्टिव्यवहारो वहूनामेकत्र वाच्यवाचकभाव इव व्यंग्यव्यञ्जक भावेऽपि निर्विरोध एव मन्तव्यः। 'यत्र नु पदानि कानिचिदविवक्षितवाच्यानुरणनरूप व्यंग्य वाच्यानि वा तत्र ध्वनि गुणीभूत व्यंग्ययो संसृष्टत्वम्। यथा—'तेषां गोपवधूविलाससुहृदाम्' इत्यादौ। अत्र हि—'विलाससुहृदां' 'राधा रहः साक्षिणाम्' इत्येते पदे ध्वनिप्रभेद रूपे 'ते' 'जाने' इत्येते च पदे गुणीभूत व्यंग्य रूपे।

श्रीधरी—किं च=और भी, एक व्यग्याश्रयत्वे तु=एक व्यंग्य मे आश्रित होने से, प्रधान गुण भावो=प्रधान भाव और गुण भाव, विरुध्यते=विरुद्ध हो सकते हैं, न तु व्यंग्य भेदापेक्षया=न कि व्यग्य भेद की अपेक्षा मे, ततोऽप्यस्य न विरोधः=उसमे भी इसका विरोध नही है, अयं च सकर ससृष्टि व्यवहारो=और इस संसृष्टि और संकर के व्यवहार को, एकत्रवहूनां=एक जगह वहुतो के, वाच्यवाचक भाव इव=वाच्यवाचक भाव की तरह, व्यंग्यव्यंजक भावे ऽपि=व्यग्य व्यंजक भाव मे भी, निर्विरोध एव मन्तव्यः=निर्विरोध ही मानना चाहिए, तु=परन्तु, यत्र=जहां, कानिचित्पदानि=कुछ पद, अविवक्षित वाच्यानि=अविवक्षित वाच्य, वा=अथवा, अनुरणन रूप व्यग्यानि=अनुरणन रूप व्यग्यपरक हों, तत्र=वहां, ध्वनि गुणीभूत व्यग्ययो: ससृष्टत्वम्=ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य की संसृष्टि है, यथा=जैसे, तेषां गोपवधू विलास सुहृदां इत्यादौ=तेषां गोपवधू इत्यादि श्लोक मे, अत्र हि=यहां, विलास सुहृदां, राधा रहः साक्षिणां इत्येते पदे ध्वनि प्रभेद रूपे=विलास सुहृदा और राधा रहः साक्षिणा ये दो पद ध्वनि प्रभेद रूप है, ते, जाने, इत्येते च पदे गुणीभूत व्यंग्य रूपे=ते और जाने ये पद गुणीभूत व्यग्य रूप हैं।

अर्थ—और भी, एक व्यग्य मे आश्रित होने से प्रधान भाव और गुण भाव विरुद्ध हो सकते है न कि व्यंग्य भेद की अपेक्षा से। इस कारण भी इसका विरोध नही है और इस संसृष्टि और सकर व्यवहार को एक जगह वहुतो के वाच्यवाचक

भाव की भांति व्यंग्यव्यंजक भाव में भी निर्विरोध ही मानना चाहिए, परन्तु जहाँ कुछ पद अविवक्षित वाच्य और कुछ पद अनुरणन रूप व्यंग्यपरक हों वहाँ ध्वनि गुण भूत व्यंग्य की संसृष्टि है, जैसे—तेषां गोपवधू विलास सुहृदां, इत्यादि में। यहाँ विलास सुहृदां, गया रह. साक्षिणो ये दो पद ध्वनि प्रभेद रूप है और 'ते' 'जाने' ये पद गुणीभूत व्यंग्य रूप है।

वाच्यालङ्कारसङ्कीर्णत्वमलक्ष्यक्रम व्यंग्यापेक्षया रसवति सालंकारे काव्ये सर्वत्र सुव्यवस्थितम्। प्रभेदान्तराणामपि कदाचित्संकीर्णत्वं भवत्येव, यथा ममैव—

> **या व्यापारवती रसान् रसयितुं काचित्कवीनां नवा,**
> **दृष्टिर्या परिनिष्ठितार्थ विषयोन्मेषा च वैपश्चिती।**
> **ते द्वे अप्यवलम्ब्य विश्वमनिशं निर्वर्णयन्तो वयं,**
> **श्रान्ता नैव च लब्धमब्धिशयन त्वद्भक्ति तुल्यं सुखम्।**
> **इत्यत्र विरोधालंकारेणार्थान्तर संक्रमित,**
> **वाच्यस्य ध्वनिप्रभेदस्य संकीर्णत्वम्।**

श्रीधरी—वाच्यालंकारसङ्कीर्णत्वमलक्ष्यक्रम व्यंग्यापेक्षया=वाच्यालंकारों का संकीर्णत्व अलक्ष्यक्रम व्यंग्य की अपेक्षा के साथ, रसवति=रसयुक्त, सालंकारे=और अलंकार युक्त, सर्वत्र काव्ये=सभी प्रकार के काव्य में, सुव्यवस्थितम्=सुव्यवस्थित है, प्रभेदान्तराणामपि कदाचित्सङ्कीर्णत्वभवत्येव=अन्य प्रभेदों का भी कभी संकीर्णत्व होता ही है, यथा ममैव=जैसे-मेरा ही।

हे अब्धिशयन=हे समुद्रशायी भगवान् विष्णु!, या=जो, रसान् रसयितुं=रसों का आस्वादन करने के लिये, व्यापारवती=व्यापारशील, कवीनां=कवियों की, नवा=नई, काचित् दृष्टिः=कोई दृष्टि है, च=और, या=जो, परिनिष्ठितार्थविषयोन्मेषा=परिनिष्ठित है अर्थ के विषय में उन्मेष जिसका ऐसी, वैपश्चितीदृष्टिः=विद्वानों की दृष्टि, ते द्वे अप्यवलम्ब्य=उन दोनों का अवलम्बन करके, अनिशं=निरन्तर, विश्वं निर्वर्णयन्तः=विश्व का अवलोकन करते हुए, वयं श्रान्ता=हम थक गये, त्वद्भक्तितुल्यं सुखं=तुम्हारी भक्ति के समान सुख, न लब्धं=नहीं पाया।

इत्यत्र=यहाँ, विरोधालंकारेण=विरोध अलंकार से, अर्थान्तर संक्रमित-वाच्यस्य ध्वनि प्रभेदस्य=अर्थान्तर संक्रमित वाच्य नामक ध्वनि के प्रभेद का, संकीर्णत्वम्=संकर है।

अर्थ—वाच्यालंकारों का संकीर्णत्व अलक्ष्यक्रम व्यंग्य की अपेक्षा के साथ रसयुक्त और अलंकार युक्त सभी प्रकार के काव्य में सुनिश्चित है। अन्य प्रभेदों का भी कभी संकर होता ही है। जैसे मेरा ही—

हे समुद्रशायी भगवान् विष्णु! जो रसों का आस्वादन करने के लिये

इदानीन्तन कवियों की नयी कोई दृष्टि है, और अर्थ के सम्बन्ध मे परिनिष्ठित उन्मेष वालो जो विद्वानों की दृष्टि है, उन दोनों का अवलम्बन करके निरन्तर विश्व का निर्वर्णन करते हुए हम थक गये किन्तु तुम्हारी भक्ति के समान सुख नहीं मिला।

यहाँ विरोध अलकार मे अर्थान्तर संक्रमित वाच्य नामक ध्वनि के प्रभेद का संकर है।

वाच्यालंकार संसृष्टत्व च पदापेक्षयैव। यत्र हि कानिचित्पदानि वाच्यालकारभाञ्जि कानिचिच्च ध्वनिप्रभेद युक्तानि। यथा—

दीर्घीकुर्वन् पटुमदकलं कूजितं सारसानां,
प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोद मैत्री कषायः।
यत्र स्त्रीणां हरति सुरतग्लानिमङ्गानुकूलः,
सिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थना चाटुकारः॥

अत्र हि मैत्रीपदमविवक्षित वाच्योध्वनिः पदान्तरेष्वलंकारान्तराणि।

श्रीधरी—च=और, वाच्यालंकार ससृष्टत्व पदापेक्षयैव=पद की अपेक्षा से ही होती है, हि=क्योंकि, यत्र=जहां, कानिचित्पदानि=कुछ पद, वाच्यालंकार भाञ्जि=वाच्यालकार वाले होते हैं, कानिचिच्च=और कुछ, ध्वनि प्रभेद युक्तानि=ध्वनि प्रभेद युक्त, यथा=जैसे।

यत्र=जहां, सारसानां=सारस पक्षियों के, पटु मदकलं कूजितं=पटु एव मदकल कूजित को, दीर्घी कुर्वन=बढ़ाते हुए, प्रत्यूषेषु=प्रात कालों मे, स्फुटित-कमलामोद मैत्री कषाय:=विकसित कमलों की सुगन्ध से कषाय, अगानुकूल:=अगानुकूल, सिप्रावात:=सिप्रा नदी की हवा, प्रियतम इव=प्रियतम की तरह, प्रार्थनाचाटुकार:=प्रार्थना करने मे निपुण सा, स्त्रीणा=स्त्रियों के, सुरतग्लानि=रतिजन्य खेद को, हरति=दूर करता है।

अत्र=यहां मैत्रीपदमविवक्षित वाच्यो ध्वनि:=मैत्री पद अविवक्षित वाच्य ध्वनि है, पदान्तरेषु=अन्य पदों में, अलंकारान्तराणि=अन्य अलंकार है।

अर्थ—और वाच्यालकार की संसृष्टि पद की अपेक्षा से ही होती है क्योंकि जहां कुछ पद वाच्यालंकार वाले होते हैं और कुछ पद ध्वनि प्रभेद युक्त होते हैं जैसे—

जहाँ सारस पक्षियों के पटु मदकल कूजन को बढाता हुआ, प्रात.कालों मे विकसित कमलो की सुगन्ध से सुगन्धित अंगानुकूल सिप्रा की हवा प्रार्थना करने में निपुण प्रियतम की तरह स्त्रियों के रति जन्य खेद को दूर करता है।

यहां 'मैत्री' पद अविवक्षित वाच्य ध्वनि है। अन्य पदों मे अन्य अलकार हैं।

भाव की भाति व्यंग्यव्यजक भाव मे भी निर्विरोध ही मानना चाहिए, परन्तु जहाँ कुछ पद अविवक्षित वाच्य और कुछ पद अनुरणन रूप व्यंग्यपरक हो वहाँ ध्वनि गुण भूत व्यंग्य की ससृष्टि है, जैसे—तेषा गोपवधू विलास सुहृदा, इत्यादि मे। यहाँ विलास सुहृदा, राधा रह. साक्षिणा ये दो पद ध्वनि प्रभेद रूप है और 'ते' 'जाने' ये पद गुणीभूत व्यंग्य रूप है।

वाच्यालङ्कारसङ्कीर्णत्वमलक्ष्यक्रम व्यंग्यापेक्षया रसवति सालंकारे काव्ये सर्वत्र सुव्यवस्थितम्। प्रभेदान्तराणामपि कदाचित्संकीर्णत्वं भवत्येव, यथा ममैव—

> **या व्यापारवती रसान् रसयितुं काचित्कवीनां नवा,**
> **दृष्टिर्या परिनिष्ठितार्थ विषयोन्मेषा च वैपश्चिती।**
> **ते द्वे अप्यवलम्ब्य विश्वमनिशं निर्वर्णयन्तो वयं,**
> **श्रान्ता नैव च लब्धमब्धिशयन त्वद्भक्ति तुल्यं सुखम्।**

इत्यत्र विरोधालंकारेणार्थान्तर संक्रमित, वाच्यस्य ध्वनिप्रभेदस्य संकीर्णत्वम्।

श्रीधरी—वाच्यालंकारसङ्कीर्णत्वमलक्ष्यक्रम व्यंग्यापेक्षया=वाच्यालंकारों का संकीर्णत्व अलक्ष्यक्रम व्यंग्य की अपेक्षा के साथ, रसवति=रसयुक्त, सालंकारे=और अलकार युक्त, सर्वत्र काव्ये=सभी प्रकार के काव्य मे, सुव्यवस्थितम्=सुव्यवस्थित है, प्रभेदान्तराणामपि कदाचित्सङ्कीर्णत्वभवत्येव=अन्य प्रभेदों का भी कभी संकीर्णत्व होना ही है, यथा ममैव=जैसे-मेरा ही।

हे अब्धिशयन=हे समुद्रशायी भगवान् विष्णु !, या=जो, रसान् रसयितु=रसो का आस्वादन करने के लिये, व्यापारवती=व्यापारशील, कवीना=कवियो की, नवा=नई, काचित् दृष्टिः=कोई दृष्टि है, च=और, या=जो, परिनिष्ठितार्थविषयोन्मेषा=परिनिष्ठित है अर्थ के विषय मे उन्मेष जिसका ऐसी, वैपश्चितीदृष्टिः=विद्वानो की दृष्टि, ते द्वे अप्यवलम्ब्य=उन दोनों का अवलम्बन करके, अनिश=निरन्तर, विश्व निर्वर्णयन्तः=विश्व-का अवलोकन करते हुए, वय श्रान्ता=हम थक गये, त्वद्भक्तितुल्यं सुखं=तुम्हारी भक्ति के समान सुख, न लब्धं=नही पाया।

इत्यत्र=यहाँ, विरोधालकारेण=विरोध अलकार से, अर्थान्तर सक्रमित-वाच्यस्य ध्वनि प्रभेदस्य=अर्थान्तर सक्रमित वाच्य नामक ध्वनि के प्रभेद का, सकीर्णत्वम्=सकर है।

अर्थ—वाच्यालंकारों का सकीर्णत्व अलक्ष्यक्रम व्यंग्य की अपेक्षा के साथ रसयुक्त और अलकार युक्त सभी प्रकार के काव्य मे सुनिश्चित है। अन्य प्रभेदो का भी कभी संकर होता ही है। जैसे मेरा ही—

हे समुद्रशायी भगवान् विष्णु ! जो रसो का आस्वादन करने के लिये

व्यापारशील कवियों की नयी कोई दृष्टि है, और अर्थ के सम्बन्ध में परिनिष्ठित उन्मेष वाली जो विद्वानों की दृष्टि है, उन दोनों का अवलम्बन करके निरन्तर विश्व का निर्वर्णन करते हुए हम थक गये किन्तु तुम्हारी भक्ति के समान सुख नहीं मिला।

यहाँ विरोध अलंकार से अर्थान्तर संक्रमित वाच्य नामक ध्वनि के प्रभेद का संकर है।

वाच्यालंकार संसृष्टत्व च पदापेक्षयैव। यत्र हि कानिचित्पदानि वाच्यालंकारभाञ्जि कानिचिच्च ध्वनिप्रभेद युक्तानि। यथा—

> **दीर्घीकुर्वन् पटुमदकलं कूजितं सारसानां,**
> **प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोद मैत्री कषायः।**
> **यत्र स्त्रीणां हरति सुरतग्लानिमङ्गानुकूलः,**
> **सिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थना चाटुकारः॥**

अत्र हि मैत्रीपदमविवक्षित वाच्योध्वनिः पदान्तरेष्वलंकारान्तराणि।

श्रीधरी—च=और, वाच्यालंकार संसृष्टत्व पदापेक्षयैव=पद की अपेक्षा से ही होती है, हि=क्योंकि, यत्र=जहाँ, कानिचित्पदानि=कुछ पद, वाच्यालंकार भाञ्जि=वाच्यालंकार वाले होते है, कानिचिच्च=और कुछ, ध्वनि प्रभेद युक्तानि=ध्वनि प्रभेद युक्त, यथा=जैसे।

यत्र=जहाँ, सारसानां=सारस पक्षियों के, पटु मदकल कूजित=पटु एवं मदकल कूजित को, दीर्घी कुर्वन=बढ़ाते हुए, प्रत्यूषेषु=प्रातःकालों में, स्फुटित-कमलामोद मैत्री कषायः=विकसित कमलों की सुगन्ध से कषाय, अंगानुकूलः=अंगानुकूल, सिप्रावातः=सिप्रा नदी की हवा, प्रियतम इव=प्रियतम की तरह, प्रार्थनाचाटुकारः=प्रार्थना करने मे निपुण सा, स्त्रीणां=स्त्रियों के, सुरतग्लानि=रतिजन्य खेद को, हरति=दूर करता है।

अत्र=यहाँ, मैत्रीपदमविवक्षित वाच्यो ध्वनिः=मैत्री पद अविवक्षित वाच्य ध्वनि है, पदान्तरेषु=अन्य पदों में, अलंकारान्तराणि=अन्य अलंकार है।

अर्थ—और वाच्यालंकार की संसृष्टि पद की अपेक्षा से ही होती है क्योंकि जहाँ कुछ पद वाच्यालंकार वाले होते हैं और कुछ पद ध्वनि प्रभेद युक्त होते है जैसे—

जहाँ सारस पक्षियों के पटु मदकल कूजन को बढ़ाता हुआ, प्रातःकालों में विकसित कमलों की सुगन्ध से सुगन्धित अंगानुकूल सिप्रा की हवा प्रार्थना करने मे निपुण प्रियतम की तरह स्त्रियों के रति जन्य खेद को दूर करता है।

यहाँ 'मैत्री' पद अविवक्षित वाच्य ध्वनि है। अन्य पदों में अन्य अलंकार है।

संसृष्टालंकारान्तर संकीर्णोध्वनिर्यथा—

दन्तक्षतानि करजैश्च विपाटितानि,
प्रोद्भिन्न सान्द्रपुलके भवतः शरीरे।
दत्तानि रक्तमनसा मृगराजवध्वा,
जात स्पृहैर्मुनिभिरप्यवलोकितानि॥

अत्र हि समासोक्ति संसृष्टेन विरोधालंकारेण संकीर्णस्यालक्ष्यक्रम-व्यंग्यस्य ध्वनेः प्रकाशनम्। दयावीरस्य परमार्थतो वाक्यार्थी भूतत्वात्।

श्रीधरी—संसृष्टालंकारान्तर संकीर्ण ध्वनिर्यथा=संसृष्ट अलंकारान्तर से संकीर्ण ध्वनि जैसे।

प्रोद्भिन्न सान्द्रपुलके=सघन पुलको से युक्त, भवतः शरीरे=आपके शरीर मे, रक्तमनसा=रक्त में मन वाली या अनुरक्त मन वाली, मृगराज वधू=सिंहिनी या राजवधू के द्वारा, दत्तानि=दिये हुए, दन्तक्षतानि=दन्त क्षतो, करजैश्च विपाटितानि=और नखक्षतों को, जातस्पृहैः=उत्पन्न स्पृहा वाले, मुनिभिरपि=मुनियों ने भी, अवलोकितानि=देखा।

अर्थ—संसृष्ट अलंकारान्तर से संकीर्ण जैसे—

उत्पन्न सघन पुलक वाले आपके शरीर मे रक्त के मन वाली या अनुरक्त मन वाली, सिंहिनी या राजवधू द्वारा दिये गये दन्तक्षतो और नखों द्वारा विदारण मुनियों ने भी बडी स्पृहा से देखा।

यहाँ समासोक्ति से संसृष्ट जो विरोधालकार है उसके द्वारा सकीर्ण अलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि का प्रकाशन है क्योंकि परमार्थ रूप से दयावीर वाक्यार्थी भूत है।

संसृष्टालकारसंसृष्टत्व च ध्वनेर्यथा—

अहिणअ पओअरसिएसु,
पहिअ सामाइएसु दिअहेसु।
सोहइ पसारिअगिआणं,
णच्चिअ मोरवन्दाणम्॥

अत्र ह्युपमारूपकाभ्यां शब्दशक्त्युद्भवानुरणनरूप व्यंग्यस्य ध्वनेः संसृष्टत्वम्।

श्रीधरी—संसृष्टालंकारसंसृष्टत्वं च ध्वनेर्यथा=संसृष्ट अलंकारों से ध्वनि का संसृष्टत्व जैसे।

अभिनव पयोद रसितेषु=नये बादलों के गर्जन से भरे, पथिकश्यामायितेषु-दिवसेषु=और पथिकों के प्रति श्यामायित दिनो मे, प्रसारित ग्रीवाणा=गर्दन पसारे हुए, मयूरवृन्दाना=मोरों का, नृत्यं शोभते=अच्छा लगता है।

अत्र=यहाँ, उपमा रूपकाभ्या=उपमा और रूपक के, शब्द शक्त्युद्भवानुरणन रूप व्यंग्यस्य ध्वनेः संसृष्टत्वम्=शब्द शक्त्युद्भव अनुरणन रूप व्यंग्य ध्वनि की संसृष्टि है।

अर्थ सामृष्ट अलंकारों से ध्वनि का सामृष्टत्व जैसे–

नवीन मेघों के गर्जन से भरे तथा पथिकों के प्रति श्यामायित दिनों मे गर्दन पसारे हुए मोरों का नाच बहुत अच्छा लगता है।

यहाँ उपमा और रूपक के शब्द शक्त्युद्भव अनुरणन रूप व्यंग्य ध्वनि की संसृष्टि है।

एवं ध्वनेः प्रभेदाः प्रभेदभेदाश्चकेन शक्यन्ते।
सख्यातुं दिङ्मात्रं तेषामिदमुक्तमस्माभिः ॥४४॥

अनन्ता हि ध्वनेः प्रकाराः सहृदयानां व्युत्पत्तये तेषां दिङ्मात्रं कथितम्।

इत्युक्तलक्षणो योध्वनिर्विवेच्यः प्रयत्नतः सद्भिः।
सत्काव्यं कर्तुं वा ज्ञातुं वा सम्यगभियुक्तैः ॥४५॥

उक्तस्वरूप ध्वनि निरूपणनिपुणा हि सत्कवयः सहृदयाश्च नियतमेव काव्यविषये परां प्रकर्षपदवीमासादयन्ति।

श्रीधरी—एवं ध्वनेः प्रभेदाः=इस प्रकार ध्वनि के प्रभेदो, च=और, प्रभेद भेदा सख्यातुं केन शक्यन्ते=प्रभेदो के भेदो की गणना कौन कर सकता है. तेषां=उनका, इदं=यह अस्माभिः=हमने, दिङ्मात्रं उक्तम्=दिग्दर्शन मात्र कराया है।

अनन्ता हि ध्वनेः प्रकाराः=ध्वनि के अनन्त प्रकार है, सहृदयानां व्युत्पत्तये=सहृदयों की व्युत्पत्ति के लिये, तेषां दिङ्मात्रं कथितम्=उनका दिग्दर्शन कराया है।

सत्काव्यं कर्तुं=सत्काव्य को करने, ज्ञातुं वा=या समझने के लिये, अभियुक्तैः=अभियुक्त जनो को, इत्युक्तलक्षणः=इस प्रकार उक्त लक्षण वाली, यो ध्वनिः=जो ध्वनि है, प्रयत्नतः=उसे प्रयत्न करके, सद्भिः विवेच्यः=सज्जनों को विवेचन करना चाहिए।

उक्त स्वरूप ध्वनिनिरूपण. निपुणा=उक्त स्वरूप की ध्वनि के निरूपण मे निपुण, सत्कवयः सहृदयाश्च=सत्कवि और सहृदय, निश्चयमेव=निश्चय ही, काव्य विषये=काव्य के विषय मे, परां प्रकर्षपदवीमासादयन्ति=अत्यन्त प्रकर्ष पदवी को प्राप्त करते है।

अर्थ–इस प्रकार ध्वनि के प्रभेदो और प्रभेदो के भेदो की गणना कौन कर सकता है, उनका हमने केवल दिग्दर्शन मात्र कराया है।

ध्वनि के अनन्त प्रकार है, सहृदयो की व्युत्पत्ति के लिये उन्हें दिङ्मात्र ही कहा है।

सत्काव्य को करने या समझने के लिये अभियुक्त सज्जनों को इस प्रकार उक्त लक्षण वाली जो ध्वनि है, उसे प्रयत्न करके विवेचन करना चाहिए। उक्त स्वरूप की ध्वनि के निरूपण मे निपुण सत्कवि और सहृदय निश्चय ही काव्य के विषय मे अत्यन्त प्रकर्ष पदवी को प्राप्त कर जाते है।

अस्फुटस्फुरितं काव्यतत्वमेतद्यथोदितम् ।
अशक्नुवद्भिर्व्याकर्तुं रीतयः सम्प्रवर्तिता ।।४६।।

एतद्ध्वनिप्रवर्तनेन निर्णीतं काव्यतत्व मस्फुट स्फुरितं सदशक्नुवद्भि: प्रतिपादयितुं वैदर्भी गौडी पाञ्चालीचेति रीतयः प्रवर्तिताः। रीतिलक्षण-विधायिनां हि काव्यतत्वमेतदस्फुटतयामनाक्स्फुरितमासीदिति लक्ष्यते तदत्र स्फुटतया सम्प्रदर्शितेनान्येन रीतिलक्षणेन न किञ्चित्।

श्रीधरी— एतत्=यह, अस्फुट स्फुरितं=अस्फुट स्फुरित, काव्यतत्व= काव्यतत्व, यथोदितम्=जैसे कहा गया है, व्याकर्तुं अशक्नुवद्भि:=उसका विवेचन करने मे असमर्थ लोगो ने, रीतयः सम्प्रवर्तिताः=रीतियों का प्रवर्तन किया।

एतद् ध्वनिप्रवर्तनेन निर्णीत=इसे ध्वनि प्रवर्तन से निर्णीत, काव्यतत्वं= काव्यतत्व को, अस्फुट स्फुरित सद्=अस्पष्ट रूप में स्फुरण होने की स्थिति मे प्रतिपादयितुं अशक्नुवद्भि:=प्रतिपादन करने मे समर्थ होते हुए लोगों ने, वैदर्भी गौड़ी पाञ्चालीचेति रीतयः प्रवर्तिता=वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली रीतियो को प्रवर्तित किया, रीतिलक्षणविधायिना हि=रीति का लक्षण बनाने वालो के लिये, एतत् काव्यतत्वं=यह काव्यतत्व, अस्फुटतया मनाक्स्फुटितमासीदिति लक्ष्यते= अस्फुट रूप से स्फुटित हो चुका था, ऐसा प्रतीत होता है, तदत्र--तो यह स्फुटतया सम्प्रदर्शितेन=स्पष्ट रूप से प्रदर्शित, अन्येन रीतिलक्षणेन न किञ्चित्=अन्य रीति के लक्षण से अन्य कुछ नही है।

अर्थ—यह अस्फुट स्फुरित काव्यतत्व जैसे कहा गया है, उसके विवेचन मे असमर्थ होकर लोगों ने रीतियों का प्रवर्तन किया।

इस ध्वनि प्रवर्तन से निर्णीत काव्य तत्व को अस्फुट स्फुरित की स्थिति मे प्रतिपादित करने में, असमर्थ होकर लोगो ने वैदर्भी गौड़ी और पाञ्चाली रीतियों का प्रवर्तन किया। रीति का लक्षण करने वालों को यह काव्यतत्व अस्फुट रूप से स्फुरित हो चुका था, ऐसा प्रतीत होता है। अतः यह स्पष्ट रूप से प्रदर्शित अन्य रीति के लक्षण से अतिरिक्त कुछ नहीं है।

शब्दतत्वाश्रयाः काश्चिदर्थतत्व युजोऽपराः ।
वृत्तयोऽपि प्रकाशन्ते ज्ञातेऽस्मिन् काव्यलक्षणे ।।४७।।

अस्मिन् व्यंग्यव्यञ्जक भावविवेचनमये काव्यलक्षणे ज्ञाते सति याः काश्चित्प्रसिद्धा उपनागरिकाद्या शब्दतत्त्वाश्रया वृत्तयो याश्चार्थतत्त्व-सम्बद्धा कैशिक्यादयस्ता. सम्यग्रीतिपदवीमवतरन्ति । अन्यथा तु तासामदृष्टार्थानामिव वृत्तीनामश्रद्धेयत्वमेव स्यान्नानुभव सिद्धत्वम् । एवं स्फुट तयैव लक्षणीयं स्वरूपमस्य ध्वनेः । यत्र शब्दानामर्थानां च केषाञ्चित्प्रतिपत्त विशेष संवेद्यं जात्यत्वमिव रत्नविशेषाणां चारुत्वमनाख्येयमव भासते काव्ये तत्र ध्वनि व्यवहार इति यल्लक्षणं ध्वनेरुच्यते केनचित्तद-युक्तमिति नाभिधेयतामर्हति । यतः शब्दानां स्वरूपाश्रयस्तावदक्लिष्टत्वे सत्यप्रयुक्तप्रयोगः । वाचकाश्रयस्तु प्रसादोव्यञ्जकत्वं चेति विशेषः । अर्थानां च स्फुटत्वेनावभासनं व्यंग्यपरत्वं व्यंग्यांश विशिष्टत्वं चेति विशेषः ।

अं.धरी—अस्मिन् काव्य लक्षणे ज्ञाते=इस काव्य लक्षण के ज्ञात होने पर, काश्चित् = कुछ, शब्दतत्वाश्रयाः=शब्दतत्व के आश्रित, अपराः=दूसरे. अर्थतत्व युज.=अर्थ तत्व के साथ योग रखने वाली, वृत्तयोऽपि=वृत्तियां भी, प्रकाशन्ते= प्रकाशित होती है।

अस्मिन् इस, व्यंग्य व्यंजक भावमये काव्य लक्षणे=व्यंग्य व्यंजक भाव के विवेचनमय काव्य लक्षण के, ज्ञाते सति=ज्ञात होने पर, याः काश्चित् प्रसिद्धा जो कुछ प्रसिद्ध, उपनागरिकाद्याः=उपनागरिका आदि, शब्दतत्वाश्रयावृत्तयः= शब्दतत्व के आश्रित वृत्तियाँ है, याश्च=और जो, अर्थतत्वाश्रया=अर्थ तत्व से सम्बद्ध, कैशिक्यादय.=कैशिकी आदि है, ताः=वे सम्यग्रीतिपदवीमवतरन्ति= सम्यक्तया रीति की कोटि मे आ जाती है, अन्यथा तु=अन्यथा तो, तासां वृत्तीनां= वे वृत्तियां, अदृष्टार्थानामिव=अदृष्ट अर्थों के समान ही, अश्रद्धेयत्व मेव नानुभव सिद्धत्व म् स्यात्=अश्रद्धेय ही हो जायेंगी अनुभव सिद्ध नही, एवं=इस प्रकार, स्फुटतयैव=स्पष्ट रूप से ही, अस्य ध्वनेः स्वरूप लक्षणीय=इस ध्वनि का स्वरूप समझ लेना चाहिए, यत्र=जिसमे, केषाञ्चित् शब्दाना अर्थानां च=कुछ शब्दों और अर्थों का रत्नविशेषाणां जात्यत्वमिव=रत्नविशेषों की जात्यत्व की तरह, प्रतिपत्तृ विशेष संवेद्यं - जानकार विशेष द्वारा सवेद्य, चारुत्वमनाख्येयमवभासते=चारुत्व अनाख्येय रूप से प्रतीत होता है. तत्र=उस काव्य मे, ध्वनिव्यवहार इति=ध्वनि व्यवहार है, इति ध्वनेः यल्लक्षणं केनचित् उच्यते=यह जो ध्वनि का लक्षण कोई कहता है, तदयुक्तम्=वह ठीक नही है, नाभिधेयतामर्हति=अतः कहा नही जा सकता, यतः=क्योकि, शब्दाना स्वरूपाश्रयः=शब्दों का स्वरूप के आश्रित विशेष, तावदक्लिष्टत्वेसति=अक्लिष्ट होने पर, अप्रयुक्त प्रयोगः=अप्रयुक्त का प्रयोग है, वाचकाश्रयस्तु=वाचक के आश्रित विशेष, प्रसादो व्यंजकत्वं च=प्रसाद और व्यंजकत्व है अर्थानां च=और अर्थो का, स्फुटत्वेनावभासनं=स्फुटरूप से अवभासन,

व्यंग्यपरत्व व्यंग्यांश विशिष्टत्व चेतिविशेषः=व्यंग्य परत्व और व्यंग्य अंश से विशिष्ट है।

अर्थ—इस काव्य लक्षण के ज्ञात होने पर कुछ शब्द तत्व के आश्रित और दूसरी अर्थ तत्व के साथ योग वाली वृत्तियां प्रकाशित होती है।

इस व्यंग्य व्यजक भाव के विवेचनमय काव्य तत्व के ज्ञात होने पर जो कुछ प्रसिद्ध उपनागरिका आदि शब्द तत्व के आश्रित वृत्तियां है और जो अर्थतत्व से सम्बद्ध कैशिकी आदि हैं, वे सम्यक्तया रीति की स्थिति मे आ जाती है, अन्यथा अदृष्ट अर्थो के समान ही अश्रद्धेय हो जायेंगी अनुभव सिद्ध नहीं।

इस प्रकार स्पष्ट रूप से ही इस ध्वनि का स्वरूप समझ लेना चाहिए, जिसमे कुछ शब्दो और अर्थो का रत्न विशेषों के जात्यत्व की भांति विशेष प्रतिपत्ता द्वारा सवेद्य चारुत्व अनाख्येय रूप से प्रतीत होता है उस काव्य मे ध्वनि का व्यवहार है, यह जो ध्वनि का लक्षण किसी ने किया है, वह अनुचित है, अतः कहा नहीं जा सकता क्योकि शब्दो का स्वरूप के आश्रित (विशेष) अक्लिष्ट होने पर अप्रयुक्त का प्रयोग और वाचक के आश्रित (विशेष) प्रसाद और व्यजकत्व है तथा अर्थो का विशेष स्फुट रूप से अवभासन, व्यंग्यपरत्व और व्यंग्य अश से विशिष्टत्व है।

तौ च विशेषौ व्याख्यातु शक्येते व्याख्यातौ च बहुप्रकारम्। तद् व्यतिरिक्तनाख्येयविशेषसम्भावना तु विवेकावसादभावमूलव। यस्मादनाख्येयत्व सर्वशब्दागोचरत्वेन न कस्यचित्सम्भवति। अन्ततोऽनाख्येयशब्देन तस्याभिधान सम्भवात्। सामान्य संस्पर्शिविकल्पशब्दा गोचरत्वे सति, प्रकाशमानत्वं तु यदनाख्येयत्व मुच्यते क्वचित् तदपि काव्य विशेषाणां रत्न विशेषाणामिव न सम्भवति। तेषां लक्षणकारैर्व्याकृतरूपत्वात्। रत्न विशेषाणां च सामान्य सम्भावनयैव मूल्यस्थितिपरिकल्पना दर्शनाच्च। उभयेषामपि तेषां प्रतिपत्तृ विशेष सवेद्यत्वमस्त्येव। वैकटिका एव हि रत्नतत्व विदः, सहृदया एव हि काव्यानां रसज्ञा इति कस्यात्र विप्रपत्तिः।

श्रीधरी—तौ च विशेषौ=वे दोनो विशेष, व्याख्यातु शक्येते=व्याख्यात हो सकते है, व्याख्यातौ च बहुप्रकारम्=बहुत प्रकार से व्याख्यात हुए हैं, तद्व्यतिरिक्तानाख्येयविशेषसम्भावना तु उनसे व्यतिरिक्त अनाख्येयविशेष की सम्भावना का तो, विवेकावसादभावमूलैव=*विवेक का अभाव ही कारण है, यस्माद्*-क्योंकि, सर्व शब्दागोचरत्वेन=सभी शब्दो के अगोचर रूप से, अनाख्येयत्व न सम्भवति= अनाख्येयत्व सम्भव नहीं है, अन्ततोऽनाख्येय शब्देन=अन्तत. अनाख्येय शब्द से, तस्याभिधान सम्भवात्=उसका अभिधान सम्भव है, सामान्यसंस्पर्शि=सामान्य का स्पर्श करने वाला, विकल्पशब्दागोचरत्वे सति=विकल्प शब्द का गोचर न होकर, प्रकाशमानत्व तु=जो प्रकाशमान है, अनाख्येयत्वमुच्यते=वह अनाख्येय है, जो यह कहा गया है, तदपि=वह भी, रत्न विशेषाणामिव=रत्नविशेषों की तरह, काव्य

विशेषाणां न सम्भवति = काव्य विशेषों का सम्भव नहीं है, तेषा लक्षणकारैर्व्याकृत रूपत्वात् = क्योंकि उनके रूप की लक्षणकारों ने व्याख्या की है, च = और, रत्नविशेषाणा सामान्य सम्भावनयैव = रत्न विशेषों को सामान्य की सम्भावना से ही मूल्यस्थितिपरिकल्पनादर्शनाच्च = मूल्य की स्थिति की कल्पना देखी जाती है, उभयेषामपि तेषां = उन दोनों का भी, प्रतिपत्तृविशेष सवेद्यत्व = प्रतिपत्ता विशेष द्वारा सवेद्यत्व, अस्त्येव = है ही, वैकटिका एव हि = वैकटिक लोग ही, रत्नतत्व विदः = रत्न तत्व के जानकार होते है, सहृदया एव हि = सहृदय लोग ही, काव्याना रसज्ञाः = काव्यो के रसज्ञ होते है इति कस्यात्र विप्रतिपत्तिः = इस बारे मे सन्देह ही क्या है ?

अर्थ वे दोनो व्याख्यात हो सकते है और बहुत प्रकार से व्याख्यात हुए भी हैं, उनसे व्यतिरिक्त अनाख्येय विशेष की सम्भावना का तो विवेक का अभाव ही कारण है। क्योकि सभी शब्दो के अगोचर रूप से अनाख्येयत्व किसी का सम्भव नही है, अन्ततः अनाख्येय शब्द से उसका अभिधान सम्भव है, सामान्य का स्पर्श करने वाला विकल्प शब्द का गोचर न होकर जो प्रकाशमान है वह अनाख्येय है, जो कही पर ऐसा कहा गया है, वह रत्न विशेषो की तरह काव्य विशेषो का सम्भव नही है। क्योकि उनके स्वरूप की लक्षण कारो ने व्याख्या की है। रत्न विशेषो के सामान्य की सम्भावना से ही मूल्य की स्थिति की कल्पना दृष्टिगोचर होती है। उन दोनों का भी प्रतिपत्ता विशेष द्वारा सवेद्यत्व है ही। वैकटिक लोग ही रत्न तत्व के जानकर होते है और सहृदय लोग ही काव्यों के रसज्ञ होते है, इस बात मे कौन सन्देह कर सकता है।

यत्त्वनिर्देश्यत्वं सर्वलक्षण विषयं बौद्धानां प्रसिद्धं तत्तन्मतपरीक्षायां ग्रन्थान्तरे निरूपयिष्यामः। इह तु ग्रन्थान्तर श्रवणालव प्रकाशनं सहृदय वैमनस्य प्रदायीति न प्रक्रियते। बौद्धमतेन वा यथा प्रत्यक्षादिलक्षणं तथास्माकं ध्वनिलक्षणं भविष्यति। तस्माल्लक्षणान्तरस्याघटनादशब्दार्थ त्वाच्च तस्योक्तमेव ध्वनिलक्षणं साधीयः। तदिदमुक्तम्—

अनाख्येयांशभासित्वं निर्वाच्यार्थतया ध्वनेः।
न लक्षणं, लक्षणं तु साधीयोऽस्य यथोदितम्॥

इति श्रीराजानकानन्दवर्धनाचार्य विरचिते ध्वन्यालोके तृतीय उद्योतः।

श्रीधरी—यत्तु = जो कि, बौद्धाना = बौद्धो का, सर्वलक्षण विषयं = सभी लक्षणों के सम्बन्ध मे, अनिर्देश्यत्वं प्रसिद्धं = अलक्षणीयत्व प्रसिद्ध है, तत् = उसको, तन्मतपरीक्षायां = उनके मत की परीक्षा के समय, ग्रन्थान्तरे = दूसरे ग्रन्थ मे, निरूपयिष्यामः = निरूपित करेंगे, इह तु = यहाँ तो, ग्रन्थान्तर श्रवणलव प्रकाशनं ग्रन्थान्तर को सुनने का लवमात्र भी प्रकाशन, सहृदय वैमनस्य प्रदायी = सहृदयो को

वैमनस्य प्रदान करने वाला होगा, इति न प्रक्रियते = इसलिये नहीं करते, वा = अथवा, बौद्धमतेन = बौद्ध मत में, यथा = जैसे, प्रत्यक्षादि लक्षणं = प्रत्यक्ष आदि का लक्षण है, तथा = उस प्रकार, अस्माकं ध्वनिलक्षणं भविष्यति = हमारा ध्वनि लक्षण होगा, तस्मात् = इसलिये, लक्षणान्तरस्य = दूसरे लक्षण के, अघटनात् = न घटने से, अशब्दार्थत्वाच्च = ध्वनि शब्द का अर्थ न होने से, तस्योक्तमेव ध्वनिलक्षणं साधीयः = पूर्वोक्त ही ध्वनि लक्षण ठीक है, तदिदमुक्तम् = तो यह कहा है।

ध्वनेः = ध्वनि के, निर्वाच्यार्थतया = निर्वाच्यार्थ होने के कारण, अनाख्येयांश भासित्व = अनाख्येय अंश का भासित होना, न लक्षणं = लक्षण नहीं है, अस्य = यथोदितं लक्षणं = जैसा लक्षण कहा है, साधीय. = वह ठीक है।

अर्थ—जो बौद्धों का सभी लक्षणों के सम्बन्ध में अलक्षणीयत्व प्रसिद्ध है, उसे उनके मत की परीक्षा के अवसर पर ग्रन्थान्तर में निरूपित करेंगे। यहाँ ग्रन्थान्तर के सुनने का जरा भी प्रकाशन करने में सहृदयहृदयों को वैमनस्य प्रदान करेगा, इसलिये ग्रन्थान्तर का प्रकाशन यहाँ नहीं करते अथवा बौद्ध मत से जैसे प्रत्यक्ष आदि का लक्षण है. इस प्रकार हमारा ध्वनि लक्षण होगा, इसलिये दूसरे लक्षण के घटित न होने से और ध्वनि शब्द का अर्थ न होने से पूर्वोक्त लक्षण ही ठीक है। अतः यह कहा है –

ध्वनि के निर्वाच्यार्थ होने के कारण अनाख्येय अंश का भासित होना लक्षण नहीं है. जैसा पहले लक्षण कहा है, वह ठीक है।

(श्री राजानक आनन्दवर्धनाचार्य विरचित ध्वन्यालोक का तृतीय उद्योत समाप्त)

———

ध्वन्यालोकः

चतुर्थ उद्योतः

एवं ध्वनिं सप्रपञ्चं विप्रतिपत्तिनिरासार्थं व्युत्पाद्य तद्व्युत्पादने प्रयोजनान्तरमुच्यते ।

ध्वनेर्यः सगुणीभूतव्यंग्यस्याध्वा प्रदर्शितः।
अनेनानन्त्यमायाति कवीनां प्रतिभा गुणः ॥१॥

य एष ध्वनेर्गुणीभूत व्यंग्यस्य च मार्गः प्रकाशितस्तस्य फलान्तरं कविप्रतिभानन्त्यम् ।

श्रीधरी—एवं=इस प्रकार, ध्वनिं सप्रपञ्चं विप्रतिपत्तिनिरासार्थं व्युत्पाद्य=ध्वनि का विस्तार के साथ विरुद्ध शंकाओं के निवारण के लिए व्युत्पादन करके तद् व्युत्पादने=उस ध्वनि के व्युत्पादन में, प्रयोजनान्तरमुच्यते=दूसरा प्रयोजन कहते हैं ।

सगुणीभूत व्यंग्यस्य=गुणीभूत व्यंग्य के सहित, ध्वनेः=ध्वनि का, यः=जो, अध्वा प्रदर्शितः=जो मार्ग दिखाया जा चुका है, अनेन=इससे, कवीनां=कवियों का. प्रतिभागुणः=प्रतिभा गुण, आनन्त्यमायाति=अनन्त हो जाता है ।

य एष=जो यह, ध्वनेर्गुणीभूत व्यंग्यस्य च=ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य का, मार्गः प्रकाशितः=मार्ग प्रकाशित किया गया है, तस्य=उसका, फलान्तरं=दूसरा प्रयोजन, कविप्रतिभानन्त्यम्=कवि की प्रतिभा का आनन्त्य है ।

अर्थ इस प्रकार ध्वनि का विस्तार के साथ विरुद्ध शंकाओं के निवारण के लिये व्युत्पादन करके, उस ध्वनि के व्युत्पादन में दूसरा प्रयोजन कहते हैं—

गुणीभूत व्यंग्य के सहित ध्वनि का जो मार्ग बतलाया जा चुका है, इससे कवियों का प्रतिभा गुण अनन्त रूप में प्रस्फुटित हो जाता है ।

जो यह ध्वनि गुणीभूत व्यंग्य का प्रकार पहले उद्योतों में स्पष्ट किया गया है, उसका दूसरा प्रयोजन कवि की प्रतिभा का आनन्त्य है अर्थात् कवि प्रतिभा को अनन्त रूप में प्रस्फुटित करने के लिए ही इसका निरूपण किया गया है ।

कथमिति चेत्—

अतो ह्यन्यतमेनापि प्रकारेण विभूषिता ।
वाणी नवत्वमायाति पूर्वार्थान्वयवत्यपि ॥२॥

ध्वन्यालोकः

चतुर्थ उद्योतः

एवं ध्वनिं सप्रपञ्चं विप्रतिपत्तिनिरासार्थं व्युत्पाद्य तद्व्युत्पादने प्रयोजनान्तरमुच्यते।

ध्वनेर्यः सगुणीभूतव्यंग्यस्याध्वा प्रदर्शितः।
अनेनानन्त्यमायाति कवीनां प्रतिभा गुणः ॥१॥

य एष ध्वनेर्गुणीभूत व्यंग्यस्य च मार्गः प्रकाशितस्तस्य फलान्तरं कविप्रतिभानन्त्यम्।

श्रीधरी—एवं=इस प्रकार, ध्वनिं सप्रपञ्चं विप्रतिपत्तिनिरासार्थं व्युत्पाद्य=ध्वनि का विस्तार के साथ विरुद्ध शंकाओं के निवारण के लिए व्युत्पादन करके तद् व्युत्पादने=इस ध्वनि के व्युत्पादन में, प्रयोजनान्तरमुच्यते=दूसरा प्रयोजन कहते हैं।

सगुणीभूत व्यंग्यस्य=गुणीभूत व्यंग्य के सहित, ध्वनेः=ध्वनि का, यः=जो, अध्वा प्रदर्शितः=जो मार्ग दिखाया जा चुका है, अनेन=इससे, कवीनां=कवियों का, प्रतिभागुणः=प्रतिभा गुण, आनन्त्यमायाति=अनन्त हो जाता है।

य एष=जो यह, ध्वनेर्गुणीभूत व्यंग्यस्य च=ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य का, मार्गः प्रकाशितः=मार्ग प्रकाशित किया गया है, तस्य=उसका, फलान्तरं=दूसरा प्रयोजन, कविप्रतिभानन्त्यम्=कवि की प्रतिभा का आनन्त्य है।

अर्थ इस प्रकार ध्वनि का विस्तार के साथ विरुद्ध शंकाओं के निवारण के लिये व्युत्पादन करके, उस ध्वनि के व्युत्पादन में दूसरा प्रयोजन कहते हैं—

गुणीभूत व्यंग्य के सहित ध्वनि का जो मार्ग बतलाया जा चुका है, इससे कवियों का प्रतिभा गुण अनन्त रूप में प्रस्फुटित हो जाता है।

जो यह ध्वनि गुणीभूत व्यंग्य का प्रकार पहले उद्योतों में स्पष्ट किया गया है, उसका दूसरा प्रयोजन कवि की प्रतिभा का आनन्त्य है अर्थात् कवि प्रतिभा को अनन्त रूप में प्रस्फुटित करने के लिए ही इसका निरूपण किया गया है।

कथमिति चेत्—

अतो ह्यन्यतमेनापि प्रकारेण विभूषिता।
वाणी नवत्वमायाति पूर्वार्थान्वयवत्यपि ॥२॥

वैमनस्य प्रदान करने वाला होगा, इति न प्रक्रियते =इसलिये नहीं करते, वा= अथवा, बौद्धमतेन=बौद्ध मत में, यथा =जैसे, प्रत्यक्षादि लक्षण =प्रत्यक्ष आदि का लक्षण है, तथा =उस प्रकार, अस्माकं ध्वनिलक्षण भविष्यति =हमारा ध्वनि लक्षण होगा, तस्मात् =इसलिये, लक्षणान्तरस्य =दूसरे लक्षण के, अघटनात् =न घटने से, अशब्दार्थत्वाच्च =ध्वनि शब्द का अर्थ न होने से, तस्योक्तमेव ध्वनिलक्षण साधीय.= पूर्वोक्त ही ध्वनि लक्षण ठीक है, तदिदमुक्तम् =तो यह कहा है।

ध्वनेः =ध्वनि के, निर्वाच्यार्थतया =निर्वाच्यार्थ होने के कारण, अनाख्येयांश भासित्वं =अनाख्येय अंश का भासित होना, न लक्षणं =लक्षण नहीं है, अस्य = यथोदितं लक्षणं =जैसा लक्षण कहा है, साधीयः =वह ठीक है।

अर्थ—जो बौद्धों का सभी लक्षणों के सम्बन्ध में अलक्षणीयता प्रसिद्ध है, उसे उनके मत की परीक्षा के अवसर पर ग्रन्थान्तर में निरूपित करेंगे। यहाँ ग्रन्थान्तर के सुनने का जरा भी प्रकाशन करने से सहृदयहृदयों को वैमनस्य प्रदान करेगा, इसलिये ग्रन्थान्तर का प्रकाशन यहाँ नहीं करते अथवा बौद्ध मत में जैसे प्रत्यक्ष आदि का लक्षण है. इस प्रकार हमारा ध्वनि लक्षण होगा, इसलिये दूसरे लक्षण के घटित न होने से और ध्वनि शब्द का अर्थ न होने से पूर्वोक्त लक्षण ही ठीक है। अत यह कहा है —

ध्वनि के निर्वाच्यार्थ होने के कारण अनाख्येय अंश का भासित होना लक्षण नहीं है. जैसा पहले लक्षण कहा है, वह ठीक है।

(श्री राजानक आनन्दवर्धनाचार्य विरचित ध्वन्यालोक का तृतीय उद्योत समाप्त)

———

ध्वन्यालोकः

चतुर्थ उद्योतः

एवं ध्वनिं सप्रपञ्चं विप्रतिपत्तिनिरासार्थं व्युत्पाद्य तद्व्युत्पादने प्रयोजनान्तरमुच्यते।

ध्वनेर्यः सगुणीभूतव्यंग्यस्याध्वा प्रदर्शितः।
अनेनानन्त्यमायाति कवीनां प्रतिभा गुणः ॥१॥

य एष ध्वनेर्गुणीभूतव्यंग्यस्य च मार्गः प्रकाशितस्तस्य फलान्तरं कविप्रतिभानन्त्यम्।

श्रीधरी—एवं=इस प्रकार, ध्वनिं सप्रपञ्चं विप्रतिपत्तिनिरासार्थं व्युत्पाद्य=ध्वनि का विस्तार के साथ विरुद्ध शंकाओं के निवारण के लिए व्युत्पादन करके तद् व्युत्पादने=उसे ध्वनि के व्युत्पादन में, प्रयोजनान्तरमुच्यते=दूसरा प्रयोजन कहते हैं।

सगुणीभूत व्यंग्यस्य=गुणीभूत व्यंग्य के सहित, ध्वनेः=ध्वनि का, यः=जो, अध्वा प्रदर्शितः=जो मार्ग दिखाया जा चुका है, अनेन=इससे, कवीनां=कवियों का, प्रतिभागुणः=प्रतिभा गुण, आनन्त्यमायाति=अनन्त हो जाता है।

य एष=जो यह, ध्वनेर्गुणीभूत व्यंग्यस्य च=ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य का, मार्गः प्रकाशितः=मार्ग प्रकाशित किया गया है, तस्य=उसका, फलान्तरं=दूसरा प्रयोजन, कविप्रतिभानन्त्यम्=कवि की प्रतिभा का आनन्त्य है।

अर्थ—इस प्रकार ध्वनि का विस्तार के साथ विरुद्ध शंकाओं के निवारण के लिये व्युत्पादन करके, उस ध्वनि के व्युत्पादन में दूसरा प्रयोजन कहते हैं—

गुणीभूत व्यंग्य के सहित ध्वनि का जो मार्ग बतलाया जा चुका है, इससे कवियों का प्रतिभा गुण अनन्त रूप में प्रस्फुटित हो जाता है।

जो यह ध्वनि गुणीभूत व्यंग्य का प्रकार पहले उद्योतों में स्पष्ट किया गया है, उसका दूसरा प्रयोजन कवि की प्रतिभा का आनन्त्य है अर्थात् कवि प्रतिभा को अनन्त रूप में प्रस्फुटित करने के लिए ही इसका निरूपण किया गया है।

कथमिति चेत्—

अतो ह्यन्यतमेनापि प्रकारेण विभूषिता।
वाणी नवत्वमायाति पूर्वार्थान्वयवत्यपि ॥२॥

अतो ध्वनेरुक्त प्रभेदमध्यादन्यतमेनापि प्रकारेण विभूषिता सती वाणी पुरातन कविनिबद्धार्थं संस्पर्शवत्यपि नवत्वमायाति। तथाह्यविवक्षित वाच्यस्य ध्वनेः प्रकारद्वय समाश्रयणेन नवत्वं पूर्वार्थानुगमेऽपि यथा–

स्मितं किञ्चिन्मुग्धं सरलमधुरो दृष्टिविभवः,
परिस्पन्दो वाचामभिनव विलासोमिसरसः।
गतानामारम्भः किसलयितलीला परिमलः,
स्पृशन्त्यास्तारुण्यं किमिव हि न रम्यं मृगदृशः॥

दीधरी— कथमिति चेत्= यह कैसे हो? अतोह्यन्यतमेनापि= इनमें से एक भी, प्रकारेण= प्रकार से, विभूषिता वाणी= विभूषित वाणी, पूर्वार्थान्वयवत्यपि= प्राचीन अर्थ के साथ सम्बन्ध रखती हुई भी, नवत्वमायाति= नवीनता को प्राप्त कर लेती है।

अतः= इसलिये, ध्वनेः= ध्वनि के, उक्तप्रभेदमध्यादन्यतमेनापि= कहे हुए प्रभेदों के मध्य से एक भी, प्रकारेण= प्रकार से, विभूषिता सती= विभूषित होती हुई, वाणी= वाणी, पुरातनकवि निबद्धार्थसंस्पर्शवत्यपि= प्राचीन समय के कवि द्वारा उपनिबद्ध अर्थ का संस्पर्श करती हुई भी, नवत्वमायाति= नवीनता प्राप्त कर लेती है, तथाहि= जैसा कि, अविवक्षितवाच्यस्य ध्वनेः= अविवक्षित वाच्य ध्वनि के, प्रकारद्वयसमाश्रयणेन= समाश्रयण से, पूर्वार्थानुगमेऽपि= प्राचीन अर्थ का सम्बन्ध होने पर भी, नवत्वं= नवत्व है, यथा= जैसे—

किञ्चित् स्मितं= कुछ स्मित, मुग्धं= मुग्ध बन जाता है, दृष्टि विभवः= आँखों का ऐश्वर्य, सरल मधुर:= सरल और मधुर हो जाता है, वाचां परिस्पन्दः= बातों का लगातार चल पड़ना, अभिनव विलासोमिसरसः= नये भाव भावों की तरंगों के समान रसीला बन जाता है, गतानामारम्भः= गमन अर्थात् चलने का आरम्भ, किसलयितलीलापरिमलः= किसलययुक्त लीलाकमल का पराग बन जाता है, तारुण्यं स्पृशन्त्याः= तरुणाई का स्पर्श करती हुई, मृगदृशः= हिरन के समान चञ्चल आँखों वाली स्त्रियों का, किमिव हि न रम्यम्= क्या सुन्दर नहीं लगता?

अर्थ— वह कैसे? तो—

इसमें से एक भी प्रकार से विभूषित वाणी प्राचीन अर्थ के साथ सम्बन्ध रखती हुई भी नवीनता प्राप्त कर लेती है।

इस ध्वनि के कहे हुए प्रभेदों में से एक भी प्रकार से सुशोभित होती हुई वाणी प्राचीन समय के कवि के द्वारा उपनिबद्ध अर्थ का संस्पर्श करती हुई भी नवीनता प्राप्त कर लेती है। जैसा कि अविवक्षित वाच्य ध्वनि के दो प्रकारों के समाश्रयण से प्राचीन अर्थ का सम्बन्ध होने पर भी नवत्व होता है। जैसे—

कुछ स्मित मुग्ध बन जाता है, आँखों का ऐश्वर्य सरल और मधुर हो जाता है, बातों का लगातार चल पड़ना नये हावभाव की तरंगों से रसीला बन जाता है,

चलने की शुरुआत किसलययुक्त लीलायमान के पराग के सदृश मनोहारी हो जाती है इस प्रकार तरुणाई को छूती हुई, हिरन के समान चञ्चल आँखों वाली स्त्रियाँ क्या सुन्दर नहीं लगती अर्थात् सब कुछ सुन्दर प्रतीत होता है।

इत्यस्य,

सविभ्रमस्मितोद्भेदा लोलाक्ष्यः प्रस्खलद्गिरः।
नितम्बालसगामिन्यः कामिन्यः कस्य न प्रियाः॥

इत्येवमादिषु श्लोकेषु सत्स्वपि तिरस्कृतवाच्य ध्वनि समाश्रयेणापूर्वत्वमेव प्रतिभासते। तथा—

यः प्रथमः प्रथमः स तु तथाहि हत हस्तिबहलपललाशी।
श्वापदगणेषु सिंहः सिंहः केनाधरीक्रियते॥

इत्यस्य

स्वतेजः क्रीतमहिमा केनान्येनातिशय्यते।
महद्भिरपि मातङ्गैः सिंहः किमभिभूयते॥

इत्येवमादिषु श्लोकेषु सत्स्वप्यर्थान्तरसङ्क्रमित वाच्यध्वनिसमाश्रयेण नवत्वम्। विवक्षितान्यपरवाच्यस्याप्युक्तप्रकारं समाश्रयेण नवत्वं। यथा—

* घरी—इत्यस्य=इसका,

सविभ्रमस्मितोद्भेदा=विलाससहित, मुस्कानों के उद्भेद वाली, लोलाक्ष्यः=चञ्चल आँखों वाली, प्रस्खलद् गिरः=लड़खड़ाती आवाज वाली, नितम्बालस गामिन्यः=नितम्बों के भार से अलसा कर चलने वाली, कामिन्यः=स्त्रियाँ, कस्य न प्रियाः=किसे प्रिय नहीं होतीं?

इत्येवमादिषु श्लोकेषु सत्स्वपि=इत्यादि श्लोकों के पहले से होने पर भी, तिरस्कृत वाच्यध्वनि समाश्रयेण=तिरस्कृत वाच्य ध्वनि के समाश्रयण से, अपूर्वत्वमेव प्रतिभासते=नवत्व ही प्रतिभासित होता है, यथा=जैसे,

यः प्रथमः=जो पहला, स तु प्रथमः=वह तो पहला है, तथाहि=जैसा कि, हत हस्तिबहल पललाशी=मारे हुए हाथी का पर्याप्त मांस खाने वाला, श्वापदगणेषु सिंह=जंगली जानवरों में सिंह, सिंहः केनाधरीक्रियते=शेर किसने नीचा किया जा सकता है, इत्यस्य=इसका।

स्वतेजः क्रीतमहिमा=अपने पराक्रम से खरीदी हुई महिमा, अन्येन केन अतिशय्यते=किस दूसरे के द्वारा दबाई जाती है, महद्भिरपि मातङ्गैः=बड़े हाथियों से भी, सिंहः किमभिभूयते=क्या शेर अभिभूत होता है,

इत्येवमादिषु श्लोकेषु=इत्यादि श्लोकों के होने पर भी, अर्थान्तरसङ्क्रमित वाच्यध्वनि समाश्रयेण=अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि के समाश्रयण से, नवीनता

व्यतारम्भिणः=पुनः अपनी ओर से आरम्भ न करने वाले उस प्रिय का भी, हृदय=हृदय, साकांक्षप्रतिपत्तिः=साकांक्ष की स्थिति में पहुँच कर, रतेः पारं तु यातम्=परम आनन्द की सीमा तक चला गया।

इत्यादेः श्लोकस्य=इत्यादि श्लोक का,

शून्यं वासगृहं विलोक्य=सूने शयन कक्ष को देखकर, किञ्चिच्छनैः=कुछ धीरे से, शयनादुत्थाय=पलंग से उठकर, निद्राव्याजमुपागतस्य=नींद का ढोंग किये हुए, पत्युर्मुखं=पति के मुख को, सुचिरं निर्वर्ण्य=बहुत देर तक देखकर, विश्रब्धं=विश्वास के साथ, परिचुम्ब्य=चूमकर, जातपुलकां=रोमाञ्च वाली, गण्डस्थलीमालोक्य=पति के गालों को देखकर, लज्जानम्रमुखी=लज्जा से झुके हुए मुख वाली, बाला=नवोढा पत्नी, हसता प्रियेण=हँसते हुए प्रियतम के द्वारा, चिरेण चुम्बिता=बहुत देर तक चूमी गई,

इत्यादिषु श्लोकेषु सत्स्वपि=इत्यादि श्लोकों के होते हुए भी, नवत्वम्=नवीनता है यथा वा=अथवा जैसे, तरङ्गभ्रूभङ्गा इत्यादि श्लोकस्य=तरङ्गभ्रूभङ्गा इत्यादि श्लोक का, नानाभङ्गिभ्रमद्भ्रू इत्यादि श्लोकापेक्षया=नानाभङ्गिभ्रमद्भ्रू इत्यादि श्लोक की अपेक्षा, अन्यत्वम्=नवत्व है,

अर्थ—नींद का ढोंग करने वाले प्रियतम के मुख पर अपना मुख रखकर प्रियतम के जग जाने के डर से चुम्बन की इच्छा रोककर भी पूरी तरह रखने के कारण चञ्चल हो बैठी। लज्जा के कारण फिर यह विमुख हो जायेगी, ऐसे अपनी ओर से आरम्भ न करने वाले उस प्रिय का हृदय साकांक्ष की स्थिति पहुँचकर रति की चरम सीमा तक चला गया।

इत्यादि श्लोक का,

सूने शयनकक्ष को देखकर, धीरे से पलंग से उठकर, नींद का बहाना करके हुए पति के मुख को देर तक देखकर, विश्वास के साथ जोर से चूम कर, बाद वाले पति के गालों को देखकर लज्जा से झुके हुए मुख वाली वह बाला हंसते हुए प्रियतम के द्वारा देर तक चूमी गई।

इत्यादि श्लोकों के होते हुए भी नवत्व है। अथवा जैसे—'तरङ्गभ्रूभङ्गा' श्लोक का 'नानाभङ्गिभ्रमद्भ्रू०' इत्यादि श्लोक की अपेक्षा नवत्व है।

युक्त्याऽनयानुसर्तव्यो रसादिर्बहुविस्तरः।
मितोऽप्यनन्ततां प्राप्तः काव्यमार्गो यदाश्रयात् ॥३॥

...रसभावतदाभासतत्प्रशमनलक्षणो मार्गो यथास्वं विभावानुभावप्रभेदकलनया यथोक्तं प्राक्। स सर्व एवानया युक्त्यानुसर्तव्यः। ... काव्यमार्गः पुरातनैः कविभिः सहस्रसंख्यैर्... क्षुण्णत्वान्मितोऽप्यनन्ततामेति। रस भावादीनां हि व्यभिचारिसमाश्रयादपरिमितत्वम्। तेषां चैकैक-

है, विवक्षितान्यपरवाच्यस्यापि=विवक्षितान्य परवाच्य की भी, उक्तप्रकार समाश्रयेण नवत्वं=उक्त प्रकार से समाश्रयण करने पर, नवत्व=नवीनता होती है, यथा=जैसे,

अर्थ—इसका,

विलासमहित मुस्कानों के उद्भेद वाली, चञ्चल भ्रामों वाली, लड़खड़ाती हुई आवाज वाली, नितम्बों के भार से धीरे-धीरे चलने वाली, स्त्रियां किस प्रिय नहीं होतीं ?

इत्यादि श्लोकों के पहले से होने पर भी तिरस्कृत वाच्य ध्वनि के समाश्रयण से नवत्व ही प्रतिभासित होता है, इसी प्रकार—

जो पहला है वह तो पहला है, जैसा कि मारे हुए हाथी के पर्याप्त मांस को खाने वाला, जंगली जानवरों में सिंह, सिंह किससे नीचा किया जाता है ?

इसका,

अपने पराक्रम से खरीदा हुआ बड़प्पन किस दूसरे के द्वारा दबाया जाता है, बड़े हाथियों से भी क्या शेर अभिभूत होता है ?

इत्यादि श्लोकों के होने पर भी पूर्वोक्त श्लोक में अर्थान्तर वाच्य ध्वनि के समाश्रयण से नवत्व है। विवक्षितान्य परवाच्य का भी उक्त प्रकार से समाश्रयण करने पर नवीनता होती है। जैसे—

निद्राकैतविनः प्रियस्य वदने विन्यस्य वक्त्रं वधू-
　र्बोधत्रासनिरुद्धचुम्बनरसाप्याभोगलोलं स्थिता।
वैलक्ष्याद्विमुखीभवेदिति पुनस्तस्याप्यनारम्भिणः
　साकाङ्क्षप्रतिपत्ति नाम हृदयं यातं तु पारं रतेः॥

इत्यादेः श्लोकस्य,

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै-
निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्।
विस्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थली,
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता॥

इत्यादिषु श्लोकेषु सत्स्वपि नवत्वम्। यथा वा—'तरंग भ्रूभङ्गा' इत्यादि श्लोकस्य 'नानाभङ्गि भ्रमद्भ्रूः' इत्यादि श्लोकापेक्षयान्यत्वम्।

श्रीधरी—निद्राकैतविनः=नींद का ढोंग करने वाले, प्रियस्य वदने=प्रियतम के मुख पर, वक्त्रं विन्यस्य=अपना मुख रखकर, वधूः=नई वधू, बोधत्रासनिरुद्धचुम्बनरसाऽपि=उसके जग जाने के डर से चुम्बन की इच्छा को रोक कर भी, आभोगलोलं स्थिता=पूरी तरह देखने के कारण चञ्चल हो बैठी, वैलक्ष्याद्विमुखी भवेत्=लज्जा जाने से विमुख हो जायेगी, इति=इसलिये पुनस्तस्याः

प्यनारम्भिणः=पुनः अपनी ओर से प्रारम्भ न करने वाले उस प्रिय का भी, हृदय=हृदय, साकांक्षप्रतिपत्तिः=साकांक्ष की स्थिति में पहुँच कर, रतेः पारं तु यातम्=परम आनन्द की सीमा तक चला गया।

इत्यादेः श्लोकस्य=इत्यादि श्लोक का,

शून्यं वासगृहं विलोक्य=सूने शयन कक्ष को देखकर, किञ्चिच्छनैः=कुछ धीरे से, शयनादुत्थाय=पलंग से उठकर, निद्राव्याजमुपागतस्य=नींद का ढोंग किये हुए, पत्युर्मुखं=पति के मुख को, सुचिरं निर्वर्ण्य=बहुत देर तक देखकर, विश्रब्धं=विश्वास के साथ, परिचुम्ब्य=चूमकर, जातपुलकां=रोमाञ्च वाली, गण्डस्थलीमालोक्य=पति के गालों को देखकर, लज्जानम्रमुखी=लज्जा से झुके हुए मुख वाली, बाला=नवोढा पत्नी, हसता प्रियेण=हँसते हुए प्रियतम के द्वारा, चिरेण चुम्बिता=बहुत देर तक चूमी गई,

इत्यादिषु श्लोकेषु सत्स्वपि=इत्यादि श्लोकों के होते हुए भी, नवत्वम्=नवीनता है यथा वा=अथवा जैसे, तरङ्गभ्रूभङ्गा इत्यादि श्लोकस्य=तरङ्गभ्रूभङ्गा इत्यादि श्लोक का, नानाभङ्गिभ्रमद्भ्रू इत्यादि श्लोकापेक्षया=नानाभङ्गिभ्रमद्भ्रू इत्यादि श्लोक की अपेक्षा, अन्यत्वम्=नवत्व है,

अर्थ—नींद का ढोंग करने वाले प्रियतम के मुख पर अपना मुख रखकर नववधू प्रियतम के जग जाने के डर से चुम्बन की इच्छा रोककर भी पूरी तरह देखने के कारण चञ्चल हो उठी। लज्जा के कारण फिर यह विमुख हो जायेगी, इससे अपनी ओर से प्रारम्भ न करने वाले उस प्रिय का हृदय साकांक्ष की स्थिति में पहुँचकर रति की चरम सीमा तक चला गया।

इत्यादि श्लोक का,

सूने शयनकक्ष को देखकर, धीरे से पलंग से उठकर, नींद का बहाना करके सोये हुए पति के मुख को देर तक देखकर, विश्वास के साथ जोर से चूम कर, बाद में रोमाञ्च वाले पति के गालों को देखकर लज्जा से झुके हुए मुख वाली वह नवोढा बाला हंसते हुए प्रियतम के द्वारा देर तक चूमी गई।

इत्यादि श्लोकों के होते हुए भी नवत्व है। अथवा जैसे—'तरङ्गभ्रूभङ्गा' इत्यादि श्लोक का 'नानाभङ्गिभ्रमद्भ्रू०' इत्यादि श्लोक की अपेक्षा नवत्व है।

युक्त्याऽनयानुसर्तव्यो रसादिर्बहुविस्तरः।
मितोऽप्यनन्ततां प्राप्तः काव्यमार्गो यदाश्रयात् ॥३॥

बहुविस्तारोऽयं रसभावतदाभासतत्प्रशमनलक्षणो मार्गो यथास्वं विभावानुभावप्रभेदकलनया यथोक्तं प्राक्। स सर्व एवानया युक्त्यानुसर्तव्यः। यस्य रसादेराश्रयादयं काव्यमार्गः पुरातनैः कविभिः सहस्रसंख्यैरसंख्यैर्वा बहुप्रकारं क्षुण्णत्वान्मितोऽप्यनन्ततामेति। रसभावादीनां हि प्रत्येकं विभावानुभावव्यभिचारिसमाश्रयादपरिमितत्वम्। तेषां चैकैक-

है। विवक्षितान्यपरवाच्यस्यापि=विवक्षितान्य परवाच्य की भी, उक्तप्रकार समाश्रयेण नवत्वं=उक्त प्रकार से समाश्रयण करने पर, नवत्वं=नवीनता होती है, यथा=जैसे

अर्थ—इसका,

विलासमहित मुस्कानों के उद्गम वाली, चञ्चल आँखों वाली, लड़खड़ाती हुई आवाज वाली, नितम्बों के भार से धीरे-धीरे चलने वाली, स्त्रियाँ किस प्रिय नहीं होतीं ?

इत्यादि श्लोकों के पहले से होने पर भी तिरस्कृत वाच्य ध्वनि के समाश्रयण से नवत्व ही प्रतिभासित होता है, इसी प्रकार—

जो पहला है वह तो पहला है, जैसा कि मारे हुए हाथी के पर्याप्त मांस को खाने वाला, जंगली जानवरों में सिंह, सिंह किससे नीचा किया जाता है ?

इसका,

अपने पराक्रम से खरीदा हुआ बड़प्पन किस दूसरे के द्वारा दबाया जाता है, बड़े हाथियों से भी क्या शेर अभिभूत होता है ?

इत्यादि श्लोकों के होने पर भी पूर्वोक्त श्लोक में अर्थान्तर वाच्य ध्वनि के समाश्रयण से नवत्व है। विवक्षितान्य परवाच्य का भी उक्त प्रकार से समाश्रयण करने पर नवीनता होती है। जैसे—

निद्राकैतविनः प्रियस्य वदने विन्यस्य वक्त्रं वधू ,
बोधत्रासनिरुद्धचुम्बनरसाप्याभोगलोलं स्थिता ।
वैलक्ष्याद्विमुखीभवेदिति पुनस्तस्याप्यनारम्भिणः ,
साकाङ्क्षप्रतिपत्ति नाम हृदयं यातं तु पारं रतेः ॥

इत्यादेः श्लोकस्य,

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै-
र्निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम् ।
विस्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थली ,
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता ॥

इत्यादिषु श्लोकेषु सत्स्वपि नवत्वम् । यथा वा—'तरङ्ग भ्रूभङ्गा' इत्यादि श्लोकस्य 'नानाभङ्गि भ्रमद्भ्रूः' इत्यादि श्लोकापेक्षयान्यत्वम् ।

दीधिती—निद्राकैतविनः=नींद का ढोंग करने वाले, प्रियस्य वदने=प्रियतम के मुख पर, वक्त्रं विन्यस्य=अपना मुख रखकर, वधूः=नई वधू, बोधत्रासनिरुद्धचुम्बनरसाऽपि=उसके जग जाने के डर से चुम्बन की इच्छा को रोक कर भी, आभोगलोलं स्थिता=पूरी तरह देखने के कारण चञ्चल हो बैठी, वैलक्ष्याद्विमुखी भवेत्=लज्जा आने से विमुख हो जायेगी, इति=इसलिये पुनस्तस्या-

प्यनारम्भिण:=पुन: अपनी ओर से आरम्भ न करने वाले उस प्रिय का भी, हृदय=हृदय, साकांक्ष गतिपत्ति:=साकांक्ष की स्थिति में पहुँच कर, रते: पारं तु यातम्=परम आनन्द की सीमा तक चला गया।

इत्यादे: इलोकस्य=इत्यादि श्लोक का,

शून्य वासगृहं विलोक्य=सूने शयन कक्ष को देखकर, किञ्चिच्छनै:=कुछ धीरे से, शयनादुत्थाय=पलग से उठकर, निद्राव्याजमुपागतस्य=नींद का ढोंग किये हुए, पत्युर्मुखं=पति के मुख को, सुचिरं निर्वर्ण्य=बहुत देर तक देखकर, विश्रब्धं=विश्वास के साथ, परिचुम्ब्य=चूमकर, जातपुलकां=रोमाञ्च वाली, गण्डस्थलीमालोक्य=पति के गालों को देखकर, लज्जानम्रमुखी=लज्जा से झुके हुए मुख वाली, बाला=नवोढा पत्नी, हसता प्रियेण=हँसते हुए प्रियतम के द्वारा, चिरेण चुम्बिता=बहुत देर तक चूमी गई,

इत्यादिषु इलोकेषु सत्स्वपि=इत्यादि इलोकों के होते हुए भी, नवत्वम्=नवीनता है यथा वा=अथवा जैसे, तरङ्गभ्रूभङ्गा इत्यादि इलोकस्य=तरङ्गभ्रूभङ्गा इत्यादि श्लोक का, नानाभङ्गिभ्रमद्भ्रू इत्यादि श्लोकापेक्षया=नानाभङ्गिभ्रमद्भ्रू इत्यादि इलोक की अपेक्षा, अन्यत्वम्=नवत्व है,

अर्थ—नींद का ढोंग करने वाले प्रियतम के मुख पर अपना मुख रखकर नववधू प्रियतम के जग जाने के डर से चुम्बन की इच्छा रोककर भी पूरी तरह देखने के कारण चञ्चल हो बैठी। लज्जा के कारण फिर यह विमुख हो जायेगी, इससे अपनी ओर से आरम्भ न करने वाले उस प्रिय का हृदय साकांक्ष की स्थिति में पहुँचकर रति की चरम सीमा तक चला गया।

इत्यादि इलोक का,

सूने शयनकक्ष को देखकर, धीरे से पलंग से उठकर, नींद का बहाना करके सोये हुए पति के मुख को देर तक देखकर. विश्वास के साथ जोर से चूम कर, बाद में रोमाञ्च वाले पति के गालों को देखकर लज्जा से झुके हुए मुख वाली वह नवोढा बाला हंसते हुए प्रियतम के द्वारा देर तक चूमी गई।

इत्यादि इलोकों के होते हुए भी नवत्व है। अथवा जैसे—'तरङ्गभ्रूभङ्गा' इत्यादि श्लोक का 'नानाभङ्गिभ्रमद्भ्रू०' इत्यादि इलोक की अपेक्षा नवत्व है।

युक्त्यानयानुसर्तव्यो रसादिर्बहुविस्तरः।
मितोऽप्यनन्ततां प्राप्तः काव्यमार्गो यदाश्रयात् ॥३॥

बहुविस्तारोऽयं रसभावतदाभासतत्प्रशमनलक्षणो मार्गो यथास्वं विभावानुभावप्रभेदकलनया यथोक्तं प्राक्। स सर्व एवानया युक्त्यानुसर्तव्यः। यस्य रसादेराश्रयादयं काव्यमार्गः पुरातनैः कविभिः सहस्रसंख्यैरसंख्यैर्वा बहुप्रकारं क्षुण्णत्वान्मितोऽप्यनन्ततामेति। रस भावादीनां हि प्रत्येकं विभावानुभाव व्यभिचारिसमाश्रयादपरिमितत्वम्। तेषां चैकैक-

उत्पन्न हुए, अनुरणन रूप व्यंग्य के समाश्रयण से, नवत्वम्=नवत्व है यथा=जैसे, धरणीधारणाय=पृथ्वी के धारण के लिये, अधुना त्वं शेष=इस समय तुम शेष हो, इत्यादेः=इत्यादि का।

शेष=शेषनाग हिमगिरिः=हिमालय, त्वं च=और तुम, (तीनों) महान्तो=महान्, गुरवः=भारी, स्थिराः=स्थिर हो, यदलङ्घितमर्यादा=जो अपनी मर्यादा में स्थित होकर, चलन्तीं भुवं बिभ्रते=चलती हुई पृथ्वी को धारण करते हैं।

इत्यादिषु सत्स्वपि=इत्यादि श्लोकों के होने पर भी, तस्यैव=उस विवक्षितान्य परवाच्य का ही, अर्थशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यंग्य समाश्रयेण=अर्थ शक्ति से उत्पन्न अनुरणन रूप व्यंग्य के समाश्रयण से, नवत्वम्=नवीनता है, यथा—जैसे—'एवं वादिनिदेवर्षौ' इत्यादि श्लोकस्य='देवर्षि नारद के इस प्रकार कहने पर' इत्यादि श्लोक का।

अर्थ—पहले देखे हुए भी अर्थ काव्य में रस के परिग्रह से सब नवीन जैसे लगते हैं, जैसे वसन्त ऋतु में वृक्ष।

जैसा कि विवक्षितान्य परवाच्य ध्वनि का, शब्द शक्ति से उत्पन्न हुए अनुरणन रूप व्यंग्य के समाश्रयण से नवत्व है, जैसे—'पृथ्वी के धारण के लिये इस समय तुम शेष हो' इत्यादि का।

शेषनाग, हिमालय और तुम तीनों महान्, भारी और स्थिर हो, अपनी मर्यादा का उल्लंघन किये बिना ही तीनों चलती हुई पृथ्वी को धारण करते हो।

इत्यादि श्लोकों के होने पर भी उस विवक्षितान्य परवाच्य का ही अर्थ शक्ति से उत्पन्न अनुरणन रूप व्यंग्य के समाश्रयण से नवत्व है, जैसे—'देवर्षि नारद के इस प्रकार कहने पर' इत्यादि का।

कृते वरकथालापे कुमार्यः पुलकोद्गमैः।
सूचयन्ति स्पृहामन्तर्लज्जयावनताननाः॥

इत्यादिषु सत्सु अर्थशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यंग्यस्य कविप्रौढोक्तिनिर्मितशरीरत्वेन नवत्वम्। यथा—'सज्जेइसुरहिमासो' इत्यादेः।

सुरभिसमयेप्रवृत्ते सहसा प्रादुर्भवन्ति रमणीयाः।
रागवतामुत्कलिकाः सहैव सहकारकलिकाभिः॥

इत्यादिषु सत्स्वपि अपूर्वत्वमेव।

श्रीधरी—वरकथालापे कृते=वर के सम्बन्ध में बातचीत की जाने पर, पुलकोद्गमैः कुमार्यः=रोमाञ्च के उद्गम से कुमारियाँ, लज्जयावनताननाः=लज्जा से मुखों को झुकाकर, अन्तः स्पृहां सूचयन्ति=हृदय की अभिलाषा को सूचित करती है।

इत्यादिषु सत्सु=इत्यादि श्लोकों के होने पर भी, अर्थशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यंग्यस्य=अर्थ शक्ति से उत्पन्न अनुरणन रूप व्यंग्य का, कविः प्रौढोक्तिनिर्मितशरीर-

त्वेन =कवि की प्रौढोक्ति से निष्पन्न शरीर होने के कारण, नवत्वम्=नवीनता है, यथा=जैसे, सज्जेइ सुरहिमासो=वसन्त मास सजाता है, इत्यादेः=इत्यादि का, सुरभिसमये प्रवृत्ते=वसन्त मास के प्रवृत्त होने पर, रागवतां=प्रणयी जनों की, रमणीयाः उत्कलिकाः=सुन्दर उत्कण्ठाएँ, सहकार कलिकाभिः सहैव=आमों की कलियों के साथ ही, सहसा एव=अचानक ही, प्रादुर्भवन्ति=उत्पन्न हो जाती हैं, इत्यादिषु सत्स्वपि=इत्यादि श्लोकों के होने पर भी, अपूर्वत्वमेव=नवीनता ही है।

अर्थ—वर के सम्बन्ध में बातचीत की आने पर रोमाञ्च के उद्‌गमों द्वारा लज्जा से झुके हुए मुखों वाली कुमारियाँ हृदय की अभिलाषा को सूचित करती हैं।

इत्यादि श्लोकों के होने पर भी, अर्थ-शक्ति से उत्पन्न अनुरणन-रूप व्यंग्य का, कवि की प्रौढोक्ति से निष्पन्न शरीर के होने के कारण नवीनता है,-जैसे—'वसन्तमास सजाता है', इत्यादि का।

वसन्तमास के प्रवृत्त होने पर प्रणयि जनों की उत्कण्ठाएँ आमों की कलियों के साथ ही अचानक उत्पन्न हो जाती हैं। इत्यादि श्लोकों के होने पर भी अपूर्वत्व है।

अर्थशक्त्युद्भवानुरणन रूप व्यंग्यस्य कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति मात्र निष्पन्न शरीरत्वेन नवत्वम्। यथा—'वाणिअअ हत्थिदन्ता' इत्यादि गाथार्थस्य,

करिणीवेहव्वअरो मह पुत्तो एक्ककाण्ड विणिवाइ।
हअसोण्हाए तह कहो जह कण्डकरण्डअं वहइ॥
[करिणीवैधव्यकरो मम पुत्र एककाण्ड विनिपाती।
हतस्नुषया तथाकृतो यथा काण्डकरण्डकं वहति॥]
एवमादिष्वर्थेषु सत्स्वप्यनालीढतैव।

यथा व्यंग्यभेद समाश्रयेण ध्वनेः काव्यार्थानां नवत्वमुत्पद्यते, तथा व्यञ्जक भेद समाश्रयेणापि। तत्तु ग्रन्थ विस्तार भियान्न लिख्यते। स्वयमेव सहृदयरभ्यूह्यम्। अत्र च पुनः पुनरुक्तमपि सारतयेदमुच्यते—

व्यंग्यव्यंजकभावेऽस्मिन्विविधे सम्भवत्यपि।
रसादिमय एकस्मिन् कविः स्यादवधानवान्॥५॥

चौधरी—अर्थशक्त्युद्भवानुरणनरूप व्यंग्यस्य=अर्थ शक्ति से उत्पन्न अनुरणन रूप व्यंग्य का, कविनिबद्ध वक्तृप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरत्वेन=कवि निबद्ध वक्ता की प्रौढोक्ति मात्र से निष्पन्न शरीर होने के कारण नवत्वम्=नवीनता है, यथा=जैसे, वाणिअअ हत्थिदन्ता=ओ व्यापारी हाथी के दांत, इत्यादि गाथार्थस्य=इत्यादि गाथा के अर्थ का।

करिणी वैधव्यकरः=हथिनी को विधवा बना देने वाला, मम पुत्रः=मेरा पुत्र, एककाण्ड विनिपाती=एक बाण से ही गिरा देने में समर्थ है, हतस्नुषया=अभागी पतोहू ने, तथाकृतः=ऐसा कर डाला, यथा=जिससे, काण्ड करण्डक वहति=बाणों का तरकस लिये रहता है।

एवमादिष्वर्थेषु सत्स्वपि=इत्यादि अर्थों के होने पर भी, अनालीढतैव=अस्पृष्टत्व ही है।

यथा=जैसे, ध्वनेः=ध्वनि के, व्यंग्यभेद समाश्रयेण=व्यंग्य भेद के समाश्रयण से, काव्यार्थानां नवत्वमुत्पद्यते=काव्यार्थों का नवत्व उत्पन्न होता है, तथा=उसी प्रकार, व्यञ्जक भेद समाश्रयेणापि=व्यञ्जक भेद के समाश्रयण से भी, तत्=किन्तु उसे, ग्रन्थ विस्तरभयान्न लिख्यते=ग्रन्थ के विस्तृत हो जाने के डर से नहीं लिखते, सहृदयैः=सहृदय लोगों के द्वारा स्वयमेव अभ्यूह्यम्=स्वयं ही समझ लेना चाहिए।

अत्र च=और यहाँ, पुनः पुनरुक्तमपि=बार-बार कहने पर भी, सारतया इदं उच्यते=सार रूप से यह कहते हैं।

अस्मिन्=इस, व्यंग्यव्यञ्जकभावे=व्यंग्य व्यञ्जक भाव के, विविधं सम्भवत्यपि=अनेक प्रकार सम्भव होने पर भी, कविः=कवि, एकस्मिन् रसादिमये अवधानवान् स्यात्=केवल एक रसादिमय रूप के प्रति सावधान हो।

अर्थ—अर्थ शक्ति से उत्पन्न अनुरणन रूप व्यंग्य का, कवि निबद्ध वक्ता की प्रौढोक्ति मात्र से निष्पन्न शरीर होने के कारण नवत्व है, जैसे—'अरे अभागी, हाथी के दांत' इत्यादि गाथा के अर्थ का।

हथिनी को विधवा बना देने वाला मेरा पुत्र एक बाण से गिरा देने में समर्थ है, अभागी पतोहू ने ऐसा कर डाला है कि बाणों का तरकस ही लिये रहता है।

इत्यादि अर्थों के होने पर भी अस्पृष्टत्व है।

जैसे ध्वनि के व्यंग्यभेद के समाश्रयण से काव्यार्थों का नवत्व उत्पन्न होता है, उसी प्रकार व्यञ्जक भेद के समाश्रयण से भी, किन्तु उसे ग्रन्थ विस्तार के भय से नहीं लिखते हैं। सहृदय लोग स्वयं ही अनुमान कर लेंगे। बार-बार कहने पर भी इसे यहाँ सार रूप से यह कहते हैं—

इस व्यंग्य व्यञ्जक भाव के, अनेक प्रकार का सम्भव होने पर भी कवि केवल एक ही रसादि रूप अर्थ में सावधान रहे।

अस्मिन्नर्थानन्त्यहेतौ व्यंग्य व्यजकभावे विचित्रे शब्दानां सम्भवत्यपि कविरपूर्वार्थ लाभार्थी रसादिमय एकस्मिन्व्यंग्यव्यंजकभावे यत्नादवधीत। रसभाव तदाभासरूपे हि व्यंग्ये तद्व्यञ्जकेषु च यथा निर्दिष्टेषु वर्णपदवाक्य-रचनाप्रबन्धेष्ववहितमनसः कवेः सर्वमपूर्वं काव्यं सम्पद्यते। तथा च रामायणमहाभारतादिषु संग्रामादयः पुनः पुनरभिहिता अपिनवनवाः

प्रकाशन्ते। प्रबन्धे चाङ्गी रस एक एवोपनिबध्यमानोऽर्थ विशेष लाभ-छायातिशयं च पुष्णाति। कस्मिन्निवेति चेत्—यथा रामायणे यथा वा महाभारते। रामायणे हि करुणो रसः स्वयमादिकविनासूत्रितः 'शोकः श्लोकत्वमागतः' इत्येवंवादिना। निर्व्यूढश्च स एव सीतात्यन्तवियोग-पर्यन्तमेव स्व प्रबन्ध मुपरचयता। महाभारतेऽपि शास्त्र काव्यरूपच्छाया-न्वयिनिवृष्णिपाण्डव विरसावसानवैमनस्यदायिनीं समाप्तिमुपनिबध्नता महामुनिना वैराग्यजननतात्पर्यं प्राधान्येन स्वप्रबन्धस्य दर्शयता मोक्षलक्षणः पुरुषार्थः शान्तोरसश्च मुख्यतया विवक्षाविषयत्वेन सूचितः। एतच्चांशेन विवृतमेवान्यैर्व्याख्या विधायिभिः। स्वयमेव चैतदुद्गीर्णं तेनोदीर्ण महामोहमग्न मुज्जिहीर्षता लोकमतिविमल ज्ञानालोकदायिना लोकनाथेन—

यथा यथा विपर्येति लोकतन्त्रमसारवत्।
तथा तथा विरागोऽत्र जायते नात्र संशयः॥

श्रीधरी—अस्मिन्नर्थानन्त्यहेतौ=अर्थ के अनन्तता के हेतु, व्यंग्यव्यञ्जक भावे=व्यंग्य व्यञ्जक भाव के, विचित्रे=विचित्र होने पर, अपूर्वलाभार्थी कविः=अपूर्व अर्थ के लाभ का इच्छुक कवि, रसादिमय एकस्मिन्=रसादिमय एक, व्यंग्यव्यञ्जक भावे=व्यंग्य व्यञ्जक भाव में, यत्नादवदधीत=यत्नपूर्वक ध्यान दे, हि=क्योंकि, रसभावतदाभास रूपे=रस, भाव, रसाभास, भावाभास रूप, व्यंग्ये=व्यंग्य में, तद्व्यञ्जकेषु च=और व्यञ्जकों में, यथा निर्दिष्टेषु=जैसे निर्देश किये गये, वर्णपदवाक्यरचना प्रबन्धेषु=वर्ण, पद, वाक्य, रचना और प्रबन्धों में, अवहित मनसः=सावधान मन वाले, कवेः=कवि का, सर्वं काव्यं=सारा काव्य, अपूर्व सम्पद्यते=अपूर्व अर्थात् नवीन बन जाता है, तथा च=जैसा कि, रामायण महाभारतादिषु=रामायण महाभारत आदि काव्यों में, सङ्ग्रामादयः=युद्ध आदि, पुनः पुनः अभिहिता अपि=बार-बार कहे जाने पर भी, नवनवाः=प्रकाशन्ते=नये-नये होकर प्रकाशित होते हैं, प्रबन्धे च=और प्रबन्ध काव्य में, एक एव अङ्गी रसः=एक ही अङ्गी रस, उपनिबध्यमानः=ग्रथित होकर, अर्थ विशेषलाभं=अर्थ विशेष के लाभ को, छायातिशयं च पुष्णाति=और सौन्दर्यातिशय को बढ़ाता है, कस्मिन्निवेति चेत्=किसके समान? यदि ऐसा कहो तो, यथा रामायणे=जैसे रामायण में, यथा वा महाभारते=या जैसे महाभारत में, रामायणे हि=रामायण मे, करुणो रसः=करुण रस, स्वयमादिकविना सूचितः=स्वयं आदि कवि बाल्मीकि ने गुम्फित किया है, शोकः श्लोकत्वमागतः इत्येवं वादिना=शोक ही श्लोक रूप में परिणत हो गया, ऐसा कहते हुए, स एव=उन्होंने ही, सीतात्यन्तवियोग पर्यन्तमेव=सीता के अत्यन्त वियोग तक, स्वप्रबन्धमुपरचयता=अपने प्रबन्ध की रचना करते हुए, निर्व्यूढश्च=करुण रस का निर्वाह भी किया है, शास्त्रकाव्यरूपच्छायान्वयिनि=

शास्त्र और काव्य की छाया से युक्त, महाभारतेऽपि=महाभारत में भी, वृष्णिपाण्डवविरसावसान वैमनस्यदायिनीं=यादवों और पाण्डवों के रसहीन अवसान में निर्वेद उत्पन्न करने वाली, समाप्तिमुपनिबध्नता=समाप्ति का उपक्रम करते हुए, महामुनिना=महामुनि भगवान् वेद व्यास ने, वैराग्यजनन तात्पर्यं=वैराग्योत्पत्तिरूप तात्पर्य को, प्राधान्येन स्वप्रबन्धस्य दर्शयता=मुख्य रूप के अपने प्रबन्ध को दिखाते हुए, मोक्षलक्षणः पुरुषार्थः=मोक्ष रूप पुरुषार्थ को, शान्तोरसश्च=शान्त रस को भी, मुख्यतया विवक्षाविषयः त्वेन=मुख्यतः विवक्षा विषय के रूप में, सूचितः=सूचित किया है एतच्चांशेन=और इसे अंश से, अन्यैर्व्याख्याविधायिभिः=अन्य व्याख्याकारों ने, विवृतमेव=स्पष्ट किया ही है, स्वयमेव च=स्वयं ही, तेन उदीर्णं=उन्होंने कहा है, महामोहमग्न लोकमुज्जिहीर्षता=अत्यन्त मोह में पड़े हुए संसार के उद्धार की इच्छा करते हुए, अतिविमलज्ञानालोकं दायिना=अत्यन्त निर्मल ज्ञान के प्रकाश को देने वाले, लोकनाथेन उदीर्णम्=संसार के स्वामी उन्होंने इसे कहा है।

यथा यथा=जैसे जैसे, लोकतन्त्रं=लोक प्रपञ्च, असारवत् विपर्येति=असार रूप में प्रतीत होता जाता है, तथा-तथा=वैसे-वैसे, अत्र=यहाँ, विरागो जायते=वैराग्य उत्पन्न होता है, अत्र संशय. न=इसमें सन्देह नहीं है।

अर्थ—अर्थ के आनन्त्य के लिये व्यंग्य व्यञ्जक भाव के विचित्र होने पर भी अपूर्व अर्थ के लाभ को इच्छुक कवि रसादिमय एक व्यंग्य व्यंजक भाव में यत्नपूर्वक ध्यान दे क्योंकि रस, भाव, रसाभास, भावाभास रूप व्यंग्य में और व्यंजकों में जैसे निर्देश किये गये वर्ण, पद, वाक्य, रचना और प्रबन्धों में दत्तचित्त वाले कवि का पूरा काव्य ही अपूर्व किंवा नवीन बन जाता है। जैसा कि—रामायण, महाभारत आदि काव्यों में संग्राम आदि का वर्णन बार-बार होने पर भी नये-नये होकर प्रकाशित होते हैं और प्रबन्ध काव्य में अङ्गी किंवा मुख्य रस एक ही उपनिबद्ध होकर अर्थ विशेष के लाभ को तथा शोभातिशयिता को वृद्धिंगत करता है।

किस प्रबन्ध के समान? यदि ऐसा कहो तो उत्तर है—रामायण और महाभारत के समान, जैसा कि रामायण में करुण रस को स्वयं आदि कवि वाल्मीकि ने सम्यक्तया गुम्फित किया है और शोक ही श्लोकत्व को प्राप्त हो गया ऐसा प्रतिपादित किया है। उन्होंने ही सीता के अत्यन्त वियोग तक अपने प्रबन्ध काव्य की रचना करते हुए करुण रस का निर्वाह किया है। शास्त्र और काव्य की छाया से युक्त महाभारत में भी यादवों और पाण्डवों के रसहीन अवसान में निर्वेद उत्पन्न कर देने वाली समाप्ति का उपनिबन्धन करते हुए महामुनि वेदव्यास ने वैराग्यजनन रूप तात्पर्य को प्रधान रूप से अपने प्रबन्ध का विषय दिखाते हुए, मोक्ष रूप पुरुषार्थ को तथा शान्तरस को मुख्यतः विवक्षा के विषय के रूप में सूचित किया है। इस बात को अंश रूप से अन्य व्याख्याकारों ने स्पष्ट किया है। स्वयं ही भारी मोह में

पड़े हुए संसार के उद्धार की इच्छा करते हुए, अत्यन्त निर्मल ज्ञान के प्रकाश को देने वाले संसार के स्वामी उन्होंने इसे कहा है—

जैसे-जैसे लोक प्रपञ्च असार रूप मे प्रतीत होता जाता है, वैसे-वैसे वैराग्य उत्पन्न होता जाता है, इसमें सन्देह नहीं है।

इत्यादि बहुशः कथयता। ततश्च शान्तोरसो रसान्तरैर्मोक्षलक्षणः पुरुषार्थः पुरुषार्थान्तरैरस्तदुपसर्जनत्वेनानुगम्यमानोऽङ्गित्वेन विवक्षाविषय इति महाभारत तात्पर्यं सुव्यक्तमेवावभासते मङ्गाङ्गि भावश्च यथा रसानां तथा प्रतिपादित मेव।

श्रीधरी- इत्यादि बहुशः कथयता=इत्यादि बहुत प्रकार से कहते हुए, ततश्च=और इसलिये, शान्तोरसो=शान्त रस, रसान्तरैर्मोक्षलक्षणः=दूसरे रसों से मोक्ष रूप पुरुषार्थ, पुरुषान्तरैरस्तमुपसर्जनत्वेनानुगम्यमानोऽङ्गित्वेन=दूसरे पुरुषार्थों से उन्हें उपसर्जन कर देन के कारण, अगी होकर, विवक्षाविषयः=विवक्षा का विषय है, इति महाभारत तात्पर्यं सुव्यक्तमेवावभासते=यह महाभारत का तात्पर्य स्पष्ट ही परिलक्षित होता है, मङ्गाङ्गिभावश्च यथा=अङ्गाङ्गिभाव जैसा, रसानां=रसों का होता है, तथा प्रतिपादित मेव=वैसा प्रतिपादित किया ही गया है।

अर्थ—इत्यादि बहुत प्रकार से कहते हुए और इसलिये शान्त रस दूसरे रसो से मोक्ष रूप पुरुषार्थ दूसरे पुरुषार्थों से, उन्हें उपसर्जन कर देने के कारण अगी होकर विवक्षा का विषय है, यह महाभारत का तात्पर्य स्पष्ट है ही, अङ्गाङ्गीभाव जैसा रसों का होता है, वैसा प्रतिपादित किया ही गया है।

पारमार्थिकान्तस्तत्वानपेक्षया शरीरस्येनाङ्ग भूतस्य रसस्य पुरुषार्थस्य च स्वप्राधान्येन चारुत्वमप्यविरुद्धम्। ननु महाभारते यावान्विवक्षाविषयः सोऽनुक्रमण्यां सर्व एवानुक्रान्तो न चैतत्तत्र दृश्यते प्रत्युतसर्वपुरुषार्थप्रबोध हेतुत्वं सर्व रसगर्भत्व च महाभारतस्य तस्मिन्नुद्देशे स्वशब्द निवेदितत्वेन प्रतीयते। अत्रोच्यते सत्यं शान्तस्यैव रसस्याङ्गित्वमहाभारते मोक्षस्य च सर्व पुरुषार्थेभ्यः प्राधान्यमित्येतन्न स्व शब्दाभिधेयत्वेनानुक्रमण्यांदर्शितम्, दर्शित तु व्यग्यत्वेन —

'भगवान् वासुदेवश्च कीर्त्यतेऽत्र सनातनः'।

श्रीधरी—पारमार्थिकान्तस्तत्वानपे क्षया=पारमार्थिक आभ्यन्तर तत्व की अपेक्षा न करके, शरीरस्येवाङ्गभूतस्य=शरीर की तरह अग रूप, रसस्य=रस का, पुरुषार्थस्य च=और पुरुषार्थ का, स्व प्राधान्येन=अपने प्राधान्य से, चारुत्वमप्यविरुद्धम्=चारुत्व भी अविरुद्ध है, ननु महाभारते=महाभारत मे, यावान्विवक्षा विषयः=जितना कुछ विवक्षा का विषय है, सोऽनुक्रमण्यां=वह अनुक्रमणी में, सर्व एवानुक्रान्तः=सब कुछ निर्दिष्ट है, न चैतत्तत्र दृश्यते=यह वहां दृष्टिगत नहीं होता, प्रत्युत=अपितु, सर्व पुरुषार्थ प्रबोध हेतुत्वं=सब पुरुषार्थों के ज्ञान का हेतुत्व,

सर्वरस गर्भत्वं च=और सब रस गर्भत्व, महाभारतस्य तस्मिन्नुद्देशे=महाभारत के उस प्रकरण में, स्व शब्द निवेदितत्वेन=अपने शब्द द्वारा निवेदित होने के रूप में, प्रतीयते=प्रतीत होता है. अत्रोच्यते=यहाँ यह कहते हैं, सत्य=ठीक है. महाभारते=महाभारत में, शान्तस्यैव रसस्याङ्गित्वं=शान्त रस का ही अंगित्व मोक्षस्य च=और मोक्ष का. सर्व पुरुषार्थेभ्यः=सब पुरुषार्थों से, प्राधान्यं=प्राधान्य, इत्येतत्=यह, स्वशब्दाभिधेयत्वेन=अपने शब्द द्वारा अभिधेय रूप में, अनुक्रमण्या न दर्शितम्=अनुक्रमणी में नहीं दिखाया है, व्यंग्यत्वेन दर्शितम्=व्यंग्य रूप में दिखाया है. च=और, सनातनः भगवान् वासुदेवः=सनातन भगवान् कृष्ण की, अत्र कीर्त्यते=महिमा गाई गई है।

अर्थ—पारमार्थिक तत्त्व की अपेक्षा न करके शरीर की तरह अंग रूप रस का और पुरुषार्थ का अपने प्राधान्य से चारुत्व भी अविरुद्ध है। महाभारत में तो जितना कुछ विवक्षा का विषय है, वह अनुक्रमणी में सब कुछ निर्दिष्ट है, यह बात नहीं दिखाई देती, अपितु सब पुरुषार्थों के ज्ञान का हेतुत्व और सर्व रस गर्भत्व महाभारत के उस प्रकरण में अपने शब्द द्वारा निवेदित होने के रूप में प्रतीत होता है।

यहाँ कहते हैं कि—ठीक है, महाभारत में शान्त रस का अंगित्व और मोक्ष का सब पुरुषार्थों से प्राधान्य, यह अपने शब्द द्वारा अभिधेय रूप में अनुक्रमणी में नहीं दिखाया गया है, किन्तु व्यंग्य रूप में दिखाया गया है और सनातन भगवान् वासुदेव की यहाँ कीर्ति गाई गई है।

इत्यस्मिन् वाक्ये। अनेन ह्ययमर्थो व्यंग्यत्वेन विवक्षितो यदत्र महाभारते पाण्डवादि चरितं यत्कीर्त्यते तत्सर्वमवसानविरसमविद्याप्रपञ्चरूपञ्च, परमार्थसत्यस्वरूपस्तु भगवान् वासुदेवोऽत्र कीर्त्यते। तस्मात्तस्मिन्नेव परमेश्वरे भगवति भवत भावितचेतसो मा भूतविभूतिषु निःसारासु रागिणो गुणेषु वा नयविनयपराक्रमादिष्वमीषु केवलेषु केषुचित्सर्वात्मना प्रतिनिविष्टधियः। तथा चाग्रे-पश्यत निःसारतां संसारस्येत्यमुमेवार्थं द्योतयन् स्फुटमेवावभासते व्यञ्जकशक्त्यनुगृहीतश्च शब्दः। एवं विधमेवार्थं गर्भीकृतं सन्दर्शयन्तोऽनन्तर श्लोका लक्ष्यन्ते—'स हि सत्यम्' इत्यादयः।

दीधिती—इत्यस्मिन् वाक्ये=इस वाक्य में. अनेन ह्ययमर्थो व्यंग्यत्वेन विवक्षितो=इससे यह अर्थ व्यंग्य रूप में विवक्षित है. यत् अत्र, कि, यहाँ महाभारते=यहाँ महाभारत में, पाण्डवादि चरितं=पाण्डवादि चरित, यत्कीर्त्यते=जो कहे गये तत्सर्वं=वे सब, अवसान विरस=अवसान में रसहीन. अविद्या प्रपञ्च रूपञ्च=और अविद्या के कारण प्रपञ्च रूप हैं. परमार्थ सत्यस्वरूपस्तु=किन्तु सात्त्विक रूप से सत्य स्वरूप, भगवान् वासुदेवोऽत्र कीर्त्यते=भगवान् कृष्ण की महिमा यहाँ गाई गई है. तस्मात्तस्मिन्नेव परमेश्वरे भगवति=इसलिये उसी परमेश्वर भगवान् में,

भवद्भावित चेतसो—भाव भरे चित्त वाले बनो, निःसारासु विभूतिषु—सारहीन विभूतियों में, रागिणो—रागयुक्त, वा—अथवा, नयविनय पराक्रमादिष्वमीषु—नय, विनय, पराक्रम आदि इन, केवमेषु केषुचित् गुणेषु—केवल कुछ गुणों में, सर्वात्मना—सब तरह से, प्रतिनिविष्ट धियः—अभिनिविष्ट बुद्धि वाले, मा भूत—मत हो, तथाचाग्रे—और वैसे आगे, समारस्य निःसारतां पश्यत—संसार की सारहीनता को देखो, अमुमेवार्थं द्योतयन्—इसी अर्थ को द्योतित करता हुआ, स्फुटमेव—स्पष्ट ही, व्यञ्जकशक्त्यनुगृहीतश्चशब्दः प्रवभासते—व्यञ्जक शक्ति से अनुगृहीत शब्द प्रतीत होता है, अनन्तर श्लोकाः—बाद के श्लोक, एवं विधं गर्भीकृत अर्थं—इस प्रकार के गर्भीकृत अर्थ को, सन्दर्शयन्तः—प्रकट करते हुए, लक्ष्यन्ते—दृष्टिगोचर होते हैं हि—क्योंकि, स सत्यम् इत्यादि—वही सत्य है इत्यादि।

अर्थ— इस वाक्य में, इससे यह अर्थ व्यंग्य रूप में विवक्षित है कि यहाँ महाभारत में पाण्डवादि चरित जो कहे गये हैं, वे सब अवमान में रसहीन और अविद्या के कारण प्रपञ्च रूप हैं, किन्तु परमार्थ सत्य स्वरूप भगवान् वासुदेव की यहाँ महिमा गाई गई है, इसलिये उसी परमेश्वर भगवान् में भावपूर्ण मन वाले बनो, सारहीन विभूतियों में रागयुक्त अथवा नय, विनय, पराक्रम आदि केवल कुछ ही गुणों में हर प्रकार से अभिनिविष्ट बुद्धि वाले मत हों और वैसे आगे 'संसार की सारहीनता देखो।' इसी अर्थ को द्योतित करता हुआ स्पष्ट ही व्यञ्जक शक्ति से अनुगृहीत शब्द प्रतीत होता है। बाद के श्लोक इसी प्रकार के गर्भीकृत अर्थ को बताते हुए दृष्टिगोचर होते हैं, 'क्योंकि यह सत्य है० इत्यादि।'

अयं च निगूढरमणीयोऽर्थो महाभारतावसाने हरिवंश वर्णनेन समाप्तिं विदधता तेनैव कविवेधसा कृष्णद्वैपायनेन, सम्यक्स्फुटीकृतः। अनेन चार्थेन संसारातीते तत्त्वान्तरे भक्त्यतिशयं प्रवर्तयता सकल एव सांसारिको व्यवहारः पूर्वपक्षीकृतो न्यक्षेण प्रकाशते। देवतातीर्थतपःप्रभृतीनां च प्रभावातिशय वर्णनं तस्यैव परब्रह्मणः प्राप्त्युपायत्वेन तद्विभूतित्वेनैव देवताविशेषाणामन्येषां च। पाण्डवादि चरित वर्णनस्यापि वैराग्यजनन तात्पर्याद्वैराग्यस्य च मोक्षमूलत्वा-मोक्षस्य च भगवत्प्राप्त्युपायत्वेन मुख्यतया गीतादिषु प्रदर्शितत्वात्परब्रह्म प्राप्त्युपायत्वमेव परम्परया। वासुदेवादि सञ्ज्ञाभिधेयत्वेन चा परिमित शक्त्यास्पदं परं ब्रह्म गीतादि प्रदेशान्तरेषु तदभिधानत्वेन लब्ध प्रसिद्धि माथुर प्रादुर्भावानुकृत सकल स्वरूपं विवक्षितं न तु माथुर प्रादुर्भावांश एव सनातन शब्द विशेषितत्वात्। रामायणादिषु चानया सञ्ज्ञया भगवन्मूर्त्यन्तरे व्यवहार द[illegible]। निर्णीतश्चायमर्थः शब्दतत्वविद्भिरेव— [illegible]

चौधरी—अयं च निगूढरमणीयोऽर्थो = और यह निगूढ एवं रमणीय अर्थ, महाभारतावसाने = महाभारत के अन्त में, हरिवंशवर्णनेन = हरिवंश के वर्णन से, समाप्तिं विदधता = समाप्ति करते हुए, तेनैव कविवेधसा = उसी कवि सम्राट, कृष्ण द्वैपायनेन = वेदव्यास ने, सम्यक्स्फुटीकृतः = सम्यक्तया स्पष्ट किया है, अनेन चार्थेन = और इस अर्थ से, संसारातीते तत्त्वान्तरे = अलौकिक तत्त्वान्तर में, भक्त्यतिशयं प्रवर्तयता = अतिशय भक्ति को प्रवृत्त करते हुए, सकल एव सांसारिको व्यवहारः = सारा ही सांसारिक व्यवहार, पूर्वपक्षीकृतो न्यक्षेण प्रकाशते = पूर्व पक्षीकृत होकर पूर्ण रूप से प्रकाशित है, देवतातीर्थतपः प्रभृतीनां = देवताओं, तीर्थों, तपस्याओं आदि का, प्रभावातिशयवर्णनं = अतिशय प्रभाव का वर्णन, तस्यैव परब्रह्मणः प्राप्त्युपायत्वेन = उसी परमात्मा की प्राप्ति के उपाय के रूप में है तद्विभूतित्वेन = उसी की विभूति के रूप में, देवताविशेषाणां अन्येषां च = देवता विशेष किंवा अन्य के अतिशय प्रभाव का वर्णन है, पाण्डवादिचरितवर्णनस्यापि = पाण्डव आदि के चरित के वर्णन का भी, वैराग्यजननं तात्पर्यं वैराग्यस्य च = तात्पर्य वैराग्य का जनन होने से और वैराग्य का, मोक्षमूलत्वात् = मूल मोक्ष होने से, मोक्षस्य च भगवत्प्राप्त्युपायत्वेन = मोक्ष का भगवान् की प्राप्ति के उपाय होने से, मुख्यतया गीतादिषु = मुख्य रूप से गीता आदि ग्रन्थों में, प्रदर्शितत्वात्परब्रह्मप्राप्त्युपायत्वेनपरम्परया = प्रदर्शित होने के कारण परम्परया परब्रह्म प्राप्ति का उपाय ही है, वासुदेवादिसञ्ज्ञाभिधेयत्वेन च = वासुदेव आदि संज्ञाओं द्वारा अभिधेय होने के कारण अपरिमितशक्त्यास्पदं = अपरिमित शक्ति का प्रतिष्ठान, परं ब्रह्म गीतादिप्रदेशान्तरेषु = परात्पर ब्रह्म गीता आदि दूसरे स्थानों में, तदभिधानत्वेन = उसी संज्ञा से, लब्धप्रसिद्धि = उसके प्रसिद्ध होने के कारण, माथुर प्रादुर्भावानुकृतसकलस्वरूपं विवक्षितं = मथुरा में प्रादुर्भाव के अवसर में प्राप्त समग्र स्वरूप युक्त विवक्षित है, न तु माथुर प्रादुर्भावांश एव = न कि मथुरा में प्रादुर्भूत हुए कृष्ण का अंश मात्र विवक्षित है, सनातन शब्द विशेषितत्वात् = क्योंकि 'सनातन' इस विशेषण रूप शब्द से विशेषित है, रामायणादिषु च = और रामायण आदि में, अनया संज्ञया = इस सञा से, भगवन्मूर्त्यन्तरे व्यवहार दर्शनात् = भगवान् की अन्य मूर्ति के विषय में व्यवहार देखा जाता है, निर्णीतश्चायमर्थः = और इस अर्थ का निर्णय, शब्दतत्त्वविद्भिरेव = शब्द तत्त्व के ज्ञाताओं ने किया ही है।

अर्थ—और यह निगूढ एवं रमणीय अर्थ—महाभारत के अन्त में हरिवंश वर्णन से समाप्ति करते हुए उसी महाकवि कृष्ण द्वैपायन ने सम्यक्तया स्पष्ट कर दिया है और इस अर्थ से अलौकिक तत्त्वान्तर में अधिक भक्ति को प्रवृत्त करते हुए सारा ही सांसारिक व्यवहार पूर्वपक्षी कृत होकर पूर्ण रूप से प्रकाशित है और देवताओं, तीर्थों, तपों आदि का एवं उस परब्रह्म की विभूति के रूप में देवता विशेष और अन्य के अतिशय प्रभाव का वर्णन उसी परब्रह्म की प्राप्ति के उपाय के रूप में है, पाण्डव आदि के चरित्र के वर्णन का भी तात्पर्य वैराग्योत्पत्तिजनक होने से

और वैराग्य का मूल मोक्ष के होने से तथा मोक्ष का भगवान् की प्राप्ति का उपाय होने से मुख्य रूप से गीता आदि ग्रन्थो में प्रदर्शित होने के कारण परम्परया पाण्डवादि चरित का वर्णन परब्रह्म की प्राप्ति का उपाय ही है और वासुदेव आदि संज्ञाओ द्वारा अभिधेय होने के कारण अपरिमित शक्ति का प्रतिष्ठान, परात्पर ब्रह्म गीता आदि दूसरे स्थानो मे उसी संज्ञा से उसके प्रसिद्ध होने के कारण, मथुरा में प्रादुर्भाव के अवसर में प्राप्त समग्र स्वरूप युक्त विवक्षित है, न कि मथुरा में प्रादुर्भूत कृष्ण का अंश मात्र विवक्षित है क्योंकि 'सनातन' इस विशेषण रूप शब्द से विशेषित है और रामायण आदि में इस संज्ञा से भगवान् की अन्य मूर्ति के विषय मे व्यवहार देखा जाता है और इस अर्थ का निर्णय शब्द तत्व वेत्ताओं ने ही किया है।

तदेवमनुक्रमणीनिर्दिष्टेन वाक्येन भगवद्व्यतिरेकिणः सर्वस्यान्यस्यानित्यतां प्रकाशयता मोक्षलक्षणः एवैकः परः पुरुषार्थः शास्त्रनये, काव्यनये च तृष्णाक्षयसुखपरिपोषलक्षणः शान्तो रसो महाभारतस्याङ्गित्वेन विवक्षित इति सुप्रतिपादितम्। अत्यन्तसारभूतत्वाच्चायमर्थो व्यंग्यत्वेनैवदर्शितो न तु वाच्यत्वेन। सारभूतोह्ययं स्वशब्दानभिधेयत्वेन प्रकाशितः सुतरामेव शोभावहति। प्रसिद्धिश्चेयमस्त्येव विदग्ध विद्वत्परिषत्सु यदभिमततरं वस्तु व्यंग्यत्वेन प्रकाश्यते न साक्षाच्छब्दवाच्यत्वेन। तस्मात्स्थित मेतत्—अंगिभूतरसाद्याश्रयेण काव्ये क्रियमाणे नवार्थलाभो भवति बन्धच्छाया च महती सम्पद्यत इति। अत एव च रसानुगुणार्थविशेषोपनिबन्धमलङ्कारान्तर विरहेऽपि छायातिशययोगि लक्ष्ये दृश्यते। यथा—

मुनिर्जयति योगीन्द्रो महात्मा कुम्भसम्भवः।
येनैकचुलुके दृष्टौ दिव्यौ मत्स्य कच्छपौ॥

इत्यादौ।

श्रीधरी—तद्=तो, एव=इस प्रकार, अनुक्रमणी निर्दिष्टेन=अनुक्रमणी मे निर्दिष्ट, वाक्येन=वाक्य से, भगवद् व्यतिरेकिणः=भगवान् के अतिरिक्त, सर्वस्यान्यस्यानित्यता प्रकाशयता=अन्य सबकी अनित्यता को प्रकाशित करते हुए, मोक्षलक्षण.=मोक्ष रूप, एवैकः पर. पुरुषार्थः=अन्तिम पुरुषार्थ, शास्त्रनयेकाव्यनये च=शास्त्र दृष्टि से और काव्य दृष्टि से, तृष्णाक्षयसुख परिपोषलक्षणः=तृष्णा के क्षय से उत्पन्न परिपुष्ट सुखरूप, शान्तो रसो=शान्त रस, महाभारतस्याङ्गित्वेन विवक्षित इति सुप्रतिपादितम्=महाभारत के अंगी रस के रूप मे विवक्षित है, यह अच्छी तरह प्रतिपादित किया जा चुका है, अत्यन्त सारभूतत्वाच्चायमर्थो=और अत्यन्त सारभूत होने के कारण यह अर्थ, व्यंग्यत्वेनैव दर्शितो न तु वाच्यत्वेन=व्यंग्य रूप से ही दिखाया गया है न कि वाच्य रूप से, हि=क्योंकि, सारभूतो अर्थः=

सारभूत अर्थ, स्वशब्दानभिधेयत्वेनप्रकाशितः=अपने शब्द से अनभिधेय रूप से प्रकाशित होकर, सुतरामेव शोभामवहति=सुतरां शोभा को प्राप्त करता है, विदग्धपरिषत्सु=विदग्धों किंवा विद्वानों की सभाओं मे, प्रसिद्धिश्चेयमस्त्येव=यह प्रसिद्धि है ही, यद्=कि, अभिमततरं वस्तु=प्रियतर वस्तु को, व्यङ्ग्यत्वेन प्रकाश्यते=व्यंग्य रूप में प्रकाशित किया जाता है, न साक्षाच्छब्दवाच्यत्वेन=न कि साक्षात् शब्द द्वारा वाच्य से, तस्मात्स्थितमेतत्=इसलिये यह स्थिर हुआ, अङ्गिभूतरसाद्याश्रयेण=अंगीभूत रस आदि के आश्रय से, काव्ये क्रियमाणे=काव्य रचे जाने पर, नवार्थलाभो भवति=नये अर्थ का लाभ होता है, बन्धच्छाया च महती सम्पद्यते=और काव्य की शोभा अत्यधिक बढ़ जाती है, अतएव च=और इसलिये, रसानुगुणार्थविशेषोपनिबन्धमलङ्कारान्तर विरहेऽपि=रसानुरूप अर्थ विशेष का उपनिबन्धन अलंकारान्तर के अभाव मे भी, लक्ष्ये=काव्य मे, छायातिशय योगि दृश्यते=अतिशय शोभायुक्त दृष्टिगोचर होता है, यथा=जैसे—

योगीन्द्रः=योगियों में श्रेष्ठ, महात्मा कुम्भसम्भवः=महात्मा अगस्त्य की, जयति=जय हो, येन=जिन्होंने, एक चुलुके=एक चुल्लू में, तौ दिव्यौ=उन दिव्य, मत्स्यकच्छपौ=मत्स्य और कच्छप को, दृष्टौ=देख लिया।

इत्यादौ=इत्यादि में।

अर्थ—तो इस प्रकार भगवान् के अतिरिक्त सबकी अनित्यता को प्रकाशित करते हुये अनुक्रमणी मे निर्दिष्ट वाक्य से मोक्ष रूप ही एक अन्तिम पुरुषार्थ शास्त्र दृष्टि से विवक्षित है और काव्य दृष्टि से तृष्णा के क्षय से उत्पन्न सुख का परिपोष रूप शान्त रस महाभारत के अंगी के रूप में विवक्षित है, यह सम्यक्तया प्रतिपादित किया जा चुका है और अत्यन्त सारभूत होने के कारण यह अर्थ व्यंग्य रूप में ही दिखाया गया है, न कि वाच्य रूप से क्योंकि सारभूत अर्थ अपने शब्द से अनभिधेय रूप से प्रकाशित होकर सुतरां शोभा को प्राप्त करता है तथा विदग्धों किंवा विद्वज्जनो की परिषदों मे यह प्रसिद्धि है ही कि प्रियतर वस्तु को व्यंग्य रूप से ही प्रकाशित किया जाता है न कि साक्षात् शब्द द्वारा वाच्य रूप से। अतः वह स्थिर हुआ कि अंगीभूत रसादि के आश्रय से काव्य रचे जाने पर नये अर्थ का लाभ होता है और काव्य की शोभा अत्यधिक हो जाती है और इसीलिये रस के अनुरूप अर्थ विशेष का उपनिबन्ध अलंकारान्तर के अभाव में भी काव्य में अतिशय शोभायुक्त दृष्टिगोचर होता है। जैसे—

योगियों में श्रेष्ठ महात्मा अगस्त्य मुनि की जय हो जिन्होंने एक ही चुल्लू मे उन दिव्य मत्स्य और कच्छप को देख लिया। इत्यादि में।

अत्र ह्यद्भुतरसानुगुणमेक चुलुके मत्स्य कच्छपदर्शनं छायातिशयं पुष्णाति, तत्र ह्येकचुलके सकल जलधिसन्निधानादपिदिव्यमत्स्यकच्छप-दर्शनमक्षुण्णत्वादद्भुत रसानुगुणतरम्। क्षुण्णं हि वस्तु लोके प्रसिद्धयाद्-

द्भुतमपि नाश्चर्यकारि भवति । न चाक्षुण्णं वस्तूपनिबध्यमानमद्भुत-रसस्यैवानुगुणंयावद्रसान्तरस्यापि । तद्यथा—

सिज्जइ रोमाञ्चिज्जइ वेवइ रत्थातुलग्ग पडिलग्गो ।
सोपासो अज्ज वि सुहअ जेणासि वोलीणो ॥

एतद्गाथार्थाद्भाव्यमानाद्या रसप्रतीतिर्भवति, सा त्वां स्पृष्ट्वा स्विद्यति रोमाञ्चते वेपते इत्येवं विधादर्थात्प्रतीयमानान्मनागपि नो जायते ।

श्रीधरी—अत्र=यहाँ, अद्भुत रसानुगुणमेकचुलके=अद्भुत रस के अनुकूल एक चुल्लू मे, मत्स्य कच्छप दर्शनं=मत्स्य और कच्छप का दर्शन, छायातिशयं पुष्णाति=अतिशय शोभा का पोषण करता है, तत्र=वहाँ, एक चुलके=एक चुल्लू में, सकल जलधि सन्निधानादपि=पूरे समुद्र के सन्निधान से भी, दिव्य मत्स्य कच्छप दर्शन=दिव्य मत्स्य और कच्छप का दर्शन, अक्षुण्णत्वात्=अभ्यस्त न होने के कारण, अद्भुत रसानुगुणतरम्=अद्भुत रस के अधिक अनुकूल है, हि=क्योंकि, क्षुण्णं वस्तु=अभ्यस्त वस्तु, लोकप्रसिद्धयाद्=लोक प्रसिद्धि के कारण, अद्भुतमपि= अद्भुत होने पर भी, आश्चर्यकारि न भवति=आश्चर्योत्पादक नहीं होती, च= और, अक्षुण्णं वस्तु=अनभ्यस्त वस्तु का, उपनिबध्यमानं=उपनिबन्धन, अद्भुत रसस्यैवानुगुण न=केवल अद्भुत रस के ही अनुकूल नही होता, यावद्रसान्तर-स्यापि=अपितु दूसरे रस के भी, तद्यथा=वह जैसे—

हे सुभग=हे सुन्दर, रथ्यायां=गली मे, तुलाग्र प्रतिलग्नः=संयोगवश छुआ हुआ (मेरी सखी का) स पार्श्वः=वह पार्श्व भाग, येनात्यतिक्रान्तः=जब तुम चले गये थे, अद्यापि=अब भी, स्विद्यति=स्वेदयुक्त, रोमाञ्चते=रोमाञ्चयुक्त, वेपते=और कम्पयुक्त हो रहा है ।

एतद्गाथार्थाद्भाव्यमानात्=इस गाथा के भावित होते हुए अर्थ से, या रस प्रतीतिर्भवति=जो रस की प्रतीति होती है, सा=वह, त्वां स्पृष्ट्वा=तुम्हारा स्पर्श करके, स्विद्यति=पसीज जाती है, रोमाञ्चते=रोमाञ्चित हो जाती है, वेपते= कांपन लगती है, इत्येव विधादर्थात्=इस प्रकार के अर्थ प्रतीत होने से, मनागपि नो जायते=जरा भी उत्पन्न नहीं होता ।

अर्थ—यहाँ अद्भुत रस के अनुकूल एक चुल्लू में मत्स्य और कच्छप का दर्शन अधिक शोभातिशय का पोषण करता है । यहाँ एक चुल्लू में पूरे समुद्र के सन्निधान से भी दिव्य मत्स्य और कच्छप का दर्शन अभ्यस्त न होने के कारण अद्भुत रस के अधिक अनुकूल है क्योंकि अभ्यस्त वस्तु लोक की प्रसिद्धि के कारण अद्भुत होकर भी आश्चर्यकारी नहीं होती और अनभ्यस्त वस्तु का उपनिबन्धन केवल अद्भुत रस के ही अनुकूल नही होता, अपितु दूसरे रस के भी अनुकूल होता है । जैसे—

हे सुन्दर ! मेरी सखी का वह पार्श्व भाग जो गली में तुमसे अनजाने में छू गया था, और तुम चले गये थे, आज भी स्वेद, रोमाञ्च और कम्प से युक्त हो जाता है।

इस गाथा के भावित होते हुए अर्थ से, जो रस की प्रतीति होती है वह तुम्हें स्पर्श करके पसीना आती है, रोमाञ्चित हो जाती है और कांपने लगती है, इस प्रकार के प्रतीत हुये अर्थ से जरा भी उत्पन्न नहीं होती है।

तदेवं ध्वनिप्रभेद समाश्रयेण यथा काव्यार्थानां नवत्वं जायते तथा प्रतिपादितम् गुणीभूतव्यंग्यस्यापि त्रिभेद व्यंग्यापेक्षया ये प्रकारा स्तत्समाश्रयेणापि काव्य वस्तूनां नवत्वं भवत्येव। तत्त्वति विस्तार कारीति नो दाहृत सहृदयैः स्वयमुत्प्रेक्षणीयम्।

श्रीधरी—तदेवं=तो इस प्रकार, ध्वनिप्रभेद समाश्रयेण=ध्वनि प्रभेद के समाश्रयण से, यथा काव्यार्थानां=जैसे काव्य के अर्थों का नवत्वं जायते=नवत्व हो जाता है, तथा प्रतिपादितम्=वैसा प्रतिपादित किया गया, गुणीभूतव्यंग्यस्यापि=गुणीभूत व्यंग्य के भी, त्रिभेदव्यंग्यापेक्षया=तीन भेद वाले व्यग्य की अपेक्षा से, ये प्रकाराः=जो प्रकार हैं, तत्समाश्रयेणापि=उनके समाश्रयण से भी, काव्य वस्तूनां=काव्य की वस्तुओं का, नवत्वं भवत्येव=नवत्व हो ही जाता है, तत्तु=वह तो, अतिविस्तार कारीति=अधिक विस्तार करेगा इसलिये, नोदाहृतम्=उदाहरण नहीं दिया, सहृदयैः स्वयमुत्प्रेक्षणीयम्=सहृदयों को स्वयं उसकी उत्प्रेक्षा कर लेनी चाहिए।

अर्थ—तो इस प्रकार ध्वनि प्रभेद के समाश्रयण से जैसे काव्य के अर्थों का नवत्व हो जाता है उस प्रकार प्रतिपादन किया। गुणीभूत व्यंग्य के भी तीन भेद वाले व्यंग्य की अपेक्षा से जो प्रकार हैं उनके समाश्रयण से काव्य की वस्तुओं का नवत्व हो ही जाता है। वह तो अधिक विस्तृत हो जायेगा, इसलिये उसके उदाहरण नहीं दिये। सहृदयों लोगों को स्वयं ही उसका उत्प्रेक्षण कर लेना चाहिए।

ध्वनेरित्थं गुणीभूत व्यंग्यस्य च समाश्रयात्।
न काव्यार्थ विरामोऽस्ति यदिस्यात्प्रतिभागुणः॥६॥

सत्स्वपि पुरातन कवि प्रबन्धेषु यदि स्यात्प्रतिभागुणः, तस्मिस्त्वसति न किञ्चिदेव कवेर्वस्त्वस्ति। बन्धच्छायाप्यर्थद्वयानुरूपशब्दसन्निवेशोऽर्थ प्रतिभानाभावे कथमुपपद्यते। अनपेक्षितार्थ विशेषाक्षररचनैव बन्धच्छायेति नेदं नेदीयः सहृदयानाम्, एवं हि सत्यर्थानपेक्षचतुर मधुरवचन रचनायामपि काव्य व्यपदेश प्रवर्तेत। शब्दार्थयोः साहित्येन कथं तथा विधे विषये काव्य व्यवस्थेति चेत्—परोप निबद्धार्थ विरचने यथा तत्काव्यत्व व्यवहारस्तथा तथा विधानां काव्य सन्दर्भाणाम्।

श्रीधरी—ध्वने:=ध्वनि के, गुणीभूत व्यंग्यस्य च=और गुणीभूत व्यंग्य के, इत्थ=इस प्रकार, समाश्रयात्=समाश्रयण से, काव्यार्थं विरामो न=काव्य के अर्थ का विराम नहीं है, यदि प्रतिभागुण: स्यात्=यदि प्रतिभा रूप गुण हो।

पुरातन कवि प्रबन्धेषु सत्स्वपि=पुराने कवियों के प्रबन्धों के होने पर भी, यदि प्रतिभा गुण: स्यात्=यदि प्रतिभा रूप गुण हो, तस्मिंस्त्वसति=उसके न होने पर, कवे:=कवि के लिये, किञ्चिदेव वस्तु न अस्ति=कोई वस्तु नहीं है, उभयार्थानुरूपशब्द सन्निवेश:=दोनों अर्थों अर्थात् ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य के अनुरूप शब्द का सन्निवेश रूप, बन्धच्छाया अपि=बन्धच्छाया भी, अर्थ प्रतिभानाभावे=अर्थ के प्रतिभान के अभाव मे, कथमुपपद्यते=कैसे बन सकती है, अनपेक्षितार्थ विशेषाक्षररचनैव=अर्थ की अपेक्षा न करके अक्षर रचना ही, बन्धच्छाया=बन्धच्छाया है, इति इदं सहृदयानां नेदीय:=यह बात सहृदयों के निकटतर नहीं है, हि=क्योंकि, एवं सति=ऐसा होने पर, अर्थानिपेक्ष=अर्थ की अपेक्षा न रखने वाले, चतुर मधुर वचन रचनायामपि=चतुर और मधुर वचन की रचना में भी, काव्यव्यपदेश:=काव्य का व्यवहार, प्रवर्तेत=चल पड़ेगा, शब्दार्थयो: साहित्येन=शब्द और अर्थ के सहयोग से, काव्यत्वे=काव्य के होने पर, कथं=कैसे, तथाविधे विषये=उस प्रकार के विषय मे, काव्य व्यवस्थेति चेत्=काव्य की व्यवस्था कैसे होगी, यह कहते हो तो, (उत्तर है) परोपनिबद्धार्थ विरचने=दूसरे के द्वारा उपनिबद्ध अर्थ के बनाने में, यथा तत्काव्यत्व व्यवहार:=जैसे वह काव्य का व्यवहार है, तथा=वैसे, तथाविधानां काव्यसन्दर्भाणाम्=उस प्रकार अर्थ की अपेक्षा न रखने वाले काव्य सन्दर्भों का।

अर्थ—ध्वनि के और गुणीभूत व्यंग्य के इस प्रकार समाश्रय होने से काव्य के अर्थ का विराम नहीं है यदि प्रतिभा रूप गुण हो।

पुराने कवियों के प्रबन्धों के होने पर भी, यदि प्रतिभा रूप गुण हो, उसके न होने पर कवि के लिये कोई वस्तु नहीं है। दोनों अर्थों (ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य) के अनुरूप शब्द का सन्निवेश रूप बन्धच्छाया भी अर्थ के प्रतिभान के अभाव में कैसे बन सकती है? अर्थ की अपेक्षा न करके अक्षर रचना ही बन्धच्छाया है, यह सहृदयों के निकटतर नहीं है क्योंकि ऐसा होने पर अर्थ की अपेक्षा न रखने वाले चतुर और मधुर वचन की रचना मे भी काव्य का व्यवहार चल पड़ेगा। शब्द और अर्थ के सहभाव से काव्यत्व के होने पर कैसे उस प्रकार के विषय में काव्य की व्यवस्था होगी? इस प्रश्न के उत्तर मे कहा जा सकता है कि—दूसरे के द्वारा उपनिबद्ध अर्थ के बनाने मे जैसे वह काव्य व्यवहार है, वैसे उस प्रकार अर्थ की अपेक्षा न रखने वाले काव्य सन्दर्भों का भी है।

न चार्थानन्त्यं व्यंग्यार्थापेक्षयैव यावद्वाच्यार्थापेक्षयापीति प्रतिपादयितुमुच्यते—

अवस्यादेशकालादि विशेषैरपि जायते ।
आनन्त्यमेव वाच्यस्य शुद्धस्यापि स्वभावतः ॥७॥

शुद्धस्यानपेक्षित व्यंग्यस्यापि वाच्यस्यानन्त्यमेव जायते स्वभावत । स्वभावोह्यय वाच्यानां चेतनानामचेतनानां च यदवस्थाभेदाद् शभेदात्काल भेदात्स्वालक्षण्यभेदाच्चानन्तता भवति । तैश्च तथा व्यवस्थितैः सद्भिः प्रसिद्धानेकस्वभावानुसरणरूपया स्वभावोक्त्यापि तावदुपनिबध्यमाननिरवधिः काव्यार्थः सम्पद्यते । तथा ह्यवस्थाभेदान्नवत्व यथा भगवती पार्वती कुमारसम्भवे 'सर्वोपमाद्रव्य समुच्चयेन' इत्यादिभिरुक्तिभिः प्रथम मेव परिसमापित रूप वर्णनापि पुनर्भगवतः शम्भोर्लोचनगोचरमायान्ती 'वसन्त पुष्पाभरणं वहन्ती' मन्मथोपकरणभूतेन भंग्यन्तरेणोपवर्णिता । सैव च पुनर्नवोद्वाहसमये प्रसाध्यमाना 'तां प्राङ्मुखीं तत्र निवेश्य तन्वीम्' इत्याद्युक्तिभिर्निर्विनैव प्रकारेण निरूपित सौष्ठवा । न च ते तस्य कवेरेकत्रैवासकृत्कृता वर्णन प्रकारा अपुनरुक्तत्वेन वा नव नवार्थनिर्भरत्वेन वा प्रतिभासन्ते । दर्शितमेव चैतद्विषम बाणलीलायाम्—

श्रीधरी—न चार्थानन्त्यं व्यंग्यापेक्षयैव = न केवल अर्थ का आनन्त्य व्यंग्य अर्थ की अपेक्षा से ही है, यावत् = अपितु, वाच्यार्थापेक्षयापि = वाच्य अर्थ की अपेक्षा से भी है, इति प्रतिपादयितु = यह प्रतिपादन करने के लिये, उच्यते = कहते हैं—

अवस्यादेशकालादि विशेषैरपि = अवस्था, देश, काल आदि के भेदों से भी, स्वभावतः शुद्धस्यापि = स्वभाव से शुद्ध भी, वाच्यस्य आनन्त्यमेव = वाच्य का आनन्त्य ही होता है ।

शुद्धस्यानपेक्षितव्यंग्यस्यापि = व्यंग्य की अपेक्षा न रखने वाले भी, वाच्यस्यानन्त्यमेव जायते स्वभावतः = वाच्य का आनन्त्य ही स्वभावतः उत्पन्न होता है, हि = क्योंकि, अय = यह, चेतनानां अचेतनानां च = चेतनों और अचेतनो का, स्वभावः = स्वभाव है, यद् = कि, अवस्था भेदाद् शभेदात्काल भेदात् = अवस्था के भेद से, देश के भेद से, काल के भेद से, स्वालक्षण्यभेदाच्चानन्तता भवति = और स्वालक्षण्य के भेद से अनन्तता होती है, तैश्च = और उनके, तथाव्यवस्थितैः सद्भिः = उस प्रकार व्यवस्थित होने से, प्रसिद्धानेक स्वभावानुसरणरूपया = प्रसिद्ध अनेक स्वभावो के अनुसरण रूप वाली, स्वभावोक्त्यापि = स्वभावोक्ति से भी, तावदुपनिबध्यमानैः = उपनिबध्यमान वाच्यार्थों से, निरवधि काव्यार्थ सम्पद्यते = अवधिशून्य काव्यार्थ सम्पन्न होता है, अवस्थाभेदान्नवत्व यथा = अवस्था के भेद से नवत्व जैसे, भगवती पार्वती कुमारसंभवे = देवी पार्वती कुमारसंभव मे, सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन = सभी उपमाद्रव्य के समूह से, इत्यादिभिरुक्तिभिः = इत्यादि उक्तियो के द्वारा, प्रथममेव परिसमापितरूप वर्णनापि = पहले ही परिसमाप्त रूप के वर्णन से युक्त होकर भी, पुनः = फिर, भगवतः शम्भोर्लोचनगोचरमायान्ती = भगवान् शंकर के दृष्टिगोचर

होती हुई, वसन्तपुष्पाभरणं वहन्ती=वसन्त के पुष्पों का आभरण धारण करती हुई, मन्मथोपकरणभूतेन=मन को मथन करने वाले कामदेव के उपकरण हुए, भङ्ग्यन्तरेणोपवर्णिता=दूसरे प्रकार से उपवर्णित है, सैव च पुनः=और वही फिर, नवोद्वाह समये=नये विवाह के समय में, प्रसाध्यमाना=शृंगारयुक्त होती हुई, (पार्वती का) ना तन्वीम्=उस कृश शरीर वाली को, प्राङ्मुखी तत्र निवेश्य=पूर्वाभिमुख बैठाकर, इत्याद्युक्तिभिः=इत्यादि उक्तियों से, नवेनैवप्रकारेण=नये ही प्रकार से, निरूपित रूप सौष्ठवा=रूप के सौष्ठव का निरूपण है, तस्य कवेः=उस कवि के, एकत्रवासकृत्कृता=एक जगह ही बार-बार किये गये, वर्णन प्रकाराः=वर्णन प्रकार, अपुनरुक्तत्वेन=अपुनरुक्त रूप से, वा=अथवा, नवनवार्थनिर्भरत्वेन वा=नव नवार्थ निर्भर रूप से, न प्रतिभासन्ते=नहीं प्रतिभासित होते, एतत्=इस बात को, विषमवाणलीलायाम्=विषम वाण लीला नामक ग्रन्थ में, दर्शितमेव=दिखाया ही है।

अर्थ- न केवल अर्थ का आनन्त्य व्यग्य अर्थ की अपेक्षा से ही है अपितु वाच्य अर्थ की अपेक्षा से भी है, यह प्रतिपादन करने के लिये कहते हैं:—

अवस्था, देश, काल आदि के भेदों से भी स्वभावतः शुद्ध भी वाच्य का आनन्त्य ही होता है।

व्यंग्य की अपेक्षा न रखने वाले भी, वाच्य का आनन्त्य ही स्वभावतः उत्पन्न होता है क्योंकि यह चेतनों और अचेतनों का स्वभाव है कि अवस्था के भेद से, देश के भेद से, काल के भेद से और स्वालक्षण्य के भेद से अनन्तता होती है और उनके उस प्रकार व्यवस्थित होने से प्रसिद्ध अनेक स्वभावों के अनुसरण रूप वाली स्वभावोक्ति से भी उपनिबध्यमान वाच्यार्थों से अवधि शून्य काव्यार्थ सम्पन्न होता है, अवस्था के भेद से नवत्व जैसे देवी पार्वती कुमारसंभव में सभी उपमा द्रव्य के समूह से इत्यादि उक्तियों के द्वारा पहले ही परिसमाप्त रूप के वर्णन से मुक्त होकर भी, फिर भगवान् शंकर के दृष्टिगोचर होती हुई, वसन्त के पुष्पों का आभरण धारण करती हुई, मन को मंथन करने वाले कामदेव के उपकरण भूत रूप में दूसरे प्रकार से उपवर्णित हैं और वही फिर नये विवाह के अवसर पर प्रसाधित होती हुई पार्वती का 'उस कृश शरीर वाली को पूर्वाभिमुख बैठाकर' इत्यादि उक्तियों से नवीन ढंग रूप सौष्ठव का निरूपण है, उस कवि के, एक जगह ही बार-बार किये गये वे वर्णन प्रकार अपुनरुक्त रूप से या नव नवार्थ रूप से प्रतिभासित नहीं होते, इस बात को विषम बाण लीला नामक ग्रन्थ में दिखाया ही है। जैसे—

> ण अ ताण घडइ ओही,
> ण ते दीसन्ति कह वि पुनरुत्ता।
> जे विब्भमा पिआणं
> अत्था वा सुकइवाणीणम्॥

न च तेषां घटते वधिः, न च ते दृश्यन्ते पुनरुक्ताः ।
ये विभ्रमाः प्रियाणामर्था वा सुकविवाणीनाम् ।।

अयमपरश्चावस्थाभेदप्रकारो यद चेतनानां सर्वेषां चेतनं द्वितीयं रूपमभिमानित्व प्रसिद्धं हिमवद्गङ्गादीनाम । तच्चोचित चेतनविषय-स्वरूप योजनयोपनिबध्यमानमन्यदेव सम्पद्यते । यथा कुमारसम्भव एव पर्वतरूपस्य हिमवतोवर्णनं, पुनः सप्तर्षि प्रियोक्तिषु चेतन तत्स्वरूपा-पेक्षया प्रदर्शितं तदपूर्वमेव प्रतिभाति । प्रसिद्धश्चायं सत्कवीनां मार्गः । इदं च प्रस्थानं कवि व्युत्पत्तये विषम वाणलीलायां सप्रपञ्चं दर्शितम् । चेतनानां च वाल्याद्यवस्थाभिरन्यत्वं सत्कवीनां प्रसिद्धमेव । चेतनानाम-वस्था भेदेऽप्यवान्तरावस्था भेदान्नानात्वम् । यथा कुमारीणां कुसुमशर-भिन्नहृदयानामन्यासां च । तत्रापि विनीतानामविनीतानां च । अचेतनानां च भावानामारम्भाद्यवस्थाभेदभिन्नानामेकैकशः स्वरूपमुप-निबध्यमानमानन्त्यमेवोपयाति । यथा —

श्रीधरी— ये = जो, प्रियाणां = प्रियाओं के, विभ्रमाः = हाव-भाव, वा = अथवा, सुकविवाणीनां अर्थाः = सुकवि की वाणियों के अर्थ हैं, तेषां अवधिः न घटते = उनकी अवधि समाप्त नहीं होती, ते कथमपि = वे किसी प्रकार भी, पुनरुक्ताः नं दृश्यन्ते = पुनरुक्त प्रतीत नहीं होते ।

अयमपरश्चावस्थाभेद प्रकारो = और यह दूसरा अवस्था भेद का प्रकार है यद् = जो, हिमवद्गङ्गादीनां = हिमालय और गंगा आदि, अचेतनाना सर्वेषां = समस्त अचेतनों का, चेतनं द्वितीयं = चेतन दूसरा, रूपमभिमानित्व प्रसिद्धं = रूप, अभिमानी रूप में प्रसिद्ध है, तच्च = और वह, उचित चेतनविषय स्वरूपयोजनया = उचित चेतन सम्बन्धी स्वरूप की योजना से उपनिबध्यमानमन्यदेव सम्पद्यते = उपनिबध्यमान होकर अन्य सा ही हो जाता है, यथा = जैसे, कुमारसम्भव एव = कुमारसम्भव में ही, पर्वतरूपस्य हिमवतो वर्णनं = पर्वत स्वरूप हिमालय का वर्णन है, पुनः = फिर, सप्तर्षिप्रियोक्तिषु = सप्तर्षियों की प्रिय उक्तियों में, चेतनतत्स्वरूपा-पेक्षया = चेतन उसके स्वरूप की अपेक्षा से, प्रदर्शितं = दिखाया गया है, तदपूर्वमेव प्रतिभाति = वह अपूर्व ही प्रतीत होता है, अय च मार्गः = यह मार्ग, सत्कवीना प्रसिद्धः = सत्कवियों का प्रसिद्ध है, इदं च प्रस्थान = और यह प्रस्थान, कवि व्युत्पत्तये = कवियों की व्युत्पत्ति के लिये, विषमवाणलीलायां सप्रपञ्च दर्शितम् = विषम बाण लीला में विस्तार के साथ दिखाया गया है, चेतनाना = चेतनों का, बाल्याद्यवस्थाभिरन्यत्व = बाल्य आदि अवस्थाओं से अन्य होना, सत्कवीना प्रसिद्ध-मेव = सत्कवियों को प्रसिद्ध ही है, चेतनाना = चेतनों का, अवस्थाभेदेऽप्यवान्तरावस्था-भेदात् = अवस्था भेद में भी अवान्तर अवस्था भेद से, नानात्वम् = नानात्व है, यथा = जैसे, कुसुमशरभिन्नहृदयाना = काम बाणों से विद्ध हृदय वाली, कुमारीणां

कुमारियों का, अन्यासां च=और दूसरी नायिकाओं का, तत्रापि=वहाँ भी, विनीतानां अविनीतानां च=विनीतों और अविनीतों का, च=और, आरम्भादि अवस्था भेदभिन्ना=आरम्भ आदि अवस्थाओं के भेद से भिन्न, अचेतनानां भावानां=अचेतन भावों का, एकैकशः=एक-एक करके, स्वरूपमुपनिबध्यमानं=स्वरूप उपनिबध्यमान होकर, आनन्त्यमेवोपजायते=आनन्त्य को ही प्राप्त करता है।

जो प्रियाओं के हाव-भाव या सुकवि की वाणियों के अर्थ हैं, उनकी समाप्ति नहीं होती, वे किसी प्रकार पुनरुक्त भी प्रतीत नहीं होते।

और यह दूसरा अवस्था भेद का प्रकार है जो हिमालय और गंगा आदि समस्त अचेतनों का चेतन दूसरा रूप अभिमानी रूप से प्रसिद्ध है और वह उचित चेतन सम्बन्धी स्वरूप की योजना में उपनिबध्यमान होकर अन्य हो जाता है। जैसे, कुमारसम्भव में ही पर्वत स्वरूप हिमालय का वर्णन है, फिर सप्तर्षियों की प्रिय उक्तियों में चेतन उसके स्वरूप की अपेक्षा से दिखाया है। वह अपूर्व ही प्रतीत होता है। यह सत्कवियों का मार्ग प्रसिद्ध है और यह प्रस्थान कवियों की व्युत्पत्ति के लिये विषम बाणलीला में विस्तार के साथ दिखाया है। चेतनों का बाल्य आदि अवस्थाओं से भिन्न होना सत्कवियों में प्रसिद्ध ही है। चेतनों का अवस्था भेद में भी अवान्तर अवस्था भेद से नानात्व है, जैसे—काम बाणों से विद्ध हृदय वाली कुमारियों का और दूसरी नायिकाओं का, वहाँ भी विनीतों और अविनीतों का, और आरम्भ आदि अवस्थाओं के भेद से भिन्न अचेतन भावों का एक-एक करके स्वरूप उपनिबध्यमान होकर आनन्त्य को ही प्राप्त करता है। जैसे—

> हंसानां निनदेषु यैः कवलितैरासज्यते कूजता,
> मन्यः कोऽपि कषाय कण्ठलुठनादघर्घरो विभ्रमः।
> ते सम्प्रत्यकठोरवारणवधू दन्तांकुरस्पर्धिनो,
> निर्याता कमलाकरेषु विसिनीकन्दाग्रिमग्रन्थयः॥
> एवमन्यत्रापि दिशानयानुसर्तव्यम्।

देशभेदान्नानात्वमचेतनानां तावत्। यथा वायूनां नानादिग्देशचारिणामन्येषामपि सलिलकुसुमादीनां प्रसिद्धमेव। चेतनानामपि मानुष पशुपक्षि प्रभृतीनां ग्रामारण्य सलिलादि समेधितानां परस्परं महान्विशेषः समुपलक्ष्यत एव। स च विविच्य यथायथमुपनिबध्यमानस्तथैवानन्त्यमायाति। तथा हि मानुषाणामेव तावद्दिग्देशादिभिन्नानां ये व्यवहारव्यापारादिषु विचित्रा विशेषास्तेषां केनान्तः शक्यते गन्तुम्, विशेषतो योषिताम्। उपनिबध्यते च तत्सर्वमेव सुकविभिर्यथा प्रतिभम्।

दीपशिखा—कूजतां हंसानां निनदेषु=कूजते हुए हंसों की आवाजों में यैः=जिनके द्वारा, अन्यः कोऽपि=कोई दूसरा, कषाय कण्ठलुठनाद्=

में लोटने से, मायर्घरो विभ्रमः=घरघराहट के रूप में विभ्रम को, मासज्यते=मासक्त हो जाती हैं, ते=वे, सम्प्रति=इस समय, मकठोरवारणवधू दन्ताङ्कुर स्पर्धिना=कोमल हथिनी के दन्तांकुर के साथ स्पर्धा करने वाली, बिसिनीकन्दाग्रिम-ग्रन्थयः=कमलिनी के कन्द के अगले हिस्से की गांठें, कमलाकरेषु=सरोवरों में, निर्याताः=निकल पड़ीं ।

एवमन्यत्रापि=इसी प्रकार मन्यत्र भी, अनयादिशायानुसर्तव्यम्= इस दिशा से मनुसरण करना चाहिए ।

मचेतनानां=मचेतनों का, देशभेदान्नानात्वं तावत्=देश भेद से नानात्व है, यथा=जैसे, नानादिग्देशचारिणां वायूनां=मनेक दिशामों एवं देशों में विचरण करने वाली हवामों का, मन्येषामपि=मन्य भी, सलिलकुसुमादीनां प्रसिद्धमेव=जल, फूल मादि का नानात्व प्रसिद्ध ही है, ग्रामारण्यसलिला दि समेधितानां=ग्राम, जंगल, जल मादि में बढ़े हुए, मानुष पशुपक्षिप्रभृतीनां चेतनानामपि=मनुष्य, पशु, पक्षी प्रभृति चेतनों का भी, परस्परं=मापस में, महान् विशेषः समुपलक्ष्यत एव=महान् विशेष समुपलक्षित होता ही है, स च विविच्य=मौर वह विवेचन करके, यथायथमुपनिबध्यमानः=ठीक-ठीक उपनिबध्यमान होकर तथैवमानन्त्यमायाति=उसी प्रकार मानन्त्य को प्राप्त करता है, तथा हि=जैसा कि, दिग्देशभिन्नानां=दिशा मौर देश मादि से भिन्न, मानुषाणामेव=मनुष्यों के ही, ये व्यवहार व्यापारादिषु=जो व्यवहार मौर व्यापार मादि में, विचित्रा विशेषा =विचित्र भेद हैं, तेषां केनान्तः शक्यते गन्तुम्=उनका पार कौन पा सकता है, विशेषतोयोषिताम्=विशेष रूप से स्त्रियों के, च=मौर, तत्सर्वमेव=उन सबको ही सुकविभि=सुकवियों के द्वारा, यथा प्रतिभम्=प्रतिभा के मनुसार, उपनिबद्ध किया जाता है ।

मर्थ—कूजते हुए हंसों की मावाजों में जो कोई दूसरा कसैले कंठ में लोटने से घरघराहट के रूप में विभ्रम को मासक्त कर देती हैं वे इस समय कोमल हथिनी के दन्तांकुर के साथ स्पर्धा करने वाली कमलिनी के कन्द के मगले हिस्से की गाठें सरोवरों में निकल पड़ी हैं ।

इस प्रकार मन्यत्र भी इस सम्बन्ध में मनुसरण करना चाहिए, मचेतनों का देश भेद से भी नानात्व होता है, जैसे— नाना दिशामों किंवा देशों में विचरण करने वाली हवामों का, मन्य भी जल, फूल मादि का नानात्व प्रसिद्ध ही है, ग्राम, जंगल, जल मादि में बढ़े हुए चेतन मनुष्य पशु, पक्षी प्रभृतियों का परस्पर महान् विशेष समुपलक्षित होता ही है, मौर वह विवेचन करके ठीक-ठीक उपनिबध्यमान होकर उसी प्रकार मानन्त्य को प्राप्त करता है, जैसा कि दिशा मौर देश मादि से भिन्न मनुष्यों के ही जो व्यवहार मौर व्यापार मादि में विचित्र भेद हैं, उनका पार कौन पा सकता है ? विशेष रूप से स्त्रियों का मौर उन सबको ही सुकवि लोग मपनी प्रतिभा के मनुसार उपनिबद्ध करते हैं ।

कालभेदाच्च नानात्वम्। यथर्तुभेदाद्दिग्व्योमसलिलादीनामचेतनानाम्। चेतनानां चौत्सुक्यादयः कालविशेषाश्रयिणः प्रसिद्धा एव। स्वालक्षण्य प्रभेदाच्च सकल जगद्गतानां वस्तूनां विनिबन्धनं प्रसिद्धमेव। तच्च यथा वस्थितमपि तावदुपनिबध्यमानमनन्ततामेव काव्यार्थस्यापादयति।

श्रीधरी—च=ग्रौर, कालभेदात्=काल के भेद से, नानात्वम्=नानात्व है, यथा=जैसे, ऋतु भेदाद्=ऋतु के भेद से, दिग्व्योमसलिलादीनामचेतनानाम्=दिशा, ग्राकाश, जल ग्रादि ग्रचेतनो का, चेतनाना च=ग्रौर चेतनों के, ग्रौत्सुक्यादयः ग्रौत्सुक्य ग्रादि (भेद) काल विशेषाश्रयिणः प्रसिद्धा एव=काल विशेष का ग्राश्रयण करने वाले प्रसिद्ध ही हैं, स्वालक्षण्य प्रभेदाच्च=ग्रौर स्वालक्षण्य स्वरूप के प्रभेद से, सकल जगद्गतानां वस्तूनां=समस्त ससार की वस्तुग्रो का, विनिबन्धनं=विनिबन्धन, प्रसिद्धमेव=प्रसिद्ध ही है, तच्च=ग्रौर वह, यथावस्थितमपि=जैसा है वैसा भी, उपनिबध्यमानं=उपनिबध्यमान होकर, काव्यार्थस्य ग्रनन्तामेव सम्पादयति=काव्य के ग्रर्थ को ग्रानन्त्य ही प्राप्त कराता है।

ग्रर्थ—ग्रौर काल के भेद से नानात्व होता है, जैसे—ऋतु से दिशा, ग्राकाश ग्रौर जल ग्रादि ग्रचेतनो का, ग्रौर चेतना के ग्रौत्सुक्य ग्रादि भेद काल विशेष का ग्राश्रयण करने वाले प्रसिद्ध ही हैं, स्वालक्षण्य स्वरूप के प्रभेद से समस्त संसार की वस्तुग्रो का विनिबन्धन प्रसिद्ध ही है। ग्रौर वह जैसा है, उस प्रकार भी ग्रवस्थित होकर उपनिबद्ध होता हुग्रा काव्य के ग्रर्थ को ग्रानन्त्य प्राप्त कराता है।

ग्रत्र केचिदाचक्षीरन्—यथा सामान्यात्मनावस्तुनि वाच्यतां प्रतिपद्यन्ते न विशेषात्मना; तानि हि स्वयमनुभूतानां सुखादीनां तन्निमित्तानां च स्वरूपमन्यत्रारोपयद्भिः स्वपरानुभूतरूप सामान्य मात्राश्रयेणोपनिबध्यन्ते कविभिः। न हि तैरतीतमनागतं वर्तमानञ्च परिचितादि स्वलक्षणं योगिभिरिव प्रत्यक्षीक्रियते; तच्चानुभाव्यानुभवसामान्यं सर्वं प्रतिपत्तृ साधारणं परिमितत्वात्पुरातनानामेव गोचरीभूतम्, तस्या विषयत्वानुपपत्तेः अतएव स प्रकार विशेषो यैरद्यतनैरभिनवत्वेन प्रतीयते तेषामभिमान मात्रमेव भणीति कृतं वैचित्र्य मात्रमत्रास्तीति।

श्रीधरी—ग्रत्र=यहाँ, केचिद्=कुछ लोग, ग्राचक्षीरन्=यदि कहें (कि) यथा=जैसे, सामान्यात्मना=सामान्य रूप से, वस्तूनि वाच्यता प्रतिपद्यन्ते=वस्तुएँ वाच्य भाव को प्राप्त होती हैं, न विशेषात्मना=न कि विशेष रूप से, हि=क्योंकि, तानि=वे, स्वयमनुभूताना=स्वयमनुभव किये हुए, सुखादीनां तन्निमित्तानां=सुख ग्रादि के ग्रौर उनके कारणों के, स्वरूपमन्यत्रा रोपयद्भिः=स्वरूप को ग्रन्यत्र ग्रारोपित करते हुए, कविभिः=कवियों के द्वारा, स्वपराभूत रूप सामान्यमात्राश्रयेणोप-

निबध्यन्ते=अपने और दूसरे के द्वारा अनुभूत रूप सामान्य मात्र के आश्रयण से उपनिबद्ध किये जाते हैं, न हि तैः=न कि वे कवि, अतीतमनागतं वर्तमानञ्च=अतीत, भविष्य और वर्तमान, परिचितादिस्वलक्षणं=परिचित आदि स्वलक्षण स्वरूप को, योगिभिरिव प्रत्यक्षी क्रियते=योगियों की भांति प्रत्यक्ष करते हैं, तच्चानुभाव्यानुभव सामान्यं=वह अनुभव योग्य वस्तु के अनुभव का सामान्य, सर्व प्रतिपत्ति साधारणं=सब जानकारों के लिये साधारण, परिमितत्वात्पुरातनानामेव=परिमित होने के कारण प्राचीन कवियों का ही, गोचरीभूतम्=विषय किया हुआ है, तस्याविषयं त्वानुपपत्तेः=क्योंकि उसका अविषयत्व उपपन्न नहीं है. अतएव=इसलिये, स प्रकार विशेषो=उस प्रकार विशेष को, यैरद्यतनैः=जिसे आज के लोगों ने, अभिनवत्वेन=अभिनव रूप से, प्रतीयते=समझा है, तेषां अभिमानमात्रमेव=उन्हें अभिमान मात्र ही है, भणिति कृतं=उक्ति द्वारा किया हुआ, वैचित्र्यमात्र मत्रास्तीति=वैचित्र्य मात्र ही यहाँ है।

अर्थ—यहाँ यदि कुछ लोग कहें कि जैसे सामान्य रूप से वस्तुएँ वाच्यभाव को प्राप्त होती हैं, न कि विशेष रूप से, क्योंकि वे स्वयं अनुभव किये हुए सुख आदि के और उनके निमित्त कारणों के स्वरूप को अन्यत्र आरोपित करते हुए, कवियों के द्वारा अपने और दूसरे के द्वारा अनुभूत रूप सामान्य मात्र के आश्रयण से उपनिबद्ध किये जाते हैं। न वे कवि अतीत, भविष्य और वर्तमान परिचित आदि स्वलक्षण स्वरूप को योगियों की तरह प्रत्यक्ष करते हैं अपितु वह अनुभव के योग्य वस्तु के अनुभव का सामान्य सब जानकारों के लिये साधारण और परिमित होने के कारण प्राचीन कवियों का ही विषय किया हुआ है, क्योंकि उसका अविषयत्व उपपन्न नहीं है। अतएव उस प्रकार विशेष को जिन आज के लोगों ने अभिनव रूप से समझा है, उन्हें अभिमान मात्र ही है, क्योंकि उक्ति वैचित्र्य मात्र ही यहाँ है।

तत्रोच्यते—यत्तुक्तं सामान्यमात्राश्रयेण काव्यप्रवृत्तिस्तस्य च परिमितत्वेन प्रागेव गोचरीकृतत्वान्नास्ति नवत्वं काव्यवस्तूनामिति, तदयुक्तम्; यतो यदि सामान्य मात्रमाश्रित्य काव्यं प्रवर्तते किङ्कृतस्तर्हि महाकविनिबध्यमानानां काव्यार्थानामतिशयः, वाल्मीकि व्यतिरिक्तस्यान्यस्य कवि व्यपदेश एव वा सामान्य व्यतिरिक्तस्यान्यस्य काव्यार्थस्याभावात्, सामान्यस्य चादिकविनैव प्रदर्शितत्वात्। उक्तिवैचित्र्यान्नैष दोष इति चेत्—किमिदमुक्तिवैचित्र्यम्? उक्तिर्हि वाच्यविशेषप्रतिपादि वचनम्। तद्वैचित्र्ये कथं न वाच्यवैचित्र्यम्। वाच्यवाचकयोरविनाभावेन प्रवृत्ते। वाच्यानां च काव्य प्रतिभासमानानां यद्रूपं तत्तु ग्राह्यविशेषाभेदेनैव प्रतीयते। तेनोक्तिवैचित्र्यवादिना वाच्यवैचित्र्यमनिच्छताप्यवश्यमेवाभ्युपगन्तव्यम्। तदयमत्र संक्षेपः—

श्रीधरी—अत्रोच्यते=यहाँ कहते है, यत्तु उक्तम्=जो कि कहा है, सामान्यमात्राश्रयेण=सामान्य मात्र के आश्रयण से, काव्य प्रवृत्तिः=काव्य की प्रवृत्ति होती है, तस्य च परिमितत्वेन=और उस सामान्य मात्र के परिमित होने के कारण, प्रागेवगोचरीकृतत्वात्=पहले ही विषय कर लिये जाने से, काव्य वस्तुओं का, नास्ति नवत्वम्=नवत्व नही है, तदयुक्तम्=यह ठीक नहीं है, यतः= क्योंकि यदि सामान्यमात्रमाश्रित्य=यदि सामान्य मात्र का आश्रयण करके, काव्य प्रवर्तते=काव्य प्रवृत्त होता है, तर्हि किङ्कृत.=तो किसके द्वारा, महाकवि निबध्य-मानानां=महाकवियों के द्वारा बनाये गये, काव्यार्थानामतिशयः=काव्यार्थों का वैचित्र्य ही होगा ? वा=अथवा, वाल्मीकि व्यतिरिक्तस्यान्यस्य कवि व्यपदेश एव=वाल्मीकि को छोडकर दूसरे का कवि नाम ही, (किसके द्वारा किया गया होगा ?) सामान्य व्यतिरिक्तस्य=सामान्य को छोड़कर, अन्यस्य काव्यार्थस्य अभावात्=दूसरे काव्यार्थ का अभाव है, सामान्यस्य चादिकविनैव प्रदर्शितत्वात्=क्योंकि आदि कवि के द्वारा सामान्य प्रदर्शित किया जा चुका है, उक्तिवैचित्र्यान्नैष दोष इति चेत्=उक्ति वैचित्र्य के कारण यह दोष नही है, यह कहे तो प्रश्न होता है कि, किमिद् उक्ति वैचित्र्यम्= यह उक्ति वैचित्र्य क्या है ? उक्तिर्हि वाच्य विशेष प्रतिपादि वचनम्=उक्ति वाच्य विशेष के प्रतिपादन करने वाले वचन को कहते हैं, तद्वैचित्र्ये=उसके वैचित्र्य मे, कथ न वाच्य वैचित्र्यम्=कैसे वाच्य का वैचित्र्य नहीं होगा, वाच्यवाचकयोरविना-भावेन प्रवृत्ते.=वाच्य और वाचक की अविना भाव से प्रवृत्ति होती है, प्रतिभासमा-नाना वाच्यानां=प्रतिभासमान वाच्यों का, काव्ये यद्रूपं=काव्य मे जो रूप है, तत्=वह तो, ग्राह्यविशेषाभेदेनैव प्रतीयते=ग्राह्य विशेष के अभेद से ही प्रतीत होता है, तेन=उससे, उक्तिवैचित्र्यवादिना=उक्ति वैचित्र्यवादी को, वाच्यवैचित्र्य-मनिच्छताऽपि=वाच्य के वैचित्र्य की इच्छा न रखते हुए भी, अवश्यमेवाभ्युप-गन्तव्यम्=अवश्य ही मानना चाहिए, तदयमत्र संक्षेप.=तो यह यहाँ सक्षेप है ।

अर्थ—यहां कहते हैं कि—जो कहा है कि सामान्य मात्र के आश्रयण से काव्य की प्रवृत्ति होती है और उस सामान्य मात्र के परिचित होने के कारण पहले ही विषय कर लिये जाने से काव्य वस्तुओं का नवत्व नहीं है, यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि यदि सामान्यमात्र का आश्रयण करके काव्य प्रवृत्त होता है तो किसके द्वारा महाकवियों के बनाये गये काव्यार्थों का वैचित्र्य होगा ? या वाल्मीकि को छोड़कर दूसरे कवि का नाम ही किसके द्वारा किया गया होगा ? जब कि सामान्य को छोडकर दूसरे काव्यार्थ का अभाव है, क्योंकि आदि कवि के द्वारा सामान्य प्रदर्शित किया जा चुका है, उक्ति वैचित्र्य के कारण यह दोष नहीं है, यदि यह कहे तो प्रश्न होता है कि यह उक्ति वैचित्र्य क्या है ?

उक्ति वाच्य विशेष के प्रतिपादन करने वाले वचन को कहते है, उसके वैचित्र्य में कैसे वाच्य का वैचित्र्य नहीं होगा ? क्योंकि वाच्य और वाचक की

अविनाभाव से प्रवृत्ति होती है और प्रतिमा समान वाच्यों का काव्य में जो रूप है वह तो ग्राह्य विशेष के अभेद से ही प्रतीत होता है। उससे उक्ति वैचित्र्यवादी को वाच्य के वैचित्र्य की इच्छा न रखते हुए भी अवश्य ही मानना चाहिए। इसलिये यहाँ यह संक्षेप है—

वाल्मीकि व्यतिरिक्तस्य यद्येकस्यापि कस्यचित्।
इष्यते प्रतिभार्थेषु तत्तदानन्त्यमक्षयम्॥

किञ्च, उक्तिवैचित्र्यं यत्काव्यनवत्वे निबन्धनमुच्यते तदस्मत्पक्षानुगुणमेव। यतो यावानयं काव्यार्थानन्त्यभेद हेतुः प्रकारः प्राग्दर्शितः स सर्वएव पुनरुक्तिवैचित्र्याद्द्विगुणतामापद्यते। यश्चायमुपमाश्लेषादिरलङ्कार वर्गः प्रसिद्धः स भणिति वैचित्र्यादुपनिबध्यमानः स्वयमेवानवधिर्धत्ते पुनः शतशाखताम्। भणितिश्च स्वभाषा भेदेन व्यवस्थिता सती प्रतिनियत भाषा गोचरार्थ वैचित्र्य निबन्धनं पुनरपरं काव्यार्थानामानन्त्यमापादयति, यथा ममैव—

महुमहु इत्ति भणन्तउ वज्जदि कालो जणस्स।
तोइ ण देउ जणद्दण गोअरी भोदि मणसो॥
[मम मम इति भणतो व्रजति कालो जनस्य।
तथापि न देवो जनार्दनो गोचरो भवति मनसः॥]

श्रीधरी—वाल्मीकि व्यतिरिक्तस्य=वाल्मीकि को छोड़कर, यद्येकस्यापि कस्यचित्=यदि किसी एक कवि की, प्रतिभा अर्थेषु इष्यते=प्रतिभा अर्थों में मान ली जाती है, तद्=वह, आनन्त्यं=आनन्त्य, अक्षयम्=अक्षय है,

किञ्च=और भी, उक्तिवैचित्र्यं=उक्ति वैचित्र्य को, यत्काव्य नवत्वे=जो काव्य के नवत्व में, निबन्धनमुच्यते=प्रयोजक कहते है, तदस्मत्पक्षानुगुणमेव=वह हमारे पक्ष के अनुकूल ही है, यतः=क्योंकि, यावान्=जितना, अयं=यह, काव्यार्थानन्त्य भेद हेतुः=काव्य के अर्थ के भेद को करने वाला, प्रकारः=प्रकार, प्राग्दर्शितः=पहले दिखाया गया है, स सर्व एव=वह सब ही, पुनः=फिर, उक्तिवैचित्र्यात्=उक्तिवैचित्र्य से, द्विगुणतामापद्यते=दुगुना हो जायेगा, यश्चायं=और जो यह, उपमाश्लेषादिरलङ्कार वर्गः प्रसिद्धः=उपमा श्लेष आदि अलंकार वर्ग प्रसिद्ध है, स भणिति वैचित्र्यादुपनिबध्यमानः=वह भणिति वैचित्र्य से उपनिबध्यमान होकर, स्वयमेव अनवधिः=स्वयं ही अवधिरहित होकर, पुनः शत शाखताम् धत्ते=फिर शतशः शाखाओं में परिवर्तित हो जायेगा, भणितिश्च स्वभाषा भेदेन=और भणिति अपने भाषा के भेद से, व्यवस्थिता सती=व्यवस्थित होकर, प्रतिनियत भाषा गोचरार्थवैचित्र्य निबन्धनं=प्रतिनियत भाषा में रहने वाले अर्थ वैचित्र्य के निबन्धन रूप, काव्यार्थानां आनन्त्य=काव्यार्थों का आनन्त्य, पुनरपरं आपादयति=फिर भी उत्पन्न कर देती है, यथा ममैव=जैसे मेरा ही।

मम-मम इति भणतः=मेरा-मेरा कहते हुए, जनस्य=मनुष्य का, काल व्रजति=समय बीत जाता है, तथापि=तो भी, देवो जनार्दनः=भगवान् जनार्दन, मनस. गोचरो न भवति=मन के गोचर नही होते।

अर्थ—वाल्मीकि को छोड़कर यदि किसी एक कवि की प्रतिभा अर्थों मे मान ली जाती है तो वह अक्षय आनन्त्य है।

और भी उक्ति वैचित्र्य को जो काव्य के नवत्व मे प्रयोजक कहते हैं, वे हमारे पक्ष के अनुकूल ही हैं, क्योकि जितना यह काव्य के अर्थ के आनन्त्य भेद को करने वाला प्रकार पहले दिखाया गया है, वह सब ही फिर उक्ति वैचित्र्य के कारण दुगुना हो जायेगा और जो यह उपमा, श्लेष आदि अलंकार वर्ग प्रसिद्ध है वह भणिति वैचित्र्य से उपनिवद्ध होकर तथा स्वयं ही अवधिरहित होकर फिर सैकड़ों शाखाओं मे परिगणित हो जायेगा, और भणिति अपनी भाषा के भेद से व्यवस्थित होती हुइ प्रतिनियत भाषा में रहने वाले अर्थ वैचित्र्य के निबन्धन रूप काव्यार्थों का आनन्त्य फिर भी उत्पन्न कर देती है, जैसे मेरा ही—

मेरा-मेरा कहते हुए मनुष्य का समय बीत जाता है किन्तु फिर भी भगवान् जनार्दन दृष्टिगोचर नहीं होते।

इत्थं यथा यथा निरूप्यते तथा तथा न लभ्यतेऽन्तः काव्यार्थानाम्। इद तूच्यते—

अवस्थादि विभिन्नानां वाच्यानां विनिबन्धनम्।
यत्प्रदर्शितं प्राक्,
भूम्नैव दृश्यते लक्ष्ये-
न तच्छक्यमपोहितुम्।
तत्तु भाति रसा श्रयात् ॥८॥

तदिदमत्र सक्षेपेणाभिधीयते सत्कवीनामुपदेशाय—

रस भावादि सम्बद्धा यद्यौचित्यानुसारिणी।
अन्वीयते वस्तुगतिर्देशकालादि भेदिनी ॥९॥

श्रीधरी—इत्थं=इस प्रकार, यथा यथा निरूप्यते=जैसे-जैसे निरूपण करते है, तथा तथा=वैसे-वैसे, काव्यार्थानां=काव्यार्थों का, अन्तः न, लभ्यते=अन्त ज्ञात नही होता, इदं तु उच्यते=परन्तु यह कहते है.

अवस्थादि विभिन्नानां=अवस्था आदि से विभिन्न, वाच्यानां विनिबन्धनं=वाच्यों का निबन्धन, यत्प्रदर्शितं प्राक्=जो पहले प्रदर्शित हो चुका है, लक्ष्ये=लक्ष्य मे, भूम्नैव दृश्यते=बहुतायत से देखा जाता है, तद् अपोहितुम् न शक्यम्=उसका निराकरण नही किया जा सकता, तत्तु=वह तो, रसाश्रयात् भाति=रस के आश्रय से शोभा देता है,

तदिदमत्र=तो यहाँ यह, सत्कवीनामुपदेशाय=सत्कवियों के उपदेश के लिये, संक्षेपेण अभिधीयते=संक्षेप में कहते हैं—

रस भावादि सम्बद्धा=रस, भाव आदि से सम्बद्ध, औचित्यानुसारिणी=औचित्य का अनुसरण करने वाली, देश कालादि भेदिनी=देशकाल आदि की भेद वाली, वस्तुगतिः अन्वीयते=वस्तुगति का अनुगमन करते हैं,

अर्थ—इस प्रकार जैसे निरूपण करते है वैसे-वैसे काव्यार्थों का अन्त मालूम नहीं पड़ता, परन्तु यह कहते हैं—

अवस्था आदि से विभिन्न वाच्यों का निबन्धन—जो पहले प्रदर्शित हो चुका है—लक्ष्य में अधिकता के साथ दृष्टिगत होता है,—उसको निराकरण नहीं किया जा सकता है—वह तो रस के आश्रय से शोभा देता है।

अतः यहाँ सत्कवियों के उपदेश के लिये संक्षेप में कहते हैं—

यदि रस, भाव आदि से सम्बद्ध, औचित्य का अनुसरण करने वाली, देश काल आदि की भेद वाली वस्तु गति का अनुगमन करते हैं।

तत्कागणना कवीनामन्येषां परिमित शक्तीनाम्—

वाचस्पतिसहस्राणां सहस्रैरपि यत्नतः।

निबद्धा सा क्षयं नैति प्रकृतिर्जगतामिव ॥१०॥

यथा हि जगत्प्रकृतिरतीत कल्प परम्पराविर्भूत विचित्र वस्तु प्रपञ्चा सती पुनरिदानीं परिक्षीणा परपदार्थ निर्माण शक्तिरिति न शक्यतेऽभिधातुम्। तद्वदेवेयं काव्यस्थितिरनन्ताभिः कविमतिभिरुप भुक्तापि नेदानीं परिहीयते, प्रत्युत नवनवाभिर्व्युत्पत्तिभिः परिवर्धते। इत्थं स्थितेऽपि—

संवादास्तु भवन्त्येव बाहुल्येन सुमेधसाम्।

स्थितं ह्येतत् संवादिन्य एव मेधाविनां बुद्धयः॥

किन्तु—

नैकरूपतया सर्वे ते मन्तव्या विपश्चिता ॥११॥

लोचने—अन्येषां=और, परिमित शक्तीनां=परिमित शक्ति वाले, कवीनां=कवियों की, का गणना=गणना ही क्या ? वाचस्पति सहस्राणां=हजारों वाचस्पतियों के द्वारा भी, सहस्रैरपि यत्नतः=हजारों यत्नों से भी, निबद्धा=निबद्ध, सा=वह, प्रकृतिर्जगतामिव=संसार की प्रकृति के समान, क्षयं न एति=क्षीण नहीं होती।

यथा हि=जिस प्रकार, जगत्प्रकृतिः=संसार की प्रकृति, अतीतकल्पपरम्पराविर्भूत विचित्रवस्तु प्रपञ्चा सती=अतीत कल्पों की परम्परा से विचित्र वस्तु

प्रपञ्च को आविर्भूत करती हुई, पुनरिदानी=फिर अब, परपदार्थ निर्माण शक्ति परिक्षीणा इति न शक्यतेऽभिधातुम्=पदार्थों के निर्माण की शक्ति क्षीण हो गई ऐसा नहीं कहा जा सकता, तद्वदेवेयं=उसी प्रकार यह, काव्यस्थिति=काव्यस्थिति, अनन्ताभि: कविमतिभिरुपभुक्तापि=अनन्त कविबुद्धियों द्वारा उपभुक्त होकर भी, नेदानीं परिहीयते=इस समय समाप्त नहीं है, प्रत्युत=अपितु, नव नवाभिव्युत्पत्तिभि:=नई नई व्युत्पत्तियों से, परिवर्धते=बढ़ती जाती है, इत्थं स्थितेऽपि=इस प्रकार स्थित होने पर भी—

सुमेधसाम्=अच्छी बुद्धि वालों के, बाहुल्येन=अधिकता से, संवादास्तु=संवाद तो, भवन्त्येव=हो ही जाते हैं, हि=क्योंकि, एतत् स्थितं=यह माना जाता है कि, *मेधाविनां बुद्धय:=मेधावी लोगों की बुद्धियां, संवादिन्य एव=संवादिनी* होती ही हैं, किन्तु=लेकिन, विपश्चिता=विद्वान् को, ते सर्वे=उन सबको, एक रूपतया न मन्तव्या=एक रूप से नहीं मानना चाहिए।

अर्थ—तो अन्य परिमित शक्ति वाले कवियों की क्या गणना ?

हजारों वाचस्पतियों के द्वारा भी यत्नपूर्वक निबद्ध वह संसार की प्रकृति की तरह क्षीण नहीं हो सकती।

जिस तरह संसार की प्रकृति अतीत कल्पों की परम्परा से विचित्र वस्तु प्रपञ्च को आविर्भूत करती है, फिर अब पदार्थों के निर्माण की शक्ति परिक्षीण हो चुकी है ऐसा नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार यह काव्य स्थिति अनन्त कविबुद्धियों द्वारा उपभुक्त होकर भी इस समय समाप्त नहीं है, अपितु नई नई व्युत्पत्तियों से बढ़ती जाती है। इस प्रकार स्थित होने पर भी—

'सुमेधा जनों के संवाद बहुलतया हो ही जाते हैं।

क्योंकि यह माना जाता है कि मेधावी लोगों की बुद्धियां संवादिनी होती हैं, किन्तु—

विद्वान् को उन सबको एक रूप से नहीं मानना चाहिए।

कथमिति चेत्—

संवादो ह्यन्य सादृश्यं तत्पुनः प्रतिबिम्बवत्।
आलेख्याकारवत्तुल्य देहिवच्च शरीरिणाम्॥१२॥

संवादो हि काव्यार्थस्योच्यते यदन्येन काव्यवस्तुना सादृश्यम्। तत्पुन शरीरिणां प्रतिबिम्बवदालेख्याकारवत्तुल्य देहिवच्च त्रिधा व्यवस्थितम्। किञ्चिद्धि काव्यवस्तु वस्त्वन्तरस्य शरीरिणः प्रतिबिम्बकल्पम् अन्यदालेख्यप्रख्यम्, अन्यत्तुल्येन शरीरिणा सदृशम्।

तत्र पूर्वमनन्यात्म तुच्छात्म तदनन्तरम्।
तृतीयं तु प्रसिद्धात्म नान्य साम्यं त्यजेत्कविः॥१३॥

श्रीधरी—कथमिति चेत्=यदि कहो कैसे, (तो उत्तर है), सम्वादो हि अन्य सादृश्यं=संवाद अन्य का सादृश्य होता है, तत्पुनः=वह फिर, शरीरिणां प्रतिबिम्बवत्=देहधारियो के प्रतिबिम्ब के समान, आलेख्याकारवत्=चित्र के आकार की भांति, तुल्य देहि वच्च=तुल्य शरीरी की तरह रहता है।

सवादो हि=सवाद, काव्यार्थस्य उच्यते=काव्यार्थ का कहलाता है यद्=जो कि, अन्येन काव्य वस्तुना=अन्य काव्य वस्तु के साथ, सादृश्यम्=सादृश्य है, तत्पुनः=वह फिर सादृश्य, शरीरिणां प्रतिबिम्बवत्=शरीरियों के प्रतिबिम्ब के समान, आलेख्याकारवत्=चित्र के आकार के समान, तुल्यदेहिवच्च=तुल्य शरीरी की तरह, त्रिधा व्यवस्थितम्=तीन प्रकार से व्यवस्थित है, हि=क्योंकि, काव्य-वस्तु=काव्यवस्तु, शरीरिणः वस्त्वन्तरस्य=शरीरी अन्य वस्तु का प्रतिबिम्ब-कल्पम्=प्रतिबिम्ब के समान होता है, अन्यदालेख्यम्=अन्य आलेख्य के समान होता है, अन्यत् तुल्येन शरीरिणा सदृशम्=और अन्य तुल्य शरीर के समान होता है।

तत्र पूर्व=उनमे पहला, अनन्यात्म=अनन्यात्म रूप होता है, तदनन्तरं=उसके बाद, तुच्छात्म=तुच्छात्म होता है, तु=लेकिन, तृतीयं प्रसिद्धात्म=तीसरा प्रसिद्धात्म होता है, कविः=कवि, अन्यसाम्यं न त्यजेत्=अन्य के साम्य का त्याग न करे।

अर्थ—यदि कैसे यह कहते हो तो उत्तर है कि—संवाद अन्य का सादृश्य होता है, वह फिर शरीरियों के प्रतिबिम्ब की भांति, चित्र के आकार की भांति और तुल्य शरीर की भांति रहता है।

वह काव्यार्थ का संवाद कहलाता है जो अन्य काव्य वस्तु के साथ सादृश्य रखता है। फिर वह सादृश्य शरीरियों के प्रतिबिम्ब की तरह, चित्र के आकार की तरह और तुल्य शरीरी की तरह होता है।

उनमे पहला सादृश्य अनन्यात्म होता है, उसके बाद का सादृश्य तुच्छात्म होता है, किन्तु तीसरा सादृश्य प्रसिद्धात्म होता है, कवि को चाहिए कि वह अन्य के साम्य का त्याग न करे।

तत्र पूर्वं प्रतिबिम्बकल्पं काव्यवस्तु परिहर्तव्यं सुमतिना। यतस्तदनन्यात्म तात्त्विकशरीरशून्यम्। तदनन्तरमालेख्यप्रख्यमन्यसाम्यं शरीरान्तरयुक्तमपि तुच्छात्मत्वेन त्यक्तव्यम्। तृतीयं तु विभिन्न कमनीयशरीर सद्भावे सति ससंवादमपि काव्यवस्तु न त्यक्तव्यं कविना न हि शरीरी शरीरिणाऽन्येन सदृशोऽप्येक एवेति शक्यते वक्तुम्।

अतएवोपपादयितुमुच्यते—

आत्मनोऽन्यस्य सद्भावे पूर्वस्थित्यनुयाय्यपि।
वस्तु भातितरां तन्व्याः शशिच्छायमिवाननम् ॥१४॥

श्रीधरी—तत्र=उनमे, पूर्वं=पहला, प्रतिबिम्बकल्पं=प्रतिबिम्ब के समान, काव्यवस्तु=काव्य वस्तु का, सुमतिना परिहर्तव्यम्=बुद्धिमान् को परित्याग कर देना चाहिये, यतः=क्योंकि, तद्=वह, अनन्यात्म तात्विक शरीर शून्यम्=अनन्य रूप तात्विक शरीर से शून्य होता है, तदनन्तर=उसके बाद, आलेख्यप्रख्यं=आलेख्य के समान, अन्यशरीरान्तरयुक्तमपि=अन्य शरीर से युक्त होकर भी, तुच्छात्मत्वेन त्यक्तव्यम्=तुच्छ रूप होने के कारण त्याज्य है, तु=लेकिन, तृतीय=तीसरा, विभिन्न कमनीय शरीर सद्भावे सति=विभिन्न प्रकार के कमनीय शरीर के सद्भाव होने पर, कविना=कवि के द्वारा, ससंवादमपि काव्यवस्तु=संवादयुक्त होने पर भी काव्यवस्तु, न त्यक्तव्यम्=त्याज्य नही है, शरीरी शरीरिणान्येन सदृशोऽपि=शरीरी अन्य शरीर के सदृश होकर भी, एक एव इति=एक ही है, ऐसा, न शक्यते वक्तुम्=नहीं कहा जा सकता।

एतदेवोपपादयितुं=इसी का उपपादन करने के लिये, उच्यते=कहते हैं।

अन्यस्य आत्मनः सद्भावे=अन्य आत्मा के सद्भाव में, पूर्वस्थित्यनुयाय्यपि=पूर्व स्थिति का अनुसरण करने वाला भी, वस्तु=काव्यार्थ, तन्व्याः=तन्वङ्गी रमणी क, शशिच्छायमाननमिव=चन्द्रमुख के समान, भातितरां=अतिशय शोभित होता है।

अर्थ उनमे पहला प्रतिबिम्ब समान काव्यवस्तु बुद्धिमान् के लिये त्याज्य है, क्योंकि वह तात्विक शरीर से शून्य होता है, उसके बाद का आलेख्य-समान अर्थात् अन्य के साथ साम्य रखने वाला अन्य शरीर से युक्त होकर भी तुच्छ रूप होने के कारण त्याज्य है, किन्तु तीसरा विभिन्न प्रकार के कमनीय शरीर के होने पर संवादयुक्त होने पर भी, कवि के द्वारा कथावस्तु त्याज्य नही है। शरीरी अन्य शरीर के सदृश होकर भी एक ही है यह नही कहा जा सकता।

इस बात का प्रतिपादन करने के लिये कहते है—

अन्य आत्मा के सद्भाव मे अन्य की पूर्व स्थिति का अनुसरण करने वाला भी काव्यार्थ तन्वङ्गी रमणी के चन्द्रानन की तरह अधिकतर शोभा को देता है।

तत्वस्य सारभूतस्यात्मनः सद्भावेऽन्यस्य पूर्वस्थित्यनुयाय्यपि वस्तु भातितराम्। पुराणरमणीयच्छायानुगृहीतं हि वस्तु शरीरवत्परां शोभां पुष्यति। न तु पुनरुक्तत्वेनाव भासते। तन्व्याः शशिच्छायमिवाननम्।

एवं तावत्संवादानां समुदाय रूपाणां वाक्यार्थानां विभक्ताः सीमानः। पदार्थरूपाणां च वस्त्वन्तर सदृशानां काव्यवस्तूनां नास्त्येव दोष इति प्रतिपादयितुमुच्यते—

अक्षरादिरचनेव योज्यते यत्र वस्तु रचना पुरातनी।
नूतने स्फुरति काव्य वस्तुनि व्यक्तमेव खलु सा न दुष्यति॥१५॥

श्रीधरी—तत्वस्य सारभूतस्यात्मनः=तत्व अर्थात् सारभूत आत्मा के, सद्भावे=सद्भाव में, अन्यस्य=अन्य की, पूर्व स्थित्यनुयाय्यपि=पूर्व स्थिति का अनुकरण करने वाला भी, वस्तु=काव्यवस्तु, भातितराम्=अतिशय शोभा देती है, पुराण रमणीयच्छायानुगृहीतं हि वस्तु=पुरानी रमणीय छाया से अनुगृहीत वस्तु, शरीरवत्=शरीर की तरह, परां शोभां पुष्यति=अधिक शोभा को बढ़ाती है, न तु पुनरुक्तत्वेनावभासते=न कि पुनरुक्त की तरह अवभासित होती है, तन्व्याः=तन्वङ्गी के, शशिच्छायं आननमिव=चन्द्रकान्ता मुख के समान।

एवं तावत्=इस प्रकार, ससंवादानां समुदायरूपाणां वाक्यार्थानाम्=ससंवादसमुदाय रूप वाक्यार्थों की, सीमानः=सीमाएँ, विभक्ताः=विभक्त है, च=और, पदार्थ रूपाणां=पदार्थ रूप, वस्त्वन्तरसदृशानां=वस्त्वन्तर सदृश, काव्य-वस्तूनां=काव्य वस्तुओं का, नास्त्येवदोषः=दोष नहीं है, इति प्रतिपादयितुं=इस बात को प्रतिपादित करने के लिये, उच्यते=कहते हैं,

अक्षरादिरचनेव=अक्षर आदि रचना की भांति, यत्र=जहां, पुरातनी वस्तुरचना योज्यते=पुरानी वस्तुरचना की जाती है, नूतने काव्यवस्तुनि स्फुरति=नवीन काव्यवस्तु के स्फुरित होने पर, व्यक्तमेव=स्पष्ट ही, सा न दुष्यति=वह दूषित नहीं होती।

अर्थ—तत्व अर्थात् सारभूत आत्मा के होने में अन्य की पूर्वस्थिति का अनुसरण करने वाली भी काव्यवस्तु अतिशय होती है, पुरानी रमणीय छाया से अनुगृहीत काव्यवस्तु शरीर की तरह शोभा को बढ़ाती है, न कि पुनरुक्त रूप से प्रतीत होती है, तन्वङ्गी रमणी के चन्द्रकान्त मुख के समान।

इस प्रकार ससंवाद समुदाय रूप वाक्यार्थों की सीमाएँ विभक्त हैं, और पदार्थ रूप वस्त्वन्तर सदृश काव्य वस्तुओं का दोष नहीं है, इस बात को प्रतिपादित करने के लिये कहते हैं—

अक्षरादि की रचना की तरह जहाँ पुरानी वस्तु रचना की जाती है, नूतन काव्यवस्तु के स्फुरित होने पर स्पष्ट ही वह दूषित नहीं होती।

न हि वाचस्पतिनाप्यक्षराणि पदानि वा कानिचिदपूर्वाणि घटयितुं शक्यन्ते। तानि तु तान्येवोपनिबद्धानि न काव्यादिषु नवतां विरुध्यन्ति। तथैव पदार्थ रूपाणि श्लेषादिमयान्यर्थ तत्वानि।

तस्मात्—

यदपि तदपि रम्यं यत्र लोकस्य किञ्चित्।
स्फुरितमिदमितीयं बुद्धिरभ्युज्जिहीते॥
स्फुरणेयं काचिदिति सहृदयानां चमत्कृतिरुत्पद्यते।

श्रीधरी—वाचस्पतिनापि=वाचस्पति भी, कानिचिदपूर्वाणि=कुछ अपूर्व, अक्षराणिपदानि वा=अक्षर या पदों को, घटयितुं न शक्यन्ते=बना नहीं सकते, तानि तु=वे तो, तान्येव=वे ही, उपनिबद्धानि=उपनिबद्ध होकर, काव्यादिषु=काव्य आदि में, नवतां न विरुध्यन्ति=नवीनता का विरोध नहीं करते, तथैव=उसी प्रकार, पदार्थ रूपाणि=पदार्थ रूप, श्लेषादिमयानि अर्थ तत्त्वानि=अर्थतत्त्व भी, तस्मात्=इसलिये, यत्र=जहा, लोकस्य=लोगो की, रम्यं=नई, स्फुरितं=सूझ है, इति बुद्धिः अभ्युज्जिहति=यह बुद्धि उत्पन्न होती है, तदपि यत्किञ्चित्=वह जो कुछ भी है, रम्यं=वह रम्य है,

स्फुरणेयं इति=यह कोई अनोखी सूझ है, यह, सहृदयानां चमत्कृतिरुत्पद्यते=सहृदयो के चमत्कार उत्पन्न करता है।

अर्थ—वाचस्पति भी कुछ अपूर्व अक्षरो किंवा पदों को बना नहीं सकते, वे तो वे ही उपनिबद्ध होकर काव्य आदि मे नवीनता का विरोध नहीं करते। उसी प्रकार पदार्थरूप श्लेषादि अर्थतत्व भी, इसलिये—

जहाँ लोगों की यह नई सूझ है यह बुद्धि उत्पन्न होती है, वह जो कुछ भी है रम्य कहलाता है।

यह अनोखी सूझ है, यह बात सहृदयों मे चमत्कार उत्पन्न करती है।

अनुगतमपि पूर्वच्छायया वस्तु तादृक्।
सुकविरूप निबध्नन्निन्द्यतां नोपयाति ॥१६॥

तदनुगतमपि पूर्वच्छाययावस्तु तादृक् तादृक्षं सुकविर्विवक्षितव्यंग्य वाच्यार्थ समर्पणशब्दरचनारूपया बन्धच्छाययोपनिबध्नन्निन्द्यतां नैव याति। तदित्थ स्थितम्—

प्रतायन्तां वाचो निमित विविधार्थामृतरसा।
न सादः कर्तव्यः कविभिरनवद्ये स्वविषये॥

सन्ति नवाः काव्यार्थाः परोपनिबद्धार्थ विरचने न कश्चित्कवेर्गुण इतिभावयित्वा।

परस्वादानेच्छाविरत मनसो वस्तु सुकवेः।
सरस्वत्येवैषा घटयति यथेष्ट भगवती ॥१७॥

श्रीधरी—पूर्वच्छाया अनुगतमपि=पूर्व की छाया से अनुगत भी, वस्तु=वस्तु को, तादृक्=उस प्रकार, सुकविः=बुद्धिमान् कवि, उपनिबध्नन्=उपनिबन्धन करता हुआ, निन्द्यतां न उपयाति=निन्दा का पात्र नहीं बनता।

तद्=वह, पूर्वच्छायया=पूर्व की छाया से, अनुगतमपि=अनुगत भी, वस्तु=वस्तु को, तादृक्=उस प्रकार, तादृक्षं सुकविविवक्षितव्यंग्यवाच्यार्थ समर्पण समर्थ शब्दरचनारूपया=सुकवि विवक्षित व्यंग्य और वाच्य अर्थ के समर्पण में समर्थ शब्द की रचना रूप, बन्धच्छायया उपनिबन्धन=बन्धच्छाया से उपनिबन्धन करता हुआ, निन्द्यता नैव याति=निन्दा का पात्र नही बनता, तदित्थ स्थितम्=तो इस प्रकार निश्चित हुआ—

अमृतरसा=अमृत के रस के समान, विविधार्था वाच:=विविध अर्थ वाली वाणियों को (कवि लोग), प्रतायन्ता=प्रसारित करें कविभि:=कवियों को, अनवद्ये स्वविषये=प्रशंसनीय अपने विषय मे, साद:=विषाद, न कर्तव्य:=नहीं करना चाहिए।

नवा: काव्यार्था: सन्ति=काव्य के अर्थ नये हैं, परोपनिबद्धार्थ विरचने=दूसरे के द्वारा उपनिबद्ध अर्थ की रचना मे, कवे:=कवि का, कश्चिद् गुण: न=कोई गुण नही है, इति भावयित्वा=यह सोचकर।

परस्वादानेच्छाविरत मनस:=दूसरे के विषय को ग्रहण करने से विरत मन वाले, सुकवे:=बुद्धिमान् कवि के लिये, एषा=यह, भगवती पारवती=देवी सरस्वती, यथेष्टं वस्तु घटयति=पर्याप्त काव्यवस्तु को घटित करती है।

अर्थ—पूर्व की छाया से अनुगत भी वस्तु को इस प्रकार बुद्धिमान् कवि उपनिबद्ध करता हुआ निन्दा का पात्र नही बनता।

वह पूर्व की छाया से अनुगत भी काव्यवस्तु को उस प्रकार सुकवि विवक्षित व्यंग्य और वाच्य अर्थ के समर्पण में समर्थ शब्द की रचना रूप बन्धच्छाया से उपनिबन्धन करता हुआ सुकवि निन्दा का पात्र नही बनता।

अत: यह निश्चित हुआ कि कवि लोग अमृत के रस के समान विविध अर्थों वाली वाणियो का प्रसार करें, कवियो को प्रशसनीय अपने विषय के प्रति विषाद नही करना चाहिए।

काव्य के नये अर्थ हैं, दूसरे के द्वारा उपनिबद्ध अर्थ की रचना मे कवि का कोई गुण नही है, यह सोचकर—

दूसरे के विषय को ग्रहण करने से विरत मन वाले सुकवि के लिये यह देवी सरस्वती यथेष्ट काव्यवस्तुओं को घटित कर देती है।

परस्वादानेच्छाविरत मनसः सुकवेः सरस्वत्येषा भगवती यथेष्टं घटयति वस्तु। येषां सुकवीनां प्राक्तन पुण्याभ्यास परिपाकवशेन प्रवृत्तिस्तेषां परोपरचितार्थपरिग्रहनि:स्पृहाणां स्व व्यापारो न क्वचिदुपयुज्यते,

सैव भगवती सरस्वती स्वयमभिमतमर्थमाविर्भावयति । एतदेव हि महाकवित्वं महाकवीनामित्योम् ।

इत्यक्लिष्टरसाश्रयोचितगुणालंकार शोभाभृतो,
यस्माद्वस्तु समीहितं सुकृतिभिः सर्वं समासाद्यते ।
काव्याख्येऽखिलसौख्यधाम्नि विबुधोद्यानेध्वनिर्दर्शितः,
सोऽयं कल्पतरूपमानमहिमा भोग्योऽस्तु भव्यात्मनाम् ॥
सत्काव्यतत्व नयवर्त्मचिर प्रसुप्त,
कल्पं मनस्तु परिपक्वधियां यदासीत् ।
तद्व्याकरोत्सहृदयोदयलाभ हेतो,
रानन्दवर्धन इति प्रथिताभिधानः ॥

॥ इति श्रीराजानकानन्दवर्धनाचार्य विरचिते ध्वन्यालोके चतुर्थ उद्योतः ॥

श्रीधरी—परस्वादनेच्छाविरतमनसः=दूसरे के विषय को ग्रहण करने से विरत मन वाले, सुकवेः=सुकवि के लिये, एषा भगवती सरस्वती=यह देवी सरस्वती, यथेष्टं वस्तु घटयति=यथेष्ट वस्तु को घटित कर देती है, येषा सुकवीनां=जिन सुकवियों की, प्रवृत्तिः=प्रवृत्ति, प्राक्तन पुण्याभ्यास परिपाकवशेन=पूर्वजन्म के पुण्य और अभ्यास के परिपाक के कारण होती है, परोपरचितार्थ परिनिग्रह निःस्पृहाणाम्=दूसरों के द्वारा रचित अर्थ के ग्रहण मे निःस्पृह, तेषां=उन सुकवियों को, स्वव्यापारो न क्वचिदुपयुज्यते=अपना व्यापार कही नही करना पड़ता, सैव=वही, भगवती सरस्वती=देवी सरस्वती, स्वयमभिमतमर्थमाविर्भावयति=स्वय ही अभिमत अर्थ को आविर्भूत करती है, एतदेव=यही, महाकवीनां=महाकवियो का, महाकवित्वम्=महाकवित्व है ।

इति=इस प्रकार, अक्लिष्टरसाश्रयोचित गुणालंकार शोभाभृतो=अक्लिष्ट, रस के आश्रय से उचित गुण और अलकार की शोभा वाले, यस्मात्=जिस काव्य से सुकृतिभि=पुण्यवान लोग, सर्व समीहितं=सभी मनचाही वस्तु को, समासाद्यते=प्राप्त करते है, अखिल सौख्यधाम्नि=सम्पूर्ण सुखो के धाम, काव्याख्ये=काव्य नामक, विबुधोद्याने=विद्वानो के उद्यान में, कल्पतरूपमान महिमा=कल्पवृक्ष के समान महिमाशाली, सोऽयं ध्वनिर्दर्शित=यह ध्वनि दिखलाई गई है, वह, भव्यात्मना भोग्योऽस्तु=सौभाग्यशाली लोगो की भोग्य बन ।

सत्काव्यतत्वनयवर्त्म=सत्काव्य के तत्व का नीतिमार्ग, यद्=जो, परिपक्वाधिया=परिपक्व बुद्धि वालो के, मनस्तु=मन मे, चिरप्रसुप्तकल्प=चिर प्रसुप्त के समान था, तद्=उसका, आनन्दवर्धन इति प्रथिताभिधानः=आनन्दवर्धन इस प्रसिद्ध नाम वाले ने, सहृदयोदय लाभहेतो=सहृदयजनो के उदय लाभ के लिये, व्याकरोत्=व्याख्यान किया ।

अर्थ—दूसरे के विषय को ग्रहण करने से विरत मन वाले सुकवि के लिये यह भगवती सरस्वती यथेष्ट वस्तु घटित कर देती है। जिन सुकवियों की प्रवृत्ति पूर्व जन्म के पुण्य और अभ्यास के परिपाक के कारण होती है। दूसरों के द्वारा रचित अर्थ के ग्रहण में निःस्पृह सुकवियों को अपना व्यापार कहीं नहीं करना पड़ता। वही भगवती सरस्वती स्वयं अभिमत अर्थ को आविर्भूत करती है। यही महाकवियों का महाकवित्व है, बस।

इस प्रकार अक्लिष्ट, रस के आश्रय से उचित गुण और अलंकार की शोभा वाले जिस काव्य से पुण्यात्मा लोग मनचाही सभी वस्तुओं को प्राप्त कर लेते हैं, सम्पूर्ण सौख्य के धाम काव्य नामक विद्वानों के उद्यान में कल्पवृक्ष की तरह महिमाशाली यह ध्वनि दिखाई गई है, वह सौभाग्यशाली लोगों की भोग्य बने।

सत्काव्य के तत्व का नीति मार्ग जो प्रौढ़ बुद्धि वालों के मन में चिर प्रसुप्त किंवा बीज रूप में अवस्थित था, उसका आनन्दवर्धन नामक सुप्रसिद्ध नाम वाले ने सहृदय जनों के उदय लाभ के लिये व्याख्यान किया।

(श्रीराजानक आनन्दवर्धनाचार्य विरचित ध्वन्यालोक का चतुर्थ उद्योत समाप्त)

———